प्रकाशक :

मंत्री, अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ,

राजघाट, काशी

●

पहली बार : २,

दिसंबर, १९६१

मूल्य : छः रुपय

निवेदन

एक युग था, जब मनुष्य मछली मारकर, शिकार खेलकर अपना काम चलाता रहा। धीरे-धीरे वह कृषिमें लगा। उत्पादन बढ़ा, व्यापार बढ़ा।

तभी विज्ञानका उदय हुआ। इंजिन आया, मशीन आयी। दिन-दिन विज्ञान अपने पैर पसारने लगा। पैसेकी माया पनपने लगी।

× × ×

आज बच्चा धरतीपर गिरता है कि तुरत हम देखते हैं कि इधर नाल काटनेवाली दाई झगड़ रही है कि बिना मुँहमाँगी रकम लिये वह नाल नहीं काटेगी; उधर 'जसोदाके भये नन्दलाल, बधावा लायीं ननदी !' ननदें आँगनमें आकर फर्माइशें पेश कर रही हैं—'भाभी, लाओ, भतिजवाका नेग !'

कोई रुपये माँग रहा है, कोई गहने; कोई कपड़े।

बच्चाको दूध चाहिए। जच्चाको सुठौरा !

जीवनके पहले प्रभातसे ही, बच्चेके धरतीपर गिरते ही अर्थतंत्र आरम्भ हो जाता है। जीवनके अन्तिम क्षणतक ही क्यों, मरनेपर शवके सत्कारतकके लिए पैसेकी आवश्यकता पड़ती है।

आज मनुष्य 'पेट' ही नहीं भरना चाहता, 'पेटी' भी भरनेको लालायित है। यह पेटी ही सारे अनर्थोंकी जड़ है। एककी पेटी भरती है, तो दूसरे सैकड़ोंका पेट खाली रह जाता है।

आज प्रत्येक व्यक्ति येन-केन प्रकारेण पैसेका अम्बार लगा लेना चाहता है। अपनी इस अर्थ-पिपासामें वह न्याय और विवेक, करुणा और उदारता जैसे शाश्वत मानवीय मूल्योंको भी उठाकर ताकपर रख देता है।

पैसेने चारों ओर अपने पाँव फैला रखे हैं। विज्ञान और राजनीति, सत्ता और कानून—सेना और शस्त्र—सभीपर पैसेका जबर्दस्त सिक्का बैठा है।

इस पैसेने दुनियाभरके अनर्थोंकी, अपराधों और अनाचारोंकी सृष्टि कर रखी है। एक ओर गगनचुम्बी प्रासाद खड़े हो रहे हैं, दूसरी ओर उन्हींकी बगलमें ऐसी झोपड़ियाँ हैं, जिनपर भरपूर फूस भी नहीं है।

यह आर्थिक विषमता जब बहुत बढ़ने लगती है, तो स्थिति भयंकर हो उठती है। युद्ध और क्रान्तियाँ इसकी गोदमेंसे फूट पड़ती हैं।

× × ×

प्राचीन युगमें यह आर्थिक विषमता थी ही नहीं। उस युगमें मनुष्यकी

आवश्यकताएँ कम थीं, उपज भरपूर थी, किसी प्रकारका आर्थिक संकट नहीं था। लोग सुखी-संतोषी जीवन बिताते थे।

पर ज्यों-ज्यों विज्ञानके पैर पसरने लगे, जीवनकी जटिलताएँ बढ़ने लगीं, भोगकी सामग्री बढ़ने लगी। स्थिति यह आ गयी कि जो अन्न उपजाता है, वह पेटभर अन्न नहीं पाता। जो गायें पालकर दूध दुहता है, उसीके बच्चे एक-एक बूँद दूधके लिए तरसते हैं!

मनुष्य अत्यन्त प्राचीन कालसे इस आर्थिक वैषम्यका विरोध करता आ रहा है। यह बात दूसरी है कि उसके निराकरणका मार्ग कोई कुछ सुझाता है, कोई कुछ।

× × ×

विश्वकी आर्थिक विचारधारा किस प्रकार प्रवाहित हुई है, कैसे-कैसे पनपी है, किस-किस दिशामें गयी है, प्राचीन युगमें उसका कैसा स्वरूप था, मध्यकालीन युगमें कैसा रहा, अठारहवीं शताब्दीमें और उसके बाद आजतक उसने कैसा स्वरूप ग्रहण किया, शास्त्रीय विचारधाराने कैसे मोड़ लिया, समाजवादी विचारधारा कैसे पनपी और आज सर्वोदय-विचारधारा किस प्रकार भूदान, ग्रामदान और ग्राम-स्वराज्यका रूप ग्रहण कर रही है, इस इतिहासकी एक हलकी-सी झाँकी इस पुस्तकमें प्रस्तुत की गयी है।

श्री स्वामीनाथ पाण्डेय यदि हाथ धोकर मेरे पीछे न पड़ जाते, तो इस पुस्तकका लिखना सम्भव नहीं था। श्री दूधनाथ चतुर्वेदी, अध्यक्ष, अर्थशास्त्र-विभाग, काशी विद्यापीठने प्रकाशनसे पूर्व इसे देखकर कई अमूल्य सुझाव दिये। अनेक अर्थशास्त्रियोंकी पुस्तकोंसे मैंने सहायता ली है। ब्रिटिश और अमरीकी दूतावासोंने हमारे आग्रहपर कुछ अर्थशास्त्रियोंके चित्र भेज दिये हैं। योजना आयोगके सदस्य भाई श्री श्रीमन्नारायण जीने अत्यन्त कृपा पूर्वक इसकी भूमिका लिख दी है। इन सबका मैं विशेष रूपसे आभारी हूँ।

आशा है कि यह पुस्तक सर्वसाधारणके लिए तो उपयोगी सिद्ध होगी ही, भारतीय विश्वविद्यालयोंमें पढ़नेवाले अर्थशास्त्रके स्नातकोत्तर छात्रोंके लिए भी उपयोगी सिद्ध होगी।

विनीत

काशी
ईसा-पुण्यतिथि, १९६१

भूमिका

हिन्दीमें विश्वकी आर्थिक विचारधाराके इतिहासको लिखकर श्री श्रीकृष्णदत्त भट्टने एक महत्त्वका कार्य किया है। जहाँतक मेरी जानकारी है, हिन्दी भाषामें इस प्रकारका इतिहास व्यवस्थित ढंगसे पहली बार ही लिखा गया है। इस पुस्तकमें श्री भट्टने प्राचीन युगसे लेकर वर्तमान आर्थिक विचारधाराके विकासका सुन्दर ढंगसे विवेचन किया है। उन्होंने यह भी दिखाया है कि किस प्रकार आधुनिक आर्थिक विचारोंका झुकाव सहज रूपसे सर्वोदयकी ओर जा रहा है।

मेरा विश्वास है कि गांधीवादी अर्थशास्त्र या सर्वोदय-विचारधारा पश्चिमके आधुनिक अर्थशास्त्रियोंके विचारोंके भी अनुरूप है। हालमें ही प्रकाशित यूरोप और अमेरिकाके अर्थशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थोंमें इस बातपर बहुत जोर दिया जा रहा है कि आर्थिक संयोजनको सफलतापूर्वक चलानेके लिए कई प्रकारके ऐसे तत्त्वोंको ध्यानमें रखना जरूरी है, जिनका अर्थसे कोई सम्बन्ध नहीं है। प्रो० डेविड मैक्लीलैंड[1] ने इस बातपर बहुत जोर दिया है कि आर्थिक विकासका मसला सिर्फ अर्थशास्त्रियोंपर नहीं छोड़ा जा सकता। मानवीय जीवनमें इस प्रकारके कई गैर-आर्थिक तत्त्व (नान-इकॉनॉमिक फैक्टर्स) हैं, जिनका आर्थिक संयोजनसे घनिष्ट सम्बन्ध है। इस प्रकार मनोवैज्ञानिक और सांस्कृतिक पहलुओंकी अवहेलना करके हमारा आर्थिक विकास अधूरा ही रह जायगा।

स्वीडनके सुविख्यात अर्थशास्त्री प्रो० गुनार मिर्डल[2] का स्पष्ट कथन है कि आर्थिक प्रगतिके लिए 'मानवीय पूँजी' को समृद्ध बनानेकी नितान्त आवश्यकता है और यह कार्य व्यापक जन-शिक्षण द्वारा ही किया जा सकता है, ताकि मनुष्यका स्तर ऊँचा उठ सके। प्रो० गालब्रेथ[3] ने भी इस तथ्यको बार-बार दोहराया है कि आर्थिक विकासके लिए मशीनोंकी अपेक्षा मनुष्यके विकासका

---

१ डेविड सी० मैक्लीलैंड : दी अचीविंग सोसाइटी, पृष्ठ १२।

२ गुनार मिर्डल : बियाण्ड दी वेलफेयर स्टेट, पृष्ठ ८५।

३ जे० के० गालब्रेथ : दी लिबरल आवर, पृष्ठ ४६।

अधिक महत्त्व है। मानवीय पूँजीको विकसित किये बिना केवल स्थूल एवं भौतिक साधनोंके विकाससे हमारा संयोजन कदापि सफल नहीं हो सकता। यही बुनियादी विचार महात्मा गांधीने संसारके सामने पेश किया और इस दृष्टिकोणको आज आचार्य विनोबा भारत और विश्वके सामने बड़ी स्पष्टतासे रख रहे हैं। विनोबाजीका कथन है कि आधुनिक विज्ञान व टेक्नालॉजी मनुष्यके आध्यात्मिक विकासके बिना सर्वनाशका कारण बनेगी। यदि विज्ञानका उपयोग मानवीय प्रगतिके लिए करना है, तो उसे अहिंसा व आत्मज्ञान के साथ जोड़ना होगा। प्रो० टायन्बी[1], जो वर्तमान युगके सबसे बड़े इतिहासकार हैं, हमें बार-बार चेतावनी दे रहे हैं कि अणु-युगमें विश्व-बन्धुत्वके बिना सारा संसार नष्ट हुए बिना न रहेगा, किसीकी विजय न होगी, सभी पराजित होंगे।

सर्वोदय-विचारधाराका यह बुनियादी सिद्धान्त है कि शोषण-रहित समाजको बनानेके लिए आर्थिक व राजनीतिक विकेन्द्रीकरण आवश्यक है। केन्द्रीकरणके कारण न केवल व्यक्तिका विकास कुंठित होता है, बल्कि समाजका राजनीतिक एवं आर्थिक जीवन भी अपंग बन जाता है। श्री चेस्टर बोल्स[2]ने जोरदार शब्दोंमें संसारके अर्थशास्त्रियों व राजनीतिज्ञोंका ध्यान भारतीय ग्राम-पंचायत व्यवस्थाकी ओर खींचा है और निवेदन किया है कि इस व्यवस्थाको विकसित होनेका पूरा अवसर दिया जाय। यदि ऐसा न हुआ, तो यह एक बड़ी दुःखद घटना होगी। प्रो० आल्डस हक्सले[3]ने इस बातका प्रबल समर्थन किया है कि लोकशाहीको सफल बनानेके लिए यह आवश्यक है कि राजनीतिक एवं आर्थिक विकेन्द्रीकरणको हिम्मतके साथ आगे बढ़ाया जाय। रूस और चीनमें भी यह महसूस किया जा रहा है कि आर्थिक सत्ताको विकेन्द्रित किये बिना कृषि व औद्योगिक विकासकी गति कुण्ठित हो जाती है। श्री ख्रुश्चेवने हालमें ही एक वक्तव्य प्रकाशित किया है, जिसमें रूसके 'कलेक्टिव फार्म्स'को अधिक स्वतन्त्रता दी जायगी। युगोस्लावियामें मार्शल टीटोने भी विकेन्द्रीकरणकी ओर व्यवस्थित ढंगसे कदम उठाये हैं। इस दृष्टिसे भारतमें पंचायती राजका जो आन्दोलन चलाया जा रहा है, वह सब दृष्टिसे वैज्ञानिक है और उसका प्रभाव दुनियाके देशोंपर भी पड़े बिना न रहेगा।

यह ख्याल करना बिलकुल गलत होगा कि विकेन्द्रीकरण एक दकियानूसी कदम है, जो वर्तमान विज्ञानके प्रवाहके विरुद्ध है। सच तो यह है कि विज्ञानकी

---

१ आर्नाल्ड टायनबी : ए स्टडी ऑफ हिस्ट्री, खण्ड १२, (रिकन्सिडरेशन्स), पृष्ठ ५१८।

२ चेस्टर बोल्स : आइडिआज, पीपुल एण्ड पीस, पृष्ठ १३२।

३ आल्डस हक्सले : ब्रेव न्यू वर्ल्ड रीविजिटेड, पृष्ठ १८६।

प्रगतिके साथ-साथ व्यापक विकेन्द्रीकरण अधिक आवश्यक बन जाता है। दूसरे शब्दोंमें हम यह कह सकते हैं कि विज्ञानके जमानेमें विकेन्द्रीकरण ही अधिक वैज्ञानिक तरीका है। जब हमारे उद्योग कोयलेपर निर्भर थे, तब उन्हें केन्द्रित करना कुछ हदतक आवश्यक हो जाता था। बिजली-शक्तिके प्रयोग होनेपर औद्योगिक विकेन्द्रीकरण अधिक मात्रामें संभव हो सका है। किन्तु अणु-शक्तिका विकास होनेके बाद उद्योगोंको ग्रामोंमें फैलाना और भी सुलभ हो जायगा। अणु-युगमें भी अगर हम सभी उद्योगोंको बड़े शहरोंमें केन्द्रित करनेका प्रयत्न करें, तो यह बिलकुल अवैज्ञानिक ढंग होगा। ऐसा करना न आवश्यक है और न राजनीतिक बुद्धिमानी ही। आचार्य विनोबा तो बार-बार कहते हैं कि खादी व ग्रामोद्योगोंके लिए वे बिजलीके अलावा अणु-शक्तिका भी प्रयोग करनेको तैयार हैं। उनकी शर्त केवल इतनी है कि इन आधुनिक शक्तियोंका प्रयोग इस प्रकार किया जाय कि मनुष्यका मनुष्य द्वारा आर्थिक शोषण न हो। हालमें ही प्रकाशित एक लेखमें जान स्ट्रैची[1] ने इस विचारका बड़े कड़े शब्दोंमें खंडन किया है कि कृषि या उद्योगोंका विकास बड़ी मशीनों द्वारा ही किया जा सकता है। उनका ख्याल है कि भारत और चीन जैसे देशोंमें, जहाँ जनसंख्या अधिक है और पूँजी-की कमी है वहाँ, आर्थिक संयोजनके लिए विशाल मशीनों द्वारा केन्द्रित व्यवस्था करना बुद्धिमानी न होगी। छोटी-छोटी मशीनोंकी सहायतासे इस प्रकारकी विकेन्द्रित आर्थिक व्यवस्था संयोजित की जा सकती है, जिसमें मशीन व मनुष्य दोनों शक्तियोंका सन्तुलित विकास हो।

बेकारीकी दृष्टिसे भी अब लगभग सभी अर्थशास्त्री, सांख्य-शास्त्री, आर्थिक संयोजक, समाज-शास्त्री व राजनीतिज्ञ यह स्वीकार करते हैं कि लघु उद्योगों के रूपमें विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्थाके सिवा इस समस्याका भारत जैसे अर्द्ध-विकसित क्षेत्रोंमें हल करना संभव नहीं है। गांधीजीने इस तथ्यको बहुत वर्ष पहले भारत-वर्ष व दुनियाके अन्य देशोंके सामने रखा था। किन्तु उस समय यह माना जाता था कि गांधीजीकी विचारधारा मध्यकालीन है और उसके मूल तत्त्व अणु-युगसे मेल नहीं खाते। किन्तु अब अमेरिकाके भी प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री और भारतमें वर्तमान राजदूत प्रो० गालब्रेथ[2] भी महसूस करते हैं कि सभी दृष्टिसे पूर्ण रोजगार देनेका लक्ष्य केवल उत्पादन बढ़ानेसे अधिक श्रेयस्कर है। इस दृष्टिसे भारतकी तृतीय पञ्चवर्षीय योजनामें भी लघु, ग्राम और कुटीर-उद्योगोंको महत्त्वका स्थान दिया गया है और सभी प्रदेशोंमें यह प्रयत्न किया जा रहा है कि जो लोग काम करनेको तैयार हों, उन्हें किसी-न-किसी प्रकारका उत्पादक कार्य दिया जाय।

---

१ जान स्ट्रैची : दी ग्रेट अवेकनिंग (इनकाउण्टर, लन्दन)।

२ जान गालब्रेथ : दी अफ्लुएण्ट सोसाइटी, पृष्ठ १५३।

लघु उद्योगोंमें बड़ी मशीनोंकी अपेक्षा छोटी मशीनें काममें लानी होंगी। हो सकता है कि प्रारम्भमें लघु-यंत्रोंमें उतनी कुशलता (एफिशियेन्सी) न हो, जितनी बड़े यंत्रोंमें हो सकती है। किन्तु विभिन्न देशोंके अर्थशास्त्री[1] अब यह सिद्धान्त भी स्वीकार करते हैं कि आर्थिक संयोजनका ध्येय आर्थिक कुशलता (इकॉनॉमिक एफिशियेन्सी) होना चाहिए, न कि सिर्फ यांत्रिक कुशलता (टेक्निकल एफीशियेन्सी)। प्रो० नर्कस[2] भी इस विचारका समर्थन करते हैं कि गरीब देशोंमें अपेक्षाकृत कम कुशल यंत्रोंसे भी काम लेना आर्थिक दृष्टिसे हितकर है।

वर्तमान अर्थशास्त्र संबंधी साहित्यका मैं जितना अधिक अध्ययन करता हूँ, मेरा विश्वास उतना ही दृढ़ होता जाता है कि सर्वोदय विचारधारा एक दकियानूसी दृष्टिकोण नहीं, किन्तु आधुनिकतम व वैज्ञानिक दृष्टिकोण है, जो भारतवर्षके लिए ही नहीं, बल्कि संसारके अन्य देशोंकी भी सर्वांगीण प्रगतिके लिए अत्यंत आवश्यक है। किन्तु इस बातको समझनेके लिए आर्थिक विचारधाराके इतिहासकी विस्तृत जानकारी जरूरी है। इस दृष्टिसे श्री भट्ट द्वारा लिखित यह पुस्तक बहुत उपयोगी सिद्ध होगी।

नयी दिल्ली
८-१-'६२

श्रीमन्नारायण

---

१ पी० टी० बॉयर और बी० एस० यामे : दो इकॉनॉमिक्स ऑफ अण्डर-डेवेलप्ड कण्ट्रीज, पृष्ठ ११८।

२ प्राब्लम्स ऑफ कैपिटल फारमेशन इन अण्डर डेवेलप्ड कण्ट्रीज, पृष्ठ ४५।

अनुक्रम

प्रथम खण्ड

[प्रागैतिहासिक कालसे अठारहवीं शताब्दीतक]

अतीतकी छायामें

पश्चिमी अर्थशास्त्रका उषःकाल

शास्त्रीय विचारधाराका उदय

द्वितीय खण्ड

[उन्नीसवीं शताब्दी]

शास्त्रीय विचारधाराका विकास

समाजवादी विचारधारा : १

राष्ट्रवादी विचारधारा

शास्त्रीय धारा नये मोड़पर

इतिहासवादी विचारधारा

विषयगत विचारधारा

समाजवादी विचारधारा : २

तृतीय खण्ड

[बीसवीं शताब्दी]

नवपरम्परावादी विचारधारा

सन्तुलनात्मक विचारधारा

अमरीकी विचारधारा

सम्पूर्णदर्शी विचारधारा

समाजवादी विचारधारा

भारतीय विचारधारा

सर्वोदय-विचारधारा

आर्थिक विचारधारा

उदयसे सर्वोदयतक

प्रथम खण्ड

प्रागैतिहासिक कालसे अठारहवीं शताब्दीतक

अतीतकी छायामें

प्रागैतिहासिक काल : १ :

जीवनके पहले प्रभातमें आँख खुली जब मेरी।
हरी भूमिके पात-पातमें मैंने हृद्गति हेरी॥
खींच रही थी दृष्टि सृष्टि यह स्वर्ण रश्मियाँ लेकर।
पाल रही ब्रह्माण्ड प्रकृति थी, सदय हृदयमें सेकर॥
तृण-तृणको नभ सींच रहा था, बूँद-बूँद रस देकर।
बढ़ा रहा था सुखकी नौका, समय समीरण खेकर॥
बजा रहे थे द्विज दल-बलसे शुभ भावोंकी भेरी।
जीवनके पहले प्रभातमें आँख खुली जब मेरी॥[1]

---

१ मैथिलीशरण गुप्त : साकेत, पृष्ठ २५८।

मानव जब जीवनके पहले प्रभातमें आँख खोलता है, तो उसे अपने चारों ओर अनन्त सुषमा और सौंदर्यमयी प्रकृति ही दृष्टिगोचर होती है। विश्वकी समस्त संस्कृतियाँ प्रकृतिकी मनोरम गोदमें ही सबसे पहले पल्लवित, पुष्पित होती हैं। गगनचुम्बी पर्वतों और उनके सुनहले अंकमें खेलनेवाली निर्मल नदियों-के पावन तटपर ही मानव सबसे पहले अपना डेरा डालता है और वहींसे उसके विकासका श्रीगणेश होता है। अरण्य-संस्कृति ही सभी संस्कृतियोंका मूलरूप मानी जाती है।

प्रगतिकी तीन अवस्थाएँ

पुरातत्त्वविदोंका कहना है कि मानवकी प्रगतिकी तीन अवस्थाएँ रही हैं :

(१) जंगली,
(२) वर्बर असभ्य और
(३) सभ्य।

जंगली अवस्था

जंगली अवस्थामें मानव केवल जीवन-निर्वाहकी बात सोचता था। उसके मार्गमें यदि कोई प्राकृतिक बाधाएँ आती थीं अथवा भौगोलिक अड़चनें उसका रास्ता रोकती थीं, तो वह उनका सामना करता था और जब उसमें अपनेको असमर्थ पाता था, तो वह उनसे किनाराकशी करनेके लिए कहीं दूर चला जाता था। प्रकृतिसे संघर्ष करते हुए इस जंगली मानवने पत्थरसे पत्थर रगड़कर अग्निका आविष्कार किया और उसपर भुना हुआ मांस जब उसे सुस्वादु प्रतीत होने लगा, तो वह उसका अधिकाधिक प्रयोग करने लगा।

अभीतक उसे केवल पत्थरकी नोकसे शिकार करना और उसे आगपर भूनना ही आता था। धीरे-धीरे मिट्टीके बर्तन बनाना भी उसने सीख लिया और उन बर्तनोंको आगपर चढ़ाकर उसने स्वादिष्ट भोजन बनाना आरम्भ कर दिया।

वर्बर असभ्य

इस जंगली अवस्थाका अतिक्रमण कर मानव बर्बर-अवस्थामें पहुँचा। अब उसने यह महसूस किया कि न तो प्रतिदिन शिकार ही मिलना सम्भव है और न कन्द-मूल-फल ही।

ते कि सदा सब दिन मिलहिं,
समय समय अनुकूल ॥

तब क्या हो? जीवनके लिए जीविका तो चाहिए ही। क्षुधा राक्षसी तो माननेवाली है नहीं। उसके खप्परको तो प्रतिदिन ही भिक्षा चाहिए। उसने सोचा कि जिन पशुओंको वह मारकर खा जाता है, उनमें कुछ दूध भी तो देते हैं। क्यों न उन्हें पाला जाय?

इस प्रकार पशु-पालन आरम्भ हुआ। पशु-जगत्से उसकी आत्मीयता बढ़ी, स्नेह बढ़ा और स्नेह-वर्द्धनसे धीरे-धीरे यह स्थिति आने लगी कि मृगशावकों-पर शस्त्रास्त्र छोड़ना उसे अरुचिकर प्रतीत होने लगा।

पशुओंका दूध पी-पीकर मानव पुष्ट होने लगा। कृषिकी ओर उसका ध्यान गया। अब उसे खानाबदोशोंकी भाँति इधर-उधर घूमते रहना ठीक न जँचा। आवारागर्दी छोड़कर उसने घर-गृहस्थी आरम्भ कर दी।

कृषिके साथ-साथ मानवका सम्बन्ध भू-गर्भसे आया। खनिज पदार्थ उसने खोज निकाले। उनका प्रयोग करना उसने सीख लिया। वह परिवार बना-कर रहने लगा। व्यापार-विनिमय भी उसने आरम्भ कर दिया। उसके लिए उसने चित्र-लिपि और वर्ण-लिपिका भी आविष्कार कर डाला।[1]

सभ्य अवस्था

यह बर्बर असभ्य मानव आगे चलकर सभ्य बना। केवल जड़ प्रकृतिपर ही अपना अधिकार जमाकर वह सन्तुष्ट नहीं रहा। उसने मनकी सूक्ष्म शक्तियोंका आविष्कार कर डाला और उनपर विजय-प्राप्तिके लिए वह प्रयत्नशील हो उठा। भौतिक एवं मानसिक जगत्पर आधिपत्य स्थापित करनेकी उसकी चेष्टा उत्तरोत्तर प्रबल होने लगी। आज विज्ञानकी जो प्रगति हमें दीख रही है, वह इस सभ्य मानवके मस्तिष्ककी प्रखरताकी ही परिचायिका है। ● ● ●

---

१ श्रीकृष्णदत्त भट्ट : भारतवर्षका आर्थिक इतिहास, पृष्ठ २८, २९।

प्राचीन युग : १ :

शानदार था भूत, भविष्यत भी महान है,
अगर सम्हालें उसे आज जो वर्तमान है!

अनेक आधुनिक अर्थशास्त्रियोंका कहना है कि विश्वके प्राचीन तथा मध्यकालीन इतिहासमें आर्थिक विचारधाराके क्रमविकासके लिए कोई सामग्री नहीं मिलती। जीद और रिस्ट 'ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन्स' का श्रीगणेश ही प्रकृतिवादियों (फिजियोक्रैट्स) से करते हैं। कैनन अपनी 'रिव्यू ऑफ इकॉनॉमिक थ्योरी' में कहते हैं कि हम यदि यूनानी दार्शनिकोंकी रचनाओंमें 'मनोरंजक आर्थिक कल्पनाएँ' खोजनेकी चेष्टा करेंगे, तो 'निराशा ही हमारे हाथ लगेगी।' ड्रूरिंगका दावा है कि न तो प्राचीन युगके इतिहासने और न मध्यकालीन युगके इतिहासने अर्थशास्त्रीय 'विज्ञान' के लिए कोई 'ठोस' सामग्री प्रदान की है। शूंपिटरने यूनानी दर्शनका अप्रत्यक्ष प्रभाव माना है, परन्तु उसकी विस्तृत देन वह बहुत कम मानता है। मार्क्सने ऐंजिल्सके निमित्त लिखे गये 'ड्रूरिंग-विरोधी' एक अध्यायमें यूनानी आर्थिक विचारधारा (कमसे कम अरस्तू) को उचित महत्त्व दिया है, परन्तु अपनी विशिष्ट दृष्टिको ही ध्यानमें रखते हुए।[1]

मूल स्रोत

बात ऐसी नहीं है। आर्थिक विचारधाराका मूल स्रोत विश्वके प्राचीनतम वाङ्मयमें पड़ा हुआ है। यह बात दूसरी है कि अभीतक उसकी समुचित गवेषणा नहीं हुई है। आधुनिक अर्थशास्त्रके वर्तमान भवनकी नींव तो केवल दो सौ वर्ष पहले पड़ी है, परन्तु इसके गहन अन्तस्तलमें तो विश्वकी प्राचीनतम संस्कृतियोंके ही ऊबड़-खाबड़ पत्थर पड़े हुए हैं, जिनकी उपेक्षा करना सर्वथा अनुचित है।

विभिन्न इतिहासज्ञोंने विश्वकी प्राचीन संस्कृतियोंके विकासके सम्बन्धमें जो विचार प्रकट किये हैं, उनके अनुसार उनका काल-निरूपण इस प्रकार किया जा सकता है[2] :

१. भारत, मिस्र, बेबिलन और चीनकी प्राचीन संस्कृतिका पूर्वरूप—६००० ईसापूर्वसे २००० ईसापूर्व।

२. भारत, मिस्र और चीनकी संस्कृतिका, उत्तर-रूस तथा यूनान, रोम,

---

१ एरिक रौल : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ २०, पाद-टिप्पण।

२ श्रीकृष्णदत्त भट्ट : भारतवर्षका आर्थिक इतिहास, पृष्ठ ३३।

असीरिया, फोनेशिया और ईरानकी संस्कृतिका उदय—२००० ईसापूर्वसे ७०० ईसवीतक।

३. पश्चिमी संस्कृतिका उदय—सन् ७०० ईसवीके बाद विशेष रूपसे।

भारतीय संस्कृति

इन संस्कृतियोंमें भारतीय संस्कृति सबसे प्राचीन है, इस बातपर प्रायः सभी एकमत हैं। भारतीय संस्कृतिमें यद्यपि आध्यात्मिकतापर सबसे अधिक बल दिया गया है, तथापि उसकी आश्रम-व्यवस्था तथा समाज-व्यवस्था इस बातका प्रमाण है कि भारतके आदिकालीन ऋषि-मुनि बाह्य जीवनसे सर्वथा विरक्त नहीं थे। उनके समक्ष त्याग और संयमका आदर्श तो था ही, पर सांसारिक जीवनकी उन्होंने कोई उपेक्षा नहीं कर रखी थी।[1] श्रेय और प्रेय दोनोंकी ओर उनका ध्यान था। मानवका सर्वांगीण विकास ही उनका मूल लक्ष्य था।

आगे हम भारतीय, यहूदी, यूनानी और रोमन-वाङ्मयसे तत्कालीन आर्थिक विचारधाराके विकासपर दृष्टिपात करेंगे।

भारतीय विचारधारा

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं सर्वतः वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशांगुलम्॥

ऋग्वेदके पुरुषसूक्तमें कहा है :

अनन्त शिर, आँखों और पैरोंवाला पुरुष सब जगत्से पूर्ण होकर पृथ्वीको तथा सब लोगोंको धारण कर रहा है। वह पंच स्थूलभूत, पंच सूक्ष्म-भूत, पंच प्राण, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार और जीव;—तथा दस अंगुलोंवाले हृदय—इन तीनोंमें व्याप्त होकर इनके चारों ओर भी परिपूर्ण हो रहा है। वही इस जगत्का निर्माता है।

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः संभृतं पृषदाज्यम्।
पशूँस्तांश्चक्रे वायव्यानारण्यान् ग्राम्याश्च ये॥

मनुष्यने उस सत्-चिदादि-लक्षणसम्पन्न यज्ञस्वरूप परम पुरुष—सर्वपूज्य पुरुषसे सब भोजन, वस्त्र, जल आदि पदार्थोंको प्राप्त किया है। उसीने ग्राम तथा वनके सभी पशु-पक्षियों तथा कीट-पतंगोंको उत्पन्न किया है।

यजुर्वेदके चालीसवें अध्यायमें ईशोपनिषद्में कहा है :

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥

---

१ राधाकृष्णन और मूर : ए सोर्स बुक इन इण्डियन फिलासफी, १९५७, भूमिका, पृष्ठ २१।

यह सारा जगत् ईश्वरसे आच्छादित है। इसके भीतर, इसके बाहर ईश्वर ही विद्यमान है। वही इसका मालिक है। वह तुझे जो कुछ दे, उसीमें आनन्द मान। लालच मत कर। धन किसका है ?

आध्यात्मिक आधार

भारतके आदिवाङ्मयकी ये ऋचाएँ पुकार-पुकारकर इस तथ्यकी घोषणा कर रही हैं कि आध्यात्मिकता ही भारतीय जीवनका सम्बल है। उसी पृष्ठभूमिपर सारी भारतीय संस्कृतिका विकास हुआ है। उसमें मूल बात यही रही है कि धन-सम्पत्ति तथा अन्य भौतिक पदार्थ जीवनका लक्ष्य नहीं हैं; जीवनका लक्ष्य है—ईश्वर और मोक्ष, जिसके मार्गमें प्रेय पदार्थ हेय हैं।

वेद और उपनिषद्, रामायण और महाभारत, गीता और पुराण आदि भारतीय वाङ्मय के अमर रत्नोंमें, भारतीय संस्कृतिके मूलाधारमें, इसी एक मूल तत्त्वकी सर्वत्र अभिव्यक्ति हो रही है। वैदिक काल (२५०० ई० पू० से १००० ई० पू०) हो, बौद्धकाल (१००० ई० पू० से ४०० ई० पू०) हो, साम्राज्यवादी काल (४०० ई० पू० से ७१२ ई०) हो या पौराणिक काल (७१३ ई० से १२०६ ई०) हो—सबमें इसी भावनाका प्रसार दिखाई पड़ता है।

सर्वोत्कृष्ट उन्नति

भारतका प्राचीन युग सुख, समृद्धि और वैभवसे ओतप्रोत है। उसकी सम्पन्नता अपना सानी नहीं रखती। प्राचीन युगमें आर्य संस्कृति तो अतुलनीय थी ही, मोहनजोदड़ो, हड़प्पा, माहिष्मती आदिके उत्खननसे भी यह बात सिद्ध है कि आज से ६-७ हजार वर्ष पूर्व भारतमें जो द्राविड़ संस्कृति प्रतिष्ठित थी, वही विश्वमें सर्वोत्कृष्ट थी। भारत अपने सर्वतोमुखी विकासकी चरम सीमापर पहुँच गया था। विद्या और बुद्धि, कला और कौशल, ज्ञान और विज्ञान, शिल्प और वास्तु, कृषि और उद्योग, व्यापार और वाणिज्य—सभी दिशाओंमें उसने इतनी उन्नति की थी कि विश्वमें एकमात्र उसीकी तूती बोलती थी। सर्वत्र उसीका सिक्का चमचमाता था। सबके मुखसे यही निकलता था :

> भूलोकका गौरव, प्रकृतिका पुण्य लीलास्थल कहाँ ?
> फैला मनोहर गिरि हिमालय और गंगाजल जहाँ,
> सम्पूर्ण देशोंसे अधिक किस देशका उत्कर्ष है ?
> उसका कि जो ऋषि-भूमि है, वह कौन ? भारतवर्ष है ॥[1]

भारतवर्षका प्राचीन युगका आर्थिक इतिहास आदिसे अन्ततक सम्पन्नताकी गौरवपूर्ण गाथा है।[2] उसकी पंक्ति-पंक्तिमें सुख और समृद्धिकी कहानी

---

१ मैथिलीशरण गुप्त : भारत-भारती, पृष्ठ ४।

२ श्रीकृष्णदत्त भट्ट : भारतवर्षका आर्थिक इतिहास, पृष्ठ २३—१२०।

भरी पड़ी है। उन दिनों वस्तुतः यहाँ घी-दूधकी नदियाँ बहती थीं। अन्न, वस्त्र तथा जीवनोपयोगी अन्य पदार्थोंकी कोई कमी नहीं थी। कताई-बुनाईके अतिरिक्त नाना प्रकारके उद्योग पनप रहे थे। असंख्य प्रकारकी उपभोग्य वस्तुओंका निर्माण हो रहा था। व्यापार केवल देशके भीतर ही नहीं, विदेशोंमें भी फैल चुका था। भारतीय व्यापारी अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रमें अपनी धाक जमा चुके थे। सम्पत्ति प्रचुर वेगसे बढ़ रही थी। वैदिककालमें ही पूँजीवादका जन्म हो चुका था।[1] लोकतन्त्र और राज्यतन्त्रमें समय-समयपर परिवर्तन भी होते रहे, पर यों जनसमाजकी सुख-समृद्धिमें कोई विशेष अन्तर नहीं आया। यहाँतक कि बिन-कासिमसे मुहम्मद गोरीके समय (पौराणिक काल) में भी जनताकी स्थिति ज्योंकी त्यों बनी रही। उसे किसी अभाव या कष्टका सामना नहीं करना पड़ा।[2]

सम्पन्न समाज

क्रमशः भारतीय समाज अनेक वर्णों और जातियोंमें विभक्त हो गया। सम्पत्ति थोड़े लोगोंके हाथोंमें केन्द्रित होने लगी। शूद्रों तथा दास-दासियोंकी स्थिति कुछ शोचनीय होने लगी, परन्तु ऐसा नहीं हुआ कि उसके कारण समाजकी व्यवस्थामें कोई विशेष गिरावट आयी हो। यों समाजमें ज्ञान और विज्ञानका अधिकाधिक विस्तार होता रहा। साहित्य और कलाका उस समय इतना विकास हुआ कि आज भी हम उसपर गौरव करते हैं।

आर्थिक विचारके स्रोत

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतके प्राचीन युगका लगभग ४ हजार वर्षोंका आर्थिक जीवन अत्यन्त समृद्ध और गौरवपूर्ण है। वेद और उपनिषद्, शतपथ-ब्राह्मण और ऐतरेय ब्राह्मण, मनुसंहिता और याज्ञवल्क्य संहिता, पाणिनिसूत्र और वशिष्ठ धर्मसूत्र, त्रिपिटक और कौटिलीय अर्थशास्त्र—सबमें इस समृद्धि-की झाँकी मिलती है। हालमें जिस प्रकार डॉक्टर वासुदेवशरण अग्रवालने पाणिनि-सूत्रोंकी गवेषणा की है[3], उसी प्रकार प्राचीन युगके अन्य विशिष्ट वाङ्मय-की गवेषणा करनेसे तत्कालीन आर्थिक विचारधाराकी रूपरेखा प्रस्तुत की जा सकती है।

कौटिलीय अर्थशास्त्र

भारतीय शास्त्रोंका और प्राचीन युगके भारतीय वाङ्मयका एकमात्र लक्ष्य रहा है—मुक्ति। भारतके आचार्योंने अर्थशास्त्रकी जो मीमांसा और गवेषणा की

---

१ श्रीकृष्णदत्त भट्ट : भारतवर्षका आर्थिक इतिहास, पृष्ठ ५८।

२ वही, पृष्ठ ११९—१२०।

३ वासुदेवशरण अग्रवाल : इण्डिया इन पाणिनि।

है, उसका लक्ष्य अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष ही रहा है। यही कारण है कि हमारे यहाँ अर्थ-शुद्धिपर अत्यधिक जोर दिया गया है।

कौटल्यका अर्थशास्त्र प्राचीन युगकी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचना है। उसका गम्भीरतासे अध्ययन करनेसे यह बात पूर्णतः स्पष्ट हो जाती है कि हमारे यहाँ भौतिक एवं आध्यात्मिक सभी समस्याओंका समाधान प्रस्तुत किया गया है। भारतीय जीवनमें संतोष और लोक-कल्याणकी भावनापर जोर देते हुए मानवके विकासका भरपूर प्रयत्न किया गया है। यहाँ न व्यक्तिकी उपेक्षा की गयी है, न समाजकी।

कौटिलीय अर्थशास्त्रके विनयाधिकारिक, अध्यक्ष-प्रचार, धर्मस्थीय, कारुक-रक्षण, योगवृत्त, मंडलयोनि, षाड्गुण्य, व्यसनाधिकारिक, अभियास्यत् कर्म, सांग्रामिक, संघवृत्त, आबलीयस, दुर्गलम्भोपाय, औपनिषदिक और तंत्रयुक्ति—इन १५ अधिकरणों, १५० अध्यायों, १८० प्रकरणों और ६००० श्लोकोंमें ईसा-पूर्व ३०० के आसपासके भारतका समग्र अर्थशास्त्रीय चिन्तन है। उसमें केवल शासन, दण्ड, युद्ध, राजस्व आदिके सम्बन्धमें ही नहीं; खेती, उद्योग, व्यापार, लगान, मुनाफा, व्याज आदिके सम्बन्धमें भी अनेक नियम दिये गये हैं। उसमें सूत्राध्यक्षके भी कर्तव्य दिये गये हैं, सीताध्यक्षके भी, गोऽध्यक्षके भी और नावध्यक्षके भी।

कौटल्यकालीन भारतकी गवेषणा करनेपर हम इसी तथ्यपर पहुँचते हैं कि उस समय भारत अत्यन्त सम्पन्न स्थितिमें था। राजा भी प्रजाके सुखमें ही अपना सुख मानता था :

> प्रजासुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्।
> नात्मप्रियं हितं राज्ञः प्रजानान्तु प्रियं हितम्॥[1]

प्रमुख तथ्य

भारतके प्राचीनयुगीन आर्थिक इतिहासमें हमें मुख्यतः ये तथ्य प्राप्त होते हैं :

(१) धर्म-परायणतापर बल : धर्मकी नींवपर प्रतिष्ठित अर्थ और कामकी तृप्ति करते हुए मोक्ष-साधनाका निर्देश।

(२) आर्थिक सम्पन्नता : अन्न, वस्त्र तथा जीवनकी अन्य अनिवार्य आवश्यकताओंकी पूर्तिके प्रचुर साधन।

(३) जाति-व्यवस्थाका विकास : विभिन्न व्यवसायोंका उदय, विभिन्न जाति द्वारा समाज-सेवाकी व्यापक व्यवस्था; दास-प्रथा—उसके गुण-दोषोंका प्रसार।

(४) राज्य-व्यवस्थाका विकास : शासन, न्याय तथा राजस्व-व्यवस्था नियमोंका विकास।

---

१ कौटिलीय अर्थशास्त्र १।१६।

(५) कृषिका विकास : कृषिके प्रति आदर, पृथ्वी-पुत्र बननेमें गौरवका भाव।

(६) उद्योग-व्यापारका विकास : विभिन्न उद्योगों और अन्तर्देशीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारके नियमोंका विकास; वजन, तौल, मिलावट, एकाधिकार आदिके सम्बन्धमें नीतिपूर्ण नियमोंका विधान।

(७) सम्पत्ति और धनका प्राचुर्य : ऋण, व्याज, दान, व्यक्तिगत सम्पत्ति और उत्तराधिकार सम्बन्धी नियमोंका विकास।

यहूदी विचारधारा

'सारी भूमि मेरी है, सदाके लिए उसका विक्रय नहीं किया जा सकता।'

'मनुष्यमात्र तेरे भाई हैं, किसीकी आवश्यकताका अनुचित लाभ मत उठा।'[1]

प्राचीन बाइबिलके ईश्वरीय आदेश तथा अन्य प्राचीन धर्मोपदेश ही यहूदी विचारधाराके मूल आधार हैं। बाइबिलमें जिस समाजका चित्रण मिलता है, उसमें यत्र-तत्र अनेक आर्थिक विचार बिखरे पड़े हैं। उनके आधारपर आर्थिक विचारधाराकी कड़ी जोड़ी जा सकती है।

व्यक्तिगत सम्पत्ति, श्रम-विभाजन, व्यापार-विनिमय और पूँजी आदिके विचारोंको लेकर यहूदी विचारधाराका अनुमान किया जा सकता है।

प्रायः सभी समाजोंमें ऐसा होता है कि पहले धन-सम्पत्ति और भूमिपर सारे समाजका अधिकार रहता है, धीरे-धीरे व्यक्तिगत सम्पत्ति बढ़ने लगती है, श्रमका विभाजन होने लगता है, व्यापार-विनिमय बढ़ता है और पैसेका जन्म हो जाता है। पैसेके साथ-साथ पैसेके गुण-दोष भी आते हैं। यहूदी समाजमें भी इसी प्रकारका क्रम-विकास दृष्टिगोचर होता है।

पुरातन यहूदी समाज

पुरातन यहूदी समाजमें कृषिसे ही समाज-व्यवस्थाका उदय होता है। उस समय व्यक्तिके अधिकार सीमित रहते हैं, परन्तु धीरे-धीरे व्यक्तिगत सम्पत्तिके विकासके साथ-साथ इन सीमाओंका उल्लंघन होता चलता है। व्यापार-वाणिज्य बढ़ता है, पूँजीका संचय होने लगता है। थोड़े व्यक्तियोंके हाथमें अधिक पूँजीके एकत्र हो जानेसे समाजमें दरिद्रता फैलने लगती है। दास-वर्ग शनैः शनैः बढ़ता है और उसके बलपर अमीरोंके गुल्छर्रे और दरबारकी शान-शौकत बढ़ती जाती है। प्रजाके पैसेसे, चुंगीसे और विदेशी व्यापारसे होनेवाले लाभसे राजकीय महल खड़े किये जाते हैं, संग्राम किये जाते हैं। श्रमकी लूट मचती है और भारी करसे जनता संत्रस्त होती है, जिसके कारण जनतामें दिन-दिन दारिद्र्य फैलता चलता है; किसानोंकी जमीन जब्त कर ली

१ ओल्ड टेस्टामेण्ट।

जाती है और एक 'कम सुविधाप्राप्त' (under-privileged) वर्ग पनपने लगता है।[1]

वैषम्यका विरोध

इस प्रकार समाजमें वर्गभेद बढ़ने लगता है। अमीरों और गरीबोंके बीच वैषम्यकी खाई चौड़ी होने लगती है। यह स्थिति समाजके निष्पक्ष और उदार धर्म-गुरुओं, पुरोहितों और पीर-पैगम्बरोंको बुरी तरह खटकने लगती है। वे इसके विरुद्ध जिहाद बोलते हैं। समाजकी वेदना उन्हें द्रवित करती है और वे अपने प्रवचनोंमें बार-बार इस बातको दोहराते हैं कि समाज गलत दिशामें जा रहा है, उसे पुनः अपने सरल, शान्त, स्वतंत्र और न्यायपूर्ण जीवनकी ओर लौटना चाहिए, अन्यथा समाजका भविष्य अन्धकारमय है। वे इस बातका जी-तोड़ प्रयत्न करते हैं कि वैषम्य उत्पादन करनेवाला समाजका यह चक्र विपरीत दिशामें उलटे; परन्तु उनकी सारी चेष्टाएँ व्यर्थ होती हैं। लक्ष्मीके उपासकोंकी दाढ़ोंमें खून लग जाता है। वे ऐसी बातोंको भला कब सुनने लगे, जिनसे उनके भोग-विलासमें बाधा आये, उनकी सुख-सुविधाओंमें कमी पड़े और जिनके कारण उन्हें आराम और मौज-मस्तीका जीवन त्यागकर श्रमाधारित जीवन ग्रहण करना पड़े। फलतः धर्मोपदेशकोंका सारा प्रयत्न असफल होता है और समाजका पूँजीवादी चक्र अपनी ही गतिसे घूमता रहता है।

भारतीय और यहूदी विचारधाराओंकी तुलना

भारतीय और यहूदी समाजके विकासमें बहुत कुछ साम्य है। दोनोंकी आर्थिक विचारधाराएँ भी एक-दूसरेसे बहुत कुछ मिलती-जुलती हैं। अतः दोनोंका तुलनात्मक अध्ययन करना अच्छा होगा।

इस अध्ययनको हम निम्न भागोंमें विभाजित कर सकते हैं :

१. कृषिका सम्मान,

२. श्रम और जाति-प्रथा,

३. व्यापारिक नियमन और

४ ब्याजका विरोध।

कृषिका सम्मान

वैदिक कालमें कृषि सम्मान-वृद्धिका कारण थी। ऋग्वेदमें ऐसा एक प्रसंग आता है, जहाँ एक व्यक्ति जुआरीसे कहता है कि 'भाई, तुम छोड़ो इस जुएको। इससे तुम बुरी भाँति चौपट हो चुके हो। तुम्हारी प्रतिष्ठा जाती रही है। तुम

---

१ एरिक रौल : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, १९५६, पृष्ठ २२, २३।

यदि अपना सम्मान बढ़ाना चाहते हो, तो कृषिमें लगो। इससे तुम्हारी प्रतिष्ठा भी बढ़ेगी और तुम्हारा विवाह भी हो जायगा।'[1]

ऋग्वेदमें मानव पृथ्वी-पुत्र बननेमें गौरवका बोध करता है। वह कहता है: 'भूमि मेरी माता है, मैं पृथ्वीका पुत्र हूँ।' अथर्ववेदमें भी वही बात है। पृथ्वीके शैल, पठार, मैदान सब उसके मनको मोहते हैं और वह बड़े आदरसे उन सबका स्वागत करता है।

वैदिक कालकी यह परम्परा बौद्धकालमें भी बनी रही, साम्राज्यवादी कालमें भी।[2] कृषिके प्रति सर्वसाधारणका इतना आदर था कि अन्य देशोंमें जहाँ युद्ध-कालमें भूमिको नष्ट करने और इस प्रकार उसे ऊसर बना डालनेकी प्रथा सामान्य बात थी, वहाँ भारतमें किसान सर्वथा निश्चिन्त होकर खेती करता रहता था। भले ही बगलमें घमासान युद्ध होता रहे, किसान निश्चिन्त होकर अपने खेतमें हल जोतता रहता था। शत्रु भी न तो अग्नि लगाकर सर्वनाश करते थे और न पेड़ ही काटते थे।[3]

यहूदी समाजमें भी कृषिका बड़ा आदर था। 'प्रावर्ब्स' का साधु रचयिता कहता है: 'जो व्यक्ति भूमि जोतता है, उसे भोजनकी कभी कमी नहीं रहेगी।' और 'यद्यपि वाणिज्यमें कृषिसे अधिक लाभ होता है, तथापि उसका कोई भरोसा नहीं। पलभरमें वह स्वाहा भी हो सकता है। इसलिए भूमि यदि मिले, तो उसका विनियोग करनेमें कभी संकोच मत करो।'[4] कृषि इजराइलके निवासियोंके राष्ट्रीय जीवनका मूल आधार थी। राज्य और धर्म, दोनों ही उसकी आधार-शिलापर खड़े थे।[5]

श्रम और जाति-प्रथा

भारतमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इस प्रकार समाज चार अंगोंमें विभाजित कर दिया गया था। ब्राह्मणका मुख्य कार्य था वेदाध्ययन और अध्यापन; क्षत्रियका मुख्य कार्य था समाजका रक्षण; वैश्यका मुख्य कार्य था कृषि और वाणिज्य तथा शूद्रका मुख्य कार्य था अन्य वर्णोंकी सेवा। इन सबको कर्म करने और निरन्तर कर्म करते रहनेका वेदका आदेश था: कुर्वन्नेवेह कर्माणि

---

१ ऋग्वेद १०।३४।१३।

२ मगनलाल ए० बुच: इकॉनॉमिक लाइफ इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, खण्ड १, पृष्ठ २१-४६।

३ गुप्त, केला: कौटल्यके आर्थिक विचार, पृष्ठ ६४।

४ हेने: हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ ४७।

५ जीविश इनसाइक्लोपीडिया, कला 'कृषि'।

जिजीविषेत् शतं समाः । 'सब लोग कर्म करते हुए ही सौ वर्षतक जीनेकी इच्छा करें'—इस आदेशमें श्रमकी प्रतिष्ठा स्पष्ट व्यक्त होती है ।

कालान्तरमें अवश्य ही वर्ण और जातिकी ग्रन्थियाँ कड़ी और रूढ़ हो गयीं तथा श्रमकी प्रतिष्ठा कुछ घट गयी । ब्राह्मण और क्षत्रिय ऊँचे माने जाने लगे, वैश्य और शूद्र नीचे ।

भारतमें उस समय यदि मजूरी करनेवाले श्रमिक निश्चित अवधि पूरी होनेके पहले काम छोड़ देते थे, तो उन्हें मजूरीका हर्जाना भरना पड़ता था और उसके लिए राज्य-कोपमें जुर्माना भी अदा करना पड़ता था । दूसरी ओर यदि मालिक ही अवधिसे पहले मजूरको कामसे छुड़ा देता था, तो उसे उसकी निश्चित की हुई पूरी मजूरी चुकानी पड़ती थी तथा राज्य-कोपमें भी जुर्माना जमा करना पड़ता था ।[1]

यहूदी समाजमें मजूरी सम्भवतः पैसेके रूपमें न देकर अन्नके रूपमें ही चुकायी जाती थी । इस बातपर बार-बार जोर दिया जाता था कि मजूरोंके प्रति अन्याय नहीं होना चाहिए, मजूरी रोजकी रोज चुका देनी चाहिए । धर्मशास्त्रमें इस बातकी स्पष्ट चेतावनी दी गयी थी कि मजूरोंको सताना अधर्म है ।[2]

यहूदियोंमें श्रमको सम्मानजनक माना जाता था । परन्तु कृषिके अतिरिक्त उसे कोई विशेष प्रोत्साहन नहीं दिया जाता था । भारतकी भाँति श्रम-विभाजनके लिए वहाँ जाति-प्रथा नहीं बनी थी ।

व्यापारिक नियमन

भारतीय अर्थ-नीतिका आधार धर्म था । वैश्य व्यापार कर सकता था, वस्तुओं का क्रय-विक्रय कर सकता था, परन्तु धर्मकी मर्यादामें रहकर ही । उसमें अन्याय, शोषण और चोरीके लिए कोई गुंजाइश नहीं थी । पर आगे चलकर पूँजीके विकासके साथ 'जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई' कुछ व्यापारियोंमें पाप-बुद्धि आने लगी थी । बौद्धकालमें हम देखते हैं कि तराजूकी ठगी, बटखरेकी ठगी, नापकी ठगी, रिश्वत, वंचना, कृतघ्नता, कुटिलता, लूट आदिकी पूँजीवादकी बुराइयाँ जन्म ले चुकी थीं ।[3] उनकी रोक-थामके लिए कड़े नियम बने थे ।

साम्राज्यवादी कालमें व्यापारिक नियमनके लिए कड़े नियमोंकी रचना हो गयी थी । देशी-विदेशी व्यापारपर विधिवत् नियन्त्रण रखनेके लिए 'संस्थाध्यक्ष' नामक अधिकारी नियुक्त होता था । पुराना माल कोई तभी बेच सकता था,

---

१ मैक्समूलर : सेक्रेड बुक्स ऑफ दी ईस्ट, खण्ड २, विष्णु०, ५; १५३ ।

२ हेने : हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ ४६ ।

३ दीघनिकाय ३।७ ।

जब यह प्रमाणित कर दे कि माल चोरीका नहीं है। बटखरोंकी जाँच निरन्तर होती रहती थी। ग्राहकोंको ठगनेवाले व्यापारियोंके लिए कड़े दंडका विधान था। मेल-मिलावट करनेपर जुर्माना देना पड़ता था। व्यापारियोंके मुनाफेपर भी नियन्त्रण रखा जाता था।[1]

यहूदी समाजमें भी व्यापारके नियमनके लिए कड़े नियम बने थे। झूठे बटखरों और मिलावट आदिको रोकनेके लिए, सट्टेद्वारा बाजारकी चीजोंके दाम चढ़ाने, दुर्भिक्षके दिनोंमें प्रभावित क्षेत्रके बाहर अन्नादि भेजने अथवा संचय करनेके विरुद्ध कड़े दण्डकी व्यवस्था की गयी थी। साथ ही खुदरा व्यापारियों-के लिए यह नियम रखा गया था कि वे १६ ⅔ प्रतिशतसे अधिक मुनाफा न लें।[2]

ब्याजका विरोध

प्रारम्भिक अवस्थामें हमारे यहाँ नैतिक भूमिकापर ब्याजका निषेध मिलता है, तदुपरान्त ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्णोंतक ही यह निषेध सीमित रहता है। वे ऋण देकर ब्याज नहीं ले सकते। पर आगे ये निषेध ढीले पड़ जाते हैं।

वैदिक वाङ्मयमें ऋण और ब्याजका स्थान-स्थानपर उल्लेख मिलता है।[3] ऋग्वेदकी एक ऋचामें कहा गया है कि जुएमें ऋणी व्यक्ति यदि ऋण न चुका सके, तो उसे दास बना लिया जाय। बौद्धकालमें श्रेणी अथवा सेट्ठी बड़े पूँजीपति बनते जा रहे थे। उनके धनकी सीमा नहीं थी। रुपया उधार देना, ब्याज लेना, उद्योग-व्यापारमें धन लगाना उनका मुख्य व्यवसाय था।[4] ब्याजकी दर २४ से ६० प्रतिशततक निश्चित करनेका प्रयास किया गया था, फिर भी मनमानी दर चलती थी। पुत्र और उत्तराधिकारी ऋण चुकानेके लिए विवश थे। ऋण-सम्बन्धी नियम बड़े कठोर थे। कभी-कभी तो लोग अपने बाल-बच्चों, स्त्री-पुत्रों-तकको महाजनोंके यहाँ बन्धक रख देते थे। पर बहुत-से महाजन रुपयेको बाहर न फैलाकर जमीनमें गाड़कर रखना पसन्द करते थे।[5]

वशिष्ठने ऐसी व्यवस्था दी है कि जो व्यक्ति ब्याज न चुका सके, वह ऋणदाताके लिए शारीरिक श्रम करके उसे पटा दे।[6] ब्याजकी विभिन्न दरोंकी चर्चा मिलती है। ऐसा भी विधान है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रसे क्रमशः २, ३, ४

---

१ कौटलीय अर्थशास्त्र ४।७७; २।३६; काशीप्रसाद जायसवाल : मनु एण्ड याज्ञवल्क्य, २।२३०, ३।२४६, २५०।

२ जीविश इनसाइक्लोपीडिया, 'पुलिस लॉज' पर लेख।

३ श्रीकृष्णदत्त भट्ट : भारतवर्षका आर्थिक इतिहास, पृष्ठ ५२।

४ बुच : इकॉनॉमिक लाइफ इन ऐंश्येन्ट इण्डिया, खण्ड १, पृष्ठ ८०-६५।

५ एन० सी० बनर्जी : इकॉनॉमिक लाइफ एण्ड प्रोग्रेस इन ऐंश्येन्ट इण्डिया, पृष्ठ २८०।

६ मैक्समूलर : सेक्रेड बुक्स ऑफ दी ईस्ट, खण्ड २, पृष्ठ २३९।

और ५ प्रतिशत ब्याज लिया जाय। पैसेकी तुलनामें अन्न उधार लेनेपर अपेक्षाकृत कम ब्याज-चुकाना पड़ता था।

व्यापारका विकास होनेके पूर्व केवल संकटकालीन स्थितिका सामना करनेके लिए ऋण लेनेकी आवश्यकता पड़ती थी। इस स्थितिमें पैसा देकर ब्याज लेना नैतिक दृष्टिसे अवांछनीय है। कारण इसमें दयनीय स्थितिका अनुचित लाभ उठाना है। अतः भारतीय समाजमें ब्याजका विरोध था और इसी कारण यहूदी समाजमें भी। प्राचीन धर्मग्रन्थोंमें सभी धर्मोपदेशकोंने इसे निंद्य और वर्ज्य बताया है।

यहूदी धर्मग्रन्थोंमें ऋण देकर उसपर ब्याज लेनेका तीव्र विरोध देखनेको मिलता है। पहले तो यह निषेध केवल यहूदियोंतक सीमित था, अन्य लोगोंको उधार देकर वे ब्याज ले सकते थे, बादमें सारे इजराइलवासियोंसे ब्याज लेनेका निषेध कर दिया गया। पर आगे चलकर यह निषेध वहाँ भी ढीला हो गया। निर्धनोंपर दयाके लिए वहाँ विशेष नियम रखे गये थे। कहा गया था कि किसी भाईकी दैनिक आवश्यकताकी वस्तुएँ गिरवी न रखी जायँ। किसीकी आटा पीसनेकी चक्कीका पाट गिरवी न रखा जाय। गिरवीकी वस्तु लेनेके लिए उसके घरमें न घुसा जाय। किसीका ऊपरी परिधान गिरवी रखा हो, तो उसे रात होनेसे पहले लौटा दिया जाय।[1] ऐसे नियमोंसे स्पष्ट है कि इनमें गरीबोंके प्रति दया और सहानुभूतिकी भावना भरी है और ऋण तथा ब्याजपर नीतिका अंकुश कायम है। आगे चलकर यह स्थिति बदल गयी।

यहूदियोंमें सात वर्षपर और पचास वर्षपर स्वर्ण-जयन्तीके अवसरपर विशेष उत्सव मनानेकी धर्म-व्यवस्था थी। हर सात सालपर जमीन न जोती जाय, उसे एक सालतक विश्राम करने दिया जाय। पृथ्वी ईश्वरकी मानी जाती थी। प्रभुका आदेश है कि पृथ्वी मेरी है, वह सदाके लिए बेची नहीं जा सकती। इसलिए यहूदी लोग हर सातवें और पचासवें वर्ष जो जिसका है, उसे वह लौटा दें। इसका तर्कसंगत अर्थ ऐसा मान लिया गया था कि सातवें वर्ष ब्याज न लिया जाय।[2] इस बातके स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलते कि यहूदी लोग स्वर्ण-जयन्तीपर धर्मके आदेशानुसार सबका पावना सबको लौटा देते थे, पर सातवें वर्षपर ब्याज आदि न लेनेका नियम तो कुछ-न-कुछ पालते ही थे।[3]

---

१ जीविश इनसाइक्लोपीडिया, 'यूजुरी' पर लेख।

२ माइकेलिस : लॉज ऑफ मोजेज, खण्ड २, आर्ट्स, १५७, १५६।

३ जोसेफस : ऐण्टीक्विटीज ऑफ दी ज्यूज, पुस्तक १३, अध्याय ८।

निष्कर्ष

प्राचीन युगकी भारतीय और यहूदी विचारधाराओंका तुलनात्मक अध्ययन करनेसे हम इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि दोनों ही विचारधाराएँ आध्यात्मिकतासे ओतप्रोत थीं। दोनों सादा जीवन तथा उच्च विचारपर पूरा बल देती थीं। त्याग और संयम, दया और उदारता, प्रेम और सद्भाव उनका आधार था। वे मानवका सर्वांगीण विकास चाहती थीं। केवल पैसा और भौतिक जीवनकी सम्पन्नता ही उनका लक्ष्य नहीं था। उन्होंने आर्थिक उन्नति, उद्योग-व्यवसाय और व्यापार-वाणिज्यके विकासपर भी ध्यान दिया था, परन्तु यह स्पष्ट कह दिया था कि मानवका जीवन सादा, सदाचारसम्पन्न और पवित्र होना चाहिए। उसकी इच्छाएँ, कामनाएँ और आवश्यकताएँ कमसे कम और मर्यादित रहनी चाहिए। इस मूल लक्ष्यको भूलकर यदि वह केवल पैसेकी ओर झुक जायगा, तो अर्थ अनेक अनर्थोंका कारण बने बिना न रहेगा। उससे अन्याय, अत्याचार, अनाचार, शोषण, दोहन, हिंसा, द्वेष तथा सामाजिक जीवनमें वैषम्य और विशृंखलता फैलेगी ही। अतः जीवनके रक्षण और पोषणके लिए उचित उपायोंसे जितना अर्थ प्राप्त हो जाय, उतनेमें ही सन्तोष करना मानवका धर्म है। यदि केवल पैसेपर दृष्टि रहेगी, तो मानवका कल्याण होना सम्भव नहीं।

यही कारण था कि वेदने कहा था : "मा गृधः कस्यस्विद्‌धनम्" और प्रभु ईसाने कहा था : "सूईकी नोकके भीतरसे ऊँट भले ही निकल जाय, परन्तु धनी व्यक्तिका ईश्वरके साम्राज्यमें प्रवेश हो नहीं सकता !"

यूनानी विचारधारा

विज्ञान-स्वरूप शिव-तत्त्वका साक्षात्कार मानव-जीवनका चरम लक्ष्य है।

—अफलातून

आधुनिक अर्थशास्त्री ऐसा मानते हैं कि यूनानी विचारधाराके अन्तर्गत आधुनिक अर्थशास्त्रके सिद्धान्तोंके बीज पड़े हुए हैं। सुकरातके शिष्य अफलातून (प्लेटो) और अरस्तू (एरिस्टाटल) ने राज्य-व्यवस्था और अर्थनीतिके सम्बन्धमें जो विचार प्रकट किये हैं, उनका भावी विचारधारापर अत्यधिक प्रभाव पड़ा है।

यह तो निर्विवाद है कि आर्थिक विचारधाराका विकास तत्कालीन स्थितिपर निर्भर करता है। जिस समय जिस प्रकारकी राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति होती है, तदनुकूल ही आर्थिक सिद्धान्तोंका गठन और विकास होता है। यूनान भी इसका अपवाद नहीं।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

यूनानका अत्यन्त प्राचीन इतिहास उपलब्ध नहीं है। वीरकालकी जो नाममात्रकी सामग्री प्राप्त है, उससे ऐसा ज्ञात होता है कि उस युगमें आदिवासी

संघटन समाप्त हो चुका था और भूमिपर व्यक्तिगत स्वामित्व, उच्चकोटिका श्रम-विभाजन, व्यापार, विशेषतः समुद्री व्यापार और मुद्राका प्रचलन हो चुका था। समाज विभिन्न श्रेणियोंमें विभक्त हो गया था और उसपर भू-स्वामी वर्गने अपना आधिपत्य जमा लिया था। आदिकालसे जो लोकतन्त्रात्मक संघटन चलते चले आ रहे थे, वे यूनानमें ई० पू० आठवीं शताब्दीमें नष्टप्राय हो गये और सारी सत्ता भू-स्वामियों और परम्परासे चलते आनेवाले शासक-वर्गके हाथमें चली गयी। उत्पादन-वृद्धिसे तथा व्यापारके विकाससे धीरे-धीरे वणिक्-वर्गकी शक्ति भी बढ़ने लगी। आगे चलकर दोनोंमें संघर्षकी नौबत आयी। दासोंकी भारी संख्या और शोषित कृषकों और कारीगरोंकी दयनीय स्थितिने कोढ़में खाजका काम किया। फलतः यूनानी सभ्यताके विनाशकी स्थिति उत्पन्न हो गयी। यह संघर्षमय स्थिति ३३८ ई० पू० तक चलती रही, जब कि मकदूनियन साम्राज्यने सारे यूनानपर अपना आधिपत्य जमा लिया।

अफलातून

ऐसी ऐतिहासिक पृष्ठभूमिमें अफलातून (४२७—३४७ ई० पू०) और अरस्तू का जन्म हुआ। इसी वातावरणमें यूनानका दर्शन और यूनानकी कला पुष्पित-पल्लवित हुई। अतः यह स्वाभाविक था कि यूनानके दर्शन और वहाँकी कलापर तत्कालीन परिस्थितियोंकी छाप हो तथा उनमें पतनोन्मुख समाजकी प्रतिक्रियाकी अभिव्यक्ति हो।

अफलातून अभिजात-वर्गमें उत्पन्न हुआ था। सुकरातका यह शिष्य विश्वके महान् विचारकोंमें अग्रगण्य माना जाता है। उसने एक एकेडमी खोली थी, जिसके सदस्य एक साथ रहते, खाते-पीते, पढ़ते और प्रार्थना करते थे। एथेन्सके प्रजातंत्रका विकृत रूप और अत्यधिक व्यापारके कारण उसमें मानव-मूल्योंका ह्रास होते देखकर उसने व्यापारका विरोध किया था।

राज्यका उदय

राज्य-व्यवस्था और उसके उदयके सम्बन्धमें अफलातूनके विचार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। वह कहता है :

'मेरा विचार है कि मानवकी आवश्यकताओंके कारण राज्यका उदय होता

है। कोई भी व्यक्ति स्वयंपूर्ण नहीं है। हममेंसे प्रत्येक व्यक्तिको अनेक आवश्यकताएँ होती हैं।...चूँकि हमारी आवश्यकताएँ अनेक होती हैं और उनकी पूर्तिके लिए अनेक व्यक्तियोंकी आवश्यकता पड़ती है, मनुष्य एक कामके लिए एकसे सहायता लेता है, दूसरे कामके लिए दूसरेसे। तो जब ये सहयोगी और सहायक एक स्थानपर एकत्र किये जाते हैं, तो उन सभी निवासियोंके समूहको 'राज्य' (स्टेट) कहा जाता है।...वे एक-दूसरेके साथ विनिमय करते हैं; एक देता है, दूसरा लेता है; जिसके भीतर यह भावना भरी रहती है कि विनिमयसे दोनोंका ही भला होगा।'[1]

श्रम-विभाजन

अफलातून ऐसा मानता है कि मनुष्य आवश्यकताओंकी पूर्तिके मामलेमें स्वयंपूर्ण नहीं है, इसके लिए उसे दूसरोंपर निर्भर रहना पड़ता है।

प्रश्न है कि जब मनुष्य स्वयंपूर्ण नहीं है, एक ही व्यक्ति जब अपनी आवश्यकताकी समस्त वस्तुओंका उत्पादन करनेमें असमर्थ है, अपने खानेभरको पूरा अन्न पैदा कर लेना, अपनी आवश्यकताभर वस्त्र तैयार कर लेना, अपने रहनेके लिए मकान बना लेना जब एक मनुष्यके वशकी बात नहीं है, तब यह समस्या सुलझे कैसे? उसके लिए अफलातून विशेषीकरण और विनिमयकी बात कहता है।

अफलातूनका कहना है: 'हमें ऐसा निष्कर्ष निकालना चाहिए कि सभी वस्तुएँ अधिक मात्रामें, अधिक सरलतासे और अधिक उत्कृष्ट रूपमें तभी उत्पन्न होती हैं, जब कोई व्यक्ति उसी कामको करता है, जो उसकी रुचि, उसके स्वभाव और उसकी प्रकृतिके अनुकूल है तथा इस कामको वह उचित समयपर करता है और उसके अतिरिक्त अन्य सारी बातोंको छोड़ देता है।'[2]

आधुनिक आर्थिक सिद्धान्तोंमें श्रम-विभाजनकी विचारधाराका विकास अफलातूनके इसी विचारको लेकर होता है। हचेसन, ह्यूम और अदम स्मिथने आगे चलकर इसी नींवपर श्रम-विभाजनके सिद्धान्तका विकास किया।

अफलातूनकी यह सीधी-सादी धारणा मानवकी तीन प्रकृत आवश्यकताओं—भोजन, वस्त्र और मकानको लेकर है। वह मानता है कि अन्न पैदा करनेके लिए किसान हो, वस्त्र तैयार करनेके लिए बुनकर हो और मकान बनानेके लिए मिस्त्री या कारीगर हो, लुहार, बढ़ई या मोची हों। इन सबके बीच विनिमयकी गति बनाये रखनेके लिए एक जोड़नेवाली कड़ी हो—व्यापारी। प्रत्येक व्यक्ति अपनी रुचिका काम चुनकर उसमें लगे। इस प्रकार विभिन्न व्यवसायवाले

---

१ प्लेटो: रिपब्लिक, पुस्तक २, पृष्ठ १६९; लाज, पुस्तक ३, पृष्ठ ६७८।

२ प्लेटो: रिपब्लिक, पुस्तक २, पृष्ठ ३७०।

इन लोगोंका मिलकर नगर (राज्य) बने। श्रम-विभाजन ही अफ़लातूनकी राज्यकी कल्पनाके मूलमें है।

आदर्श राज्यकी कल्पना

अफ़लातूनने एथेन्सके भ्रष्ट प्रजातन्त्र और स्पार्टाके अकुशल राजतन्त्रके दोषोंसे मुक्त रखनेके लिए जिस आदर्श राज्यकी कल्पना की है, उसमें उसने शासक और शासित, ऐसे दो विभाग किये हैं। वर्ग-संघर्षके भयंकर परिणामसे परिचित होनेके कारण उसने ऐसा सोचा कि ये दोनों वर्ग वर्ग न रहें, प्रत्युत वे जन्मजात जातियोंके रूपमें हों। शासकोंमें भी वह दो विभाग चाहता है : एक हो—दार्शनिक नृपति (एलाइट—Elite) और दूसरा हो—सहायक वर्ग (Auxiliaries)। ये दोनों शासक मिलकर शासितोंसे काम लें। यह हुआ शासकोंका धर्म। शासितोंका धर्म है शासकोंके आदेशानुसार काम करना।

अफ़लातूनकी इस साम्यवादी राज्य-व्यवस्थामें शोषण और वर्ग-संघर्षके लिए स्थान नहीं है। इसमें व्यक्तिगत सम्पत्तिका विधान नहीं है। कारण, उससे भ्रष्टाचार पनपता है। इसमें ऐसी अपेक्षा रखी गयी है कि उच्चतम चरित्रवाले नृपति तर्कबुद्धिसे शासन-कार्यका सञ्चालन करें। कारण, अकुशल और अशिक्षित नृपति राज्यको पतनकी ओर ले जाते हैं। ये शासक केवल आवश्यकताभर लेंगे। उन्हें केवल उतना ही वेतन मिलेगा, जिससे उनका काम चल सके। उनका जीवन तपस्यामय होगा। वे अपनी कोई निजी सम्पत्ति, जमीन या मकान नहीं खड़ा करेंगे, अन्यथा वे शासकके बजाय गृहस्थ और किसान बन जायँगे, नागरिकोंके मित्रके बजाय उनके शत्रु और उनपर अत्याचार करनेवाले बन जायँगे।[1]

अफ़लातूनकी राज्य-व्यवस्थामें निम्नलिखित बातें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं :

(१) श्रम-विभाजनकी व्यवस्था। इससे प्रत्येक व्यक्तिको उसकी रुचिके अनुकूल काम मिल सकेगा और वह उसमें अपनी पूरी शक्तिका सदुपयोग कर सकेगा।

(२) व्यक्तिके रुचि-स्वातन्त्र्य तथा उसके हितको स्वीकार करते हुए भी व्यक्तिपर राज्यकी प्राथमिकता। ऐसा माना गया है कि मनुष्य अपने सर्वोच्च विकासके लिए राज्यपर निर्भर करेगा और अपने विकास द्वारा वह समष्टिका हित करेगा। अफ़लातून कहता है कि 'तुम्हें ऐसा मानना चाहिए कि तुम्हारी सारी सम्पत्ति तुम्हारी नहीं है, तुम्हारे पिछले और अगले परिवारकी है, इतना ही नहीं, वह राज्यकी है।...मैं जो भी नियम बनाऊँगा, वह यह सोचकर कि राज्य और परिवारके लिए अच्छा क्या होगा, व्यक्तिको मैं उससे निचला स्थान ही दूँगा।'[2]

---

१ वीयर : सोशल स्ट्रगल्स इन एंटीक्विटी, पृष्ठ ९७।

२ जोवेट : प्लेटो, खण्ड ५, पृष्ठ ३१०।

जैसे, आयात-निर्यातकी छूट प्रत्येक व्यक्तिको रहेगी, पर राज्यका हित दृष्टिमें रखकर। देशके लिए आवश्यक वस्तुका निर्यात नहीं किया जा सकेगा और न व्यर्थकी विलासकी वस्तुओंका आयात ही किया जा सकेगा।

(३) प्रत्येक व्यक्तिको अहस्तांतरणीय भूमिकी व्यवस्था। ऐसी कल्पना है कि प्रत्येक व्यक्ति अपना एक उत्तराधिकारी चुनेगा—बेटा न हो तो गोद लेगा, अथवा बेटी होनेपर दामादको उत्तराधिकारी बनायेगा। शेष सम्पत्ति अन्य सन्तानोंमें विभाजित की जा सकेगी।

(४) राज्यमें नागरिकोंकी सीमित संख्या—५०४०। जनसंख्या घटनेपर सन्तति-वृद्धिके लिए पुरस्कार दिये जायँगे, बढ़नेपर अन्यत्र उपनिवेश स्थापित किये जायँगे।

(५) साम्यवादी व्यवस्था। अफलातूनकी मान्यता थी कि किसीकी व्यक्तिगत सम्पत्ति न रहे। सारी सम्पत्ति, जिसमें पत्नियाँ और बच्चे भी शामिल हों, समाजकी सम्पत्ति मानी जाय। इससे पारस्परिक राग-द्वेष, ईर्ष्या आदि नहीं पनपेगी; उत्तम सन्तान होगी और जनसंख्यापर नियंत्रण रहेगा। अच्छे और बुरे लोगोंके बच्चोंके जब कुमार्गपर जानेकी आशंका होगी, तो शिक्षण और सुधारके लिए उन्हें किसी अज्ञात स्थानपर भेज दिया जायगा, ताकि शुद्ध और पवित्र शासक उत्पन्न हो सकें। यहाँ यह स्मरणीय है कि साम्यवादकी यह व्यवस्था केवल दार्शनिक या नृपतियों (Guardians) और उनके सहायकों (Auxiliaries) के ही लिए थी। कारीगर और व्यापारी निम्नकोटिके माने जाते थे। उनपर यह लागू नहीं होती थी। दासताको 'स्वाभाविक' मान लिया गया था।

(६) नीतिशास्त्रका प्राधान्य। अत्यधिक सम्पत्तिको अफलातून दो कारणोंसे हेय मानता था—एक तो उससे मनुष्य आलसी और लापरवाह हो जाता है; वह जी लगाकर श्रम नहीं करता, जिससे कलाका ह्रास होता है और दूसरे, अन्यायके बिना अत्यधिक पैसा एकत्र होता नहीं।[1] उसका कहना था कि 'मनुष्यको केवल तीन चीजोंसे प्रेम होता है—आत्मा, उसके बाद शरीर और सबके बाद पैसा। हमारा राज्य इस पैमानेके अनुसार ही गठित होगा।'[2] इस राज्य-व्यवस्थामें सबसे अधिक जोर इस बातपर था कि मनुष्यको यदि प्रसन्न रहना है, तो उसे भला होना चाहिए। आत्माके विकासको इसमें सर्वप्रथम स्थान दिया गया था। ऐसा माना गया था कि सब लोग भाई-भाईकी तरह रहेंगे। उधार देकर पैसेपर ब्याज नहीं लिया जायगा। मूल लौटाना भी जरूरी नहीं रहेगा। कोई व्यक्ति मुद्राके अलावा सोना-चाँदी अपने पास नहीं रखेगा। आर्थिक स्थितिमें कुछ भेद तो रहेगा, पर न

---

१ प्लेटो : रिपब्लिक, पुस्तक ४, पृष्ठ ४२१।

२ प्लेटो : लाज, पुस्तक ५, पृष्ठ ७४३।

तो कोई अत्यधिक धनी होगा, न कोई अत्यधिक गरीब। १ और ४ से अधिक अन्तर नहीं रहेगा। अधिक होनेपर सारी सम्पत्ति राज्यको दे देनी होगी।

अफलातूनका विश्वास था कि उत्तम रीतिसे शिक्षित और त्यागी व्यक्ति ही राज्यका शासन-सूत्र भलीभाँति सँभाल सकते हैं।[1] उनमें इतनी व्यवहार-कुशलता होनी चाहिए कि वे मित्रोंसे प्रेमपूर्वक मिल सकें और शत्रुओंका डटकर सामना कर सकें। उनके मनमें धन-सम्पत्ति, जर-जमीन तथा भोग-विलासकी आकांक्षा नहीं रहनी चाहिए। ऐसे त्यागी, कष्टसहिष्णु और दक्ष व्यक्ति ही राज्यका भलीभाँति संचालन कर सकते हैं।

आदर्श राज्यकी इस कल्पनामें संघर्षशील वर्गोंका वैमनस्य मिटानेका प्रयत्न था, परन्तु अफलातूनके जीवन-कालमें ही यह कल्पना असफल होकर रह गयी। अभिजात वर्गकी क्रान्तिको सफलता मिली, पर आगे उसे भी विदेशी आक्रमकके समक्ष घुटने टेक देने पड़े। पर इसका यह अर्थ नहीं कि अफलातूनकी कल्पनाके साथ-साथ उसके विचारोंका भी अन्त हो गया। वे तो आज भी जीवित हैं और भविष्यमें भी जीवित रहेंगे। कारण, उनका मूल्य स्थायी है।

अरस्तू

अरस्तू (३८४—३२२ ई० पू०) अफलातूनका शिष्य था, परन्तु उसकी बुद्धि गुरुसे भी अधिक प्रखर एवं विश्लेषक थी। गुरुकी विचार-परम्पराको उसने आँख मूँदकर स्वीकार नहीं कर लिया, प्रत्युत जहाँ आवश्यक प्रतीत हुआ, वहाँ उसने उसका तीव्र विरोध भी किया। उसने कृषिसे वाणिज्यकी ओर बढ़नेवाली आर्थिक व्यवस्थाके स्वरूपकी अत्युत्तम व्याख्या की है, जिसका कि परवर्ती अर्थशास्त्रियोंपर अत्यधिक प्रभाव पड़ा है।

राज्यकी उत्पत्ति

राज्यकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें अरस्तू ऐसा मानता है कि राजनीतिक संघटन-की भावना मनुष्यमें जन्मसे ही पड़ी हुई है। मनुष्य प्रकृत्या सामाजिक प्राणी है। परिवारमें ही राज्यकी उत्पत्तिके बीज पड़े हुए हैं। पुरुष स्त्रीपर निर्भर है, स्त्री पुरुष पर। स्वामी-सेवक, पति-पत्नी, माँ-बाप संततिको लेकर परिवार बनता है। वहाँ हमारी दैनिक

१ भोलानाथ शर्मा : हिन्दी विश्वकोश, १९६०, पृष्ठ १५१।

आवश्यकताओंकी पूर्ति होती है। कई परिवारोंको लेकर गाँव बनता है और कई गाँवोंको लेकर राज्य। राज्यमें ही सबसे पहले स्वाधीनताके लक्ष्यकी पूर्ति होती है।[1]

व्यक्तिगत सम्पत्ति

अरस्तूने अफलातूनके व्यक्तिगत सम्पत्तिसम्बन्धी विचारोंकी कड़ी टीका की है। पत्नियाँ समाजकी सम्पत्ति मानी जायँ, इस कल्पनाके विरुद्ध तो वह था ही, व्यक्तिगत सम्पत्ति ही न रखी जाय—इस धारणाको भी वह बहुत गलत मानता था। उसने कड़े शब्दोंमें इसका प्रतिवाद किया है। वह कहता है कि 'मनुष्य अपनी व्यक्तिगत सम्पत्तिपर सार्वजनिक सम्पत्तिकी अपेक्षा अधिक ध्यान देता है। जिस वस्तुको वह पूर्णतः अपनी मानता है, उसकी रक्षा और विकासमें उसे अधिक दिलचस्पी रहती है, बजाय उसके, जिसमें उसे कुछ थोड़ा-सा ही अंश प्राप्त होना है।'[2] व्यक्तिगत बगीचेकी शोभा और सौंदर्यमें तथा सार्वजनिक पार्ककी शोभा और सौंदर्यमें हमें आज भी इसकी झाँकी मिल जाती है। एककी ओर मनुष्य पूरा ध्यान देता है, दूसरेकी ओर उसकी उपेक्षा ही नहीं रहती, उसे गंदा करनेमें उसे रत्तीभर भी संकोच नहीं होता।[3]

अरस्तूकी मान्यता है कि मनुष्यकी आत्मप्रियता उसके स्वभावमें है। वह कोई व्यर्थ वस्तु नहीं है। जिस वस्तुको वह अपनी मानता है, उसमें उसे अत्यधिक आनन्दकी अनुभूति होती है। अपनी सम्पत्तिसे, अपने धनसे सबको प्रेम होता है। उसीसे मित्रों, साथियों और अतिथियोंकी सेवा करनेमें उसे अपार आनन्द आता है। यह ठीक है कि यह प्रवृत्ति कंजूसके सम्पत्ति-प्रेमकी दिशामें अथवा व्यक्तिगत स्वार्थकी दिशामें नहीं बढ़नी चाहिए। पर इतना तो है ही कि व्यक्तिगत सम्पत्तिके बिना मनुष्यमें प्रेरणाका, उत्साहका जन्म नहीं होता। अतः व्यक्तिगत सम्पत्तिका उन्मूलन अवांछनीय है। उसका उचित दिशामें सदुपयोग होना चाहिए।[4]

अरस्तूका कहना है कि साम्यवादी पद्धतिमें मानवकी स्वाभाविक उत्प्रेरणाकी समाप्ति हो जाती है। जो लोग अधिक काम करेंगे और कम पुरस्कार पायेंगे तथा जो लोग कम काम करेंगे और अधिक पुरस्कार पायेंगे, उन दोनोंमें परस्पर संघर्ष होगा। छोटी-छोटी बातोंपर झगड़े खड़े होंगे। जब पुरस्कारका वितरण होगा, तो कमजोर, शिकायती और शंकालु लोगोंमें बहुत विवाद उठेगा। साम्यवादकी आधारशिलापर खड़ी की गयी एकता अधिक दिनोंतक टिक

१. अरस्तू : पॉलिटिक्स, पुस्तक १, अध्याय २।
२. वही, पुस्तक., पुस्तक २, अध्याय ३।
३. ग्रे : डेवलपमेंट ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन्स, पृष्ठ २२।
४. अरस्तू : पॉलिटिक्स, पुस्तक २, अध्याय ५।

नहीं सकती, वह बालूके महलकी भाँति किसी भी क्षण धराशायी हो सकती है। अतः वर्तमान अर्थ-व्यवस्थामें समुचित संशोधन करके अपने आदर्शके अनुकूल बना लेना अधिक अच्छा रहेगा।[1]

अरस्तूका सुझाव है कि कुछ वस्तुएँ व्यक्तिगत रहें, कुछ सबकी सम्मिलित रहें। उसका कहना था कि आज जितनी चीजें सार्वजनिक हैं, उनकी मात्रा बढ़नी चाहिए। न तो यही वांछनीय है कि सबकी सब या अत्यधिक वस्तुएँ सार्वजनिक बना दी जायँ और न यही वांछनीय है कि सबकी सब या अत्यधिक वस्तुएँ व्यक्तिगत रहें। अति किसी भी दिशामें नहीं होनी चाहिए। वह चाहता था कि सम्पत्तिपर अधिकार व्यक्तिगत रहे, पर दूसरोंको भी उसका उपभोग करनेकी कुछ छूट रहे। सम्पत्तिमें समानतापर वह जोर नहीं देता, आवश्यकता-पूर्तिमें समानतापर उसका जोर है। विभिन्न व्यक्तियोंकी आवश्यकताओंमें भिन्नताकी बात वह स्वीकार करता है। रुचि-वैचित्र्यके आदर्श-के अनुरूप उसकी यह माँग है।[2]

दासताका समर्थन

अफलातूनकी भाँति अरस्तूने भी दासताका समर्थन किया है। उसका कहना है कि समाजमें स्वामी और सेवकका रहना अनिवार्य है और लाभकर भी है। वह ऐसा मानता है कि कुछ लोग 'प्रकृत्या दास' होते हैं। जिस प्रकार शरीर आत्मासे नीचा है, पशु मनुष्यसे नीचा है, उसी प्रकार कुछ लोग अन्य लोगोंसे बहुत नीचे होते हैं। वह कहता है कि भले ही यह प्रकृतिके नियमके विरुद्ध जँचे कि शरीर एक-सा होते हुए भी कुछ लोगोंका आत्मा स्वतंत्र पुरुषों जैसा नहीं होता है और कुछका आत्मा स्वतंत्र पुरुषों जैसा होता है। पर वास्तविकता यही है। ऐसी स्थितिमें नीचे लोगोंका गुलाम रहना, दास बना रहना दूसरोंके लिए भी और स्वयं उनके लिए भी लाभदायक होता है, अन्यथा उनकी स्थिति और भी अधिक दयनीय हो सकती है।[3]

आर्थिक व्यवस्थाके दो रूप

अरस्तूने आर्थिक व्यवस्थाके दो रूप बताये हैं :

१. ओइकोनोमिक (Oikonomik) और
२. चेरामेटिस्टिक (Cheramatistik)

ओइकोनोमिक—इसमें मुख्यतः आवश्यकताओंकी पूर्तिमें सम्पत्तिके उपभोग

---

१ अरस्तू : वही, पुस्तक २, अध्याय ५।

२ हेने : हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ ६३।

३ अरस्तू : पॉलिटिक्स, पुस्तक १, अध्याय ५।

और इन आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिए आवश्यक और उपयोगी पदार्थोंके संग्रहकी पद्धतिका समावेश है।

चेरामेटिस्टिक—इसमें सम्पत्तिकी पूर्तिका विज्ञान आता है, जिसमें द्रव्यके उपार्जन और विनिमयका समावेश है। उसका मत है कि द्रव्यका उपार्जन कुछ लोगोंके अनुसार आर्थिक व्यवस्था ही है और कुछके अनुसार उसका एक मुख्य अंश है।[1]

चेरामेटिस्टिक (विनिमय) के भी दो रूप हैं: (१) स्वाभाविक और (२) अस्वाभाविक।

स्वाभाविक विनिमय उन वस्तुओंका विनिमय है, जिनकी कि मनुष्यको स्वाभाविक रूपसे आवश्यकता होती है। यह प्रकृतिके विरुद्ध नहीं है, प्रत्युत मनुष्यकी प्राकृतिक माँगोंकी पूर्तिके लिए उसकी आवश्यकता पड़ती है।[2]

अस्वाभाविक विनिमय उन वस्तुओंका विनिमय है, जिनसे मनुष्यकी प्रत्यक्ष आवश्यकताओंकी पूर्ति नहीं होती। जैसे, फुटकर दूकानदारी। वह द्रव्योपार्जनकी कलाका स्वाभाविक अंग नहीं है।

अरस्तू ऐसा मानता है कि विनिमय स्वाभाविक रूपसे ही होना चाहिए, अस्वाभाविक रूपसे नहीं।[3]

उपयोगिताके सम्बन्धमें अरस्तूका कहना है कि वस्तुओंके दो प्रकारके उपयोग होते हैं—स्वाभाविक या उचित और अस्वाभाविक या अनुचित। जूता पहननेके उपयोगमें भी आता है, विनिमयके भी। जूतेके दोनों उपयोग हैं। पहला उपयोग स्वाभाविक और उचित है, दूसरा अस्वाभाविक और अनुचित[4] अरस्तूके इन दोनों उपयोगोंको आगे चलकर अर्थशास्त्रियोंने प्रयोगगत-मूल्य (Value in use) और विनिमयगत मूल्य (Value in exchange) नाम दिये। अरस्तूके अनुसार वही विनिमय उचित है, जिसके कारण मनुष्य जितना देता है, ठीक उतना ही पाता है। इसका अर्थ कीमतमें समानता नहीं है, आवश्यकताओंकी पूर्तिमें समानता है। यदि मनुष्य किसानकी उपजसे मोचीकी उपजको अधिक पसन्द करते हैं, तो जूतोंके लिए अधिक अन्न देना उचित होगा।[5]

---

१ अरस्तू: वही, पुस्तक १, अध्याय ३।

२ वही, पुस्तक १, अध्याय ६।

३ अरस्तू: पॉलिटिक्स, पुस्तक १, अध्याय ८।

४ वही, पुस्तक १, अध्याय ६।

५ वही, पुस्तक १, अध्याय ६।

द्रव्य और व्याज

द्रव्यके सम्बन्धमें अरस्तूका मत है कि उसके कारण प्रत्यक्ष विनिमय पीछे पड़ जाता है, परोक्ष विनिमय आगे आ जाता है। इसके कारण धनका संचय होने लगता है। 'जिसे छू लूँ, वह सोना हो जाय', ऐसा वरदान माँगकर पानी पीने-तकके लिए तरस जानेवाले और बेटीको छूकर उससे भी हाथ धो लेनेवाले राजा मिडाजकी लोककथाका उदाहरण देते हुए अरस्तू कहता है कि धनकी पिपासा घृणित वस्तु है। वह मानता है कि द्रव्य वन्ध्या है। द्रव्यके किसी अंशसे दूसरा अंश उत्पन्न नहीं हो सकता। द्रव्य केवल विनिमयका माध्यममात्र हो सकता है। अतः द्रव्यपर व्याज लेना, सूदखोरी करना उसका अस्वाभाविक और अनुचित उपयोग है।

यूनानमें उस समय उत्पादक कार्योंके लिए ऋण नहीं दिया जाता था, संकट-निवारणके लिए दिया जाता था। अतः यूनानी दार्शनिकोंका यह विरोध स्वाभाविक था।[1]

जेनोफोन

यूनानका तीसरा प्रभावशाली विचारक है—जेनोफोन। वह सारी बातोंपर अत्यन्त व्यावहारिक दृष्टिसे विचार करता है। उसके विचारोंकी देन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। कृषिपर उसका जोर है। उसका मत है, कृषि जब उन्नति करती है, तो अन्य कलाएँ भी उन्नति करती हैं। जमीन जब परती पड़ी रहती है, तो अन्य कलाएँ भी नष्ट हो जाती हैं। कृषि-कार्य सीखना सबसे सरल वस्तु है। उसका सुफल बहुत शीघ्र मिलता है। उससे सभी वस्तुएँ उपलब्ध होती हैं। नौकरोंके लिए कृषि-कलासे अधिक प्रिय वस्तु, पत्नीको इससे ज्यादा अच्छी लगने वाली वस्तु, बच्चोंको इससे अधिक मनोरंजक वस्तु और मित्रोंको इससे अधिक मनभावनी वस्तु दूसरी हो नहीं सकती। साथ ही यह भी है कि कृषिसे असंख्य वस्तुएँ मिलती हैं, पर उसका नियम है कि बिना श्रम कुछ भी नहीं मिलेगा।

जेनोफोन बताता है कि भू-स्वामीको कितनी भूमि जोतनेके लिए कितने मजदूरोंकी जरूरत पड़ेगी। यदि कोई आवश्यकतासे अधिक मजदूर रखेगा, तो उसे घाटा उठाना पड़ेगा। सम्पत्ति उसीके लिए सम्पत्ति है, जो उसका उपयोग करना जानता है। द्रव्य भी उसके लिए सम्पत्ति नहीं है, जो उसका उपयोग करना नहीं जानता। उसने विदेशोंसे आकर बसनेवालोंको सुविधाएँ देनेकी भी वकालत की है। कहा है कि उससे राजस्वकी वृद्धि होगी।

चाँदी और सोनेके उत्खननके विषयमें जेनोफोन कहता है कि सोना अधिक

---

१ हेने : हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट पृष्ठ ६७।

मिलनेपर उसका मूल्य घटने लगता है और चाँदीका मूल्य बढ़ने लगता है। चाँदी कभी अपना मूल्य नहीं खोयेगी। श्रम-विभाजनपर वह जोर देता है। कहता है कि एक ही व्यक्ति जब एक काम करेगा, तो उत्तम रीतिसे करेगा। महलोंमें रहनेवाले कई रसोइये रसोईके भिन्न-भिन्न कार्योंमें दक्ष होकर उत्तम प्रकारकी रसोई बना सकेंगे।[1]

इस प्रकार इस विचारकने कृषि, सम्पत्ति, भूमि, श्रम, श्रम-विभाजन, राजस्व, सोना-चाँदी आदिके सम्बन्धमें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विचार प्रकट किये हैं।

सदाचरण और आनन्दोपभोग

स्टोइसिज्म (विषयपराङ्मुखता) के जन्मदाता तत्त्ववेत्ता जेनोने सदाचरण-पर बड़ा जोर दिया है। उसका कहना है[2] कि सदाचरणसे केवल प्रसन्नताकी ही प्राप्ति नहीं होती, वह मानव-जीवनका लक्ष्य भी है। आनन्दके लिए आनन्दकी खोज नहीं करनी चाहिए, आनन्द तो सदाचारी जीवनसे स्वतः ही उपलब्ध हो जाता है। मनुष्यका अस्तित्व समाजके लिए है, उसीसे सदाचरण व्यवहृत होता है। नैतिकताकी भावना मनुष्यमें जन्मजात है। प्राकृतिक जीवन और मनुष्यमें जन्मजात न्यायकी भावना आर्थिक विचारधाराके लिए स्टोइसिज्म-की देन है। मध्ययुगीन जीवन-मूल्योंपर जेनोका गहरा प्रभाव पड़ा।[3]

यूनानके एपीक्यूरियन विचारकोंका मत है कि आनन्दोपभोग और इन्द्रिया-सक्ति ही जीवनका लक्ष्य है। उनका कहना है कि इन्द्रियोंकी संवेदनाओंमें ही आनन्दका निवास है। इन विचारकोंका दृष्टिकोण भौतिकवादी और आनन्दजीवी (Hedonist) है।

निष्कर्ष

यूनानी तत्त्ववेत्ताओंकी विचारधारासे हम इन निष्कर्षोंपर पहुँचते हैं :

१. राजनीति और अर्थशास्त्रका मिश्रण : राजनीति अभी अर्थशास्त्रसे पृथक् नहीं हो सकी थी। दोनोंके मूल्य परस्पर मिश्रित थे। उत्तम जीवनके लिए राज्यकी आवश्यकता स्वीकार कर ली गयी थी। पूर्णताके आदर्शोंकी कल्पना की जा चुकी थी। औचित्य, उपयोगिता, विनिमय, मुद्रा, श्रम आदिके सम्बन्धमें सिद्धान्तोंका विकास होने लगा था।

२. व्यक्तिपर राज्यकी प्राथमिकता : व्यक्तिको राज्यका एक अंग माना जाता था। राज्यको उसपर प्राथमिकता दी जाती थी।

---

१ ग्रे : डेवलपमेण्ट ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन, पृष्ठ २६–३२।

२ हेने : हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थाट, पृष्ठ ६९-७०।

३ नरवणे : हिन्दी विश्वकोश, पृष्ठ ३४१।

३. अलोकतांत्रिक साम्यवाद : साम्यवादकी भावनाका विकास हो रहा था, परन्तु वह सीमित लोगोंके लिए ही था। उसमें व्यक्तिमात्रके विकासकी कल्पना नहीं थी। दासोंका पृथक् वर्ग मानकर उसे अलग कर दिया गया था। दासताको उचित और सुविधाजनक माना जाता था।

४. आदर्शवाद और भौतिकवाद : मानवीय आवश्यकताओं और भौतिकवादपर जोर दिया जाने लगा था। मानवनिर्मित संस्थाओंका महत्त्व आँका जाने लगा था, पर आदर्शवादको भुलाकर नहीं। व्याजका विरोध आर्थिक कारणोंसे होने लगा था।

५. कृषिमूलक भावना : सारी अर्थ-व्यवस्थाके मूलमें कृषि थी।

रोमन विचारधारा

ऐतिहासिक दृष्टिसे, विशाल साम्राज्यकी दृष्टिसे रोमका स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, परन्तु आर्थिक विचारधाराकी दृष्टिसे उसकी देन उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं है। जो भी विचार मिलते हैं, उनपर यूनानकी स्पष्ट छाप लगी है। प्राचीन युगमें यूनानने जहाँ विचारकोंको जन्म दिया, वहाँ रोमने वीरों और राजनीतिज्ञोंको।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

रोमन साम्राज्यका श्रीगणेश भी छोटे कृषि-समुदायोंसे हुआ था। उसमें अत्यन्त ही सामान्य व्यापारका और सामाजिक वर्गोंका उदय हुआ था। भौगोलिक सुविधा, प्राकृतिक साधनोंका बाहुल्य, सैनिक शक्तिका विकास, वाणिज्यमें प्रगति, उपनिवेशोंकी प्राप्ति आदि कारणोंसे रोमन साम्राज्य उत्तरोत्तर सम्पन्न और समृद्ध होता गया। युद्ध और संघर्षोंकी बहुलताका भार कृषकोंपर पड़ता रहा, उनके कर बढ़ने लगे; साथ-साथ भू-स्वामी, ऋणदाता और व्यापारी लोगोंकी लक्ष्मी दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ने लगी। साम्राज्यकी स्थापनाके बाद कुछ व्यवस्था सुदृढ़ हुई, फलतः कृषकोंका भार हलका पड़ा, असन्तोषकी मात्रा घटी और साम्राज्यमें कुछ समयके लिए शान्ति और समृद्धिके दर्शन होने लगे।[1]

रोम-साम्राज्य जब पतनके कगारेपर था, उस समय उसके लेखकोंने लेखनी उठायी थी। रोमकी आर्थिक विचारधारा हमें दर्शन, न्याय और कृषि—इन तीन सूत्रोंमें बिखरी मिलती है।

इस विचारधारामें यूनानके विचारोंकी ही प्रतिच्छवि दृष्टिगोचर होती है। केवल एक विषयमें थोड़ा-सा स्पष्ट अन्तर परिलक्षित होता है और वह है—दासताकी प्रथा। रोमन विचारक ऐसा प्रश्न उठाने लगते हैं कि क्या दासता

१ एरिक रॉल : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ ३६।

स्वाभाविक संस्था है ? मुख्यतः कृषिपर लिखनेवाले कोलूमेला जैसे लेखकोंने दासोंके श्रमको अकुशल बताया है। प्लिनी भी उसका समर्थन करता है।[1] यह भी था कि विभिन्न टुकड़ोंमें साम्राज्यके विभाजित हो जानेके कारण कृषिपर निरीक्षण रखना कठिन होता जाता था और दासोंका श्रम घाटेका सौदा बनता जा रहा था। अतः ऐसे विचारोंको प्रोत्साहन मिलना स्वाभाविक था।

दार्शनिकोंके विचार

रोमन दार्शनिकोंमें प्रमुख हैं—सिसरो, सेनेका और बड़ा प्लिनी। छोटे प्लिनी, मार्कस आरेलियस और एपिक्टेटसका नाम भी इस सम्बन्धमें लिया जा सकता है।

ये सभी दार्शनिक सरल प्राकृतिक जीवनके पक्षपाती थे। भोग-विलास और व्यसनोंसे इन्हें घृणा थी और अर्थपिपासा तथा ब्याजके ये तीव्र विरोधी थे। कृषि-अर्थ-व्यवस्थाको ही वे सर्वोत्तम मानते थे और व्यापार, वाणिज्य तथा अन्य सभी कार्योंको उसकी तुलनामें हेय समझते थे। उनकी दृष्टिमें सबसे अधिक सम्मानजनक व्यवसाय कृषि ही है। अन्य सभी उद्योग, व्यापार, मजदूरी, साहूकारी आदि कार्य असम्मानजनक हैं।[2] सेनेकाका कथन है कि समस्त असत्का मूल द्रव्य है।

स्टोइक (सदाचरणवादी) सादे और पवित्र जीवनपर जोर देते थे। मार्कस आरेलियस कहता है : 'तुम जो कार्य करते हो, उसीमें सन्तुष्ट रहो। तुम्हें जो काम मिला है, उसे प्रेमपूर्वक करना सीखो। और सब बातें प्रभुपर छोड़ दो। वे तुम्हारे शरीर और आत्माके लिए जो ठीक होगा, करेंगे।'[3] सदाचरणवादियों-का विश्वास था कि प्रसन्नता बाहरी वस्तुओंमें नहीं रहती है, प्रत्युत वह कामनाओं और वासनाओंको जीतनेमें रहती है। अतः स्वभावतः वे न तो उत्पादन-वृद्धिके लिए उत्सुक थे और न सम्पत्ति-वितरणकी व्यवस्थामें सुधारके लिए।[4] वे प्रकृति-की ओर लौटनेपर जोर देते थे। उनका तर्क था कि प्रकृति नियमानुकूल और उसकी व्यवस्था विवेकपूर्ण है। अतः उसका अनुकरण करना चाहिए। प्राकृतिक नियमोंका अनुसरण करना ही मनुष्यके लिए वांछनीय है। साथ ही प्राकृतिक नियमोंके अनुकूल अपने-आपको गठित करना मनुष्यके हाथकी बात है।

यद्यपि रोममें व्यापार-वाणिज्य और कला-कौशलको हेय दृष्टिसे देखा जाता था, तथापि रोमके निवासी व्यापारिक सम्बन्ध-स्थापनमें तथा हिसाब-किताबके

---

१ एरिक रौल : वही, पृष्ठ ३७।

२ हेने : हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ ७६-७७, ७९-८०।

३ मेडिटेशन्स ऑफ मार्कस आरेलियस, ४।३१।

४ हेने : वही, पृष्ठ ७८।

मामलेमें अत्यन्त सावधान थे। उनकी दक्षता और सावधानीके अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं।[1] भले ही उन्होंने आर्थिक विवेचन और सिद्धान्तोंका प्रतिपादन न कर पाया हो, आर्थिक सम्बन्धोंके विषयमें उन्होंने कुछ-न-कुछ नियम तो बना ही लिये थे।

न्यायशास्त्रियोंके विचार

रोमन स्मृतिज्ञोंने न्याय-व्यवस्थाको जो देन दी है, वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने न्यायशास्त्रके सम्बन्धमें जिन नियमोंकी रचना की है, उनका आर्थिक विचारधारापर विशेष प्रभाव पड़ा है। मार्शलका कहना है कि 'हमारी वर्तमान पद्धतिपर रोमन न्यायशास्त्रियोंका भला और बुरा, दोनों ही प्रकारका प्रभाव परिलक्षित होता है।'[2] आर्थिक दृष्टिसे इनकी विचारधारा ४ भागोंमें विभाजित की जा सकती है :

१. प्राकृतिक नियम
२. व्यक्तिगत सम्पत्ति और संविदा
३. द्रव्य और व्याज
४. मूल्य-निर्धारण।

रोमन नीतिशास्त्रियोंने मानवीय न्याय और प्राकृतिक न्यायमें भेद कर दिया था। परवर्ती आर्थिक विचारधारा इस भेदसे विशेष रूपसे प्रभावित हुई है। उनका 'जस सिविल' (Jus civile) अथवा नागरिक नियम उनका राष्ट्रीय नियम था। वह रोमके निवासियोंपर लागू होता था। इन नियमोंके द्वारा रोमके नागरिकोंकी सम्पत्ति तथा अन्य आन्तरिक सम्बन्धोंका निर्णय किया जाता था। विदेशियोंके लिए 'जस जेन्टियम' (Jus gentium) नियम थे, जो किसी भी विदेशीपर लागू होते थे। ये नियम अधिक व्यापक थे और प्रचलित स्वेच्छाचारी रीति-रिवाजोंसे प्रभावित नहीं होते थे। ये अधिक युक्तिसङ्गत थे। विदेशी व्यापारियोंकी सम्पत्तिकी सुरक्षा, उनके साथ होनेवाले संविदों और रोम-निवासियोंके साथ होनेवाले आर्थिक सम्बन्धोंका निर्देशन इन नियमोंके द्वारा होता था। बादमें इन नियमोंको यूनानके प्रकृति-सम्बन्धी नियमोंके साथ जोड़ दिया गया और वे 'जस नेचुरल' (Jus Naturale)—प्रकृत नियम—के रूपमें प्रसिद्ध हुए। अदम स्मिथके प्रकृतिवाद पर उसका प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है।

---

१ ओलिवर : रोमन इकॉनॉमिक कंडीशन्स टु दी क्लोज ऑफ रिपब्लिक, १९०७, पृष्ठ १३०-१३१।

२ मार्शल : प्रिंसिपल्स ऑफ इकॉनॉमिक्स, (चतुर्थ संस्करण), पृष्ठ २३।

व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा संविदोंके सम्बन्धमें रोमन न्यायशास्त्रियोंने जिन नियमोंकी रचना की थी, उनका भावी आर्थिक विचारधारापर विशेष प्रभाव पड़ा है।[1] व्यक्तिगत सम्पत्तिका उनका भाव किंचित् संकुचित था। उनके मतानुसार व्यक्तिको संविदोंकी स्वतन्त्रता है। उसे अपनी सम्पत्तिको मनमाने ढङ्गसे बेचने-का अधिकार है।

रोमन आर्थिक विचारधाराकी एक प्रमुख विशेषता यह है कि रोमन न्यायमें वैयक्तिक तत्त्वोंको अवैयक्तिक तत्त्वोंसे पृथक् कर दिया गया है और अवैयक्तिक तत्त्वोंको विशेषता प्रदान की गयी है। यह भावना सदाचरणवादी और धर्मो-पदेशकोंकी विचारधारासे प्रतिकूल पड़ती है। इसने न्यायको धर्मसे पृथक् कर दिया है और उसे अधिक वैज्ञानिक स्तरपर लानेकी चेष्टा की है। इसमें मानवीय व्यक्तित्व तथा व्यक्तिगत अधिकारोंको पर्याप्त महत्त्व नहीं दिया गया है।

रोमके न्यायशास्त्री द्रव्यका मूल्य भलीभाँति पहचानने लगे थे। वे मानते थे कि वह विनिमयका उत्तम साधन है और उसका मूल्य समय-समयपर बदलता रहता है। कानूनसे उसे स्थिर नहीं किया जा सकता।

रोमन इतिहासके आरम्भ-कालमें ब्याज लेनेका विरोध दीख पड़ता है। ४५० ई० पू० में द्वादश पंजिकाके नियम (Laws of the twelve Tables) में ब्याजकी दर निश्चित कर दी गयी है, परन्तु सूदखोरोंकी भर्त्सना की गयी है। ३५७ ई० पू० में ब्याजकी दर १० प्रतिशत निश्चित की गयी है। दस साल बाद ३४७ ई० पू० में वह घटाकर ५ प्रतिशत कर दी गयी है और पाँच साल बाद जैनूशियन कानूनके अनुसार उसका सर्वथा निषेध कर दिया गया है। पर सम्पत्ति-के विकासके साथ-साथ ऋणका आदान-प्रदान बढ़ता गया। ब्याजकी दर निश्चित करनेके प्रयत्न व्यवहार्यतः असफल ही रहे।[2]

रोममें ४५० ई० पू० में वस्तुओंका मूल्य-निर्धारण बाजारपर छोड़ दिया गया था। पर कालक्रममें उचित अथवा सच्चे मूल्य 'वेरम प्रेटियम' (Verum Pretium) का प्रश्न उठा। एक सम्राट्के शासनकालमें ऐसा नियम था कि यदि कोई विक्रेता वस्तुके सच्चे मूल्यके आधेसे कममें किसी वस्तुको बेच दे, तो उसे यह अधिकार है कि वह उस वस्तुको लौटा ले सकता है।[3] आगे उत्पादनके आधारपर वस्तुका वास्तविक मूल्य-निर्धारण करनेकी चेष्टा की गयी। यद्यपि ये नियम व्यवहारमें नहीं आ सके, परन्तु इतना तो स्पष्ट है कि इनके द्वारा नैतिक आधारपर अर्थव्यवस्था खड़ी करनेका प्रयत्न किया गया था।

---

१ हेने : हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ ७४।

२ हेने : वही, पृष्ठ ७६।

३ एशले : इंग्लिश इकॉनॉमिक हिस्ट्री, खंड १, पृष्ठ २०८, टिप्पणी १९।

कृषि-शास्त्रियोंके विचार

काटो, वेरो, कोलूमेला आदि कृषिशास्त्रके विचारकोंने मुख्यतः कृषितन्त्रके सम्बन्धमें अपने विचार प्रकट किये हैं। उनकी यह स्पष्ट धारणा है कि कृषि ही सर्वोत्कृष्ट कार्य और व्यवसाय है। उन्होंने अपने लेखोंमें विभिन्न फसलोंके उत्पादन, चराई, मद्य, तेल तथा अन्य वस्तुओंके उत्पादन आदिकी चर्चा की है। दास-प्रथाकी उन्होंने आर्थिक कारणोंसे निन्दा की है।

रोमके निवासी पहले समुद्र-यात्रासे झिझकते थे। अतः वाणिज्यकी ओर उनका ध्यान नहीं था। पर सैनिक-विजयके बाद लूटका पर्याप्त माल मिलनेसे उनकी विलासकी आकांक्षाएँ बढ़ी, जिससे वे वाणिज्यकी ओर उन्मुख हुए। दासोंकी संख्यामें वृद्धि होनेसे पहलेका कृषक-वर्ग समाप्त होता गया। दासोंके द्वारा बड़े-बड़े राज्यों—लेटीफंडिया (Latifundia) के रूपमें खेती होने लगी। भू-स्वामीके प्रत्यक्ष निरीक्षणके अभावमें उससे लाभके स्थानपर हानि होने लगी। कृषिपर लिखनेवाले लेखकोंकी विचारधारापर इस स्थितिका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। अतः पुरातन सरल और प्राकृतिक जीवनकी ओर लौटनेकी उनकी आकांक्षा स्वाभाविक थी।[1]

निष्कर्ष

रोमन विचारधारामें हमें मुख्यतः ये बातें दीख पड़ती हैं :

१. न्यायशास्त्रका वैज्ञानिक रूपमें विकास।

२. सम्पत्ति, संविदों, ब्याज आदिके सम्बन्धमें अवैयक्तिक व्यक्तिवादपर जोर।

३. सदाचरणवादी दर्शनका प्रभाव।

४. कृषिका सम्मान और प्रकृतिकी ओर पुनः लौटनेकी उत्प्रेरणा। ● ● ●

---

१. हेने : वही, पृष्ठ ८०-८१।

भारतीय अर्थशास्त्रका उदय : ३ :

'अर्थ' आया कि अर्थशास्त्र आरम्भ हुआ। कौड़ी, पैसे, सिक्केके आविष्कारके साथ ही साथ अर्थकी माया पनपने लगी और अर्थशास्त्रका उदय हो गया।

भारतवर्षके अर्थशास्त्रियोंने 'अर्थ' को अत्यन्त व्यापक अर्थमें प्रयुक्त किया है। कौटल्यने कहा है :

मनुष्याणां वृत्तिरर्थः।[1]

'मनुष्यकी वृत्ति ही 'अर्थ' है। उसकी जीविका ही 'अर्थ' है।'

इतना ही नहीं—

मनुष्यवती भूमिरित्यर्थः।[2]

'मनुष्यवाली भूमि भी अर्थ है।'

जब 'अर्थ' यह है, तो 'अर्थशास्त्र' हुआ—

तस्याः पृथिव्या लाभपालनोपायः शास्त्रमर्थशास्त्रमिति।[3]

'मनुष्योंवाली भूमिके लाभ और उसके पालन करनेके उपायोंका जिस शास्त्रमें वर्णन हो, उसका नाम है—'अर्थशास्त्र'।'

इस अर्थशास्त्रमें आधुनिक अर्थशास्त्र तो आता ही है, आधुनिक राजशास्त्र भी आता है। इतना ही नहीं, आधुनिक समाजशास्त्र भी आ जाता है।

इतना अवश्य है कि भारतीय अर्थशास्त्रमें अर्थका लक्ष्य है मोक्ष। वह परम अर्थ है। अन्य तीनों अर्थ—धर्म, अर्थ, काम—उसके साधन हैं। अर्थ और कामका धर्मानुकूल आचरण मोक्षकी प्राप्ति कराता है। इस आधार-शिलापर ही भारतीय अर्थशास्त्रका जन्म हुआ है।

शुक्रनीतिमें कहा गया है :

श्रुतिस्मृत्यविरोधेन राजवृत्तं हि शासनम्।
सुयुक्त्यार्थार्जनं यत्र अर्थशास्त्रं तदुच्यते॥[4]

'अर्थशास्त्र' वह है, जिसमें श्रुति और स्मृतिके अनुकूल राजनीतिका और धर्म तथा युक्तिपूर्वक अर्थोपार्जनके नियमोंका वर्णन हो।

---

१ कौटल्य : अर्थशास्त्र, वार्ता २, अ० १, अधि० १५

२ वही वार्ता २, अ० १, अधि० १५।

३ वही, वार्ता २, अ० १, अधि० १५।

४ शुक्रनीति, अध्याय ४, श्लोक २९६।

भारतीय अर्थशास्त्रका जन्म और उद्भव इसी विचारधाराके अनुकूल हुआ। वेदोंमें, ब्राह्मणोंमें, उपनिषदोंमें, धर्मसूत्रोंमें, पाणिनिके सूत्रोंमें, त्रिपिटकोंमें, जातककथाओंमें, रामायणमें, महाभारतमें, शुक्रनीतिमें स्थान-स्थानपर अर्थशास्त्रीय विचारोंका प्रतिपादन मिलता है।

प्राचीन युगमें भारतीय आर्थिक विचारधारा इन्हीं धर्मग्रन्थोंके आदेशों, उपदेशोंके अनुसार पनपती रही। हमारे प्राचीन वाङ्मयमें आर्योंके वैभव और समृद्धिकी कहानी भरी पड़ी है। उसमें सर्वत्र सम्पन्नताकी झाँकी मिलती है, पर वह सम्पन्नता है सादगी और सात्त्विकतासे ओतप्रोत।[1]

भारतीय अर्थशास्त्रके सर्वप्रथम आचार्य बृहस्पति थे। उनका अर्थशास्त्र सूत्र-रूपमें उपलब्ध है। उसमें अर्थशास्त्रकी सभी बातें नहीं आतीं। कौटल्यने अर्थशास्त्रका अत्यन्त विस्तारसे विवेचन किया है।

इस प्रकार प्राचीन युगमें भारतकी आर्थिक विचारधारा आगे बढ़ने लगी, जो मध्यकालीन युगमें भी उसी तरह बहती रही। ● ● ●

---

१ नारायणचन्द्र बंद्योपाध्याय : इकॉनॉमिक लाइफ एण्ड प्रोग्रेस इन एंश्येण्ट इण्डिया, खण्ड १, हिन्दू काल, १९२५, पृष्ठ २७३-२७७।

पश्चिमी अर्थशास्त्रका उषःकाल

मध्यकालीन युग : १ :

यूरोपमें मध्यकालीन युगकी अवधिके सम्बन्धमें इतिहासज्ञोंमें बड़ा विवाद है। आर्थिक विचारोंकी दृष्टिसे यह अवधि पाँचवीं शताब्दीसे लेकर पन्द्रहवीं शताब्दीतक निर्धारित की जा सकती है। इसे भी दो भागोंमें विभाजित किया जा सकता है :

(१) ४०० ई० से १२०० ई० और

(२) १२०० ई० से १५०० ई० तक।

प्रथम अवधिमें ईसाई चर्चने रोमन-संस्थाओंका विरोध किया। यह विरोध कुछ समयतक चलता रहा, जर्मन समुदायोंके रीति-रिवाज समान हो गये। तदुपरान्त क्रिया और प्रतिक्रियाके तादात्म्यसे दोनों एकाकार-से हो गये।

द्वितीय अवधिमें मध्ययुगीन विचारधाराके दो प्रमुख वादों—सामंतवाद

(Feudalism) और धर्माधिकरणवाद (Scholasticism)—का उदय और विकास हुआ।

जर्मन समुदाय

मध्यकालीन युगमें जर्मन समुदायोंकी आर्थिक विचारधाराका अपना महत्त्व है। वह रोमन व्यवस्थासे भिन्न है। उनके समुदायमें सामाजिक और आर्थिक घटक था ग्राम-समुदाय (Genossen Schaff)। ये समुदाय आत्मनिर्भर थे, लोकतांत्रिक थे। व्यक्तिसे पहले समुदाय था और उसमें भ्रातृत्वकी भावनापर जोर था। समुदायके अन्तर्गत आर्थिक लाभके लिए विनिमय करना अस्वीकार्य था। अर्थ-व्यवस्थाका उसमें विकास नहीं हुआ था। ग्राम-समुदायके सदस्योंको एक ही समय एक ही प्रकारसे खेती करनी पड़ती थी। भू-सम्पत्तिके ४ प्रकार माने गये थे—निवास-स्थान, बगीचे, कृषियोग्य भूमि, परती भूमि। घर और बगीचेपर व्यक्तिगत स्वामित्व माना जाता था। कृषियोग्य भूमि समुदायकी योजनाके अन्तर्गत रहती थी और परती जमीनपर किसीका भी अधिकार नहीं माना जाता था।

ईसाई-धर्मका प्रभाव

मध्यकालीन युगपर रोमन और जर्मन विचारधाराओंके अतिरिक्त ईसाई-मत और चर्चके विचारोंका भी अत्यधिक प्रभाव रहा है। उसके निम्नलिखित सिद्धान्त विशेष रूपसे प्रभावकारी रहे हैं :

(१) भ्रातृत्वकी भावना। यह भावना समुदाय अथवा राष्ट्रकी सीमाओंका अतिक्रमण कर विकसित हुई। इसने सभी वर्गों और जातियोंको अपने अंकमें स्थान दिया।

(२) स्वाभाविक समताकी भावना। सब लोग भाई-भाई हैं। वे छोटे-बड़े हो सकते हैं, पर हैं सब भाई ही। अतः सबके अधिकार समान हैं।

(३) दासताकी भर्त्सना। ईसाई-धर्म स्वीकार करते ही मनुष्यको गुलामीसे मुक्त माना जाय—इस उपदेशका प्रचार।

(४) सम्पत्तिपर समुदायका अधिकार। सारी सम्पत्ति सारे समुदायकी है।

(५) श्रमकी प्रतिष्ठा। जो लोग अपने पसीनेकी कमाई खाते हैं, वे प्रतिष्ठाके पात्र हैं।

(६) दान देनेके कर्तव्यपर जोर। दान देना, भिक्षार्थियोंको भीख देना पुण्यकार्य है। सेंट लुई अपने पुत्रसे कहता है : 'प्यारे पुत्र, गरीबों और संकट-ग्रस्त लोगोंके लिए तुम्हारा हृदय कोमल और दयालुतापूर्ण होना चाहिए। तुम्हें अपनी क्षमता और शक्तिके अनुकूल उनकी समुचित आर्थिक सहायता करनी चाहिए।' इसमें जरूरतमन्दोंकी सहायता करना और अपनी शक्तिके

अनुकूल दान देनेकी बात कही गयी है। इसमें सामाजिक वैषम्य तथा धनिकोंके ट्रस्टीशिपकी बात स्वीकार की गयी है।[1]

मध्ययुगीन पादरियोंके उपदेशोंमें कृषिकी प्रशंसा की गयी है। भौतिक सम्पत्ति आध्यात्मिक विकासमें बाधक मानी गयी है, यद्यपि जनसामान्यको उसके लिए अनुमति भी दी गयी है, बशर्ते कि सर्वसाधारणके हितमें उसका उपयोग किया जाय। उद्योग-व्यवसायका निषेध नहीं है। श्रमकी प्रतिष्ठा बढ़ने लगी है। वस्तुओंके मूल्यके औचित्य-अनौचित्यपर विशेष जोर दिया जाने लगा है। पादरियोंको ब्याज लेनेकी मनाही की गयी है, कारण उसमें अनुचित मूल्य लेनेकी बात है, ब्याजके कारण जितना धन दिया जायगा, उससे अधिक लिया जायगा; अतः वह अनुचित है।

मध्यकालीन युगमें आर्थिक विकास उत्तरोत्तर होता चलता है। मठों, नगरोंकी वृद्धि, कला-कौशल, वाणिज्यके विकास तथा द्रव्यके अधिक प्रचलनके साथ आर्थिक विचारधारा विकसित होने लगती है। बारहवीं शताब्दीमें अरस्तूकी 'पॉलिटिक्स' पुस्तकका लैटिन अनुवाद पश्चिम यूरोपमें पहुँचनेसे इस दिशामें और अधिक प्रगति दृष्टिगोचर होने लगती है।[2]

सामन्तवाद

मध्यकालीन युगमें सामन्तवादी व्यवस्थाका विशेष रूपसे विकास हुआ। प्राचीन युगमें जहाँ दास-प्रथाका प्रचलन था, मध्यकालीन युगमें वहाँ अर्द्धदास (Serf) प्रथाका प्रचलन हुआ। पहलेका दास बादमें अर्द्धदास बन गया। दासकी गणना तो पशु तथा अन्य पण्य वस्तुओंमें ही की जाती थी, पर अर्द्धदासकी स्थिति उससे कुछ उत्तम थी। आर्थिक शृंखलामें साम्राज्य और उपनिवेशोंके पतनके फलस्वरूप जो व्यतिक्रम आ गया था, उसीके कारण अर्द्धदास-प्रथा प्रचलित हो उठी। भू-सम्पत्तिके स्वामी तो थे श्रीमान्, श्रम करता था अर्द्धदास। इस श्रमका उसे कुछ पुरस्कार तो मिलता था, परन्तु इसके लिए उसे कुछ विशिष्ट नियमोंमें बद्ध रहना पड़ता था। जहाँपर भूमिकी व्यवस्था नहीं थी, वहाँ इस अर्द्धदास-वर्गने कारीगरका रूप धारण किया। उसने अपनी कुछ श्रेणियों (Guilds) का भी संघटन किया। इस प्रकार समाज विभिन्न श्रेणी-संघटनोंमें विभाजित हो गया।[3]

धर्माधिकरणवाद

इस युगमें सामन्तवादके अतिरिक्त धर्माधिकरणवाद (Scholasticism)

---

१ हेने : हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ ९४-९५।

२ हेने : वही, पृष्ठ ९७।

३ एरिक रोल : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ ४२-४३।

का भी विकास हुआ। इसमें ईसाई-धर्म और ईसाई-धर्म-संस्था—चर्च—के कुछ-कुछ अंश तो थे ही, अरस्तूकी दार्शनिक विचारधाराका भी इसमें समावेश हो गया था। मध्ययुगमें इस विचारधाराका प्राधान्य रहा।[1]

इस धर्माधिकारी-विचारधाराका जनक माना जाता है—सेंट थामस एक्वाइनस। बाइबिलमें, अरस्तूमें और पादरियोंमें उसकी एक समान श्रद्धा व्यक्त होती है। उसकी विचारधारामें ईसाइयत और अरस्तूके सिद्धान्तोंका समन्वय दीख पड़ता है।[2]

थामस एक्वाइनस

थामस एक्वाइनस (सन् १२२५–१२७४ ई०) ने नियमोंको चार भागोंमें विभाजित किया है :

(१) शाश्वत नियम,
(२) प्राकृतिक नियम,
(३) मानवीय नियम और
(४) दैवी नियम।

शाश्वत नियम वह है, जिसकी रचना ईश्वरने विश्वब्रह्माण्डका नियमन करनेके लिए की है। उसका वह अंश, जिसे मानव ग्रहण कर सकता है और जिसके द्वारा उसमें सद् और असद्के बीच निर्णय करनेकी क्षमता उत्पन्न होती है, प्राकृतिक नियम है। मनुष्य स्वयं जिन नियमोंकी रचना करता है और उसके रीति-रिवाजोंसे जो नियम बनते हैं, वे मानवीय नियम हैं। दैवी नियम ईश्वरीय नियमका वह अंश हैं, जिनका उद्भव धर्मग्रन्थोंमें हुआ है।

एक्वाइनसका कथन है कि प्राकृतिक नियम ही मानवीय नियमोंके आधार होने चाहिए। इसके दो विभाग हुए :

(१) नागरिक (Civil) नियम (रोमन) और
(२) गिरजाघरके (Canon) नियम (Corpus Juris Canonici)।

बोलोग्नाके साधु ग्रेशियनने बारहवीं शताब्दीके मध्यमें गिरजाघरके नियमोंको व्यवस्थित रूप दिया। इसमें धर्मग्रन्थों, अरस्तूके सिद्धान्तों तथा रोमन न्याय—इन तीनोंका समावेश है। मानवीय सम्बन्धोंके विषयमें पुरातन पादरियोंने जो व्यवस्था दे रखी है, उसकी इसमें सम्यक् अभिव्यक्ति होनेके कारण इनके अन्तर्गत आर्थिक विचार भी आ गये हैं।

---

१. एच० एम० राबर्टसन : आसपेक्ट्स ऑफ दी राइज ऑफ इकॉनॉमिक इनडिविजुअलिज्म।

२. ग्रे : डेवलपमेण्ट ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन्स, पृष्ठ ४३।

धर्माधिकरणवाद व्यक्तिवादके विरुद्ध था और इस बातके भी विरुद्ध था कि मानवीय व्यक्तित्वको आर्थिक निर्णयोंका आधार माननेपर जोर दिया जाय। इसमें संस्थाको मानवसे ऊपर स्थान दिया गया था और मनुष्यको 'प्राकृतिक' नियमोंके अनुकूल चलनेकी बात कही गयी थी।[1]

वस्तुका स्वामित्व

थामस एक्वाइनसके मतसे वस्तुपर अधिकार करनेकी प्रवृत्ति मानवमें स्वाभाविक है। इसके लिए यह आवश्यक नहीं कि सभी वस्तुओंपर सबका समान अधिकार हो। व्यक्तिगत सम्पत्ति प्राकृतिक नियमके विरुद्ध नहीं है। वस्तुओंमें मनुष्यके दो प्रकारके अधिकार हो सकते हैं—उनकी प्राप्ति और उनका नियंत्रण। जब किसी व्यक्तिको कोई भी वस्तु व्यक्तिगत मानकर रखनेका अधिकार होता है, तो वह उसकी अधिक सुरक्षा करता है, उसपर अधिक ध्यान देता है। वह उसे अधिक व्यवस्थित रूपमें रखता है और उससे उसे अधिक तृप्ति मिलती है तथा सामूहिक कोषके कारण उत्पन्न होनेवाले विवादोंकी समाप्ति हो जाती है। यही बात वस्तुओंके उपयोगके अधिकारकी। इसमें वस्तुओंपर सबका अधिकार माना जाना चाहिए और जब जिसे जिसकी आवश्यकता प्रतीत हो, वह उसका उपयोग कर ले। अतः यहाँ वस्तुका स्वामी जन-हितकी दृष्टिसे वस्तुका नियंत्रण करता है, भले ही वस्तुका नियंत्रण प्रत्येक व्यक्तिके व्यक्तिगत निर्णयपर छोड़ दिया जाता है। इस दिशामें एक्वाइनस इस सीमातक चला गया है कि अत्यधिक आवश्यकताके समयमें चोरीकी भी अनुमति दी जा सकती है।[2]

सम्पत्तिका सदुपयोग

ईसाई-धर्ममें भ्रातृत्वकी भावनापर बल देनेके अतिरिक्त यह भी कहा गया है कि यह लोक अस्थायी है और परलोककी तैयारीमात्र है। अतः भौतिक जगत्की ओर उदासीनता और सहनशीलताका भाव धारण करना चाहिए। एक्वाइनसका कहना है कि लौकिक जीवन यदि उत्तम है, तो उससे परलोकमें आनन्द प्राप्त होता है। धन यदि उच्च एवं पवित्र जीवन व्यतीत करनेमें सहायक होता है, तो वह अच्छा है, अन्यथा बुरा है। उसी प्रकार दरिद्रता भी वरणीय है, यदि मनुष्य उसके कारण धनसे होनेवाले अनर्थोंसे मुक्त रहकर पवित्र जीवनकी ओर अग्रसर होता है। यों स्वतः न वैभव अच्छा है, न दरिद्रता। अच्छाई-बुराई तो दोनोंके सदुपयोग तथा दुरुपयोगपर निर्भर करती है।[3]

---

१ हेने : हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ ९८।

२ ग्रे : डेवलपमेण्ट ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन, पृष्ठ ४८-४९।

३ ग्रे : वही, पृष्ठ ४८, ५०।

उचित मूल्य

वस्तुओंके मूल्यके सम्बन्धमें एक्वाइनसने औचित्यपर बड़ा बल दिया है। उसका कहना है कि किसी वस्तुका उचितसे अधिक मूल्य लेना अथवा किसी वस्तुका उचितसे कम मूल्य देना अनुचित एवं निषिद्ध है। तात्पर्य यह है कि किसी भी मनुष्यकी विवशतासे लाभ उठाना अवांछनीय है। इस जीवनमें मनुष्य-मात्रको, भाई-भाईको उस स्वर्ण नियमका पालन करना चाहिए, जिसमें कहा गया है कि 'आप अपने प्रति दूसरोंसे जैसे व्यवहारकी अपेक्षा रखते हैं, आपको भी दूसरोंके प्रति वैसा ही व्यवहार करना चाहिए।'

'उचित मूल्य' में 'उचित मजदूरी' की भावनाका समावेश है ही। एक्वाइनस उचित मजदूरीका पक्षपाती है।

व्याजका विरोध

व्याजका निषेध भी उचित मूल्यकी व्याख्याके ही अन्तर्गत आ जाता है। मध्यकालीन युगमें व्याजकी परिभाषा अत्यन्त विस्तृत थी और व्याजमें व्यापार-वाणिज्यमें किये जानेवाले किसी भी अन्यायका समावेश रहता था।

धर्माधिकरणवादमें व्याजके विरोधमें निम्न बातोंपर जोर दिया गया है :

(१) धर्मग्रन्थ इसका निषेध करते हैं। (२) अरस्तूका कहना है कि द्रव्य वंध्या है, अतः उसके लिए व्याज लेना अनुचित है। (३) व्याज समयके लिए लिया जाता है और समय सबकी संयुक्त सम्पत्ति है। समय ईश्वरका है। (४) द्रव्य उधार देनेमें उसका स्वामित्व ही दे दिया जाता है। बिकी वस्तुके उपयोगके लिए पैसा लेना अनुचित है।

कालक्रममें व्यापार-वाणिज्यके विकासके साथ-साथ व्याज लेनेकी समस्यापर मध्यकालीन विचारक भिन्न-भिन्न प्रकारसे अपने विचार व्यक्त करने लगे और क्रमशः व्याज लेना उतना निषिद्ध नहीं रहा, जितना पहले था। एक्वाइनसने बाजारके उतार-चढ़ावके अनुकूल 'उचित मूल्य' में किंचित् हेरफेरके लिए छूट दे रखी थी, ताकि उत्पादकको हानि न उठानी पड़े और वह किसी प्रकार जीवित बना रहे। पर तेरहवींसे सोलहवीं शताब्दीके बीचके विचारक मानने लगे कि व्याज लेना सर्वथा बुरा नहीं है। यों कैथोलिकों और प्रोटेस्टेंटोंकी मूल विचार-धारा यही रही कि व्याज लेना निषिद्ध कर्म है। एक (Eck) नामक जर्मन प्रोफेसरने सन् १५१४ में अपने एक व्याख्यानमें व्याज लेनेका समर्थन करते हुए कहा था कि यदि कोई व्यापारी रुपया उधार ले, तो उससे ५ प्रतिशत व्याज लेना अनुचित नहीं कहा जा सकता।[1]

---

१ जी० ओ० ब्रायन : एन एसे ओन मिडीवल इकॉनॉमिक थिंकिंग, पृष्ठ २११।

कालविनने सन् १५७४ में अपने एक पत्रमें लिखा है कि धनके उपयोगके लिए पैसा लेना पाप है, ऐसा मैं नहीं स्वीकार करता। हाँ, संकट-ग्रस्तोंसे ब्याज लेना अवश्य ही अवांछनीय है।[1] इन सब सिद्धान्तोंका प्रत्यक्ष परिणाम यह आया कि ब्याज लेना खूब प्रचलित हो पड़ा।

मध्यकालीन युगमें कृषिके अतिरिक्त अन्य व्यवसायोंकी, श्रम-विभाजनकी बात विकसित होने लगती है। कृषिको उत्तम व्यवसाय माना जाता है। व्यापार, बशर्ते कि उसमें अनौचित्य न किया जाय और वह सार्वजनिक हितकी दृष्टिसे हो, तो बुरा नहीं माना जाता। एक्वाइनसके मतसे सम्पत्तिका उपयोग सत्कार्यके लिए करना बुरा नहीं है।

ओरेज्म

लिसिक्सका बिशप निकोलस ओरेज्म (सन् १३२०–१३८२ ई०) मध्य-कालीन युगके अन्तिम चरणका विचारक था। सन् १३६० के लगभग उसने द्रव्यके सम्बन्धमें विशेष महत्त्वपूर्ण विचारोंका प्रतिपादन किया।

ओरेज्मने पुरातनकालीन वस्तु-विनिमयकी चर्चा करते हुए बताया कि द्रव्यका आविष्कार होनेसे विनिमयका उत्तम माध्यम मिल गया। द्रव्य कृत्रिम सम्पत्ति है, उसके बाहुल्यके होते हुए भी मनुष्य भूखों मर सकता है। वह सम्पत्तिके विनिमय-का एक साधनमात्र है।

ओरेज्मने द्रव्यसम्बन्धी अपने विवेचनमें द्विधातुवाद (Bi-metallism) की पूर्वकल्पना की है, जिसमें ग्रेशमके नियमका आभास प्रतीत होता है।[2] उसने इस बातपर जोर दिया है कि राजाको स्वेच्छाचारी ढंगसे मुद्राका मूल्य निश्चित नहीं करना चाहिए, अन्यथा अनेक प्रकारकी अस्तव्यस्तता उत्पन्न हो जायगी। मुद्राका नियमन राजाके हाथमें रहे, पर वह समुदायकी ओरसे, उसके हितको दृष्टिमें रखते हुए नियमन करे। वह प्रातिनिधिक रूपमें ही उसका नियंत्रण कर सकता है। मुद्रा-प्रचलनके कारण वह उसका स्वामी नहीं बन जाता।

ओरेज्मने मुद्राके माध्यमसे होनेवाले अन्यायोंकी विस्तारसे चर्चा की है और कहा है कि मुद्रा यदि पूरी, सही, ठीक और शुद्ध नहीं है, उसमें कुछ मिलावट है, उसमें कुछ दोष है, उसका वजन यदि कम है तथा इसी प्रकारकी अन्य कोई खराबी है, तो वह राजाका दोष है। ऐसा राजा अन्यायका पालन करता है। यह उसके लिए अशोभनीय एवं लज्जाजनक है। इस प्रकारकी भ्रष्टताके कारण होने-वाला लाभ वस्तुतः लाभ नहीं है, वह अन्यायपूर्ण एवं अप्राकृतिक है।[3] ब्याज, मुद्राका अशुद्धीकरण तथा ऐसी अन्य भ्रष्टताएँ अनुचित हैं।

---

१ आर० एन० टावने : रेलीजन एण्ड दी राइज आफ कैपिटलिज्म, पृष्ठ [illegible]।

२ एरिक रौल : ए हिस्ट्री आफ इकानामिक थॉट, पृष्ठ ५२।

३ ग्रे : डेवलपमेण्ट आफ इकानामिक डाक्ट्रिन, पृष्ठ ६१–६३।

निष्कर्ष

मध्यकालीन युग संक्रान्ति-काल जैसा है। उसमें संकुचित व्यक्तित्ववाली रोमकी भौतिकवादी विचारधारा; भ्रातृत्वकी भावना एवं आदर्शवादकी प्रतीक ईसाइयतकी धार्मिक विचारधारा; लोकतांत्रिक व्यक्तित्व एवं आदर्शवादकी ओर झुकनेवाली जर्मन समुदायवादी विचारधारा; सार्वजनिक हित और कुछ अंशमें सम्पत्तिके सार्वजनिक उपयोग और अपेक्षाकृत मर्यादित व्यक्तित्ववादवाली अरस्तूकी विचारधाराका मिलकर एक संयुक्त प्रवाह दृष्टिगोचर होता है। कहीं किसी विचार-धाराका प्राबल्य है, कहीं किसीका। धर्माधिकरणवादियोंने इन सब विचारधाराओं-की कुछ-कुछ बातें लेकर समन्वय स्थापित करनेकी चेष्टा की है।

इस संक्रान्ति-कालमें व्यापार-वाणिज्यका विशेष रूपसे विकास होने लगा था, दासताका क्रमशः लोप होने लगा था और उसके स्थानपर अर्द्धदास और मुक्त श्रमकी प्रतिष्ठा होने लगी थी।

इस युगमें हमें मुख्यतः निम्न तथ्य दृष्टिगोचर होते हैं :

१. भौतिकवादसे ईसाइयतके संशोधित आदर्शवादकी ओर प्रगति।

२. असमानतासे समानताकी ओर, दासतासे भ्रातृत्वके आदर्शकी ओर प्रगति।

३. परस्पर-विरोधी आदर्शोंके मध्य सन्तुलन स्थापित करनेका प्रयत्न।

४. 'उचित मूल्य' के सिद्धान्तपर जोर; ग्राहक एवं ऋण लेनेवाले व्यक्तिको शोषणसे मुक्त रखनेका प्रयत्न।

५. विभिन्न रीति-रिवाजों तथा गिरजाघर, श्रेणी-समूह आदिके होते हुए समाज-व्यवस्था एवं न्याय-व्यवस्थाके साथ-साथ व्यक्ति-स्वातन्त्र्यकी भावनाको विकसित करनेका प्रयत्न।

●●●
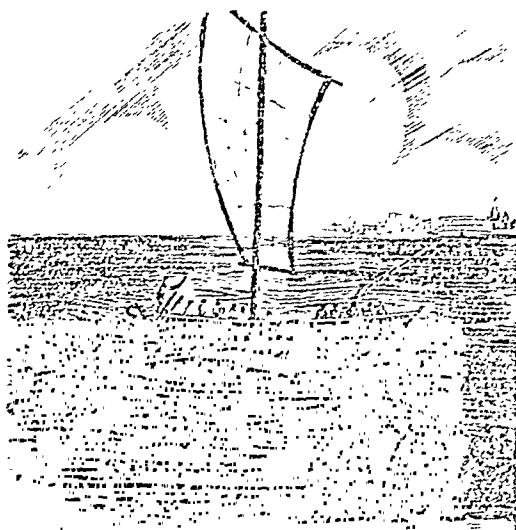
वाणिज्यवाद : २ :

व्यापारे वसते लक्ष्मीः !

सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दीमें औद्योगिक अन्वेषणके फलस्वरूप इंग्लैण्ड तथा यूरोपके विभिन्न देशों एवं उनके उपनिवेशोंमें व्यापार-वाणिज्यका विस्तार विशेष रूपसे होने लगा और 'जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई' न्यायके अनुसार वाणिज्यवादी लोग लक्ष्मीके उपासक बन गये। जैसे भी हो, अधिकसे अधिक मात्रामें सोना और चाँदी प्राप्त करना, उनका लक्ष्य हो गया। उसी अवधिमें स्पेन, हालैण्ड, फ्रांस, इंग्लैण्ड जैसे नये राष्ट्रोंका उदय भी हो रहा था। वाणिज्यवादी लोग इस बातके लिए प्रयत्नशील हुए कि व्यापार-वृद्धि तथा उसकी सुरक्षाके लिए राजसत्ता शक्तिशाली बनायी जाय और उसकी सहायतासे वे ऐसे प्रतिरोधक कानून बना लें, जिनसे उनके लक्ष्यकी पूर्ति हो।

इन व्यापार-बहुल सिद्धान्तों और नियमोंका नाम है—वाणिज्यवाद।

वाणिज्यवादके कई नाम हैं। जैसे,

(१) वाणिज्यवाद—Mercantilism,
(२) वणिक्-पद्धति—Mercantile system,
(३) कोल्बर्टवाद—Colbertism,
(४) धातुवाद—Bullionism,
(५) प्रतिरोधक पद्धति—Restrictive system,
(६) व्यापारिक पद्धति—Commercial system,
(७) राज्य-निर्माणकारी पद्धति—State-making system,

इन सभी नामोंमें तत्कालीन आर्थिक विचारधाराकी आंशिक अभिव्यक्ति होती है। कुछ विचारोंमें भिन्नता होते हुए भी सबमें यह मूलधारा व्याप्त थी कि व्यापार-वाणिज्यका अधिकतम विकास हो तथा उस लक्ष्यकी पूर्तिके लिए राजसत्ताको भी अपना साधन बनाया जाय।

वाणिज्यवादका उदय

इधर इतिहास भी करवट ले रहा था। धर्मकी विचारधारामें सुधारवाद (Reformation) का उदय हो रहा था। पुरातन चर्च-व्यवस्थाकी सर्वशक्तिसम्पन्न सत्ता डगमगाने लगी थी। मार्टिन लूथर जैसे उग्र सुधारवादी लोगोंके विचार अपना प्रभाव दिखाने लगे थे। धर्मकी बन्दिशें ढीली पड़ने लगी थीं। संकुचितताके स्थानपर राष्ट्रीयताकी भावना विकसित होने लगी थी।

उधर सभ्यता और संस्कृतिमें, कला और साहित्यमें, दर्शन और विज्ञानमें भी पुनर्जागरण (Renaissance) दृष्टिगत हो रहा था। 'मानवतावाद' (Humanism) पर भी बल दिया जाने लगा था। मानवके कल्याणकी बातको केन्द्र बनाकर सोचना आरम्भ हो गया था। मानवकी प्रसन्नता और संस्कृतिका विकास उसका लक्ष्य बनने लगा था। भौतिकवादी दृष्टि इसके मूलमें थी। अफलातून और अरस्तूके राज्यके सिद्धान्त, राज्यके साथ व्यक्तिका सम्बन्ध एवं श्रम-विभाजन आदिकी विचारधाराने पुनर्जागरणकी इस भावनाको परिपुष्ट किया। राष्ट्रीयता और शक्तिशाली शासककी भावना भी उत्तरोत्तर विकसित होने लगी, पर उसमें लोक-हित या जन-कल्याणकी भावना अन्तर्भूत थी।[1]

सन् १५१६ में सर टामस मोरकी पुस्तक 'उतोपिया' का प्रकाशन हुआ। उसमें दोनों ही बातोंका समावेश है—यूनानी विचारधाराके अनुकूल सांस्कृतिक आत्मविकासकी पुनर्जागरणकी भावना और लोकतांत्रिक समानताकी ईसाई-भावना। उसके सुझाव थे :

---

१. हेने : हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ ११३-१४।

(१) ६ घण्टेका दिन माना जाय।

(२) प्रत्येक व्यक्ति श्रम करे।

(३) व्यक्तिगत सम्पत्तिके सीमित अधिकार रहें।

ये विचार समयके अनुकूल न होनेसे पल्लवित नहीं हो सके, यह बात दूसरी है; पर इनसे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि विचारकोंने शासन, आर्थिक जीवन एवं जन-कल्याणकी दिशामें विचार करना आरम्भ कर दिया था।

ये थे वाणिज्यवादके उदयके दूरवर्ती कारण। उसका निकटवर्ती कारण थी—पन्द्रहवीं शताब्दीकी समाप्तिके लगभग होनेवाली राजनीतिक और आर्थिक प्रगति। इस प्रगतिके फलस्वरूप ही नव-राष्ट्रोंके उदय हुए।

तात्कालिक कारण

अभीतक कृषिका ही सर्वश्रेष्ठ स्थान रहा था, परन्तु सोलहवीं शताब्दीके आरम्भसे वाणिज्यने पैर पसारने आरम्भ कर दिये थे। देशी एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारका तीव्र गतिसे विकास होने लगा था और मुद्राका प्रचलन बहुत बढ़ने लगा था। महारानी एलिजाबेथके शासन-कालमें इंग्लैण्ड ऊनका निर्यात करनेके स्थानपर ऊनी मालका निर्यात करने लगा था। व्यापारियोंके श्रेणी-समूहोंकी शक्ति और सत्ता बढ़ने लगी थी।[1]

प्रतिद्वंद्विता और मुद्रा

मजदूरोंकी समस्या भी दूसरा रूप ग्रहण करने लगी थी। एक 'स्वतंत्र' मजदूर-वर्गका उदय होने लगा था, प्रतिद्वन्द्विता आने लगी थी, वितरणकी समस्या उठ खड़ी हुई थी, एकाधिकारोंका विरोध होने लगा था।

मुद्राके बिना अत्यधिक विनिमय एवं विदेशी व्यापार सम्भव ही कैसे था? अमेरिकामें चाँदीकी नयी खानोंके आविष्कार (सन् १५४०–१६००) ने इस समस्याको सुलझा दिया। बैंक ऑफ इंग्लैण्डकी स्थापना हुई। सोने-चाँदीके प्रवाहके कारण तथा मुद्रामें भ्रष्टताका प्रचलन होनेके कारण वस्तुओंके मूल्यमें भयंकर रूपसे वृद्धि हो उठी। सट्टेबाजोंको बल मिला। उधर राज्यका व्यय और अपव्यय अन्धाधुन्ध बढ़ने लगा, जिसका भार जनतापर कर-वृद्धिके रूपमें पड़ने लगा। बचत और बैंकिंगपर जोर दिया जाने लगा।

राष्ट्रकी भावना और राजसत्ता

वाणिज्यवादी राष्ट्रकी सम्पत्ति बढ़ानेके लिए उतने उत्सुक नहीं थे, जितने राष्ट्रकी शक्ति बढ़ानेके लिए। एक ओर नगर बढ़ रहे थे, श्रेणियाँ बढ़ रही थीं, सामन्त लोग सिर उठा रहे थे, एकाधिकार बढ़ रहे थे; दूसरी ओर इन सबपर नियंत्रण करनेका प्रयत्न हो रहा था। इस बातकी चेष्टा की जा रही थी कि सब मिलकर एक राष्ट्रकी

---

१ हेने : वही, पृष्ठ ११५।

भावनामें योगदान करें। उसके लिए एक शक्तिशाली नृपतिकी आवश्यकता प्रतीत होने लगी थी। वाणिज्यवादने शासककी इस सर्वग्रासी सत्तापर ही जोर दिया।

हाब्सने 'लेवियथन' (सन् १६५१) में राज्यकी तत्कालीन भावनाकी अभिव्यक्ति करते हुए लिखा है कि वह मनुष्यकी व्यक्तिगत इच्छासे ऊपर था, उसका अधिकार था कि वह सम्पत्तिके विसर्जनपर अपना नियंत्रण करे और उसका कर्तव्य था कि वह वाणिज्यको प्रोत्साहन दे। वाणिज्यवादी अपने व्यापारको फैलानेके लिए या सुरक्षाकी दृष्टिसे राजसत्ताको शक्तिशाली बनानेके पक्षमें थे। उनका सिद्धान्त था कि व्यक्ति राज्यके लिए है, राज्य व्यक्तिके लिए नहीं। इस दृष्टिसे वाणिज्यवादियोंको हम फासिज्मका जनक कह सकते हैं।[1]

वाणिज्यपर जोर

स्वतंत्र मजदूर-वर्ग तथा सामन्तवादके पतनके कारण लोकतंत्रकी भावना क्रमशः विकसित होने लगी थी। व्यापारी लोगोंको सार्वजनिक मामलोंमें व्यापारी हितोंकी दृष्टिसे प्रतिनिधित्व करनेका अवसर दिया जाने लगा था। इस कालकी आर्थिक रचनाओंकी निर्मितिमें बड़े-बड़े व्यापारियोंका बड़ा हाथ है। अन्तर्देशीय और अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्य-व्यापारका नियंत्रण और विकास करनेके लिए उन दिनों जिन कानूनोंकी रचना हुई, उनमें भी वही बात परिलक्षित होती है। ऐसा माना जाने लगा था कि केवल वे ही सरकारें प्रभुत्व प्राप्त करनेमें समर्थ हो सकती हैं, जो राष्ट्र एवं राज्यके आर्थिक हितोंको ध्यानमें रखते हुए इस बातको समझती हैं कि तीव्रता, साहस एवं स्पष्टताके साथ कैसे अपनी नौ-सेना तथा बेड़ेकी शक्तिका अधिकतम उपयोग किया जा सकता है और जो निराक्रम्य कर आदिके सम्बन्धमें उपयोगी और हितकर कानून बनाती हैं।[2]

पैसा ही मूल लक्ष्य

वाणिज्यवादी कालमें सेना तथा युद्धके सम्बन्धमें भी कुछ भावना परिवर्तित हो गयी थी। पहले वीरता एवं शौर्यकी प्रशंसा की जाती थी, परन्तु इस कालमें ऐसी मान्यता होने लगी थी कि उस राजाको ही विशेष रूपसे सफलता एवं विजय प्राप्त होगी, जो अपनी सेनाको खिलाने-पिलाने, पहनाने-ओढ़ाने और वेतन चुकानेके लिए पैसेका आयोजन ठीक ढंगसे कर सकेगा। शूर-वीर सैनिकोंवाले राजाका उसके समक्ष कोई मूल्य नहीं।[3]

वाणिज्यवाद-कालके युद्धोंमें हमें ऐसे ही युद्धोंका बाहुल्य दीख पड़ता है, जिनका मूल उद्देश्य वाणिज्यसम्बन्धी प्रभुताकी स्थापना ही था।

---

१ रामविहारी सिंह : अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र, पृष्ठ ५।

२ श्मोलर : दि मर्केण्टाइल सिस्टम, पृष्ठ ७२।

३ डेवनेण्ट : एन एसे अपॉन वेज एण्ड मीन्स, १६६५, पृष्ठ १६।

तत्कालीन स्थितिका प्रभाव

वाणिज्यवादके विचारकोंमें आधुनिक अर्थशास्त्रके सिद्धान्तोंकी पूर्वकल्पनाएँ दृष्टिगत होने लगी हैं। मूल्य, व्याज, जनसंख्या, कर-प्रणाली आदिके सम्बन्धमें आगे चलकर जिन सिद्धान्तोंका विकास हुआ, उसके बीज वाणिज्यवादी लेखकोंकी रचनाओंमें भरे पड़े हैं। यह ठीक है कि तत्कालीन स्थितिने इन विचारकोंको प्रभावित किया है। उनमें अनेक भूलें एवं भ्रान्तियाँ विद्यमान हैं, परन्तु जिन दिनों युद्धका बाहुल्य था, पारस्परिक स्वार्थोंमें सतत संघर्ष होता रहता था, बैंक और मुद्रा-प्रणालीका आजकी भाँति विकास नहीं हुआ था, उस समय यदि इन विचारकोंने सोने और चाँदीको अपना मूल लक्ष्य बनाया, तो इसमें अस्वाभाविक क्या है?

इस कालमें जिसके पास सोने-चाँदीकी सिलें रहती थीं, उसके हाथमें सत्ता तथा शक्ति भी रहती थी। जहाँ इन धातुओंकी खानें नहीं थीं, वहाँ यह स्वाभाविक था कि लोग व्यापार-वाणिज्यके माध्यमसे सोना-चाँदी जुटाकर अपनी शक्तिका संवर्द्धन करें। और यह तो है ही कि अर्थार्थी अपना ही लाभ देखता है। अतः वाणिज्यवादी विचारकोंने सत्ताको प्रभावित करने, सत्ताको शक्तिशाली बनाने और सत्ताके माध्यमसे अपना स्वार्थ सिद्ध करनेका जो प्रयास किया, उसमें विचित्र एवं असंगत लगने जैसी कोई बात नहीं है। वे व्यावहारिक लोग थे और आदर्शों तथा सिद्धान्तोंपर केवल उतना ही बल देते थे, जितनेसे अपने मूल लक्ष्यमें बाधा न आवे।

अपने उद्देश्यकी पूर्तिके लिए वाणिज्यवादियोंने अंतर्राष्ट्रीय व्यापार, घरेलू उद्योगोंको संरक्षण तथा राज्य द्वारा प्रतिरोधक नियमोंके निर्माणपर सबसे अधिक बल दिया। फ्रांसमें कोल्बर्ट साहबने प्रतिरोधक कानूनोंको तो इस सीमातक बढ़ा दिया कि वाणिज्यवादका एक नाम 'कोल्बर्टवाद' भी पड़ गया!

प्रमुख वाणिज्यवादी लेखक

वाणिज्यवादके प्राथमिक लेखकोंमें दो लेखक अत्यन्त प्रमुख हैं—मचियावेली और जीन बोडिन।

मचियावेली

मचियावेली (सन् १४६९-१५२७ ई०) ने सबसे पहले इस बातपर जोर दिया कि राजा अत्यन्त शक्तिशाली होना चाहिए। राज्य किस प्रकार शक्तिशाली बनाया जा सकता है, इस बातकी उसने 'दि प्रिंस' में विस्तारसे चर्चा की है। इसकी दो विशेषताएँ हैं :

(१) इसने सबसे पहले राजनीतिको नीति और नीतिशास्त्रसे पृथक् करके निष्पक्ष एवं वैज्ञानिक रीतिसे इस बातका विश्लेषण किया कि राजाको शक्तिशाली कैसे बनाया जा सकता है।

वह कहता है कि आवश्यकता ही हमारी पथप्रदर्शिका होनी चाहिए, नीति

या नीतिशास्त्रीय परम्पराएँ नहीं। कारण, अनीतिमान् लोगोंके समूहमें नीतिको पकड़कर बैठे रहनेका अर्थ है—सर्वनाश। अतः सामाजिक समस्याओंपर आवश्यकताके अनुरूप विचार करना वांछनीय है।[1]

(२) यद्यपि उसका विश्लेषण इटलीके नगर-राज्यको ही लेकर है, तथापि वह संकुचित नहीं, व्यापक है तथा अन्यत्र भी वह उचित रीतिसे व्यवहृत किया जा सकता है।

जीन बोडिन

जीन बोडिन (सन् १५२०–१५९६ ई०) ने राजनीतिक भावनाओंका विश्लेषण करते हुए प्रभुसत्ता (Sovereignty) की व्यापक रूप से व्याख्या की है। उसका सार यह है कि प्रत्येक राज्यमें ऐसी एक प्रभुसत्ता होती है, जो किसी भी सत्तासे नीची नहीं होती और अन्य सभी सत्ताएँ उससे नीची होती हैं।

वाणिज्यवादमें राज्य-निर्माणकी, राजसत्ताको शक्तिशाली बनानेकी जो विचार-धारा पल्लवित हुई है, उसपर इन दोनों लेखकोंके विचारोंका अत्यधिक प्रभाव है। उस समय शक्तिशाली राज्योंकी आवश्यकता थी और वाणिज्यवादी व्यावहारिक व्यक्ति थे। अतः उनकी यह माँग स्वाभाविक थी कि राजसत्ता परम शक्तिशाली हो। यह बात दूसरी है कि उनका जोर केवल आर्थिक दिशामें था।[2]

बोडिनने व्यापार-वाणिज्यपर विचार प्रकट करते हुए सोलहवीं शताब्दीमें मूल्योंमें क्रान्तिकी व्यापक व्याख्या की है। मूल्योंमें वृद्धिके कई उदाहरण देते हुए वह उसके ५ कारण बताता है :

१. सोने और चाँदीका बाहुल्य,
२. एकाधिकारोंका प्रचलन,
३. वस्तुओंका अभाव, जिसका आंशिक कारण निर्यात भी है,
४. राजा तथा उसके दरबारियोंका विलास और
५. मुद्राकी भ्रष्टता।

इसका पहला कारण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और उसमें मुद्राके परिमाणका सिद्धान्त स्पष्ट होता है।[3]

टामस मन

टामस मन (सन् १५७१–१६४१ ई०) इंग्लैण्डका प्रसिद्ध वाणिज्यवादी विचारक है। वह कुशल व्यापारी भी था और सन् १६१५ में ईस्ट इण्डिया

---

१ एरिक रौल : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ ८७।
२ ग्रे : डेवलपमेण्ट ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन, पृष्ठ ६८-६९।
३ एरिक रौल : वही, पृष्ठ ५६।

कम्पनीके साथ इसका घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित हुआ। मृत्युकालतक वह उसका डाइरेक्टर रहा। यों तो उसने ईस्ट इण्डिया कम्पनीके बचावके लिए सन् १६२१ में 'ए डिसकोर्स ऑफ ट्रेड फ्राम इंग्लैण्ड इनटू दि ईस्ट इण्डीज' पुस्तक लिखी थी, पर जिस पुस्तकसे उसने वाणिज्यवादके मूल विचारकोंके रूपमें ख्याति पायी, वह थी 'इंग्लैण्ड्स ट्रेजर बाई फारेन ट्रेड'। यह पुस्तक उसने सन् १६३० में लिखी थी, पर प्रकाशित हुई १६६४ में, उसके देहान्तके बाद। उसके पुत्रने इस पुस्तकका प्रकाशन किया। इस पुस्तकमें व्यापारिक पूँजीवादके विचारोंको भरपूर खुल खेलनेका अवसर मिला है। संक्षेपमें टामस मनके विचार इस प्रकार हैं :

(१) परती भूमि अधिकसे अधिक जोत ली जाय। उसमें पटुआ, सन, तम्बाकू आदिकी खेती की जाय और इन वस्तुओंका आयात रोका जाय।

(२) भोजन तथा विलासमें विदेशी वस्तुओंका उपयोग बन्द किया जाय। बढ़ते हुए फैशनसे प्रभावित होनेसे अपनेको रोका जाय।

(३) हम अपने पड़ोसियोंकी आवश्यकताओंका पता लगायें। उनकी आवश्यकताकी जो वस्तुएँ उन्हें दूसरे स्थानसे न मिल सकें, उनका हम उनसे अधिकसे अधिक दाम लें और जो उन्हें अन्यत्रसे उपलब्ध हो सकें, वे हम जितनी ज्यादा सस्ती उन्हें दे सकें, दें; ताकि वह बाजार हम खो न बैठें।

(४) हम अपने ही जहाजोंसे मालका निर्यात करें। इससे हम अपने मालका दाम ही नहीं, व्यापारीका लाभ भी प्राप्त कर सकेंगे।

(५) शाहखर्ची हम अपने देशमें ही करें, ताकि देशके दरिद्रोंको काम मिल सके।

(६) निकटवर्ती समुद्रमें मत्स्य-उद्योगका विकास किया जाय।

(७) व्यापारके लिए एक मण्डी स्थापित की जाय, जिसमें इंग्लैण्ड वितरणका केन्द्र बने और उसके कारण उसकी जहाजरानी, व्यापार एवं राज्यके निराक्रम्य करमें वृद्धि हो।

(८) हम विशेषतः दूरके देशोंसे व्यापार करें। इससे अधिक मुनाफा कमाया जा सकेगा।

(९) कुछ विषयोंमें स्वयं द्रव्यका निर्यात लाभकर हो सकता है। (मनने इस विचारको पुनर्विचारके लिए छोड़ रखा है।)

(१०) मखमल, रेशम आदि विदेशी वस्तुओंका उत्पादन निःशुल्क निर्यात होने दिया जाय। इससे लोगोंको अधिक काम मिलेगा, निर्यात बढ़ेगा और उत्पादनके लिए आयात-वृद्धिसे राज्यके निराक्रम्य करमें भी वृद्धि होगी।

(११) कच्चे मालपर अत्यधिक निराक्रम्य कर न लगाया जाय, अन्यथा मूल्य-वृद्धि होनेसे विदेशोंमें उसकी बिक्री कम हो जायगी।

(१२) हमें अपने-आपसे अधिकसे अधिक लाभ उठानेका प्रयत्न करना चाहिए।

टामस मन अन्य वाणिज्यवादियोंकी भाँति ही अपने देशवासियोंके आलस्यकी और उद्योगोंके कम विकासकी भर्त्सना करता है और कहता है कि अन्य देशवाले, जैसे डच लोग यूरोपके 'अच्छे लड़के हैं', हम लोग तो अपनी मौज-मस्तीमें ही डूबे पड़े हैं।[1]

टामस मनने अनुकूल व्यापाराधिक्यपर तो जोर दिया ही है, पर उसने 'मूल-धन' (stock) की बात विशेष रूपसे कही है। उसका कहना है कि सम्पत्तिका वह अंश, जो द्रव्यका रूप ग्रहण करे, उसका मूलधनके रूपमें उपयोग किया जाना चाहिए, ताकि उससे कुछ मुनाफा कमाया जा सके।[2] विभिन्न देशोंमें सोने-चाँदी-के वितरणकी टामस मनकी व्याख्या महत्त्वपूर्ण है। वह कहता है कि 'सभी देश (जिनके यहाँ सोने-चाँदीकी खानें नहीं हैं) एक ही उपायसे धनी बनते हैं और वह उपाय है—विदेशी व्यापारका अनुकूल व्यापाराधिक्य।'[3]

एंतनी द मांश्रेतीन

एंतनी द मांश्रेतीन (सन् १५७६–१६२१ ई०) फ्रांसका यह विचारक कवि भी था, व्यापारी भी। सन् १६१५ में इसने एक छोटी-सी पुस्तिका—Traicte de L' Economie Politique—लिखकर राजा-रानीको समर्पित की। उसमें फ्रांसके उद्योगोंका विश्लेषण करते हुए राष्ट्रीयताकी भावना व्यक्त की है और राजाको सुझाया है कि स्थितिमें किस प्रकार सुधार किया जा सकता है।

यह पुस्तिका ४ भागोंमें विभाजित है। इसमें कृषिको यद्यपि सारी सम्पत्ति-का मूल माना है, परन्तु सारा जोर है उद्योग और व्यापार-वाणिज्यके विस्तारपर।

मांश्रेतीनने श्रम करनेपर अत्यधिक बल दिया है। उसने आलस्यकी तीव्र भर्त्सना करते हुए कहा है कि इससे पुरुषकी शक्ति क्षीण होती है तथा स्त्रियोंका सतीत्व नष्ट होता है। यह सारे पापोंकी जड़ है। उसका कहना है कि मनुष्यकी प्रसन्नता निर्भर करती है सम्पत्तिपर और सम्पत्ति निहित है श्रममें। अतः प्रत्येक मनुष्यको निरन्तर श्रम करते रहना चाहिए।

दूसरी बात जिसपर उसने जोर दिया है, वह यह कि फ्रांसके शासकोंका लक्ष्य होना चाहिए कि वे फ्रांसको 'अतुलनीय' देश बनायें और उसकी गुप्त तथा प्रकट शक्तियोंका विधिवत् आविर्भाव करें। राष्ट्रीय आत्मनिर्भरता उसका लक्ष्य है और वह मानता है कि 'जो भी वस्तु विदेशी है, वह हमें भ्रष्ट करती है।' उसने

---

१ ग्रे : दि डेवलपमेण्ट ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन, पृष्ठ ८७-८९।

२ एरिक रौल : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ ७७।

३ एरिक रौल : वही, पृष्ठ ७९-८०।

विदेशोंसे सोना-चाँदी लानेपर अन्य वाणिज्यवादियोंकी तरह जोर नहीं दिया है, प्रत्युत कहा है कि हमारे यहाँ जिस वस्तुका अत्यधिक बाहुल्य हो, उसीका निर्यात किया जाय।[1]

अन्तोनियो सेरा

अन्तोनियो सेरा (सन् १५८०–१६५० ई०) इटलीका निवासी था। इसने एक छोटीसी पुस्तिका लिखी है—'ए ब्रीफ ट्रीटाइज ऑन दि काजेज व्हिच कैन मेक गोल्ड एण्ड सिलवर एबाउण्ड इन किंगडम्स ह्वेयर देअर आर नो माइन्स'। इसमें उसने ऐसे उपाय बताये हैं कि जिनके द्वारा बिना खानवाले राज्योंमें सोने-चाँदीका बाहुल्य कैसे हो सकता है।

छोटीसी होनेपर भी सेराकी यह पुस्तिका वाणिज्यवादी कालकी एक महत्त्वपूर्ण रचना मानी जाती है। उसके मतसे सोने-चाँदीकी प्राप्तिके लिए ४ कारण हो सकते हैं :

कृषिकी अपेक्षा उद्योगमें विशेषता है। एक तो उसमें खतरा नहीं। कृषक वर्षा आदिके लिए मौसमपर निर्भर करता है। मौसम ठीक न होनेपर कृषक घाटेमें पड़ सकता है। उद्योगमें मुनाफेका पक्का विश्वास है, बशर्ते कि श्रमकी वृद्धि हो। दूसरे, उद्योग दुगुना ही नहीं, दो सौ गुनातक बढ़ाया जा सकता है। तीसरे, व्यापारका एक निश्चित बाजार रहता है। कृषिकी उपजको सँजोकर रखना कठिन होता है। उद्योगमें यह बात नहीं है। उद्योगमें उत्पादित सामग्रीको बहुत समयतक सुरक्षित रखा जा सकता है, उसे उत्तम बाजारमें ले जा सकते हैं अथवा उसका निर्यात कर सकते हैं। चौथे, कृषिकी उपजमें जितना मुनाफा है, उससे कहीं ज्यादा मुनाफा उद्योगमें है।[2]

फान हार्निक

फान हार्निक (सन् १६३८–१७१२ ई०) आस्ट्रियाका निवासी था। इसके विचारोंका टामस मनसे बहुत कुछ साम्य है। यह कामेरलवादी विचारक है। इसका कहना है कि किसी भी देशकी शक्ति एवं उसका प्राधान्य इसी बातपर निर्भर करता है कि उसके पास सोने-चाँदीका बाहुल्य है तथा उसकी जीविकाके सभी आवश्यक पदार्थ उपलब्ध हैं।

हार्निकने वाणिज्यवादपर जोर देते हुए जिस कार्यक्रमकी सिफारिश की है, उसमें निम्नलिखित ९ बातें मुख्य हैं :

---

१ ग्रे : डेवलपमेंट ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन, पृष्ठ ८०-८५।

२ ग्रे : डेवलपमेण्ट ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन, पृष्ठ ९१-९२।

(१) देशकी भूमिका अधिकतम उपयोग किया जाय। एक चप्पा भूमि भी खाली नहीं रहने देनी चाहिए। हर प्रकारके पौधोंको लगाकर उनका प्रयोग करना चाहिए। सम्भव हो, तो सोने-चाँदीका भी आविष्कार करना चाहिए।

(२) उपभोग्य वस्तुएँ देशमें ही प्रस्तुत करनी चाहिए।

(३) जनसंख्याकी वृद्धिको प्रोत्साहन देना चाहिए और जनताको आलस्यसे मुक्त करना चाहिए।

(४) देशके सोने-चाँदीको किसी भी स्थितिमें बाहर नहीं जाने देना चाहिए; पर उनका सञ्चय भी अवांछनीय है। उन्हें बाजारमें घूमने देना उचित है।

(५) देशवासियोंको यथासम्भव अपने देशकी ही बनी वस्तुओंसे अपना काम चलाना चाहिए। विदेशी वस्तुओंपर निर्भर नहीं रहना चाहिए।

(६) विदेशसे कुछ माल मँगाना ही पड़े, तो उसके बदलेमें अपना माल ही देना चाहिए, सोना-चाँदी नहीं।

(७) विदेशसे आयात करना ही पड़े, तो कच्चा माल ही मँगाये और उसका पक्का माल देशमें प्रस्तुत करे।

(८) अपने यहाँके फालतू मालका बाजार रात-दिन खोजते रहना चाहिए। अपना माल तैयार माल हो और सोने-चाँदीके परिवर्तनमें ही उसे दिया जाय।

(९) देशमें पर्याप्त माल हो, तो उसके आयातपर कड़ा प्रतिबन्ध रहे; फिर भले ही अपने देशका माल घटिया श्रेणीका हो और उसका मूल्य भी अधिक हो।

हार्निक आत्मनिर्भरतापर बहुत जोर देता है। उसके समक्ष अपने देशका चित्र है, जो रेशम, ऊनी, सूती वस्त्र और फ्रेंच मालके लिए प्रतिवर्ष १ करोड़ थेलर विदेशियोंको दे डालता है। उसका मूल सिद्धान्त यह है कि किसी वस्तुके लिए दो थेलर दे देना बुरा नहीं है, यदि वे दो थेलर देशमें रहें; पर उसके लिए एक थेलर देना भी बुरा है, यदि वह देशके बाहर चला जाता है। फैशनका वह बहुत तीव्र विरोध करते हुए कहता है : 'अच्छा होता, हम दुष्ट फैशनको उसके बापके घर जहन्नुममें भेज देते!'[१]

इस बातसे इनकार नहीं किया जा सकता कि कुशल एवं दक्ष अंग्रेज व्यापारी मनसे लेकर आस्ट्रियाके राष्ट्रीय वकील और प्रिवी कौंसिलके सदस्य हार्निकतकका अधिकांश वाणिज्यवादी साहित्य राष्ट्रीय हितोंकी ही अभिव्यक्ति करता है।[२]

सर जेम्स स्टुअर्ट

इंग्लैण्डके प्रमुख वाणिज्यवादी लेखकोंमें सर जेम्स स्टुअर्ट (सन् १७१२–

---

१ ग्रे : डेवलपमेण्ट ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन, पृष्ठ ६३—६५।

२ एरिक रौल : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ ६२।

१७८० ई०) अन्तिम माना जाता है। 'एन इनक्वायरी इनटू दि प्रिंसिपल्स ऑफ पोलिटिकल इकॉनॉमी' (सन् १७६७) नामक इसकी पुस्तकमें वाणिज्य-वादकी व्याख्या करते हुए जनसंख्या, कृषि, वाणिज्य, उद्योग, द्रव्य, मुद्रा, व्याज, मुद्रा-प्रचलन, बैंक, विनिमय, सार्वजनिक ऋण एवं करके सम्बन्धमें भी विचार प्रकट किये गये हैं। स्टुअर्टको फ्रांस, जर्मनी, हालैंड और इटलीमें प्रवास करना पड़ा। अतः इसकी विचारधारापर इन देशोंकी तत्कालीन स्थितिका प्रभाव दृष्टिगत होता है।

स्टुअर्ट मुद्रा और बैंकिंगपर विचार करते हुए व्याजका समर्थन करता है। 'माँग और पूर्तिके द्वारा मूल्यका निर्णय होता है'—उसका यह मूल्यसम्बन्धी प्रतिपादन महत्वपूर्ण है, पर अदम स्मिथने इसका उल्लेख नहीं किया, इसके लिए उसकी टीका की जाती है।[1]

वाणिज्यवादकी विशेषताएँ

वाणिज्यवादियोंकी विचारधारामें राजसत्ताको अत्यधिक शक्तिशाली बनानेकी आकांक्षा विशेष रूपसे दृष्टिगोचर होती है। राजशक्तिका आर्थिक आधार है सम्पत्ति। तत्कालीन वाणिज्यवादियोंकी मान्यता थी कि सम्पत्तिका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रूप है—सोना-चाँदी। उसकी प्राप्तिके लिए उद्योगोंके विकासपर उन्होंने जितना बल दिया है, उससे अधिक बल दिया है अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारपर। उक्त व्यापारमें सफलताकी उनकी कसौटी थी—अनुकूल व्यापाराधिक्य। सम्पत्ति-वृद्धि-के लिए उन्होंने प्रतिरोधक कानून बनवाये तथा भूमि-बैंककी कुछ योजनाएँ भी प्रचलित कीं।

वाणिज्यवादकी प्रमुख विशेषताएँ हैं :

(१) बहुमूल्य धातु-संग्रहपर जोर,
(२) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारपर जोर,
(३) अनुकूल व्यापाराधिक्यपर जोर,
(४) औद्योगिक एवं वाणिज्यसम्बन्धी कानून।

स्वर्ण-पिपासा

वाणिज्यवादकी विचारधारामें यत्र तत्र सर्वत्र एक ही पुकार सुनाई पड़ती है—अधिक सोना, अधिक चाँदी, अधिक पैसा, अधिक धन। स्वर्ण एवं रजत-शिलाएँ ही वाणिज्यवादियोंके आकर्षणका सर्वप्रधान केन्द्र थीं। सोने-चाँदीका अधिकतम संग्रह कैसे हो सके, इसी लक्ष्यकी पूर्तिके लिए उनकी अधिकांश प्रवृत्तियाँ थीं।

---

१ हेने : हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ १३९।

इस स्वर्ण-पिपासाके मूलमें था—आर्थिक क्षेत्रका विकास, संगठित बाजारोंकी प्रचुरता, वस्तु-विनिमयके स्थानपर मुद्राका व्यापक रूपसे प्रचलन तथा पैसेकी महत्ता। पैसेसे सेना भी रखी जा सकती है, सुखके असंख्य साधन भी उपलब्ध किये जा सकते हैं, ढेरके ढेर अनाज अथवा गोदामभर रूईके स्थानपर सोने-चाँदीकी कुछ सिलें रख लेना सुविधाजनक भी है। खर्च बढ़ रहे थे, कर बढ़ रहे थे, मूल्य बढ़ रहे थे—उसके लिए आवश्यक था—पैसा, पैसा, पैसा!

सर विलियम पेट्टी सन् १६५५ में लिखता है : "व्यापारका महान् एवं अन्तिम प्रभाव सामान्य रूपसे सम्पत्ति नहीं है, वह है विशेष रूपसे चाँदी, सोना, जवाहरातका बाहुल्य। ये न तो नष्ट होते हैं और न अन्य वस्तुओंकी भाँति अस्थिर और चंचल हैं; प्रत्युत हर समय तथा हर स्थानपर सम्पत्तिके रूपमें ग्राह्य हैं।···अतः ऐसा व्यापार करना लाभदायक है, जिससे कि अपना देश सोना, चाँदी और जवाहरात आदिका संग्रह करनेमें समर्थ हो सके।"[१] विलियम रिचर्डसनका कहना है कि "यूरोपमें इस समय व्यापारकी सामान्य कसौटी है—सोना-चाँदी। भले ही कभी-कभी वस्तुके रूपमें उनका व्यवहार हो, पर व्यापारका अन्तिम लक्ष्य सोना-चाँदी ही है। जिस देशके पास सोने-चाँदीका संग्रह अधिक होता है, वह धनी माना जाता है; जिसके पास कम होता है, वह दरिद्र।"[२]

विदेशी व्यापार

टामस मन विदेशी व्यापारकी जोरदार वकालत करते हुए कहता है : "अपनी सम्पत्ति और अपना कोष बढ़ानेका सामान्य साधन है—विदेशी व्यापार। इसे प्रोत्साहन मिलना चाहिए। कारण, हमारे नृपतिका भारी राजस्व, साम्राज्यकी प्रतिष्ठा, व्यापारीका सम्मानजनक व्यवसाय, हमारी कलाओंका विकास, हमारी दरिद्र जनताकी आवश्यकता-पूर्ति, हमारी भूमिका सुधार, हमारे नाविकोंका शिक्षण, हमारे साम्राज्यकी दीवालें, हमारे कोषके साधन, हमारे युद्धोंकी पुष्टि, हमारे शत्रुओंका आतंक—सभी कुछ तो उसी पर निर्भर करता है।" वह मानता है कि यों अनुकूल व्यापाराधिक्यसे जो कोष संचित होता है, वही राज्यमें ठहरता है।[३]

पेट्टी कहता है : 'कृषिसे उत्पादनमें अधिक लाभ है और उत्पादनसे भी अधिक लाभ है वाणिज्य-व्यापारमें।' सर जोशिया चाइल्ड इस बातपर जोर देता है

---

१ सर विलियम पेट्टी : एसेज इन पोलिटिकल एरिथमैटिक. (१६९१), पृष्ठ ११३।

२ विलियम रिचर्डसन : एसे ऑन दि काजेज ऑफ दी डिक्लाइन ऑफ दि फारेन ट्रेड, १७४४।

३ टामस मन : इंग्लैण्ड्स ट्रेड बाई फारेन ट्रेड, १६६४, पृष्ठ ४६।

कि जिन व्यापारोंमें जहाजोंका अधिक उपयोग होता हो, उन्हें अधिकतम प्रोत्साहन मिलना चाहिए। उसका कहना है कि मालसे जो लाभ मिलता है, उसके अतिरिक्त माल-भाड़ेसे मिलनेवाला लाभ, जो प्रायः उससे अधिक ही होता है, राष्ट्रके लिए शुद्ध लाभ ही लाभ है।[1]

वाणिज्यवादियोंका कहना था कि नाविक केवल नाविक ही नहीं है, वह कारीगर भी है, सैनिक भी है और सम्भावित व्यापारी भी है। जहाजी बेड़े राष्ट्रकी सुरक्षाके लिए बड़े मूल्यवान् हैं और केवल वाणिज्य-व्यापार ही एकमात्र ऐसा साधन है, जिसके द्वारा वे देश सोना और चाँदी प्राप्त कर सकते हैं, जिनके यहाँ सोने-चाँदीकी खानें नहीं हैं।[2]

अनुकूल व्यापाराधिक्य

व्यापार खूब बढ़े, पर उसकी वृद्धि इस प्रकारसे हो कि उससे देशके लिए अनुकूल व्यापाराधिक्य हो सके, ऐसी मान्यता वाणिज्यवादियोंकी थी। इंग्लैण्ड और फ्रांस जैसे देशोंमें सोने-चाँदीकी खानोंका अभाव था। उनके यहाँ सोना-चाँदी संचित होनेका उपाय यही था कि वे आयात करें कम, निर्यात करें अधिक और जो बचत हो, वह सोने-चाँदीके संचयके रूपमें हो। वाणिज्यवादियोंकी यह नीति थी कि अपने देशकी अधिकसे अधिक वस्तुएँ बेची जायँ और विदेशकी कमसे कम वस्तुएँ खरीदी जायँ। चाइल्डका कहना है कि 'यदि आयातसे निर्यात अधिक रहता है, तो ऐसा मानते हैं कि दोनोंके बीचका अन्तर सोने-चाँदीके रूपमें अपने देशमें लाते हैं और इस प्रकार वह साम्राज्यके कोषकी वृद्धि करता है। सोना और चाँदी ही सम्पन्नता और समृद्धि मापनेकी कसौटी हैं।'[3]

अनुकूल व्यापाराधिक्यकी नीति सभी वाणिज्यवादी लेखकोंने पूर्णतः स्वीकार कर ली हो, ऐसा नहीं था। कुछ लोग उसके समर्थक नहीं थे और उसका विरोध भी करते थे।[4]

व्यापारिक कानून

वाणिज्यवादी उग्र संरक्षणवादके समर्थक थे और मुक्त-व्यापारके विरोधी थे। राष्ट्रीय उत्पादन-दक्षता बढ़ानेके लिए उन्होंने अनेक प्रकारके कानून बनवाये। इन कानूनोंके मूलमें यही नीति थी कि जिस प्रकार भी सम्भव हो, अपने देशमें उत्तम

---

१ चाइल्ड : डिसकोर्स ऑफ ट्रेड, भूमिका (१६९०)।

२ हेने : हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ १२१।

३ चाइल्ड, वही, पृष्ठ १५३।

४ हेने : वही, पृष्ठ १२३।

प्रकारका तैयार माल अच्छी मात्रामें उत्पादित किया जाय और उसे दूसरे देशोंमें खपाकर उसके बदलेमें स्वर्णका अधिकतम आयात किया जाय।[1]

अतः उन्होंने इस प्रकारके कानून बनवाये, जिनसे—

(१) उत्पादनकर्ताओंकी संख्यामें वृद्धि हो। प्राकृतिक साधनों और स्रोतोंका अधिकतम विकास हो। धार्मिक सहिष्णुता बढ़े, किसीको भी कितने ही मजदूर और करघे आदि रखनेकी स्वतंत्रता हो, गरीबोंका पोषण हो, ताकि वे उत्पादन-वृद्धिमें योगदान कर सकें। उत्पादन-क्षमता बढ़ानेके लिए समुचित शिक्षणका प्रबन्ध हो।

(२) बैंकों और द्रव्य-साख-पत्रोंके व्यवहारमें वृद्धि हो। नौ-संतरणके कानूनोंका कड़ाईसे पालन हो। उद्योगोंका भरपूर संरक्षण हो। छुट्टियाँ सीमित हों, ताकि काम अधिक हो तथा उत्पादन बढ़ सके।

(३) ब्याजकी दर घटे, नौ-निर्माणको प्रोत्साहन मिले, जिससे व्यापार-वृद्धिमें सुविधा हो।

(४) विदेशोंके तैयार मालपर रोक लगे। अपना जहाजी बेड़ा और सेना शक्तिशाली बने। व्यापारमें भ्रष्टाचार न पनपे। कच्चे मालके अतिरिक्त खाद्य-पदार्थोंके आयातपर और धातुके निर्यातपर प्रतिबन्ध लगे।

(५) उपनिवेशोंकी संख्या बढ़ायी जाय, ताकि वहाँसे कच्चा माल लाकर तैयार माल वहाँ खपाया जाय।

(६) नौ-निर्माणमें वृद्धि हो। राष्ट्रीय पोतों द्वारा ही विदेशी व्यापार किया जाय।

कामेरलवाद

सोलहवींसे अठारहवीं शताब्दीतक लगभग २०० वर्ष जर्मनी तथा आस्ट्रियामें वाणिज्यवादसे मिलती-जुलती कामेरलवाद नामक एक आर्थिक विचारधारा पनपती रही। 'कामेर' का अर्थ है वह स्थान, जहाँ राजकीय कोष संचित करके रखा जाता है। शीघ्र ही इस शब्दका व्यवहार राजकीय सम्पत्तिके लिए किया जाने लगा और 'कामेरलिज्म' (कामेरलवाद) उस कलाको कहा जाने लगा, जिसके अनुसार राजकीय कोषकी सुरक्षा, वृद्धि एवं उसका संचालन होता था। राज्यको आर्थिक संकटोंसे मुक्त रखनेके लिए सरकारी कर्मचारियोंके प्रशिक्षणका यह एक मुख्य विषय बन गया। लूथर और ओसा (सन् १५०६–१५५६) पर भी इस विचार-धाराका प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

जार्ज ओब्रेख (George Obrecht) इस वादके प्रथम विचारक प्रतीत होते हैं। आप सन् १५७५ में स्ट्रासबर्गमें न्यायके प्राध्यापक नियुक्त किये गये थे। बोर्नित्स और क्लाक (सन् १५८३–१६५५) ने इस विचारधाराके विकासमें बड़ा

---

१ हेने : वही, पृष्ठ १२३–१२६।

योगदान किया है। सेकेनडोर्फ (सन् १६२६–१६९२) तो कामेरलवादका जनक ही माना जाता है। बेचर्स (सन् १६३५–१६८२), हार्निक और श्रोडर (सन् १६४०–१६८८); गासेर, डेरीज, डिटमर, जिंके (सन् १६९२–१७६८) और जुस्टी (मृत्यु सन् १७७१) ने कामेरलवादको विशेष रूपसे विकसित किया।

कामेरलवादकी मुख्य विशेषताएँ थीं :

(१) द्रव्य और घनी जनसंख्याके महत्त्वपर जोर और

(२) सरकारी नियमनमें अत्यधिक विश्वास।

सेकेनडोर्फ घनी आबादीका पक्षपाती था और निर्यातका विरोधी था, पर श्रेणी-समूहोंके एकाधिकारको वह पसन्द नहीं करता था और सरकारी नियंत्रणों और कानूनोंमें बहुत कड़ाईका पक्षपाती नहीं था। वह चाहता था कि आर्थिक समस्याओंको राजनीतिक अथवा प्रशासकीय समस्याओंसे पृथक् रखा जाय तथा स्वतंत्र रूपसे उनपर विचार किया जाय।[1]

बेचर्स समाज पर नियंत्रण के लिए अनेक प्रकार के कानूनों की सिफारिश करता है। उसका कहना है कि व्यापारी, कारीगर तथा किसान—इन तीनों पर इस प्रकार नियंत्रण हो कि तीनों पारस्परिक सहकार द्वारा समाजके व्यापारकी वृद्धि करें। सुदृढ़ मुद्रा-व्यवस्था तथा नियन्त्रित कम्पनियों द्वारा विदेशी वाणिज्य-के विस्तारपर बेचर्सने जोर दिया है।[2]

हार्निकका यह कथन अत्यन्त सारगर्भित है कि 'जिस देशमें सोना और चाँदी है, वह धनी तो है; पर आत्म-निर्भरताके लक्ष्यसे वह बहुत दूर है, क्योंकि उसके निवासी सोना-चाँदी न तो खा सकते हैं और न पहन सकते हैं !'

जुस्टीने राज्यकी समृद्धिके तीन उपाय बताये हैं—स्वतन्त्रता, व्यक्तिगत अधिकारोंकी सुरक्षा तथा समृद्ध उद्योग। उसका कहना है कि उत्तम शासन-व्यवस्था तथा समृद्ध उद्योग हो, तो जनसंख्या-वृद्धिपर कोई भी नियंत्रण लगाने-की आवश्यकता नहीं।

कर-निर्धारणके सम्बन्धमें जुस्टीने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण नियम बनाये हैं। अदम स्मिथके सिद्धान्तोंकी उनमें पूर्वकल्पना दृष्टिगत होती है।

वाणिज्यवादसे तुलना

वाणिज्यवाद और कामेरलवादमें सरकारी कानूनोंपर पूरा जोर है। उसमें तट-कर और कर-निर्धारणको विशेष महत्त्व मिला है। दोनों ही सोने-चाँदीके भक्त हैं। दोनों अंतर्राष्ट्रीय प्रतियोगितासे प्रभावित हैं और घनी आबादी, शाहखर्ची और स्वावलंबनपर जोर देते हैं।

---

१ हेने : हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ १५०।

२ हेने : वही, पृष्ठ १५१—१५३।

कामेरलवादी विदेशी वाणिज्य और अनुकूल व्यापाराधिक्यपर वाणिज्य-वादियोंकी तरह उतना ज्यादा जोर नहीं देते।

कामेरलवादका लक्ष्य था राजकीय कोपका रक्षण, उसकी वृद्धि और उसका नियमन। उसीके अनुकूल इस विचारधाराका विकास हुआ। वाणिज्यवादमें राज्य और व्यक्तिके हितोंमें विरोधकी छाया मानकर तदनुकूल विचारधारा पनपी है।[1]

यों मूलतः कामेरलवाद वाणिज्यवादका ही एक अंग है और उसे पृथक् माननेका कोई प्रश्न नहीं है। यह बात दूसरी है कि वाणिज्यवादी लेखकोंने छोटी-छोटी पुस्तिकाएँ लिखी हैं, जब कि कामेरलवादियोंने बड़े-बड़े ग्रन्थोंकी रचना की है। भावी आर्थिक विचारधारापर दोनोंका ही पर्याप्त प्रभाव है।

निष्कर्ष

वाणिज्यवादी कालमें हमें निम्न तथ्य दृष्टिगोचर होते हैं :

१. राष्ट्रकी भावनाका विकास। राजसत्ताको शक्तिशाली बनानेपर जोर।

२. सोने-चाँदीकी महत्ता।

३. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारका विकास।

४. अनुकूल व्यापाराधिक्यपर जोर।

५. सरकारी प्रतिरोधक कानूनोंका बाहुल्य।

६. स्वदेशी उद्योगोंके विकासपर जोर। स्वदेशी भावनाका विस्तार। उद्योगोंकी वृद्धिके लिए व्याजकी दरमें कमी, घनी आबादी और सस्ती मजदूरी-पर जोर।

७. मुद्रा और बैंकिंगके विकासका श्रीगणेश।

• • •

---

१ हेने : वही, पृष्ठ १६३—१६५।
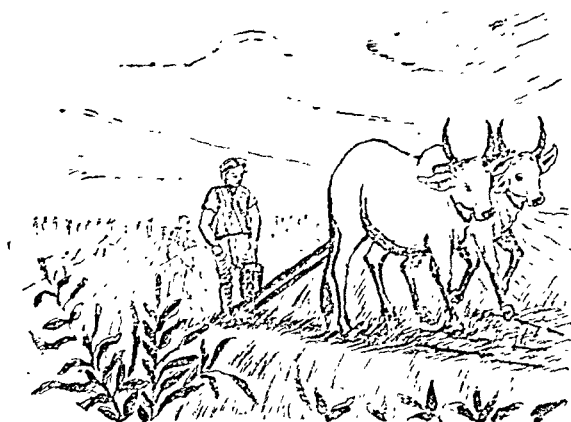
प्रकृतिवाद : ३ :

आधुनिक अर्थशास्त्रियोंकी ऐसी मान्यता है कि वैज्ञानिक रूपमें अर्थशास्त्रका उद्भव प्रकृतिवाद (फिजियोक्रेसी) से ही होता है।[1] प्रकृतिवादमें उसकी नींव पड़ी और अदम स्मिथने उसपर शास्त्रीय पद्धतिके विशाल भवनका निर्माण किया। अभीतक अर्थशास्त्रके विचार हमें धर्मशास्त्र, दर्शन, नीतिशास्त्र, न्यायशास्त्र आदिमें यत्र तत्र बिखरे हुए मिलते रहे हैं; वाणिज्यवादियोंने उन्हें किंचित् व्यवस्थित करनेका प्रयत्न किया, परन्तु अठारहवीं शताब्दीके मध्यभागमें ही वैज्ञानिक रूपमें अर्थशास्त्रका विकास आरम्भ हुआ।[2]

फ्रांसके कुछ विचारकोंने आर्थिक विचारधाराके एक विशिष्ट रूपका उद्भव किया, जिसे उन्हींमेंसे एक–दुपों द नेमो–ने 'फिजियोक्रेसी' (Physiocracy) नाम दिया। तबसे यह नाम प्रचलित हो उठा।

---

१ जीद और रिस्ट : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन्स, १९५९, पृष्ठ २२।
२ हेने : हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ १६६।

'फिजियोक्रेसी' शब्द यूनानी भाषाका है। वह 'फिजियस' और 'क्रेटस'—इन दो शब्दोंसे मिलकर बना है। उसका अर्थ होता है—प्रकृतिका शासन। इन विचारकोंका मत है कि यदि मनुष्य अपने सर्वोच्च कल्याणका इच्छुक है, तो उसे प्राकृतिक नियमोंका पालन करना चाहिए। कृषिपर अत्यधिक जोर देनेके कारण अदम स्मिथने इस पद्धतिको (Agricultural system) 'कृषि-पद्धति' कहा है।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

दौड़कर चलनेवाला जिस प्रकार औंधे मुँह गिरता है, वाणिज्यवादका भी वही हाल हुआ। अभी ठीक ढंगसे उसकी प्रतिष्ठा भी नहीं हो पायी थी कि उसका ह्रास आरम्भ हो गया। इंग्लैण्डमें उसका सिक्का बहुत जबरदस्त था, पर वहीं सत्रहवीं शताब्दीके अन्तमें उसके कड़े प्रतिबन्धोंके विरुद्ध विद्रोह आरम्भ हो गया। फ्रांसमें भी वाणिज्यवादकी वही दुर्गति हुई। कोल्बर्टके शासनका तीव्र विरोध आरम्भ हुआ और प्रकृतिवादकी ऐसी आर्थिक विचारधाराका उदय हुआ, जिसने वाणिज्यवादके महलको ही धराशायी कर दिया।

फ्रांसकी राज्यक्रान्तिके पूर्व पन्द्रहवें और सोलहवें लुईके शासन-कालमें विलासिता और उसकी पूर्तिके लिए प्रजा-पीड़नका जो दौरदौरा चला, उसने फ्रांसकी स्थिति अत्यधिक भयंकर बना दी। राजकीय कोष खाली हो गये, किसान कर-वृद्धिके कारण और मजदूर मजदूरीकी दर घट जानेके कारण त्राहि-त्राहि कर उठे, कर वसूल करनेवाले बीचमें ही कर हड़पने लगे, फलतः शासनकी नींव ही डगमगाने लगी, विद्रोहकी स्थिति उत्पन्न होने लगी और वाणिज्य-वादके दोष उग्र रूपमें जनताके समक्ष आने लगे।[1]

उधर इंग्लैण्डमें होनेवाली कृषि-क्रान्ति भी फ्रांसको प्रभावित करने लगी। राजकीय कोषकी रिक्तता, किसानों और मजदूरोंकी दयनीय स्थिति, सरकारी नियंत्रणों, अवरोधों तथा करोंकी मारने फ्रांसके बुद्धिवादी वर्गको यह सोचनेके लिए विवश कर दिया कि वाणिज्यवादी नीति बदले बिना जनताका कल्याण असम्भव है। इसी मनःस्थितिमें प्रकृतिवादी विचारधाराका जन्म हुआ, जिसने फ्रांसकी भावी राज्यक्रान्तिकी पृष्ठभूमिका तैयार कर दी।[2]

विचारधाराकी पूर्वपीठिका

प्रकृतिवादी विचारधाराकी पूर्वपीठिकामें भिन्न-भिन्न विचार रखनेवाले अनेक विचारक हैं। इनमें डेका और स्पिनोजा भी हैं, हाब्स और पेट्टी भी हैं, लाक और नार्थ भी हैं, ला और ह्यूम भी हैं, कैंटीलन और स्टुअर्ट भी हैं। इनमें फ्रांस-

---

१ हेने : वही, पृष्ठ १७२–१७७।

२ एरिक रौल : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ १२७।

के संक्रान्तिकालीन लेखक मेलन और ग्रोयगिल्वर्ट भी हैं, मार्शल बेंथम और फैलां भी हैं। इनमें ग्रेशियस, पूफेण्ड्राफ और मांटेस्क्यू भी हैं, मेलब्रांश और हेल-वेशस भी हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि प्रकृतिवादी विचारधारामें अनेक प्रवृत्तियोंका सम्मिश्रण दृष्टिगोचर होता है।

प्रकृतिवादमें भौतिकता, व्यक्तिवाद, व्यक्तिगत स्वार्थ, प्राकृतिक नियम और आशावाद—सबका समन्वय है।[1] उदाहरणार्थ—

१. **भौतिकवाद**—'समाज-संस्था आवश्यकताका परिणाम है।'

२. **आदर्शवाद**—'प्रकृत्या हममें जो भावना भरी है, उसपर विचार करनेसे हमें यह बात जँच जाती है कि समाजमें मनुष्योंका संघटन कर्ताकी सामान्य योजनाके ही अन्तर्गत है।'

३. **युक्तिवाद**—तर्कसे यह बात सिद्ध हो जाती है कि प्राकृतिक नियमोंके कारण ही कार्यके साथ परिणाम बँधा हुआ है। तर्कके प्रकाश द्वारा ही प्राकृतिक नियम स्वयं प्रकाशित होता है।

४. **धार्मिक मीमांसा**—'प्राकृतिक नियम', 'दैवी उद्देश्य।' कर्ताकी इच्छा है कि मानव-सृष्टिकी वृद्धि हो। 'एकोऽहं बहुस्याम्।'

५. **सुखोपभोगवाद**—व्ययकी अधिकतम कटौती द्वारा आनन्दकी अधिक-तम प्राप्ति ही आर्थिक व्यवहारकी पूर्णता है।

६. **स्नेहकी महत्ता**—मनुष्यपर करुणा, दया, मित्रता, उदारता, कीर्ति, प्रतिस्पर्द्धा आदि भावनाओंका सहज ही प्रभाव पड़ता है, अतः यह स्पष्ट है कि वह समाजमें रहनेके लिए बना है।

७. **व्यक्तिवाद**—व्यक्तिगत स्वार्थ सहकारके लिए प्रेरित करेगा।

८. **राजकीय शासन**—साम्पत्तिक अधिकारोंके रक्षण एवं प्राकृतिक नियमों-के अनुकूल कार्य करानेके लिए शासनको आवश्यकता है।

९. **मुक्त वाणिज्य,**

१०. **कृषिको संरक्षण,**

११. **सम्पत्तिकी महत्ता**—बाजारू मूल्य ही वह कसौटी है, जिसके द्वारा उस सुविधाका पता चलता है, जो उत्पादनके किसी विशिष्ट प्रकारसे राज्य प्राप्त करता है।

१२. **सम्पत्ति नहीं, कल्याण**—सुखोपभोगके पदार्थोंके बाहुल्यमें ही कल्याणका निवास है।

यों प्रकृतिवादमें विभिन्न विचारोंकी झाँकी मिलती है, पर प्रकृतिवादी विचारधाराके उन्नायकोंने उनके बीच सामंजस्य स्थापित करनेका विशेष रूपसे

---

[1] हेने : वही, पृष्ठ १६६—१६६।

प्रयत्न किया है। उन्होंने इहलोक और परलोक, भौतिकवाद और आदर्शवाद, दोनोंके बीच समन्वय स्थापित करनेकी चेष्टा की है।

प्रमुख विचारक

प्रकृतिवादी विचारधाराके विचारकोंमें केने और तरगोका नाम विशेष रूपसे प्रख्यात है। उनके अतिरिक्त कंडोरसेट और कोंडीला तथा केनेकी शिष्य-मण्डलीके सदस्य गोर्ने, मिराबू, रिवीरे, नेमोर, बाड्यू, लि त्रों आदिके नाम भी उल्लेखनीय हैं। इन सभी विचारकोंमें सब बातोंमें पूर्णतः मतैक्य रहा हो, ऐसा नहीं है। कुछ न कुछ मतभेद रहते हुए भी उनकी मूलधारा एक ही थी। कोल्बर्टवादका विरोध एवं मुक्त व्यापारपर सभीने जोर दिया है। इस विचारधारा-का प्रतिपादन करनेवाली प्रमुख रचनाएँ सन् १७५६ से १७७८ ई० के बीचमें ही प्रकाशित हुई हैं।

केने

प्रकृतिवादके अग्रगण्य विचारक हैं फ्रांसिस केने (सन् १६९४–१७७४)। आपने ६० वर्षकी आयुतक तो राजकीय चिकित्सकका पद सुशोभित किया, उसके बाद आपने अर्थशास्त्र और समाजशास्त्रकी नाड़ी टटोली। इस क्षेत्रको आपका अनुदान इतना महत्त्वपूर्ण है कि तत्कालीन आर्थिक विचारधारापर ही नहीं, प्रत्युत परवर्ती विचारधारापर भी उसका प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। अठारह-बीस वर्षतक आप अपने क्षेत्रमें सूर्यकी भाँति प्रकाशमान रहे और जब गये, तो अपने पीछे एक सुदृढ़ शिष्यमण्डली छोड़ गये।

केनेकी सर्वप्रथम रचनाएँ विश्वकोषमें सन् १७५६-५७ में प्रकाशित हुईं। धन-परिभ्रमणकी आपकी 'आर्थिक सारणी' सन् १७५८ में प्रकाशित हुई। आपके शिष्य मिराबूका कहना है कि 'विश्वका आरम्भ होनेसे लेकर अबतक तीन ही महान् आविष्कार हुए हैं—एक है लेखनका आविष्कार, दूसरा है द्रव्यका आविष्कार और तीसरा है इस आर्थिक सारणीका आविष्कार।'[1] केनेकी 'डाइट नेचुरेल' सन् १७६८ में प्रकाशित हुई।

केनेने सबसे अधिक जोर प्राकृतिक नियमपर दिया है और यह माँग की है कि सबसे अधिक उन्नति कृषिकी ही की जानी चाहिए। कहते हैं कि यह लोकोक्ति केनेकी ही है कि 'किसान गरीब तो राज्य गरीब और राज्य गरीब तो राजा गरीब।' कृषिके विस्तारको अधिकतम अवसर प्रदान करनेके लिए केनेने उद्योग और व्यापारमें अधिक स्वातंत्र्यकी माँग की है।

तरगो

प्रकृतिवादियोंमें एने राबर्ट जैक्स तरगो (सन् १७२७–१७८१) का स्थान

---

१ ग्रे : डेवलपमेण्ट ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन, पृष्ठ १०६-१०७।

भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। आपको प्रेरणा यद्यपि केनेसे ही मिली है, परन्तु कुछ बातोंमें आपका मतभेद भी है। आप पूर्णांशमें प्रकृतिवादी नहीं हैं। 'मूल्य' के सम्बन्धमें आपके विचार अधिक वैज्ञानिक हैं। सामान्यतः तरगोके विचार स्मिथके अधिक निकट हैं।

कृषिकी उत्पादकता और उद्योगका वन्ध्यत्व तथा दोनोंके पारस्परिक विरोधकी बात तरगोको प्रकृतिवादियोंकी भाँति मान्य नहीं है। भू-सम्पत्तिको वह दैवी नहीं मानता। चल सम्पत्तिको उसने अधिक महत्त्व दिया है।[1] वह मुक्त-व्यापारका समर्थक है तथा यह मानता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वार्थको भलीभाँति समझता है।[2]

तरगोने उच्च सरकारी पदोंपर कुछ समयतक कार्य किया और अपनी प्रकृतिवादी मान्यताओंको कार्यरूपमें परिणत करनेका प्रयत्न किया, परन्तु उनमें उसे सफलता नहीं मिली।

'धनके उत्पादन और वितरणपर विचार' (Reflexions...१७६६) उसकी महत्त्वपूर्ण रचना है। यह सन् १७६९ में प्रकाशित हुई। इसमें सौ परिच्छेद हैं, जिनमें आरम्भके ७ परिच्छेदोंमें यह बात सिद्ध करनेकी चेष्टा की गयी है कि केवल कृषिसे ही राष्ट्रकी सम्पत्तिका सम्वर्द्धन होता है और उद्योग तथा व्यापार दोनों ही कृषिपर आश्रित रहते हैं। उसके उपरान्त द्रव्य तथा पूँजीका वर्णन है। अंतके कुछ परिच्छेदोंमें यह बताया है कि भू-राजस्व ही कर-प्राप्तिका उचित साधन है।

गोर्ने (सन् १७१२–१७५९) के विचार केनेसे पूर्णतः मेल नहीं खाते। उसका कहना था कि सरकारको वाणिज्यकी सभी शाखाओंको स्वतन्त्रता देनी चाहिए और प्रतिद्वंद्विताको प्रोत्साहन देना चाहिए, जिससे उत्पादनका संरक्षण होगा तथा वस्तुओंके दाम मिलेंगे। उसका विश्वास था कि उद्योग और व्यापार उत्पादक हैं।

नेमूर (सन् १७३९–१८१७) केनेके अनुयायियोंमें प्रमुख था। राजनीति और अर्थशास्त्रके उत्तम विचारकोंमें उसकी गणना होती है। शासकीय कार्योंमें भी वह निपुण था। फ्रांसीसी संसद्का सदस्य भी रहा। बादमें आतंकके राज्यसे प्राण बचाकर उसे भागकर अमेरिका जाना पड़ा था। सन् १७६७ में उसने एक छोटी, पर महत्त्वपूर्ण पुस्तिका लिखी, जिसके नाममें ही 'फिजियोक्रेसी' (प्रकृतिवादी) विचारधाराका नाम पड़ा।

प्रकृतिवादी विचारकोंका वाल्तेयर आदिने खूब मजाक उड़ाया है, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि जिस समय इनकी विचारधारा विशेष रूपसे विकसित हुई,

---

१ जीद और रिस्ट : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन, पृष्ठ ६५।

२ हेने : हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ १६५।

उस समय इनका समकालीन विचारकों, राजनीतिज्ञों, राजदूतों तथा राजाओं और कुलीन वंशोंपर उत्तम प्रभाव था। सम्भव है, यह इस कारण हो कि प्रकृतिवादी 'प्राकृतिक नियम' के पक्षपाती थे, जिसमें विलासी शासकोंको अपने अस्तित्वकी सुरक्षाका आश्वासन प्रतीत होता था।[1] इन विचारकोंमें अधिकांश बड़े बड़े भू-स्वामी थे तथा पूँजीवादके चश्मेसे वे सारी स्थितिका निरीक्षण करते थे।[2]

प्रकृतिवादके प्रमुख सिद्धान्त

प्रकृतिवादके मूल सिद्धान्त तीन माने जा सकते हैं :

(१) प्राकृतिक नियम (Natural order),

(२) शुध्द उत्पत्ति (Net Product) और

(३) धनका परिभ्रमण (Circulation of wealth)।

इन सिद्धान्तोंकी चर्चा करनेके उपरान्त इनके प्रयोगात्मक पहलुओंपर विचार करना ठीक रहेगा।

प्राकृतिक नियम

प्राकृतिक नियम प्रकृतिवादियोंका केन्द्रबिन्दु है। उनकी समस्त विचारधारा केने द्वारा प्रतिपादित इस नियमपर ही निर्भर करती है।

'प्राकृतिक नियम' का अर्थ यह है कि जिस प्रकार ईश्वरीय आदेशके अनुसार प्राकृतिक व्यवस्था विधिवत् चलती रहती है, उसी नियमके अनुसार आदर्श सामाजिक व्यवस्थाका परिचालन होता है। मानवीय नियमों एवं आदेशोंसे जिस व्यवस्थाका संचालन होता है, वह कृत्रिम है और प्राकृतिक नियमके विरुद्ध है। यह कृत्रिम व्यवस्था ही मानवके सारे दुःखोंका कारण है। मानव द्वारा निर्मित कृत्रिम व्यवस्था अनेक प्रकारके नियंत्रण एवं बन्धनोंकी सृष्टि करती है, जिनके कारण मनुष्य प्राकृतिक नियमसे दूर चला जाता है। इस कृत्रिम व्यवस्थाको मिटाकर मानवको प्राकृतिक नियमकी दिशामें जाना चाहिए।

प्रकृतिवादी लोगोंकी मान्यता है कि मानव-जातिकी प्रसन्नताके लिए ईश्वरने 'प्राकृतिक नियम' की रचना की है। उसका ज्ञान प्राप्त करना हमारा पहला कर्तव्य है और उसके अनुकूल जीवन बिताना हमारा दूसरा कर्तव्य है।[3]

रिवीरेका कहना है[4] कि " 'प्राकृतिक नियम' ईश्वरेच्छाकी अभिव्यक्ति है। ...हमारे सारे स्वार्थ, हमारी सारी इच्छाएँ एक ही बिन्दुपर केन्द्रित हैं। समन्वय एवं सार्वजनीन प्रसन्नता ही उनका लक्ष्य है। हमें इसे दयालु प्रभुकी कृपा मानना

---

१ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ २४-२५।

२ एरिक रॉल : वही, पृष्ठ १३६।

३ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ २८।

४ रिवीरे : खण्ड १, पृष्ठ ३६०; खण्ड २, पृष्ठ ६३८।

चाहिए, जिसकी इच्छा यही है कि इस पृथ्वीपर प्रसन्नतासे पूर्ण मानव-जातिका निवास हो।"

इस प्राकृतिक नियमका ज्ञान किस प्रकार हो, इसके लिए प्रकृतिवादी कहते हैं कि मानव गहन चिन्तन तथा आत्म-विश्लेषण द्वारा स्वयं ही इसका ज्ञान प्राप्त कर सकता है। 'संसारमें आनेवाले प्रत्येक व्यक्तिका हृदय प्रभुकी ज्योति-से आलोकित रहता है'—सेंट जॉनकी इस उक्तिको दुहराते हुए नेमूर कहता है कि उस प्रकाशके द्वारा प्राकृतिक नियमका ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।[1] इस प्राकृतिक नियमको समझनेके लिए मनुष्यको अपने अंतस्‌में झाँककर देखना होगा। प्राकृतिक नियम शाश्वत है, अक्षय है, पूर्ण है। उसे बाहर नहीं, भीतर ही खोजने की आवश्यकता है। प्रत्येक व्यक्तिको इसका ज्ञान प्राप्त कर अपने दैनिक जीवनमें इसका आचरण करना चाहिए। केनेका कहना है कि इससे मानवकी स्वतंत्रता सीमित न होकर उलटे और बढ़ जायगी।[2]

प्रकृतिवादी उसे ही उत्तम अर्थशास्त्र मानते हैं, जिसमें खर्च तो कमसे कम हो और आनन्द अधिकसे अधिक मिले। उनके 'प्राकृतिक नियम' का लक्ष्य यही है। उनकी मान्यता है कि प्रत्येक व्यक्ति जब प्राकृतिक नियमके अनुकूल चलेगा, तो उसे न्यूनतम व्ययमें अधिकतम आनन्दकी उपलब्धि होगी। व्यक्ति अपने स्वार्थको भलीभाँति पहचानता है। व्यक्तिका स्वार्थ समष्टिके स्वार्थसे पृथक् नहीं है। परन्तु यह तभी सम्भव है, जब मनुष्यके मार्गमें कोई प्रतिबन्ध न हो।[3]

इस लक्ष्यकी पूर्तिके लिए प्रकृतिवादी व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा व्यक्तिगत स्वातंत्र्यकी सुरक्षापर अत्यधिक जोर देते थे।[4]

शुष्क उत्पत्ति

प्रकृतिवादियोंका दूसरा सिद्धान्त है—शुष्क उत्पत्ति (Net Product)। किसी भी वस्तुका जब हम उत्पादन करने जाते हैं, तो उस उत्पादनकी प्रक्रियामें कुछ धन व्यय होता है। इस व्ययको नये धनकी उत्पत्तिमेंसे घटा देनेपर जो बचत (Surplus) रहती है, वह नयी उत्पत्ति है। प्रकृतिवादी लोगोंकी परिभाषामें यह नयी उत्पत्ति, यह नयी बचत ही 'शुष्क उत्पत्ति' है। उनकी यह धारणा है कि यह 'शुष्क उत्पत्ति' एकमात्र कृषिमें ही होती है, अन्य किसी कार्य या व्यापारमें नहीं।

---

१ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ २६।
२ केने : ड्राइट नेचुरल, पृष्ठ ५५।
३ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ ३०।
४ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ ३१।

प्रकृतिवादी कहते हैं कि कृषिके उत्पादनमें जो कुछ खर्च आता है, खेत जोतनेवालेको, किसानको, खेतिहर मजदूरको जो कुछ देना पड़ता है, वह सारा खर्च बाद करके नयी उपजमेंसे जो कुछ बचता है, वह कृषिकी बचत है। वह 'शुष्क उत्पत्ति' है।

कृषिमें जो उत्पादन होता है, उसमें जो बचत होती है, जो 'शुष्क उत्पत्ति' होती है, उसका कारण यह है कि उसमें मनुष्य पर प्रकृतिकी कृपा बरसती है। उसके श्रममें प्रकृति सहयोग करती है। इस सहयोगके कारण ही कृषिके उत्पादनमें बचत होती है। यह बचत ही सारी आर्थिक व्यवस्थाकी जननी है। सारे समाज-का इसीसे पोषण होता है।

इस 'शुष्क उत्पत्ति' से ही समाजके सभी वर्गोंका पोषण होता है। केवल कृषकोंका ही नहीं, कारीगरों और व्यापारियोंका भी इसीसे पोषण होता है।

प्रकृतिकी कृपाकी वृष्टि केवल कृषिपर होती है, अन्य किसी कार्य या व्यापार-पर नहीं। अन्य व्यवसाय तो वस्तुओंका आदान-प्रदानमात्र करते हैं, यहाँसे वहाँ पहुँचाते हैं अथवा उनके रूपमें कुछ परिवर्तन करते हैं। वे नये धनका उत्पादन नहीं करते। उत्पादक धन्धा तो एकमात्र कृषिका है, शेष सभी धंधे अनुत्पादक हैं, अनुर्वर हैं, वंध्या हैं।

प्रकृतिवादियोंने कृषिको सर्वश्रेष्ठ माना है। वाणिज्य, व्यापार और उद्योगको गौण स्थान दिया है। तरगोके शब्दोंमें 'कारीगर और विभिन्न वस्तुओंके उत्पादक 'कृषकोंके भाड़ेके टट्टू' हैं। कारण, उन्हें जो कुछ आय होती है, उसका मूल स्रोत कृषि ही है। वे अनुत्पादक तो हैं, परन्तु ऐसी वस्तुएँ तैयार करते हैं, जिनका कृषकोंके लिए कुछ उपयोग है। कृषक-वर्ग ही शिल्पकारोंको कच्चा माल देता है और उनके जीवनकी आवश्यकताओंकी पूर्ति करता है।' केनेके शब्दोंमें 'वाणिज्य कृषिका ही एक अंग है। उद्योग और वाणिज्य अपना लाभ कृषिको लौटा देते हैं और कृषि नये धनकी उत्पत्ति करती है, जिसका प्रतिवर्ष व्यय एवं उपभोग होता है।'[१]

प्रकृतिवादियोंके मतसे कृषिके द्वारा ही धनकी उत्पत्ति होती है। उसकी 'शुष्क उत्पत्ति' ही सारे समाजके जीवन, रक्षण एवं पोषणका साधन है। यही कारण है कि उन्होंने कृषिपर ही सबसे अधिक बल दिया है। हेनेका कहना है कि प्रकृतिवादियोंका 'शुष्क उत्पत्ति' का सिद्धान्त अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। उत्तरकालीन आर्थिक सिद्धान्तोंके विकासपर इसका भारी प्रभाव पड़ा है। बचतकी

१. केने : ग्रेन्स, पृष्ठ २१६।

कल्पना इसी सिद्धान्तमेंसे प्रसूत हुई है, जिसने आगे चलकर बहुत महत्त्व प्राप्त किया है।[1]

इनकी दृष्टिमें विश्वके साम्पत्तिक भण्डारमें 'सच्ची सम्पत्ति' की वृद्धि तभी होती है, जब जमीन जोती-बोयी जाती है, उसपर खेती की जाती है, कुछ उगाया जाता है, कुछ खोदा जाता है, उत्खनन होता है या मछलीकी भाँति कुछ पकड़ा जाता है। प्रकृतिवादियोंकी यह बात उनके प्राकृतिक नियमवाले दर्शनके साथ पूरा मेल खाती है। इसमें वाणिज्यवादकी प्रतिक्रियाकी अभिव्यक्ति दृष्टिगोचर हो रही है।[2]

धनका परिभ्रमण

प्रकृतिवादियोंका तीसरा सिद्धान्त है—धनका परिभ्रमण। धनका वितरण
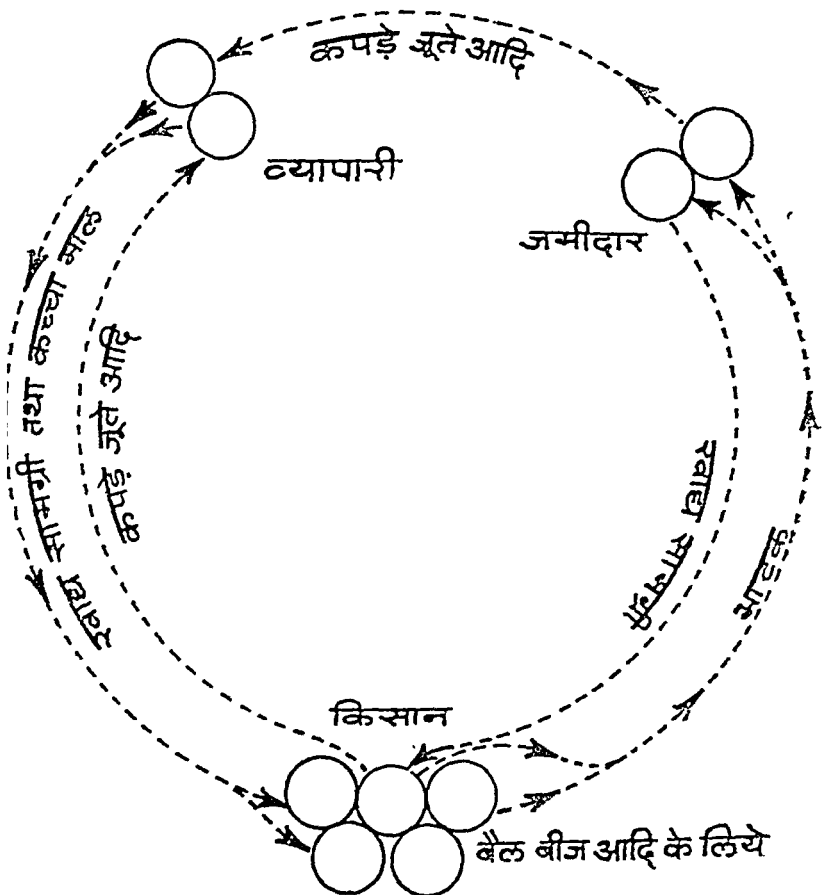
१ हेने : हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ १८२।

२ हेने : वही, पृष्ठ १८३-१८४।

कैसे होता है तथा उसका चक्र किस प्रकार घूमता है, इस विषयमें केनेने जो आर्थिक सारणी प्रस्तुत की है, वह आज भले ही व्यर्थ मानी जाय, परन्तु आजसे दो सौ वर्ष पूर्व वह आर्थिक विचारधाराके लिए एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शोध थी। उसने समकालीन विचारकोंमें एक तीव्र हलचल उत्पन्न कर दी।[1]

धनके वितरणकी सारणी उपस्थित करते हुए केनेने समाजको तीन वर्गोंमें विभाजित किया है :

(१) **उत्पादक वर्ग**—इसमें उसने कृषकोंको ही मुख्यतः रखा है, पर खनकों और मछुओंको भी वह सम्भवतः इसी वर्गमें मानता है।

(२) **सम्पत्तिशाली वर्ग**—इसमें भूस्वामी लोगोंको तो उसने रखा ही है, उनके अतिरिक्त सामन्तशाहीके प्रतीक अन्य प्रभुतासम्पन्न लोगोंको भी सम्मिलित कर लिया है।

(३) **अनुत्पादक वर्ग**—इसमें उसने व्यापारियों, शिल्पियों, अन्य व्यवसायियों तथा मजदूरी करनेवाले मजदूरोंकी भी गणना की है।

केनेकी मान्यता है कि प्रथम वर्ग ही सारे समाजका पोषण करता है। धनका परिभ्रमण उसी वर्गसे आरम्भ होता है और घूम-फिरकर धन फिर वहींपर लौटता है। कृषि ही सबके जीवनकी आवश्यकताओंकी पूर्ति करती है, अतः सबको कृषिकी ओर दौड़ना पड़ता है। उधर कृषकको अपनी अन्य आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिए, लगानके लिए अन्य वर्गोंके पास जाना पड़ता है। 'इस हाथ दे उस हाथ ले' वाली नीति सतत चलती रहती है और इस प्रकार धनका सतत परिभ्रमण होता रहता है।

आर्थिक सारणी

कल्पना कीजिये कि धनकी कुल उत्पत्ति ५ करोड़ रुपयेकी हुई। इसमेंसे २ करोड़ रुपया बीज, बैल तथा कृषकोंकी जीवन-रक्षाके लिए पृथक् रख लिया जाता है। अब 'शुष्क उत्पत्ति' रह गयी ३ करोड़। यह तीन करोड़ रुपया अन्य वर्गोंमें चक्कर लगाया करता है।

कृषक अपनी भूमिका स्वामी नहीं है। उसे कर या लगानके रूपमें २ करोड़ रुपया सम्पत्तिशाली वर्गको दे देना पड़ता है और १ करोड़ रुपया शिल्पकार, व्यापारी आदि लोगोंके वर्गको दे देना पड़ता है। उनके पाससे उसे अपने जीवनकी आवश्यकताकी अन्य वस्तुएँ—जैसे, कपड़े, जूते, हल आदि—प्राप्त होती हैं।

सम्पत्तिशाली वर्गको बैठे-बिठाये ही कृषक-वर्गसे २ करोड़ रुपये मिल जाते हैं। इन २ करोड़ रुपयोंका विनियोग वह दो प्रकारसे करता है। एक करोड़ वह

---

१ जीद और रिस्ट : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन्स, पृष्ठ ३७।

खाद्य पदार्थोंके लिए कृषकको दे देता है और १ करोड़ वह व्यापारियों और शिल्पियों आदिको अपने उपभोगकी वस्तुओंकी प्राप्तिके लिए दे देता है।

अनुत्पादक-वर्गको १ करोड़ रुपया मिलता है कृषक-वर्गसे और १ करोड़ रुपया मिलता है सम्पत्तिशाली वर्गसे। इसमेंसे १ करोड़ रुपया वह खाद्य-सामग्रीके लिए कृषक-वर्गको लौटा देता है और शेष १ करोड़ भी वह कच्चे मालकी प्राप्तिके लिए कृषक-वर्गको दे देता है।

इस प्रकार कृषक-वर्गने जो ३ करोड़ रुपये दिये थे—२ करोड़ सम्पत्तिशाली वर्गको लगानके रूपमें और १ करोड़ अनुत्पादक-वर्गको जीवनकी अन्य आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिए—वे घूम-फिरकर पुनः उसके पास पहुँच जाते हैं। सम्पत्तिशाली-वर्ग अपनी खाद्य-सामग्रीके लिए उसे १ करोड़ लौटा देता है, अनुत्पादक-वर्ग १ करोड़ अपनी खाद्य-सामग्रीके लिए देता है १ करोड़ कच्चे मालके लिए।

इस प्रकार धनके परिभ्रमणका चक्र पूरा हो जाता है। यह चक्र सतत इसी प्रकार चलता रहता है।

व्यावहारिक सुझाव

ये तो हुए प्रकृतिवादियोंके तीन मूल सिद्धान्त। इन्हींके अन्तर्गत वे कृषिकी सर्वश्रेष्ठता, व्यक्तिका स्वातंत्र्य और व्यक्तिगत सम्पत्तिका औचित्य भी स्वीकार करते हैं। इनके अतिरिक्त उन्होंने व्यापार-वाणिज्य, राज्य-सत्ताके कर्तव्य, कर-प्रणाली आदिके सम्बन्धमें कुछ व्यावहारिक उपाय भी बताये हैं। इन्हें तीन भागोंमें विभाजित कर सकते हैं :

(१) व्यापारिक नीति,
(२) राज्यके कर्तव्य और
(३) कर-प्रणाली।

व्यापारिक नीति

प्रकृतिवादी लोगोंकी ऐसी मान्यता थी कि व्यापार-वाणिज्य अनुत्पादक कार्य है। उससे धनका उत्पादन नहीं होता। वे मानते हैं कि वस्तुके आदान-प्रदानसे कोई नवीन वस्तु उत्पन्न नहीं होती। जितना दिया, उतना पा लिया। १० के बदले १० देने या लेनेसे नयी उत्पत्ति क्या हुई? इससे इतना लाभ अवश्य है कि एकके पास जो वस्तु फालतू पड़ी थी और दूसरेको उसकी आवश्यकता थी, तो दोनोंने आदान-प्रदान कर अपनी तृप्ति कर ली। एक-दूसरेकी सन्तुष्टि हुई। शराबके बदले रोटी ले ली—इससे रोटीवालेको शराबका और शराबवालेको रोटीका आनन्द मिला—दोनोंकी तृप्ति हुई, सन्तुष्टि हुई; पर किसी नयी सम्पत्तिका

सृजन नहीं हुआ। समान-समान वस्तुओंका विनिमयमात्र हुआ।[1] लित्रों कहता है कि 'यह तो समान मूल्यका विनिमय है। विनिमय समानताका संविदा है। इससे धनका उत्पादन नहीं होता।'

रिवीरेके शब्दोंमें 'व्यापारी शुद्ध ठग है। वह दूसरोंकी सम्पत्तिको हड़पनेके लिए ही अपनी योग्यताका उपयोग करता है। दर्पणकी भाँति वह इस प्रकारसे वस्तुओंको सजाता है कि वे एक साथ एककी अनेक प्रतीत हों और यों वह वस्तुओंकी संख्या बहुत बढ़ा देता है, परन्तु वह व्यर्थ ही धोखा देता है, ठगता है!'[2] प्रकृतिवादियोंकी दृष्टिमें व्यापार पूर्णतः निरर्थक है। उसमें शक्ति और समयका व्यर्थ ही अपव्यय होता है। समझदार लोगोंके लिए व्यापार अनावश्यक है। जिस देशमें जितना ही कम व्यापार हो, उतना ही अच्छा। इसके लिए प्रकृतिवादी ऐसा मानते हैं कि व्यापारपरसे सारे नियन्त्रण उठा लिये जायँ, तो वह आप ही अपनी मौत मर जायगा।[3] नियंत्रणोंका उठा लेना 'प्राकृतिक नियम' के भी अनुकूल है। इससे आर्थिक संस्थाओंको स्वतंत्रता प्राप्त होगी। इसके लिए प्रकृतिवादी मुक्त-व्यापारका समर्थन करते हैं।

राज्यके कर्तव्य

प्रकृतिवादी लोग मानवनिर्मित नियमोंके विरुद्ध थे। उनकी मान्यता यह थी कि कृत्रिम बंधनों तथा कानूनोंसे 'प्राकृतिक नियम' में बाधा पड़ती है। कानून यदि बनें भी, तो वे अलिखित प्राकृतिक नियमके अनुकूल ही होने चाहिए।

कानूनोंके विरोध तथा मुक्त-व्यापारके समर्थनसे यह नहीं मान बैठना चाहिए कि प्रकृतिवादी अराजकताके पक्षपाती थे। अराजकताकी तो बात ही क्या, वे निरंकुशताके प्रतिपादक थे। वे सत्ता और सम्पत्तिके समर्थक थे और अराजकता-का तीव्र विरोध करते थे। उनका उद्देश्य यह था कि कानून कमसे कम हों और सत्ता अधिकसे अधिक हो। वे ऐसा मानते थे कि न्यूनतम कानून और अधिकतम सत्ता द्वारा ही प्राकृतिक नियमकी स्थापना की जा सकती है। न तो वे यूनानी लोकतंत्रकी भाँति लोकतंत्रात्मक स्वराज्यके पक्षपाती थे और न इंग्लैण्डकी भाँति संसदीय शासनके।[4]

प्रकृतिवादियोंकी दृष्टिमें निरंकुशताका एक विशिष्ट महत्त्व था। वे मानते थे कि राजा ईश्वरका प्रतीक है और ईश्वरीय इच्छाका कार्यवाहक है। ईश्वरेच्छा ही प्राकृतिक नियम है। चीनका सम्राट् उनकी इस भावनाका आदर्श है। वाञ्यूका

---

१ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ ४५, ४६।

२ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ ४७।

३ भटनागर और सतीशबहादुर : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, १९५९, पृष्ठ ६६।

४ जीद और रिस्ट : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन, पृष्ठ ५२।

कहना है कि ईश्वरका पुत्र होनेके नाते वह 'प्राकृतिक नियम' या 'दैवी नियम' का प्रतीक है। कृषक-सम्राट् होनेके नाते वह वर्षमें एक बार हल जोतता है। उसकी प्रजा स्वयं ही अपना शासन करती है, अर्थात् वह धर्मके नियमों एवं धार्मिक प्रथाओंके अनुसार प्रजाका शासन चलाता है।[1]

प्रकृतिवादियोंके मतानुसार प्राकृतिक नियमकी स्थापनाके लिए राजाके निम्नलिखित कर्तव्य हैं[2] :

(१) वह वर्तमान 'प्राकृतिक' संस्थाओंमें हस्तक्षेप न करे।

(२) वह उन व्यक्तियोंको दण्ड प्रदान करे, जो 'प्राकृतिक' संस्थाओं और विशेषतः व्यक्तिगत सम्पत्तिपर प्रहार करते हों।

(३) वह जनसमाजको 'प्राकृतिक नियम' की शिक्षा प्रदान करे।

(४) भूमिकी उपज बढ़ानेके लिए वह सार्वजनिक निर्माण-कार्य करे।

(५) वह अन्तर्राष्ट्रीय अवरोधोंको मिटानेका प्रयत्न करे, ताकि सारे विश्वमें प्राकृतिक नियमकी स्थापना हो सके।

कर-प्रणाली

यद्यपि प्रकृतिवादियोंने राज्यके कर्तव्य अत्यन्त सीमित माने हैं, तथापि शिक्षण तथा सार्वजनिक निर्माण-कार्यके लिए तो कहा ही है। इनके लिए कुछ आय आवश्यक है। यह आय कहाँसे प्राप्त की जाय, इसके लिए उन्होंने यह सुझाव दिया है कि एकमात्र उत्पादक कार्य कृषिसे ही यह प्राप्त की जा सकती है। इसके लिए भू-स्वामियों पर कर लगाया जा सकता है और उसकी मात्रा ३० प्रतिशतके लगभग रखी जा सकती है।

प्रकृतिवादी प्रत्यक्ष एक-कर-प्रणाली (Single Taxation) के पक्षपाती हैं। वे ऐसा मानते हैं कि इस करका भार किसी विशेष वर्गपर नहीं पड़ेगा। भू-स्वामीको उसे देना पड़ेगा अवश्य, परन्तु वह ऐसा मान लेगा कि भूमिके ३० प्रतिशत अंशपर उसका नहीं, राज्यका अधिकार है।[3]

कर-प्रणालीको प्रकृतिवादी लोग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानते हैं। वे कहते हैं कि आजके सारे कष्टोंका एकमात्र कारण यही है कि करोंका वितरण असमान तथा दोषपूर्ण है। अन्यायका मूल कारण यही है। आजकी प्रमुख समस्या इसे ही मानना चाहिए।[4]

---

१ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ ५४।

२ भटनागर और सतीशबहादुर : वही, पृष्ठ ६८।

३ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ ५७-५८।

४ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ ५६।

प्रकृतिवादियोंकी कृषिपर एक-कर-प्रणालीका भावी पीढ़ियोंपर अत्यधिक प्रभाव पड़ा। अमेरिकामें हेनरी जार्जने भूमिके राष्ट्रीयकरणका जो आन्दोलन चलाया, उसके मूलमें इसीकी प्रेरणा विद्यमान है।

प्रकृतिवादी प्रत्यक्ष करके समर्थक हैं। उनकी मान्यताएँ भले ही युक्तिसंगत न मानी जायँ, पर इतना तो सर्वथा निश्चित है कि उन्होंने कर-प्रणालीके सम्बन्धमें अत्यन्त गम्भीरतासे विचार किया था। उनकी एक-कर-प्रणाली इसका प्रमाण है।

केनेने इस बातपर अत्यधिक जोर दिया है कि राज्यको ऋण लेनेसे बचना चाहिए। उसका कहना था कि राजनीतिज्ञोंको राष्ट्रके साम्पत्तिक साधनोंपर निर्भर रहना चाहिए, न कि ऋणदाताओंकी दयालुतापर। इसके लिए कृषिपर प्रत्यक्ष कर लगाना वांछनीय है।[1]

प्रकृतिवादियोंका अनुदान

प्रकृतिवादी विचारकोंका अनुदान जीदके अनुसार निम्नलिखित है।[2]

सैद्धान्तिक दृष्टिसे प्रकृतिवादियोंका अनुदान :

१. प्रत्येक सामाजिक तत्त्व किसी नियमसे संचालित होता है, और वैज्ञानिक अध्ययनका उद्देश्य यही है कि ऐसे नियमोंका ठीक ढंगसे पता लगाया जाय।

२. व्यक्तिगत स्वार्थ यदि मनुष्यपर ही छोड़ दिया जाय, तो वह स्वयं इस बातकी खोज कर लेगा कि उसके लिए सर्वोत्तम क्या है और जो बात एक व्यक्तिके लिए सर्वोत्तम है, वह प्रत्येक व्यक्तिके लिए सर्वोत्तम होगी।

३. मुक्त वाणिज्यका द्वार सबके लिए खुला रहे। इससे ग्राहक और विक्रेता, दोनोंके लिए उपयोगी मूल्यका निर्द्धारण सरलतासे हो सकेगा तथा अत्यधिक ब्याज लेने या मुनाफा कमानेकी पद्धति समाप्त हो जायगी।

४. प्रकृतिवादियोंने उत्पादन तथा सम्पत्तिके वितरणकी उत्तम परन्तु अधूरी व्याख्या की है।

५. भू-सम्पत्तिके सम्बन्धमें प्रकृतिवादियोंने अच्छे तर्क उपस्थित किये हैं।

व्यावहारिक दृष्टिसे प्रकृतिवादियोंका अनुदान :

१. श्रमकी स्वतंत्रता।

२. देशके अन्तर्गत मुक्त व्यापार तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारको बन्धनमुक्त करनेके लिए जोरदार अपील।

३. राज्यके कार्योंका मर्यादीकरण।

४. अप्रत्यक्ष करपर प्रत्यक्ष करकी उत्तमताका प्रतिपादन।

---

१ ग्रे : दि डेवलपमेण्ट ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन, पृष्ठ १११-११२।

२ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ ६३।

प्रकृतिवादका मूल्यांकन

प्रकृतिवादने 'प्राकृतिक नियम' को अपनी विचारधाराका मूल बनाया है। वे मानते थे कि प्रत्येक व्यक्तिको इस 'प्राकृतिक नियम' का ज्ञान प्राप्त करके उसे अपने आचरणमें व्यवहृत करना चाहिए।

प्रकृतिवादियोंकी दृष्टिसे इस ज्ञानकी प्राप्तिका साधन है—आध्यात्मिक। उनके इस रुखकी आलोचना करते हुए कहा गया है कि वह उन दार्शनिकोंकी ही भाँति है, जो यह प्रश्न करनेपर कि 'ईश्वर क्या है और उसकी अनुभूति कैसे की जा सकती है?' उत्तर देते हैं : 'अपने भीतर गम्भीर चिन्तन करो, अपनी आत्माको पवित्र बनाओ और तब ईश्वर अपने रहस्यका तुम्हारे समक्ष उद्घाटन करेगा। जब तुम्हारा मन ईश्वरके प्रकाशसे प्रकाशित होगा, तो तुम यह जान सकोगे कि तुम्हारे आसपास जो संसार है, उसमें किस प्रकार विभिन्न रूपोंमें ईश्वर अपनी लीलाका विस्तार कर रहा है।'[1]

प्रकृतिवादियोंके 'प्राकृतिक नियम' में उनके कथनानुसार मूल बातें थीं—सुव्यवस्था, अधिकार, प्रभुसत्ता, व्यक्तिगत सम्पत्ति और स्वतंत्रता। पर इन सारे तत्त्वोंके कार्यान्वयनके सम्बन्धमें प्रकृतिवादी पूर्णतः स्पष्ट नहीं हैं। हार्वेके रक्तके परिभ्रमणके सिद्धान्तसे केने परिचित था, जिसे कि उसने धनके परिभ्रमणके सिद्धान्तका आधार बनाया। हेनेका कथन है कि यदि उस समय भौतिक विज्ञान अपनी आरम्भिक अवस्थामें न होते, तो प्रकृतिवादियोंकी विचारधाराका स्वरूप कुछ दूसरा ही होता।[2]

आधुनिक दृष्टिकोणसे 'प्राकृतिक नियम' की धारणा भले ही अस्पष्ट एवं निरर्थक मानी जाय, परन्तु उसके ऐतिहासिक महत्त्वको उपेक्षाकी दृष्टिसे नहीं देखा जा सकता। जिस समय उसका उदय एवं विस्तार हुआ, उस समय उसके टक्करकी और ऐसी कोई धारणा थी ही नहीं। समस्त यूरोपपर उसका प्रकाश छा गया था। उस युगके लिए वह एक महान् आविष्कार थी। स्मिथ तथा अन्य परवर्ती अर्थशास्त्रियोंपर उसका गहरा प्रभाव पड़ा है।

व्यावहारिक दृष्टिसे 'प्राकृतिक नियम' में व्यक्ति एवं संस्थाओंकी स्वतंत्रताकी भावनापर जोर दिया गया है। प्रकृतिवादियोंकी मान्यता यह थी कि व्यक्तिपरसे सभी नियंत्रण उठा लिये जायँ, तो वह आत्मविवेचनसे अपनी इच्छा और अपने स्वार्थकी दृष्टिसे अपने जीवनका नियमन करेगा और वही 'प्राकृतिक नियम'

---

१ भटनागर और सतीशबहादुर : वही, पृष्ठ ५६।

२ हेने : हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ १८०।

होगा। मनुष्य स्वयं विचार करके ही अपने हितका निर्णय कर सकता है। उसे इसकी स्वतंत्रता रहनी चाहिए। उसके मार्गमें राज्यको कोई भी बाधा नहीं डालनी चाहिए। उसके हितमें ही सारे समाजका हित है।

'छोड़ो, मत जाने दो'—(Laissez Faire & Laissez passes) की प्रकृतिवादियोंकी उक्ति उस युगके लिए क्रान्तिकारी उक्ति थी। सरकारी हस्तक्षेप उठा लिया जाय और आर्थिक व्यवहारमें मनुष्यको अपनी इच्छाके अनुकूल बरतने दिया जाय। प्रकृतिवादी मानते थे कि सरकारके कार्य सीमित हों और व्यक्तिको अधिक स्वतंत्रता मिले। इस धारणाने अदम स्मिथके अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारसम्बन्धी सिद्धान्तको कितना अधिक प्रभावित किया है, यह किसीसे छिपा नहीं है।

वाणिज्यवादने फ्रांसकी जो दुर्गति कर दी थी, उसकी ऐसी प्रतिक्रिया होनी स्वाभाविक थी। सरकारी नियंत्रणोंने फ्रांसकी आर्थिक स्थितिको जितना संकटमय बना दिया था, उसके उद्धारका एकमात्र साधन यही हो सकता था कि सारे नियंत्रण उठा लिये जायँ।

प्रकृतिवादियोंकी 'शुष्क उत्पत्ति' की धारणा वाणिज्यवादियोंके लिए एक चुनौती-सी थी। वाणिज्यवादी जहाँ उपनिवेशों तथा दुर्बल पड़ोसियोंका शोषण करना धनके उत्पादनका प्रमुख साधन मानते थे, वहाँ प्रकृतिवादी उत्पादनके साधनोंमें कृषिको ही सर्वश्रेष्ठ स्थान प्रदान करते थे। उनकी धारणा यह थी कि कृषि ही एकमात्र उत्पादक कार्य है, उसीसे 'शुष्क उत्पत्ति' होती है, जिसपर सारा समाज—सारा उद्योग, सारा व्यापार आश्रित है।

आधुनिक दृष्टिकोणसे 'शुष्क उत्पत्ति' की धारणा नितान्त भ्रमपूर्ण मानी जाती है। प्रकृतिवादियोंको वस्तुकी उपयोगिताके निर्माण एवं मूल्य या अर्हका कोई स्पष्ट ज्ञान नहीं था। कृषिमें प्रकृतिके सहयोगसे बीजकी अपेक्षा उत्पत्ति अधिक होती है, इसीसे वे यह मान बैठे कि कृषिसे ही बचत और 'शुष्क उत्पत्ति' होती है। उद्योगमें केवल वस्तुके स्वरूपका परिवर्तन होते देखकर उन्होंने यह मान लिया कि उससे कोई उत्पादन नहीं होता। उन्हें इस साधारण नियमका ज्ञान नहीं था कि तत्त्व न तो उत्पन्न किया जा सकता है, न उसका नाश ही किया जा सकता है। कृषिमें भी जो बीजसे अधिक उत्पत्ति होती है, उसका कारण यह है कि पौधा भूमिसे खनिज पदार्थ ले लेता है और वायुमण्डलसे नेत्रजन।[1]

प्रकृतिवादियोंकी 'शुष्क उत्पत्ति' अन्नके भावपर निर्भर करती है। यदि बाजार-दर चढ़ती है, तो शुष्क उत्पत्ति बढ़ती है, घटती है तो वह भी घटती है। यहाँतक कि वह सर्वथा लुप्त भी हो सकती है। प्रकृतिवादी मानते थे कि अच्छा

---

१ भटनागर और सतीशबहादुर : वही, पृष्ठ ६१।

भाव ऐसा होता है, जिसमें सदा ही बचत रहती है और यह बचत प्राकृतिक नियमकी देन है। माँग, पूर्ति तथा भावके पारस्परिक सम्बन्धके बीच वे कोई स्पष्ट भेद नहीं कर सके। उनकी 'शुष्क उत्पत्ति' वह बचत है, जो उत्पादन-व्यय तथा उत्पादनके बाजारसे मिलनेवाले मूल्यके बीच होती है। ऐसी बचत केवल कृषिमें ही नहीं, उद्योगमें भी होती है। इस बचतको आजकी भाषामें 'भाटक' कहा जाता है। प्रकृतिवादी इसे प्रकृतिकी देन मानते थे। स्मिथ और मेल्थसने भी इस विचारको माना है, पर रिकार्डोने कहा कि यह प्रकृतिकी देन नहीं, अपितु भूमिकी उर्वराशक्तिका उत्तरोत्तर ह्रास ही इसका कारण है।

प्रकृतिवादियोंने उत्पादक और अनुत्पादक, ऐसे जो दो वर्ग खड़े किये हैं, उनकी भी तीव्र आलोचना होती है। मजेकी बात तो यह है कि उन्होंने दूसरोंकी आयपर गुलछर्रे उड़ानेवाले भू-स्वामी-वर्गको, जिसे कुछ भी काम नहीं करना पड़ता, उत्पादक माना है। इसका कारण यही प्रतीत होता है कि अधिकांश प्रकृतिवादी विचारक स्वयं भूस्वामी थे और इसलिए वे तटस्थ होकर अपनी स्थितिपर विचार नहीं कर सके। जीदका कहना है कि यदि वे व्यापारी होते, तो शायद उन्हें उद्योग-व्यवसायमें भी 'शुष्क उत्पत्ति' के दर्शन हो जाते![1] कृषिके अतिरिक्त अन्य उद्योग अनुत्पादक या वंध्या हैं, इसका मजाक उड़ाते हुए अदम स्मिथने कहा है, उनके लिए 'वंध्या' शब्दका प्रयोग तभी उचित कहा जा सकता है, जब हम यह उपमा स्वीकार कर लें कि जो विवाह दोसे अधिक बच्चे नहीं पैदा करता, वह 'वंध्या' है![2] प्रकृतिवादियोंकी इस भ्रान्तिका कारण यह है कि वे उपयोगिता-मूल्य एवं विनिमय-मूल्यके बीच भेद करनेमें असमर्थ रहे। वे उत्पादनकी केवल एकमात्र शाखाको ही उत्पादक मान सके[3], शेषको उन्होंने 'वंध्या' की संज्ञा दे दी।

'शुष्क उत्पत्ति' की यह धारणा उस युगमें तो तत्कालीन स्थितिकी प्रतिक्रिया थी ही, आगे चलकर उसने आर्थिक विचारधाराको मोड़नेमें विशेष योगदान किया।

आधुनिक दृष्टिकोणसे प्रकृतिवादियोंका **'धनके परिभ्रमण'** का सिद्धान्त भी व्यर्थ और भ्रमपूर्ण है। शेखचिल्लियोंकी उड़ान उसमें मिलती है। पर प्रकृतिवादियोंको उसपर बड़ा गर्व था। उसमें यह स्पष्ट करनेका कोई प्रयत्न नहीं किया गया है कि विभिन्न वर्गोंमें एक-एक वर्गके बीच धनका परिभ्रमण किस प्रकार होता है—अथवा उत्पादक या अनुत्पादक-वर्गोंकी प्रवृत्ति कैसी है। उसके प्रमुख ये दोष हैं :

---

१ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ ३५।

२ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ ३६।

३ एरिक रौल : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ १३४।

(१) वस्तुओंका भाव सदा स्थिर मान लिया गया है।

(२) प्रतिवर्ष एक ही प्रकारकी 'शुष्क उत्पत्ति' मान ली गयी है।

(३) विभिन्न वर्गोंको सदा एक ही मात्रामें धन मिलनेकी बात मान ली गयी है।

(४) भू-स्वामीको विना किसी श्रमके उत्पत्तिका २/५ अंश देनेकी बात कही गयी है।

(५) सम्पत्तिशाली वर्गको अत्यन्त आदरका स्थान दिया गया है और उसके औचित्यको सिद्ध करनेके लिए दैवी अधिकारोंका आश्रय लिया गया है।

प्रो० जीदके अनुसार 'प्रकृतिवादी यदि भू-स्वामी-वर्गकी परोपजीवितापर निष्पक्ष दृष्टिसे विचार करते, तो वे तीव्र समाजवादी बन गये होते।'[1] पर वहाँ तो 'दिया तले अँधेरा' था।

(६) प्रकृतिवादियोंने भू-स्वामियोंकी वकालत करते हुए व्यक्तिगत सम्पत्तिके अधिकारपर बड़ा जोर दिया है। केनेने कहा है कि 'समाजकी आर्थिक व्यवस्थाका मूल आधार है—व्यक्तिगत सम्पत्तिकी सुरक्षा।'

व्यक्तिगत सम्पत्तिके अधिकारके सम्बन्धमें प्रकृतिवादियोंके तर्क इस प्रकार हैं :

(१) भू-स्वामियोंने भूमिपर सबसे पहले अधिकार किया। उन्होंने जमीनको साफ किया, उसमें बाड़ा लगाया, उसे खेती करनेके उपयुक्त बनाया और उसपर खर्च किया। जैसे, कोई कुँआ खोदता है, उसके पानीको वह चाहे जिसे काममें लाने दे और उसके लिए चाहे जो कुछ वसूल करे, उसी प्रकार भू-स्वामीको भी अधिकार है कि वह अपनी भूमिको काममें लानेके लिए किसीसे कुछ भी वसूल करे।

यह तर्क शुद्ध और सरल भाषामें पूँजीवादी तर्क है, फिर इसमें प्रकृतिका क्या योगदान रहा? फिर इसमें दैवी अधिकारको मान्यता लानेकी कौनसी आवश्यकता रही? फिर कृषि तथा अन्य उद्योगोंमें अन्तर क्या रहा?

(२) भू स्वामी यदि अपनी भूमिकी मालगुजारी नहीं पायेंगे, तो उन्हें क्या जरूरत पड़ी है कि उसे किसीको काममें लाने दें। अतः जमीन यों ही खाली पड़ी रहेगी और उत्पादन रुक जायगा।

यह सामाजिक उपयोगिताका प्रसिद्ध सिद्धान्त है और आज भी व्यक्तिगत सम्पत्तिके समर्थनमें इसका उपयोग किया जाता है।

---

१ जीद और रिस्ट : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन्स, पृष्ठ ४०।

यह अच्छा है कि प्रकृतिवादियोंने व्यक्तिगत सम्पत्तिके समर्थनके साथ-साथ भू-स्वामियोंके निम्नांकित कर्तव्योंपर भी जोर दिया है[1] :

(१) वे नयी भूमिको निरन्तर कृषिके उपयुक्त बनाते रहें।

(२) राष्ट्रने जिस सम्पत्तिका उत्पादन किया है, उसका वे सार्वजनिक हितको ध्यानमें रखते हुए वितरण करें।

(३) वे समाजकी आवश्यक सेवा करें।

(४) करका सारा भार वे स्वयं वहन करें।

(५) वे कृषककी रक्षा करें और 'शुष्क उत्पत्ति' से कुछ भी अधिक उससे न माँगें।

प्रकृतिवादियोंने 'व्यापार-वाणिज्य' को अनुत्पादक बताया है और मुक्त-व्यापारका समर्थन किया है। परन्तु उनके मुक्त-व्यापारमें तथा अदम स्मिथके मुक्त-व्यापारमें दृष्टिकोणोंका अत्यधिक अन्तर है। प्रकृतिवादी मानते हैं कि व्यापार-परसे सारा नियंत्रण उठ जानेसे यह अनुत्पादक व्यवसाय स्वतः समाप्त हो जायगा और 'प्राकृतिक नियम' व्यवहृत हो सकेगा। पर शास्त्रीय विचारक मानते हैं कि व्यापारपर लगे प्रतिबन्ध उठ जानेसे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अधिकतम मात्रामें बढ़ सकेगा।

केनेने वाणिज्यवादके मूलाधार अनुकूल व्यापाराधिक्यके सम्बन्धमें कहा है कि इसके कारण देशके आन्तरिक मूल्योंमें वृद्धि हो जायगी, जिससे वस्तुकी मात्रा घट जायगी। अतः आर्थिक समृद्धिके लिए अनुकूल व्यापाराधिक्यका कोई अर्थ नहीं रह जाता। प्रकृतिवादियोंके कथनानुसार फ्रांसमें सन् १७६० से १७८० के बीच अनेक व्यापारिक प्रतिबन्ध हटा दिये गये।

प्रकृतिवादी विचारकोंने उत्पादनमें केवल वस्तुके उत्पादनको मान्यता दी है, उपयोगिताके उत्पादनका उनको ज्ञान ही नहीं है। यह उनकी बहुत बड़ी भ्रान्ति है।

निष्कर्ष

वाणिज्यवादने अपनी अर्थपिपासा द्वारा आर्थिक क्षेत्रमें जो भयंकरता उत्पन्न कर दी थी, उसीकी तीव्र प्रतिक्रिया प्रकृतिवादके रूपमें प्रकट हुई। दोनों विचारधाराओंके दृष्टिकोणमें मुख्य अन्तर इस प्रकार है :

वाणिज्यवाद	प्रकृतिवाद
(१) सोना-चाँदी ही एकमात्र सम्पत्ति है।	(१) उत्पादक शक्ति ही वास्तविक सम्पत्ति है।
(२) सम्पत्ति - प्राप्तिका एकमात्र साधन है—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार।	(२) सम्पत्ति - प्राप्तिका सर्वप्रधान साधन है—कृषि।

---

१ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ ४४।

(२) राष्ट्रको सम्पन्न बनानेके लिए कृत्रिम कानून बनाये जायँ।	(२) राष्ट्रको सम्पन्न बनानेके लिए सारे कृत्रिम कानून उठा दिये जायँ।

क्रियाकी प्रतिक्रिया अत्यन्त तीव्र हुआ करती है। प्रकृतिवादी भी उसके अपवाद न थे। वाणिज्यवादके दुष्परिणामोंसे प्रभावित होनेके कारण उसके विरुद्ध उन्होंने जो सिद्धान्त प्रतिपादित किये, उनमें वे चरम सीमापर जा पहुँचे।

प्रकृतिवादियोंने सबसे बड़ी भूल जो की है, वह यह कि उन्होंने मूल्यकी धारणाको ठीकसे नहीं समझा। उन्होंने केवल कृषिको उत्पादक व्यवसाय माना, अन्य सबको अनुत्पादक। उनकी विचारधाराकी बहुत-सी बातें आगे चलकर हास्यास्पद बन गयीं। फिर भी आर्थिक विचारधारापर उनकी छाप कम नहीं है। उनकी भ्रमपूर्ण धारणाएँ भी आगे चलकर विशिष्ट रूपमें व्यक्त हुई हैं और उन्होंने अर्थशास्त्रकी शास्त्रीय परम्पराको विकसित किया है।

अदम स्मिथके हाथमें पड़कर उनके 'मुक्त व्यापार' का सिद्धान्त इतना खिला कि उसने पूरी शताब्दीभर आर्थिक क्षेत्रोंमें अपना सिक्का जमाये रखा।

रिकार्डोके हाथमें पड़कर प्रकृतिवादियोंका 'शुष्क उत्पत्ति' का सिद्धान्त लगानके सिद्धान्तके रूपमें प्रस्फुटित एवं विकसित हुआ।

प्रकृतिवादियोंकी 'एक-कर-प्रणाली' तो अर्थशास्त्रके लिए अद्वितीय देन है ही, वर्तमान कर-प्रणालीको विकसित करनेमें सम्भवतः सबसे बड़ा हाथ उसीका है।

पूँजीके विश्लेषण तथा वितरणके प्रकृतिवादियोंके सिद्धान्त भले ही आज कम महत्त्वपूर्ण लगें, पर जिस समय केनेने उनका प्रतिपादन किया, उस समय उन्होंने आर्थिक क्षेत्रमें क्रान्ति-सी ही मचा दी। अर्थशास्त्रमें अंकशास्त्रके पुष्पित-पल्लवित होनेमें उनका भी हाथ है।

व्यक्तिगत सम्पत्तिका प्रकृतिवादियोंका सिद्धान्त तो शास्त्रीय जैसा बन गया है।

इस बातको तो भुलाया ही नहीं जा सकता कि प्रकृतिवादी विचारधाराने ही अर्थशास्त्रको सर्वप्रथम पृथक् शास्त्रका स्वरूप प्रदान किया और वैज्ञानिक विश्लेषणकी पद्धति अपनाकर उसे परिपुष्ट करनेकी चेष्टा की, भले ही उनकी बहुत-सी बातें भ्रान्तिपूर्ण रहीं।

प्रकृतिवादी आधुनिक अर्थशास्त्रके पूर्वज हैं, इस बातसे कोई इनकार नहीं कर सकता। जीद और रिस्टने तो यहाँतक कह डाला है कि केनेका दो वर्ष पूर्व यदि देहान्त न हो गया होता, तो अदम स्मिथने अपनी अपूर्व रचना 'वेल्थ ऑफ नेशन्स' अपने आध्यात्मिक और बौद्धिक गुरु केनेको ही अर्पित की होती![1] • • •

---

१ जीद और रिस्ट : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन्स, पृष्ठ २३।

शास्त्रीय विचारधाराका उदय
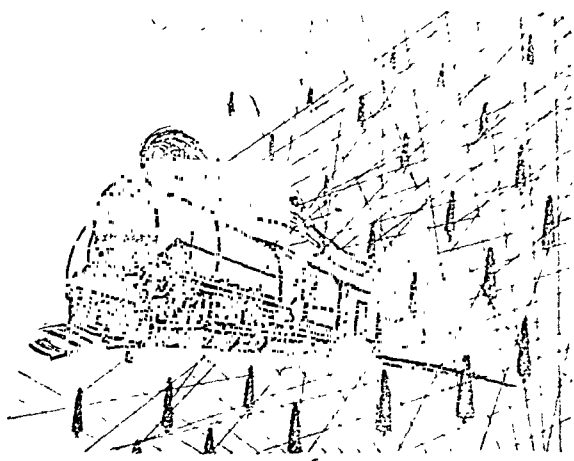
वर्तमान युग : १ :

प्राचीन युगकी हम झाँकी कर चुके, मध्यकालीन युगका भी हमने दर्शन कर लिया। पन्द्रहवीं शताब्दीतककी आर्थिक विचारधाराका सामान्यतः किस प्रकार विकास हुआ, यह हमने देख लिया।

सोलहवीं, सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दीमें वाणिज्यवादी विचारधाराका विकास हुआ और अठारहवीं शताब्दीके मध्यसे प्रकृतिवादी विचारधाराका।

इन दोनों विचारधाराओंकी नींवपर ही अठारहवीं शताब्दीके अन्तिम चरणमें अर्थशास्त्रकी शास्त्रीय विचारधाराका उदय हुआ। अदम स्मिथ और बैंथमने इस विचारधाराको विकसित करनेका प्रयत्न किया। आगे चलकर मैल्थस और रिकार्डोने स्मिथकी शास्त्रीय विचारधाराको भलीभाँति परिपुष्ट किया। ये तीन महान् विचारक ही पश्चिमी अर्थशास्त्रके प्रतिष्ठापक माने जाते हैं।

स्मिथके साथ ही वर्तमान युगका श्रीगणेश होता है। एक ओर स्मिथका शास्त्रीय चिन्तन चलता है, दूसरी ओर विज्ञानके नवीन आविष्कार अपने चमत्कार दिखाने लगते हैं। उनकी परिणति औद्योगिक क्रान्तिमें होती है।

वर्तमान युग क्रान्तियोंका विशेष युग है। केवल औद्योगिक क्रान्ति ही नहीं, इसमें हमें बौद्धिक क्रान्ति भी देखनेको मिलती है, राजनीतिक क्रान्ति भी।

हारग्रेवकी स्पिनिंग जेनीका सन् १७६४ में आविष्कार होता है, पाँच साल बाद वाट साहब भापके इंजनका आविष्कार कर डालते हैं, सन् १७७० में आर्कराइटका वाटर फ्रेम निकलता है, तो सन् १७७६ में वाट साहब कोयलेकी खदानका इंजन तैयार कर देते हैं। इधर इंग्लैण्डमें स्मिथकी 'वेल्थ ऑफ नेशन्स' का प्रकाशन होता है, तो उधर अमेरिकामें स्वतंत्रताकी घोषणा होती है। एक ओर वैज्ञानिक आविष्कार दिन-दिन बढ़ते चलते हैं और उनके कारण औद्योगिक विकास होने लगता है, तो दूसरी ओर केन्द्रीकरणके अभिशाप दृष्टिगत होने लगते हैं।

और तभी फरासीसी क्रान्ति हो जाती है।

औद्योगिक क्रान्ति और पूँजीवादके विकासके बीच उन्नीसवीं शताब्दीका आरम्भ होता है। उसके साथ-साथ इंग्लैण्ड और यूरोपमें, फ्रांस और रूसमें, विश्वके विभिन्न अंचलोंमें जन-जागरणका शंखनाद सुनाई पड़ने लगता है। केन्द्रीकरण एवं यंत्रोंके अभिशाप स्पष्ट होने लगते हैं। दुर्भिक्षों और अकालोंकी मार अलगसे पड़ती है। संघर्ष, रक्तपात, युद्ध, क्रान्ति आदिके बीच समाजवाद और साम्यवाद पनपता है। पूँजीवाद, उपनिवेशवाद और साम्राज्यवादके भयंकर पंजोंमें फँसी जनता संत्रस्त हो उठती है।

उन्नीसवीं शताब्दी इन्हीं सब परस्परविरोधी विचारधाराओंके बीच बढ़ती-पनपती है। सहकारितावाद, अराजकवाद, समाजवाद, मार्क्सवाद आदि अनेक भिन्न-भिन्न मतों और वादोंका प्रतिपादन होता है। अर्थशास्त्रपर भी इनकी छाप पड़े बिना नहीं रहती।

और तभी उन्नीसवीं शताब्दीके अन्तिम चरणमें गांधीका प्रादुर्भाव होता है, जो होश सँभालते ही कह उठता है कि 'पश्चिमके अर्थशास्त्रकी बुनियाद ही गलत दृष्टिबिन्दुओंपर डाली गयी है, इसलिए वह अर्थशास्त्र नहीं, 'अनर्थशास्त्र' है।'

गांधीने अर्थशास्त्रकी अनर्थकारी प्रवृत्तियोंके निराकरणके लिए सर्वोदयकी विचारधाराका प्रतिपादन किया। उस विचारधारामें ही जनता-जनार्दनका, समस्त मानव-जातिका एवं विश्वका कल्याण निहित है।

वर्तमान युगकी आर्थिक विचारधाराको सही दिशामें ले जानेका एकमात्र साधन सर्वोदय है। गांधीने इस विचारधाराको जन्म दिया, कुमारप्पाने विकसित किया, विनोबा उसे पुष्पित-पल्लवित कर रहे हैं!

• • •

अदम स्मिथ : ३ :

"श्रम ही सम्पत्तिका साधन है, धातु या कृषि नहीं।"

—स्मिथ

अदम स्मिथ (सन् १७२३–१७९०) को 'अर्थशास्त्रका जन्मदाता' कहकर पुकारनेमें अंग्रेजोंको प्रसन्नता होती है। आर्थिक विचारधाराको प्रभावित करनेमें उसका कार्य है भी अद्वितीय; पर कुछ विचारक ऐसा मानते हैं कि इस दिशामें अदम स्मिथ जो कुछ कर सके, उसका श्रेय केवल उन्हें ही नहीं है; उनके पूर्व बहुत कुछ काम किया जा चुका था।[1] उनके पूर्वजोंने, केने और तरगोने उनके लिए मार्गका निर्माण किया और उनके अनुगामियोंने उस मार्गको अधिक परिष्कृत किया, प्रशस्त किया, उनकी भूलोंका परिमार्जन किया तथा उनके कार्यको गति प्रदान की।[2]

अदम स्मिथने अपनी सूक्ष्म बुद्धि द्वारा वाणिज्यवाद एवं प्रकृतिवादके विचारकोंकी मान्यताओंका विश्लेषण किया, उन्हें सुव्यवस्थित रूप दिया एवं अपनी कल्पनाका पुट देकर ऐसी मान्यताएँ प्रस्थापित करनेका प्रयत्न किया, जो कि अर्थशास्त्रकी आधारशिला बन गयीं।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

अठारहवीं शताब्दीका उत्तरार्द्ध यूरोपके आर्थिक, राजनीतिक एवं बौद्धिक जीवनमें क्रान्तिका काल माना जाता है। तत्कालीन सारी विचारधारा स्वतंत्रताकी भावनाके चतुर्दिक् घूमने लगी थी। वाणिज्यवाद अपनी अन्तिम साँसें गिन रहा था। उद्योग-व्यापारके विकासके चलते प्राचीन मान्यताएँ जराजीर्ण-सी होने लगी थीं। श्रेष्ठी-समुदायके निरीक्षणमें विकसित होनेवाले 'घरेलू' उद्योग पिछड़े माने जाने लगे थे। शिल्पियों और मजदूरोंपर लागू किये जानेवाले नियंत्रण जर्जर हो उठे थे।

इसी बीच वे यांत्रिक आविष्कार चल रहे थे, जिन्होंने औद्योगिक क्रान्तिको जन्म ही दे डाला। हारग्रेवकी स्पिनिंग जेनी (सन् १७६५), आर्कराइटका वाटर-फ्रेम (सन् १७६७) और जेम्सवाटका स्टीम इंजन (सन् १७६९) उस क्रान्तिका अग्रदूत था। भारतके शोषण एवं दोहनसे इंग्लैण्डमें सम्पत्तिका अम्बार लगने ही

१ अलेक्जेण्डर ग्रे : दि डेवलपमेण्ट ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन, पृष्ठ १२२।

२ हेने : हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ २३६।

लगा था। अतः सर्वत्र इस भावनाका प्रसार होने लगा था कि औद्योगिक विकासके लिए यह आवश्यक है कि मजदूरोंका आवागमन मुक्त रूपसे हो और व्यक्तियोंको अपनी पूँजी स्वतंत्रतापूर्वक लगानेकी सुविधा हो। माना, अदम स्मिथके जीवन-कालमें औद्योगिक क्रान्ति और बड़े उद्योगोंका विकास नहीं हो पाया, पर हवाका रुख तो उसने देखा ही था।[१]

आर्थिक जगत्की स्थिति यह थी, राजनीतिक जगत्में भी स्वातंत्र्यकी भावना तीव्र वेगसे बढ़ती जा रही थी। चारों ओर स्वाधीनताकी माँग सुनाई पड़ रही थी। फ्रांसमें 'स्वतंत्रता, समानता और बन्धुत्व, का नारा बुलंद हो रहा था, जिसकी प्रतिक्रिया फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति (सन् १७८९–१७९३) में दृष्टिगत हुई। सन् १७७६ में एक ओर स्मिथकी अद्वितीय रचना 'वेल्थ ऑफ नेशन्स' का प्रकाशन हो रहा था, दूसरी ओर अमेरिकामें स्वतंत्रताके घोषणापत्रपर हस्ताक्षर हो रहे थे, जिसमें इस तथ्यको स्वीकृति प्रदान की गयी थी कि 'प्रकृत्या सभी मनुष्य समान एवं स्वतंत्र हैं'।

इस कालके जितने भी प्रख्यात तत्त्ववेत्ता और विचारक हुए हैं, फिर वे हाब्स और लाक, रूसो और वाल्तेयर, ह्यूम और हचेसन—कोई भी क्यों न हों, सबने मानवकी स्वतंत्रतापर अत्यधिक जोर दिया है।

विचारधाराकी पूर्वपीठिका

अदम स्मिथका जिस ऐतिहासिक पृष्ठभूमिमें जन्म और विकास हुआ, उसमें परवर्ती वाणिज्यवादी विचारकों तथा प्रकृतिवादियोंका विशेष रूपसे प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

पहलेके वाणिज्यवादियोंने व्यापार-वाणिज्यके विकासके लिए अत्यन्त कड़े नियमों एवं प्रतिबन्धोंकी माँग की थी; परन्तु बादके वाणिज्यवादी विचारकोंने अत्यन्त कड़े नियमोंका विरोध किया था और कहा था कि व्यापारिक नीतिमें कुछ ढिलाई वांछनीय है। पेट्टी, चाइल्ड, नार्थ, टकर, स्टुअर्ट और कैण्टीलन जैसे विचारक इसी श्रेणीमें आते हैं। स्मिथने इन लोगोंके विचारोंका भलीभाँति अध्ययन और मनन किया था। अपनी रचनामें स्थान-स्थानपर उसने इनका उल्लेख किया है।

प्रकृतिवादी विचारकोंमें केने और तरगो तो स्मिथके मित्र ही थे। वे कृषिपर जो इतना जोर देते थे, उस विचारका स्मिथपर भारी प्रभाव पड़ा था। उनके धन-वितरणकी योजनाका उसे ज्ञान था तथा 'प्राकृतिक नियम' की धारणासे वह प्रभावित था। यह ठीक है कि उसने प्रकृतिवादकी आलोचना की है, पर अन्त-अन्ततक वह अनेक बातोंमें उनके प्रति आदर व्यक्त करता रहा है।

---

१ जीद और रिस्ट : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन्स, पृष्ठ ८२।

वाणिज्यवादी और प्रकृतिवादी विचारधाराओंके अतिरिक्त स्मिथपर पाँच व्यक्तियोंके विचारोंका विशेष प्रभाव पड़ा है। वे हैं—हचेसन, ह्यूम, मांदेविले, टकर और फर्गूसन।

फ्रांसिस हचेसनका स्मिथपर गहरा प्रभाव था। ग्लासगोमें (सन् १७३७–१७४०) स्मिथ उसका छात्र रह चुका था। हचेसन नीतिशास्त्रका विद्वान् था, आशावादी प्राकृतिक दर्शनपर उसका विश्वास था, अधिकतम लोगोंके अधिकतम हितकी विचारधाराकी ओर उसका झुकाव था। डब्ल्यू० आर० स्काटके कथनानुसार स्मिथकी पुस्तक 'वेल्थ ऑफ नेशन्स' के विचारोंपर ही नहीं, उसके रचना-क्रमपर भी हचेसनका प्रभाव है। श्रम-विभाजन, मूल्य, द्रव्य और कर-प्रणाली-सम्बन्धी विचारोंमें उसके प्रभावकी झाँकी स्पष्ट दृष्टिगत होती है।[1]

डेविड ह्यूम (सन् १७११–१७७६) की दार्शनिक और आर्थिक विचार-सरणीका स्मिथपर अत्यधिक प्रभाव पड़ा है। हेनेका तो यहतक कहना है कि ह्यूमने सन् १७५२ में यदि व्यवस्थित रूपसे लिखा होता, तो 'वेल्थ ऑफ नेशन्स' को जो महती प्रतिष्ठा प्राप्त है, वह उसे न मिल सकी होती।[2] ग्रेके शब्दोंमें 'ह्यूम यदि मुख्यतः दर्शनकी ओर न झुका होता, तो सर्वश्रेष्ठ अर्थशास्त्रियोंमें उसकी गणना हुई होती।'[3] ह्यूमके साथ स्मिथकी घनिष्ठ मैत्री हो गयी थी। स्मिथने उसे 'आधुनिक युगके अत्यन्त यशस्वी दार्शनिक और इतिहासवेत्ता' कहा है। श्रमकी महत्ता, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा द्रव्य आदिके सम्बन्धमें उसकी गहरी दृष्टिने स्मिथको बहुत कुछ प्रभावित किया है।

बर्नार्ड द मांदेविले दार्शनिक कवि था। उसकी प्रसिद्ध रचना 'फेबिल ऑफ दि बीज' (सन् १७१४) ने स्मिथपर अच्छा प्रभाव डाला है। स्मिथने उसकी आलोचना की है, पर प्रकारान्तरसे उसने उसकी विचारधाराको कुछ अंशोंमें स्वीकार कर लिया है। मांदेविले ऐसा मानता था कि आवश्यकताओंकी बहुलता-पर ही समाजके लोगोंकी पारस्परिक सेवाएँ निर्भर करती हैं और स्वार्थसे प्रेरित होनेपर भी लोगोंके व्यक्तिगत कार्य अन्ततः सार्वजनिक हितके कार्य बन जाते हैं। मांदेविलेने श्रम-विभाजनकी सुविधाएँ बतायी हैं और सम्भवतः वही प्रथम व्यक्ति है, जिसने इस सम्बन्धमें 'विभाजन' शब्दका सबसे पहले प्रयोग किया।[4]

जोशिया टकर (सन् १७१२–१७९९) ग्लोशेस्टरका डीन था। वह

---

१ हेने : हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ २०८-२०९।

२ हेने : वही, पृष्ठ २०९।

३ ग्रे : डेवलपमेण्ट ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन, पृष्ठ ११९।

४ हेने : वही, पृष्ठ २०८।

'मैंचेस्टर स्कूल' (विचारधारा) का पूर्वज माना जाता है। अंतर्राष्ट्रीय व्यापार, श्रमकी महत्ता, मानवकी स्वार्थवादी प्रवृत्ति आदिके सम्बन्धमें उसके विचारोंका स्मिथपर प्रभाव पड़ा है। वाणिज्य और कर-प्रणालीपर उसने कई महत्त्वपूर्ण लेख लिखे थे। उसकी एक रचनाका तरगोने अनुवाद किया था।[1]

अदम फर्गूसन (सन् १७२३–१८१८) ने यद्यपि अर्थशास्त्रको राजनीतिशास्त्रसे पृथक् नहीं किया था, फिर भी उसने आर्थिक विषयोंपर जो लेख लिखे हैं, वे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। उसके कर-प्रणालीके सिद्धान्त स्मिथने ज्योंके त्यों तो नहीं स्वीकार किये हैं, परन्तु उनपर उसका प्रभाव तो है ही।[2]

जीवन-परिचय

सन् १७२३ में स्काटलैण्डके किर्कल्डी नामक स्थानमें अदम स्मिथका जन्म हुआ। 'होनहार बिरवानके होत चीकने पात।' स्मिथ बचपनसे ही कुशाग्र बुद्धिका था। उसने स्कूली शिक्षा पूरी करके ग्लासगो विश्वविद्यालय (सन् १७३७–१७४०) तथा आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय (सन् १७४०–१७४६) में गणित, प्राकृतिक दर्शन, नीति तथा राजनीति-विज्ञानका अध्ययन किया।

शिक्षा समाप्त करनेके उपरान्त सन् १७५१ में ग्लासगोमें स्मिथकी नियुक्ति तर्कशास्त्रके प्राध्यापकके रूपमें और बादमें नीति-विज्ञानके प्राध्यापकके रूपमें हुई।

अपने प्रोफेसर हचेसन और परम मित्र डेविड ह्यूमके विचारोंसे स्मिथ अत्यन्त प्रभावित हुआ और उसने व्यक्तिगत चिन्तन और मननसे अर्थशास्त्रकी कुछ विशिष्ट मान्यताएँ प्रस्थापित कीं। अपने व्याख्यानोंमें उसने आर्थिक एवं व्यापारिक स्वातंत्र्यपर अत्यधिक बल दिया।

स्मिथकी सर्वप्रथम रचना नीतिशास्त्रविषयक थी। उसका नाम था—'थ्योरी ऑफ मॉरल सेंटिमेंट्स'। सन् १७५९ में उसका प्रकाशन हुआ। उसमें उसने कहा था कि मानवीय आचरणकी प्रेरिका ६ आकांक्षाएँ हैं—आत्मप्रेम, सहानुभूति,

---

१ डब्लू० ई० क्लार्क : जोशिया टकर।

२ हेने : वही, पृष्ठ २१०-२११।

स्वातंत्र्य-भावना, स्वामित्वकी भावना, श्रमकी रुचि तथा आदान-प्रदान या विनिमयकी प्रवृत्ति।[1]

सन् १७६४ में स्मिथ प्रवासपर निकला। वह स्विट्जरलैण्ड और फ्रांस गया। जेनेवामें उसने वाल्तेयरसे भेंट की, पेरिसमें प्रकृतिवादी विचारकों—केने और तरगो आदिसे। तभी उसकी अमर कृति—'वेल्थ ऑफ नेशन्स' की सर्जना-का श्रीगणेश हुआ। उसपर उसने १२ वर्ष कार्य किया। सन् १७७६ में उसका प्रकाशन हुआ। उसकी प्रथम कृतिने उसे उत्तम ख्याति प्रदान की थी, पर इस कृतिने तो उसे अमर ही बना दिया और उच्चतम सामाजिक एवं राजनीतिक क्षेत्रोंमें उसका प्रवेश करा दिया।

इसके बाद ही स्काटलैण्डके निराक्रम्य करके आयुक्तके रूपमें स्मिथकी नियुक्ति हो गयी। सन् १७६१ में वह ग्लासगो विश्वविद्यालयका 'लार्ड रेक्टर' चुन लिया गया।

सन् १७९० में ६७ वर्षकी आयुमें स्मिथका देहान्त हो गया।

'वेल्थ ऑफ नेशन्स'

जिस रचनाने अदम स्मिथको ख्यातिके सर्वोच्च शिखरपर पहुँचा दिया, जिस रचनाने अर्थशास्त्रकी विचारधाराके विकासमें अतुलनीय योगदान किया, जिस रचनाने स्मिथको 'अर्थशास्त्रके जन्मदाता' की उपाधिसे विभूषित किया और जो रचना आज भी अर्थशास्त्रकी प्रामाणिक प्रेरक कृति मानी जाती है, उसका पूरा नाम है—'एन इनक्वायरी इनटू दि नेचर एण्ड काजेज ऑफ दि वेल्थ ऑफ नेशन्स'!

प्रस्तुत पुस्तक संक्षिप्त भूमिकाके उपरान्त ५ खण्डोंमें विभाजित है। पहले दो खण्डोंमें सम्पत्तिके उत्पादन, विनिमय और वितरणके सिद्धान्तोंका प्रतिपादन किया गया है। तीसरे खण्डमें यूरोपीय राष्ट्रोंका आर्थिक इतिहास है। चौथे खण्डमें प्रकृतिवादी विचारधारा तथा वाणिज्यवादी विचारधाराके सिद्धान्तोंकी तीव्र आलोचना है। पाँचवें खण्डमें सार्वजनिक वित्त-राजस्व सम्बन्धी विचारोंका प्रतिपादन किया गया है।

प्रारम्भिक दो खण्डोंमें स्मिथने श्रमको राष्ट्रकी सम्पत्तिका आधार बताते हुए इस बातपर जोर दिया है कि श्रम-विभाजन ही वह साधन है, जिसके माध्यमसे किसी भी राष्ट्रकी सम्पत्तिमें वृद्धि सम्भव है। उसके उपरान्त स्मिथने श्रम-विभाजन-के लिए वस्तु-विनिमय और फिर उसके माध्यमके रूपमें द्रव्यका वर्णन करते हुए मूल्यकी चर्चा की है। स्मिथकी दृष्टिसे मूल्यके अंग हैं—मजदूरी, लाभ और लगान।

---

१ एरिक रॉल : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनामिक थॉट, पृष्ठ १४६।

स्मिथ बड़ा उदारतावादी रहा है। आर्थिक क्षेत्रमें मुक्त-वाणिज्यका उसने जोरदार समर्थन किया है। जीद और रिस्टने स्मिथके विचारोंका विश्लेषण करते हुए कहा है कि स्मिथ अत्यन्त स्वाभाविकतावादी और आशावादी भी रहा है। मानवमें स्वभावतः स्वार्थकी जो वृत्ति रहती है, उसपर उसने बड़ा जोर दिया है। साथ ही उसने यह आशावाद भी प्रकट किया है कि मानवके स्वार्थसे प्रेरित होकर संघटित होनेवाली आर्थिक संस्थाएँ सार्वजनिक हितके लिए ही हैं।

स्मिथके विचारोंको निम्नलिखित विभागोंमें बाँटकर उनका अध्ययन करना अच्छा होगा :

१. उत्पादन,
२. पूँजी,
३. विनिमय,
४. वितरण,
५. राजस्व,
६. स्वाभाविकतावाद, आशावाद, उदारतावाद और
७. पूर्ववर्ती विचारधाराओंकी समीक्षा।

१. उत्पादन

अभीतक वाणिज्यवादी कहते आये थे कि 'व्यापारे वसते लक्ष्मीः'; प्रकृतिवादी कहते आये थे कि कृषिमें ही लक्ष्मीका निवास है; अदम स्मिथने इन दोनोंसे निराला एक तीसरा ही नारा बुलन्द किया कि एकमात्र श्रम ही लक्ष्मीका उत्पादक है। श्रममें ही लक्ष्मी वास करती है।

श्रमकी महत्ताका सर्वश्रेष्ठ प्रतिपादक है अदम स्मिथ। 'वेल्थ ऑफ नेशन्स' पुस्तकका श्रीगणेश ही उसने इन शब्दोंसे किया है :

'वार्षिक श्रम ही किसी भी राष्ट्रका वह कोष है, जिसके द्वारा मूलतः जीवनकी समस्त आवश्यकताओं तथा सुख-सुविधाओंकी पूर्ति होती है, जिसका कि वह वर्षभर उपभोग करता है और जिसमें सदैव उसी श्रमकी तात्कालिक उत्पत्ति तथा अन्य राष्ट्रोंसे उसके परिवर्तनमें खरीदी गयी सामग्री भी सम्मिलित रहती है।'

श्रमकी महत्ता

स्मिथने श्रमको सर्वाधिक महत्ता प्रदान की है। उसकी धारणा है कि किसी भी वस्तुका उत्पादन बिना श्रमके नहीं होता। धनोत्पादनका मूल स्रोत एकमात्र श्रम ही है। कोई भी श्रम, फिर वह कितना ही नगण्य क्यों न हो, और किसी भी प्रकारका क्यों न हो, उत्पादक ही है। अतः जो भी व्यक्ति श्रम करता है, वह उत्पादक माना जायगा।

उत्पादनसे स्मिथका तात्पर्य है—श्रम द्वारा उत्पन्न वस्तुके विनिमयगत मूल्य

से अधिक मात्रा। प्रकृतिवादियोंका मत था कि वस्तुके उत्पादनमें व्यय होनेवाले धनसे जो अधिक उत्पादन होता है, वही शुद्ध उत्पत्ति है। स्मिथ मानता था कि श्रमके कारण वस्तुके विनिमयगत मूल्यमें जो वृद्धि होती है, वह उत्पादन है।[1]

प्रकृतिवादियोंने समाजको उत्पादक और अनुत्पादक वर्गोंमें जिस प्रकार विभाजित किया था, उसे स्मिथ स्वीकार नहीं करता। उसकी दृष्टिमें जो भी व्यक्ति किसी भी प्रकारका श्रम करता है, विनिमयगत मूल्यसे अतिरिक्त उत्पादन करता है, वह उत्पादक है। हाँ, जिनका काम उत्पादनके साथ ही समाप्त हो जाता है, उन्हें वह अनुत्पादक मानता है।[2]

स्मिथने श्रमपर अत्यधिक जोर देते हुए उत्पादनके अन्य दो साधनों—पूँजी और भूमिको भुला नहीं दिया है। उनकी महत्ता भी उसने स्वीकार की है। जे० बी० सेने स्मिथके इन विचारोंको अधिक विकसित और प्रस्फुटित करते हुए यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि उत्पादनके मूल साधन तीन हैं और वे हैं—श्रम, पूँजी और भूमि।

श्रम-विभाजन

भारतकी पुरातन संस्कृतिमें समाजके विधिवत् संचालनके लिए श्रम विभाजनकी व्यवस्था की गयी थी, यूनानके दार्शनिकोंने, अफलातूनने भी उसका महत्त्व प्रदर्शित किया था। परन्तु आधुनिक युगमें अदम स्मिथने ही श्रम-विभाजनपर अत्यधिक जोर दिया। परवर्ती अर्थशास्त्रियोंने उसकी इस धारणाको प्रायः ज्योंका त्यों ही स्वीकार कर लिया।

श्रम-विभाजनकी पुरातन धारणाके जो कारण थे, वे अदम स्मिथसे भिन्न थे। व्यक्तिकी अपनी विशेष रुचि अथवा विशिष्ट वातावरणजन्य सुविधाओंके कारण ही प्राचीन युगमें श्रम-विभाजनका समर्थन किया गया था। परन्तु स्मिथकी मान्यता यह थी कि धनोत्पादनके लिए सामाजिक सहयोगकी व्यवस्था है। श्रम-विभाजन द्वारा ही सामाजिक प्रगति होती है। सहयोगका यह गुण केवल मानव-जातिमें ही है। व्यक्तियोंके सहयोगकी इस पारस्परिक प्रक्रिया द्वारा ही राष्ट्रीय लाभांशमें तथा मानवीय कल्याणमें वृद्धि हुआ करती है। उसकी यह धारणा अर्थशास्त्रके लिए एक विशिष्ट अवदान है।[3]

श्रम-विभाजनके लाभ-हानि

स्मिथने श्रम-विभाजनके लाभों और हानियोंका विस्तारसे वर्णन किया है। लाभकी दृष्टिसे आलपीन तैयार करनेका उसका उदाहरण अत्यन्त प्रख्यात है। यह

---

१ अदम स्मिथ : वेल्थ ऑफ नेशन्स, खण्ड १, अध्याय ८।

२ अदम स्मिथ : वही, खण्ड २, अध्याय ३।

३ हेने : हिस्ट्री आफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ २२७।

कहता है कि आलपीन बनानेमें १८ प्रकारकी भिन्न-भिन्न क्रियाएँ करनी पड़ती हैं। यदि एक ही व्यक्ति क्रमशः उन सारी क्रियाओंको करे, तो वह किसी निर्दिष्ट अवधिके भीतर जितनी आलपीनें तैयार करेगा, उसके स्थानपर यदि श्रमका विभाजन कर दिया जाय, तो वह पहलेकी अपेक्षा २४० गुनी आलपीनें तैयार करेगा।

स्मिथने श्रम-विभाजनके निम्नलिखित लाभ बताये हैं :

(१) उत्पादनमें वृद्धि।

(२) विशेषीकरण द्वारा श्रमिककी कार्य-कुशलतामें वृद्धि।

(३) उत्पादनकी गतिमें तीव्रताके कारण समयकी बचत।

(४) आविष्कारकोंको प्रोत्साहन, जिससे भारी श्रम बचानेवाले सुविधाजनक यंत्रोंके आविष्कारोंमें वृद्धि।

स्मिथने श्रम-विभाजनकी दो महत्त्वपूर्ण हानियाँ बतायी हैं :

(१) कार्यकी पुनरावृत्तिसे मानसिक नीरसतामें वृद्धि।

(२) विशेषीकरणके कारण मजदूरोंकी गतिशीलतामें बाधा।

विभाजनकी सीमाएँ : बाजार और पूँजी

स्मिथने श्रम-विभाजनकी कुछ मर्यादाएँ भी स्थिर की हैं। जैसे, बाजारका विस्तार होनेपर विनिमय भी बढ़ेगा और श्रम-विभाजन भी। पर यदि वह संकुचित रहेगा, तो दोनोंपर तदनुसार ही प्रभाव पड़ेगा। स्मिथ इसी उद्देश्यसे बाजारके विस्तारके लिए इस बातपर जोर देता है कि नये-नये उपनिवेश खोजे जायँ और उनके साथ व्यापार करके बाजारका विस्तार किया जाय।

पूँजी भी उसका एक अंग है। जितनी पूँजी उपलब्ध होती है, उसके अनुसार श्रम-विभाजन भी सीमित होता है। पूँजीकी स्वल्पतासे स्वभावतः कार्यका विस्तार सीमित रहेगा। अधिक पूँजीसे अधिक विस्तार होगा।[1] पर इस सम्बन्धमें स्मिथके विचार अस्पष्ट हैं।[2]

२. पूँजी

स्मिथके मतानुसार उत्पादनमें पूँजीका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। मनुष्योंमें स्वार्थकी भावना उन्हें बचत करनेके लिए और उस बचतको लाभदायक कार्योंमें लगानेके लिए प्रेरित करती है।

स्मिथ इस बातको स्थिर करनेमें असमर्थ रहा है कि श्रम और पूँजीमें कौन अधिक महत्त्वपूर्ण है। कहीं वह श्रमको पूँजीसे अधिक महत्त्व प्रदान करता है

---

१ जीद और रिस्ट : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन्स, पृष्ठ ८९।

२ भटनागर और सतीशबहादुर : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ ८२-८३।

और कहीं पूँजीको श्रमसे अधिक महत्त्व देता है।[1] परवर्ती अर्थशास्त्रियोंने दोनोंको ही समान महत्त्व देते हुए कहा है कि भूमि, श्रम, पूँजी, संघटन और व्यावसायिक साहस—ये पाँचों ही उत्पादनके अंग हैं और सबका महत्त्व समान है।

पूँजी किस काममें लगायी जाय, इस सम्बन्धमें स्मिथने लाभदायक व्यापारोंका इस प्रकार क्रम बताया है—कृषि, उद्योग, देशस्थ व्यापार, विदेशी व्यापार, यातायात और जहाजरानी, घरेलू खुदरा व्यापार। उसका मत था कि यदि पूँजी लगानेवालोंकी इच्छापर छोड़ दिया जाय, तो वे भी पूँजी लगानेका यही क्रम पसन्द करेंगे।

स्मिथने ऐसा मत प्रकट करके अपनी ही श्रम-विभाजनकी धारणाका खण्डन-सा कर दिया है। जहाँतक पूँजीसे मुनाफा प्राप्त करनेकी बात है, कृषिसे उसने सबसे अधिक मुनाफा पानेकी बात कही है, पर वस्तुतः ऐसा नहीं देखा जाता। उसकी यह धारणा गलत सिद्ध हुई। इस विषयमें वह प्रकृतिवादी विचारधारासे प्रभावित दिखाई पड़ता है।

३. विनिमय

द्रव्य—द्रव्यके सम्बन्धमें स्मिथका मत यह है कि द्रव्यका आविष्कार अपने-आप ही हुआ है। वस्तु-विनिमयमें होनेवाली असुविधाओंने मनुष्योंको विनिमय-का माध्यम खोजनेके लिए विवश किया। द्रव्यका आविष्कार आकस्मिक रूपसे ही हुआ। उसकी खोजमें किसी राज्य अथवा कानूनका हाथ नहीं है।

द्रव्यके परिमाण सिद्धान्तका स्मिथने भलीभाँति स्पष्टीकरण किया है। उसने बताया है कि प्रचलनमें जो द्रव्य और कागजी मुद्रा होगी, वह लोगोंकी आवश्य-कताके अनुरूप व्यवस्थित हो जायगी। वस्तुओंकी खरीद-बिक्रीके लिए मुद्राकी आवश्यकता पड़ा करती है। देशके भीतर जैसी आर्थिक कार्यवाही चलेगी, तद-नुकूल ही मुद्रा व्यवस्थित हो जायगी। देशमें उसका बाहुल्य होनेपर वह विदेशोंमें भी सहज ही जा सकती है और तब उसे देशमें रोक रखना सम्भव ही नहीं है। स्मिथकी इस धारणासे वाणिज्यवादियोंकी द्रव्यसम्बन्धी धारणाएँ निर्मूल हो जाती हैं।

मूल्य या अर्घसम्बन्धी धारणा

स्मिथने विनिमयगत मूल्य (Value-in-exchange) को उपयोगिता-गत-मूल्य (Value-in-use) से पृथक् किया है। वह मानता है कि उप-योगितागत मूल्यका वस्तुकी बाजारू कीमतसे कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है।[2] वह

१ भटनागर और सतीशबहादुर : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ ८४।
२ हेने : हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ २१७-२१८।

कीमत ग्राहक और विक्रेताकी सौदेबाजीसे तय होती है और सदा ही बदलती रहती है ।

विपणि-मूल्य किस कसौटीसे तय होता है, इस सम्बन्धमें स्मिथके विचार पूर्णतः स्पष्ट नहीं हैं । इस विषयमें वह दो प्रकारके असंगत विचार उपस्थित करता है । एक ओर वह मूल्यका श्रम-सिद्धान्त बताता है और दूसरी ओर उत्पत्ति-लागतका सिद्धान्त । एक ओर वह कहता है कि विनिमयगत मूल्यकी कसौटी श्रम ही है; अतः वस्तुमें जितना श्रम निहित हो, उसीके अनुसार उसकी 'वास्तविक दर' निश्चित होनी चाहिए । कार्ल मार्क्सके श्रम-सिद्धान्तमें इसी धारणाका विकास हुआ है । दूसरी ओर वह कहता है कि वस्तुकी 'वास्तविक दर' उसकी उत्पत्तिमें लगनेवाली लागतपर श्रम, पूँजी, लगान आदिपर होनेवाले खर्चपर निर्भर करती है । अर्थात् वास्तविक दर = उत्पादन-व्यय = लगान + मजदूरी + ब्याज । स्मिथके इन दोनों विचारोंका ठीकसे सामंजस्य नहीं बैठता । दोषपूर्ण होनेपर भी स्मिथकी मूल्यसम्बन्धी धारणाको परवर्ती अर्थशास्त्रियोंने अच्छी मान्यता प्रदान की ।

४. वितरण

भाटक (Rent)—भाटकके सम्बन्धमें स्मिथके विचार अस्पष्ट हैं । कहीं उसके विचार प्रकृतिवादियोंसे मिलते हैं और कहीं वह आधुनिक विचार-धाराके निकट आता दिखाई पड़ता है ।

स्मिथ ऐसा मानता है कि भाटक वह एकाधिकार मूल्य है, जो भू-स्वामी-को भूमिके उपयोगके कर-रूपमें चुकाया जाता है । जमीनकी उपज जैसी होती है और जमीनकी स्थिति जैसी होती है, उसके अनुसार उसमें भेद भी होता है । यदि जमीन बाजारसे बहुत दूर होती है और उसमें उत्पत्तिके लिए अधिक श्रम लगता है, तो भू-स्वामीको कम भाटक मिलता है । हेनेके कथनानुसार इस धारणामें यदि एकाधिकारवाली बात न रहती, तो स्मिथकी यह धारणा भाटककी वर्तमान धारणाके अत्यन्त निकट पहुँच सकती थी ।[1]

जीद और रिस्टका कहना है कि स्मिथको भाटकसम्बन्धी धारणापर प्रकृति-वादियोंका विशेष प्रभाव है और वह ऐसा मानता है कि भाटक वह उपहार है, जो भूमिकी प्राकृतिक विशेषताओंके कारण उपलब्ध होता है । यह उपलब्धि केवल कृषिमें होती है, अन्य उद्योगोंमें नहीं । कारण, उनमें प्रकृतिका सहयोग प्राप्त नहीं होता ।[2]

भाटक और कीमतोंके सम्बन्धमें भी स्मिथके विचार स्पष्ट नहीं हैं । एक स्थानपर वह यह कहता है कि भाटकके कारण वस्तुओंके मूल्यका निर्धारण

---

१ हेने : वही, पृष्ठ २२७ ।

२ जीद और रिस्ट : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन्स, पृष्ठ ८१ ।

होता है, दूसरे स्थानपर वह इसके विपरीत वस्तुओंके मूल्यके कारण भाटकका निर्धारण बताता है।

मजदूरी—स्मिथने प्रायः उन सभी सिद्धान्तोंपर विचार किया था, जिन्हें स्मिथके परवर्ती विचारकोंने विकसित तथा परिपुष्ट किया। पर उसकी विचार-धारा अपने-आपमें अस्पष्ट है। वह विचारकोंके लिए मननकी पर्याप्त सामग्री उपस्थित कर देता है।

सामान्यतः स्मिथकी धारणा यह है कि माँग और पूर्ति ही वह प्रमुख आधार-शिला है, जिसकी कसौटीपर मजदूरीका निर्धारण होता है। वस्तुओंकी चालू कीमतपर मजदूरोंका जीवन-स्तर निर्भर करता है और मजदूरोंके जीवन-स्तरकी लागतपर मजदूरोंकी पूर्तिकी मर्यादा है। मजदूरोंकी माँग निर्धारित होती है धनकी मात्रासे अथवा राष्ट्रीय पूँजीके स्तरसे। प्रगतिशील अर्थ-व्यवस्थामें मजदूरोंकी माँग अधिक होगी, अतः मजदूरी भी अधिक मिलेगी। स्थायी अर्थ-व्यवस्थामें मजदूरोंकी माँग कम होगी, अतः मजदूरी भी कम मिलेगी।

स्मिथने मजदूरी कोषके सिद्धान्तकी रूपरेखा भी प्रस्तुत की है, परन्तु उसने उसपर विस्तारसे विचार नहीं किया।

मुनाफा और ब्याज—स्मिथने मुनाफा और ब्याजमें स्पष्ट भेद नहीं किया है। उसके मतसे मुनाफा वह धन है, जो पूँजीपर प्राप्त होता है। ब्याज उस मुनाफेका एक अंश है, जो उधार ली हुई पूँजीके उपयोगके एवजमें उसके स्वामीको प्रदान किया जाता है।[1] जहाँ व्यापार खूब चलता है, वहाँ प्रतिद्वन्द्विताके कारण मुनाफेकी दर गिर जाती है;[2] क्योंकि मजदूरीकी दर चढ़ जाती है। मंदीमें स्थिति उलटी हो जाती है, मजदूरीकी दर गिर जाती है और मुनाफा बढ़ जाता है।

५. राजस्व

राजस्वके सम्बन्धमें स्मिथने जो प्रतिनियम (Canons) स्थिर किये थे, वे अर्थशास्त्रियोंने ज्योंके त्यों स्वीकार कर लिये हैं। वह राज्यकी आयके दो स्रोत मानता है : (१) भूमि, सम्पत्ति, पूँजी आदि तथा (२) कर।

आदर्श कर-प्रणालीके सम्बन्धमें उसने निम्नांकित ४ प्रनियम स्थिर किये, जिनमें उसने समता, निश्चितता, सुविधा और मितव्ययितापर जोर दिया है :

(१) समता (Canon of Equality)—कर-भार वहन करनेकी जिसकी जैसी क्षमता हो, उसके अनुकूल कर लगाना चाहिए।

---

१ हेने : हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ २२६।

२ अदम स्मिथ : वेल्थ ऑफ नेशन्स, खण्ड १, अध्याय ४।

(२) निश्चितता (Canon of Certainty)—करदाताको इस बातका स्पष्ट ज्ञान करा देना चाहिए कि उसे किस समय कर देना है और कितना कर देना है।

(३) सुविधा (Canon of Convenience)—कर-प्रणालीमें करदाताकी सुविधाका भरपूर ध्यान रखा जाना चाहिए।

(४) मितव्ययिता (Canon of Economy)—कर वसूल करनेकी व्यवस्था इस प्रकारकी रहनी चाहिए, जिसमें वसूलीपर कमसे कम खर्च आये।

स्मिथने यह माना है कि लगान कर-प्राप्तिका सर्वोत्तम साधन है। उसकी इस विचारसरणीका मूल प्रकृतिवादियोंकी 'शुष्क उत्पत्ति' की ही धारणा है। कर-प्रणालीसम्बन्धी अपने विवेचनमें उसने क्रमागत वृद्धिकर-प्रणालीकी भी चर्चा की है। पर उसका अधिक विस्तार नहीं किया है।

६. स्वाभाविकतावाद, आशावाद, उदारतावाद

जीद और रिस्टने ऐसा माना है कि स्मिथकी विचारधारामें आदिसे अन्ततक दो मूलतत्त्व निहित हैं। एक है उसका स्वाभाविकतावाद (naturalism) और दूसरा है उसका आशावाद (optimism)।[1] इन दोनोंकी परिणति हुई है उसके उदारतावादमें।

स्वाभाविकतावाद

स्मिथ कहता है कि प्रत्येक मनुष्यमें स्वभावतः स्वार्थकी भावना रहती है। इस स्वाभाविकताके ही कारण आर्थिक संस्थाओंका उद्भव हुआ है। इनकी स्थापनाके लिए किसी विशेष प्रकारका आयोजन नहीं करना पड़ा। इसके लिए न तो मानव-जातिने कोई संघटन खड़ा किया और न राज्यने ही कोई कानून बनाये। 'प्रत्येक व्यक्ति स्वभावतः ऐसा प्रयास करता है, जिसके कारण उसकी स्थिति वर्तमानमें जैसी है, उससे अच्छी हो सके।' यह स्वाभाविक प्रेरणा ही मनुष्यके सारे कार्यों, व्यापारों तथा व्यवहारोंकी प्रेरिका है। इसी स्वार्थ-वृत्तिसे प्रेरित होकर मनुष्य विभिन्न प्रकारके आर्थिक प्रयासोंमें संलग्न होता है। इन प्रवृत्तियोंका ही परिणाम है—आर्थिक संस्थाओंका उद्भव।

स्मिथकी मान्यता है कि श्रम-विभाजन, द्रव्य, पूँजी, माँग और पूर्तिका सामंजस्य, विनिमय-दर आदिका उदय और विकास स्वाभाविक रूपसे ही हुआ है।

मानवकी यह स्वाभाविक स्वार्थवृत्ति उसे इस बातके लिए प्रेरित करती है कि वह अपनी दशा सुधारनेकी दृष्टिसे दूसरोंसे वस्तुओंका आदान-प्रदान करे, विनिमय करे। मेरे पास जो वस्तु नहीं है और मुझे यदि उसे प्राप्त करना है, तो

---

१ जीद और रिस्ट : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन्स, पृष्ठ ८५-८६।

मैं ऐसी कोई वस्तु तैयार करूँ, जिससे दूसरेकी आवश्यकताकी पूर्ति हो सके और उसके परिवर्तनमें वह मुझे उस वस्तुको प्रदान कर सके, जिसकी मुझे आवश्यकता है। इस तथ्यका विवेचन करता हुआ स्मिथ अपनी ग्लासगो व्याख्यानमालामें कहता है :

"नानबाई, खोमचेवाले अथवा कसाईकी उदारताके कारण हमें अपना भोजन प्राप्त नहीं होता। प्रत्युत उसका कारण यह है कि वे लोग अपने व्यक्तिगत स्वार्थोंसे प्रेरित होकर हमें भोज्य पदार्थ प्रदान करते हैं। हम उनकी मानवताको सम्बोधित करके नहीं कहते कि आप हमें भोजन दीजिये, और न हम उनसे उनकी आवश्यकताओंकी ही बात करते हैं; प्रत्युत उनसे कहते यह हैं कि आपको हमें भोजन देनेसे आपका ही लाभ है, आपकी इतनी सुविधाएँ बढ़ जायँगी।"

मानवकी इस स्वार्थवृत्तिसे ही स्वाभाविक रूपसे श्रम-विभाजनका उदय होता है। आत्म-प्रेम एवं व्यक्तिगत स्वार्थसे स्वभावतः प्रेरित होकर ही मनुष्य विनिमयके लिए उत्सुक होता है। उसमें उसे अपना लाभ दिखाई पड़ता है।

द्रव्यका उद्भव भी स्वाभाविक रूपसे हुआ। मनुष्यने वस्तु-विनिमयमें दिन-दिन होनेवाली कठिनाइयोंका अनुभव किया, उसकी सुविधाके लिए उसने उत्तम माध्यमके रूपमें द्रव्यका आविष्कार कर डाला। राज्य अथवा कानूनका द्रव्यके उद्भवमें कोई हाथ नहीं है।

पूँजी भी मनुष्यने अपनी स्वार्थवृत्तिसे प्रेरित होकर ही जुटानी आरम्भ की। उसे लगा कि बचत करनेमें उसका अपना ही लाभ एवं कल्याण है। इस बचतने आगे चलकर पूँजीका रूप ग्रहण किया।

माँग और पूर्तिका सामंजस्य भी मानवकी स्वार्थवृत्तिपर निर्भर करता है। इस धारणाको आधुनिक अर्थशास्त्रियोंने स्वीकार किया है। माँग और पूर्तिकी धारणाको स्मिथने अधिक विकसित करके जनसंख्याकी वृद्धि और ह्रासका कारण बनाया है। उसमें उसने श्रमको एक वस्तुके रूपमें मानकर उसकी स्थितिपर माँग और पूर्तिका सिद्धान्त लागू किया है। वह कहता है कि मजदूरोंकी माँग अधिक है, पूर्ति कम है, तो मजदूरीकी दर बढ़ेगी, उनकी समृद्धि होगी, जिससे उनकी जनसंख्या बढ़ेगी। जनसंख्या-वृद्धिसे स्थितिमें परिवर्तन होगा, मजदूरीकी दर गिरेगी, मजदूरोंकी आर्थिक स्थिति गिरेगी और उस हालतमें जनसंख्या बढ़ानेमें मनुष्यकी रुचि घटेगी और फलतः जनसंख्या कम होगी।

द्रव्यकी माँग और पूर्ति, उसके परिमाण आदिके सम्बन्धमें भी स्मिथने मानवकी स्वाभाविक स्वार्थवृत्तिकी चर्चा करते हुए यह निष्कर्ष निकाला है कि आर्थिक संस्थाओंका उद्भव स्वतः ही स्वाभाविक रूपसे हुआ है।

आशावाद

स्मिथकी धारणा है कि स्वाभाविकतावाद और आशावाद एक ही सिक्केके दो पहलू हैं। उनमें भेद नहीं किया जा सकता। वह मानता है कि जो वस्तु स्वाभाविक है, वह समाजके लिए हितकर भी होगी ही। मानवकी स्वार्थवृत्तिके कारण ही आर्थिक संस्थाओंका उद्भव होता है और उनसे समाजका हित अवश्यम्भावी है। उनके कारण समाजकी समृद्धि और कल्याणमें वृद्धि होती है। व्यक्तिगत और सार्वजनिक हितोंमें परस्पर सामंजस्य रहता है।

स्मिथने बताया है कि स्वाभाविक रूपमें विकसित होनेवाली आर्थिक संस्थाओंसे सार्वजनिक हित किस प्रकार हुआ करता है। उसके क्रमका स्वरूप यों है :

(१) पारस्परिक आवश्यकताओंसे श्रम-विभाजन।

(२) श्रम-विभाजन द्वारा जन-समाजके लिए हितकर वस्तुओंका भारी संख्यामें उत्पादन।

(३) द्रव्यके उद्भवसे व्यापारमें वृद्धि और समाजके लिए हितकर कार्योंका विस्तार।

(४) बचतके उद्भवसे पूँजीका संचय तथा उसके द्वारा औद्योगिक विस्तार।

(५) पूँजीके द्वारा भारी संख्यामें श्रमिकोंको कार्य-प्रदान तथा उद्योगोंका विशेष विस्तार।

(६) माँग और पूर्तिके सामंजस्य द्वारा अत्यधिक उत्पादन अथवा अति न्यून उत्पादनपर नियंत्रण।

(७) द्रव्यके परिमाणके सामंजस्य द्वारा आर्थिक वितरणपर नियंत्रण।

इन सब आर्थिक व्यापारों द्वारा स्वाभाविक रूपमें विकसित आर्थिक संस्थाएँ व्यक्तियोंके हितके अतिरिक्त समाजका सार्वजनिक हित भी करती ही हैं।

प्रकृतिवादियोंकी भाँति स्मिथकी भी ऐसी धारणा है कि प्रकृतिके अनुकूल संघटित व्यवस्था या नियम ही मानवके लिए हितकर है। मानव द्वारा निर्मित नियम कृत्रिम हैं और कृत्रिम नियमोंसे मुक्ति प्राप्त करनेमें ही मनुष्यका वास्तविक हित निहित है। प्रकृतिके अनुकूल स्वाभाविक रूपमें चलनेमें ही मानवका कल्याण है।

निराशावाद

स्मिथने केवल आशावाद ही प्रकट किया हो, ऐसा नहीं है। जहाँ उसे आशावाद उपयुक्त जँचा, वहाँ उसने आशावाद प्रकट किया है; जहाँ नहीं, वहाँ निराशावाद। उत्पादन एवं विनिमयकी सभी संस्थाएँ उसे हितकर एवं आशावादी प्रतीत होती हैं, परन्तु वितरणमें उसे ऐसा नहीं लगता। वहाँ उसे विभिन्न

स्वार्थोंमें संघर्ष दिखाई पड़ता है। लगान और ब्याज स्मिथकी दृष्टिमें अनुचित हैं। उनमें उसे शोषण प्रतीत होता है। वह कहता है कि 'भू-स्वामी तथा पूँजी-पतिने जहाँपर बीज नहीं बोया है, वहाँकी फसल काटना वे पसन्द करते हैं।' अतः वितरणके क्षेत्रमें स्मिथ निराशावादी है।[1]

उदारतावाद

स्मिथके स्वाभाविकतावाद और आशावादका परिणाम है—उसका उदारतावाद।

स्मिथका उदारतावाद प्रकृतिवादियोंके उदारतावादसे बहुत कुछ साम्य रखता है। परन्तु स्मिथका मुक्त व्यापार प्रकृतिवादियोंसे भिन्न है। प्रकृतिवादी केवल कृषिको ही उत्पादक मानते थे और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारको हेय दृष्टिसे देखते थे। उनकी मान्यता यह थी कि व्यापारपर लगे प्रतिबन्ध उठा लेनेसे वह आप ही अपनी मौत मर जायगा। स्मिथने मुक्त व्यापारका समर्थन इसलिए किया है कि वह मानता है कि मुक्त व्यापारके कारण राष्ट्रीय सम्पत्तिमें वृद्धि होगी। अतः उसने अंतर्राष्ट्रीय व्यापारका समर्थन किया है। उसके कथनमें वैज्ञानिकताका पुट है।

स्मिथ आर्थिक स्वतंत्रताका प्रबल समर्थक है। हानेका कहना है कि स्मिथकी पुस्तकके पृष्ठ-पृष्ठपर आर्थिक स्वातंत्र्यकी भावना छलकती दिखाई पड़ती है।

मुक्त-वाणिज्य

मुक्त-वाणिज्यके समर्थनमें स्मिथने कुछ महत्त्वपूर्ण तर्क उपस्थित किये हैं।[2] जैसे :

(१) राज्यके पास करदाताकी जेबसे मिला हुआ पर्याप्त धन रहता है, अतः उसे इस बातकी कोई चिन्ता नहीं रहती कि खर्च करनेमें वह सावधानी रखे और मितव्ययिताकी ओर ध्यान दे। इसके विरुद्ध यदि कोई व्यक्तिगत साहसी अपनी प्रेरणासे वाणिज्यका काम उठाता है, तो वह मितव्ययिताका पूरा ध्यान रखता है। कारण, उसमें उसका निजी स्वार्थ निहित रहता है।

(२) परोक्षमें होनेके कारण राज्य इस बातका ज्ञान प्राप्त करनेमें असमर्थ रहता है कि कृषि और उद्योगकी वास्तविक आवश्यकताएँ क्या हैं। पर जो व्यक्ति वहीं प्रत्यक्षमें कार्य करता है, वह इन सब आवश्यकताओंका पूरा ज्ञान रखता है।

(३) राज्यके कर्मचारियोंको अपना व्यक्तिगत स्वार्थ न रहनेके कारण कार्य-संचालनमें मितव्ययिता करने तथा उसे बढ़ानेकी कोई चिन्ता नहीं रहती। उन्हें

---

१ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ १०८।

२ जीद और रिस्ट : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन्स, पृष्ठ, ११०-११८।

न तो धनकी पर्वाह रहती है, न समयकी। 'लालफीते' की कार्रवाईमें कार्य-कुशलताके लिए कोई स्थान नहीं रहता। पर जिसका व्यक्तिगत स्वार्थ है, वह तो मितव्ययिता और कार्य-कुशलताकी ओर पूरा ध्यान देगा ही।

स्मिथ निजी साहसका समर्थक था, पर वह चाहता था कि व्यक्तिगत स्वार्थसे प्रेरित होकर ही लोग काम उठायें और उन्हें खुली प्रतियोगिताकी छूट रहे। वह एकाधिकारके विरुद्ध था, जिसके कारण प्रतियोगितामें बाधा पड़ती है। मिश्रित पूँजीवाली कम्पनियोंका वह इसी कारण विरोधी था कि उनमें निजी प्रेरणाका अभाव रहता है। हाँ, बैंक, बीमा कम्पनी, जलकल और यातायात आदिके विकासके लिए मिश्रित पूँजीवाली कम्पनियोंको वह अपवादमें रखता है। कारण, इनके लिए व्यक्तिगत साहस छोटा पड़ता है।

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार

स्मिथके उदारतावादका सबसे महत्त्वपूर्ण प्रयोग हमें अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार-सम्बन्धी क्षेत्रमें देखनेको मिलता है। उसके लिए उसने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारको राष्ट्रीय नीति बनानेका समर्थन किया है। उसने वाणिज्यवादियोंकी संरक्षणकी नीतिका विरोध किया है। वह कहता है :

(१) पूँजीमें ऐसी स्वाभाविक प्रवृत्ति रहा करती है कि वह अधिक लाभ-दायक कार्योंमें लगायी जाय। संरक्षणकी नीति द्वारा पूँजीकी इस स्वाभाविक प्रवृत्तिको कुण्ठित किया जाता है। संरक्षणके कारण किसी उद्योग-विशेषको कृत्रिम समर्थन मिलता है और दूसरे उद्योग उससे वंचित रहते हैं। इसके फलस्वरूप पूँजीका उचित रीतिसे विनियोग नहीं हो पाता और देशके औद्योगिक विकासमें बाधा आती है।

(२) मुक्त-व्यापारके कारण प्रादेशिक श्रम-विभाजनका विकास होता है, परन्तु संरक्षणकी नीति व्यवहृत होती है, तो ऐसा नहीं हो पाता। यदि किसी प्रदेशमें किसी विशिष्ट आर्थिक प्रवृत्तिके लिए कुछ प्राकृतिक विशेषताएँ रहती हैं, तो उस प्रकारकी आर्थिक प्रवृत्ति चलाकर उसका यथासाध्य लाभ उठाया जा सकता है; मुक्त-व्यापारसे यह सम्भव है, संरक्षण द्वारा नहीं।

(३) मुक्त-व्यापारसे वाणिज्यका व्यापक प्रसार होता है और उपभोक्ताओंकी आवश्यकताओंकी अनेक प्रकारकी वस्तुओंका निर्माण होता है, जिससे उपभोक्ताके हितकी वृद्धि होती है। संरक्षणमें यह बात नहीं।

स्मिथ मुक्त-वाणिज्यका समर्थक है सही, पर उसने उसकी कुछ मर्यादाएँ भी रखी हैं। जैसे :

(१) यदि राष्ट्रकी सुरक्षाके हितमें और मुक्त-वाणिज्यमें संघर्ष उत्पन्न होता

हो, तो राष्ट्र-हितको प्राथमिकता देनी चाहिए। कारण, सम्पत्तिक समृद्धिकी अपेक्षा राष्ट्रीय स्वातंत्र्यका मूल्य कहीं अधिक है।

(२) यदि अपने राष्ट्रकी वस्तुओंपर दूसरा राष्ट्र भारी आयात-कर लगाता है, तो अपने यहाँ उस राष्ट्रकी वस्तुओंपर कर लगाना उचित है।

(३) देशी और विदेशी वस्तुओंके मूल्य-स्तरको समान करनेके लिए भी कर लगाया जा सकता है।

राज्यके कर्तव्य

मुक्त-वाणिज्यका समर्थन करते हुए स्मिथने राज्यके भी कुछ कर्तव्य निर्धारित किये हैं। जो कार्य व्यक्तिकी क्षमताके परे हैं, केवल उन्हीं कार्योंको उसने राज्यका कर्तव्य ठहराया है। जैसे :

(१) न्यायकी व्यवस्था,

(२) राष्ट्रकी सुरक्षा और

(३) सार्वजनिक निर्माण-कार्य।

इन तीनों कर्तव्योंको स्मिथने राज्यके लिए अनिवार्य बताया है। उसने यह भी कहा है कि राज्य इनके अतिरिक्त सूदकी दरका नियमन कर सकता है, डाकखानेकी व्यवस्था कर सकता है, प्रारम्भिक अनिवार्य शिक्षाका प्रबन्ध कर सकता है, ५ पौण्डतकके बैंक-नोट जारी कर सकता है तथा विदेशी व्यापारके सम्बन्धमें छोटे-मोटे नियम आदि भी बना सकता है।[1]

७. पूर्ववर्ती विचारधाराएँ

स्मिथने आर्थिक सिद्धान्तोंके सम्बन्धमें अपनी पूर्ववर्ती विचारधाराओं-पर भलीभाँति चिन्तन और मनन किया था। वाणिज्यवाद और प्रकृतिवाद, दोनों ही प्रमुख विचारधाराओंके दोष उसके समयतक प्रकाशमें आ चुके थे। उसने उन दोषोंसे अपनेको मुक्त रखनेकी चेष्टा की है और इस बातका प्रयत्न किया है कि उन विचारधाराओंमें जो गुण हैं, वे अधिकाधिक विकसित हो सकें। इसके कारण स्मिथकी विचारधारामें स्थान-स्थानपर अनेक असंगतियाँ भी दृष्टि-गोचर होती हैं।

वाणिज्यवाद

स्मिथने वाणिज्यवादके सिद्धान्तोंकी तीव्र समीक्षा की है। स्मिथकी मान्यता यह है कि द्रव्य विनिमयका साधनमात्र है, इसके अतिरिक्त उसका कोई मूल्य नहीं है। 'पैसा, पैसा, और पैसा'—वाणिज्यवादियोंकी इस अर्थ-पिपासाको वह राष्ट्रीय सम्पत्तिका साधन नहीं मानता। उसका कहना है राष्ट्रकी सच्ची सम्पत्ति है

---

१ हेने : हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ २२९-२३२।

'उसकी भूमि, उसके मकान, उपभोगकी सारी सामग्री, भूमिकी वार्षिक उत्पत्ति और समाजका श्रम ।'

स्मिथ मानता है कि द्रव्यको अपने राष्ट्रमें ही बाँधकर रखनेका कोई अर्थ नहीं। उसे स्वतंत्र रूपसे चलना मिलनी चाहिए, जिससे वह आवश्यकताके स्थानपर स्वतः पहुँच जायगा। फिर वह देश हो या विदेश।

स्मिथ कहता है कि 'अपने वाणिज्यकी ओर ध्यान दो, स्वर्ण अपनी खबर अपने-आप ले लेगा।'

द्रव्यका अपना कोई मूल्य नहीं, स्मिथकी इस धारणासे अनुकूल व्यापाराधिक्यका तर्क भी व्यर्थ सिद्ध हो जाता है। वह मानता है कि अंतर्राष्ट्रीय व्यापारके द्वारा व्यापारवाले सभी देशोंमें उपभोग्य वस्तुओंका बाहुल्य होता है। अतः सच्ची सम्पत्तिकी वृद्धिके लिए यह आवश्यक है कि अंतर्राष्ट्रीय व्यापारपर न्यूनतम प्रतिबन्ध रखे जायँ।

प्रकृतिवाद

प्रकृतिवादी विचारधाराने स्मिथको बहुत कुछ प्रभावित किया है। केने और तरगोके साथ उसकी अच्छी मैत्री थी। उनके विचारोंसे उसका प्रभावित होना स्वाभाविक था।

स्वाभाविकतावाद तथा प्रकृतिकी देनमें विश्वास, वितरणकी समस्या आदिके सम्बन्धमें स्मिथकी विचारधारा और प्रकृतिवादियोंकी विचारधारामें कुछ साम्य प्रतीत होता है, पर स्मिथने इन बातोंपर अपनी दृष्टिसे विचार किया है।

प्रकृतिवादी मानते थे कि 'प्राकृतिक नियम' ही आदर्श स्थिति है, स्मिथ मानता था कि आर्थिक संस्थाओंके कार्य-संचालनमें स्वाभाविकता रहती है।

प्रकृतिवादी प्रकृतिकी देनमें विश्वास करते थे और मानते थे कि प्रतिबन्ध न रहनेसे ही उसका अधिकतम लाभ उठाया जा सकता है। स्मिथ भी नियंत्रणोंका विरोधी था, पर मुक्त व्यापारके पक्षमें दोनोंके कारण भिन्न-भिन्न थे।

प्रकृतिवादियोंकी वितरणकी योजनामें संघर्षकी कहीं गुंजाइश नहीं थी, पर स्मिथ मानता है कि उसमें मजदूरों, भू-स्वामियों और पूँजीपतियोंके हितोंमें संघर्षकी सम्भावना है।

प्रकृतिवादी जहाँ कृषिको सम्पत्तिका आधार मानते थे, वहाँ स्मिथ श्रमको। उसकी श्रम-विभाजन और पारस्परिक सहयोगकी भावना प्रकृतिवादियोंसे सर्वथा भिन्न है। श्रम-विभाजनके सिद्धान्तका प्रतिपादन करते हुए भी वह प्रकृतिवादियोंके प्रति अत्यधिक आदर प्रकट करता है।[1]

श्रमपर महत्त्व देते हुए भी वह कृषिको उच्चस्थान देता ही है।

---

१ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ ८५।

प्रकृतिवादी जहाँ कृषिपर एक-कर-प्रणालीका समर्थन करते थे, वहाँ स्मिथ सबपर क्षमताके अनुकूल कर लगानेका पक्षपाती है।

प्रकृतिवादियोंका दृष्टिकोण जहाँ संकुचित था, स्मिथका दृष्टिकोण व्यापक था।

स्मिथके विचारोंका प्रभाव

यह बात तो पूर्णतः निर्विवाद है कि अदम स्मिथ अपने युगका प्रतिनिधि विचारक है। संक्रान्तिकालीन आर्थिक विचारधाराको शास्त्रीय रूप प्रदान करनेमें स्मिथकी देन अतुलनीय है। उसने जिन धारणाओंका प्रतिपादन किया, उन्होंने इंग्लैंड तथा अन्य देशोंकी उन्नीसवीं शताब्दीपर अपना अत्यधिक प्रभाव रखा। स्मिथके जीवन-कालमें ही उसकी अमर कृति 'वेल्थ ऑफ नेशन्स' के ८ संस्करण और अनेक अनुवाद प्रकाशित हुए और विभिन्न विचारकोंको उसने प्रभावित किया। पिट और फाक्स जैसे इंग्लैण्डके राजनीतिज्ञ स्मिथकी विचार-धारासे प्रभावित हुए और उन्होंने स्मिथके विचारोंके अनुकूल कितने ही आर्थिक सुधार जारी करनेका प्रयत्न किया। यदि बड़े भू-स्वामी अड़ंगे न लगाते, तो पिट 'वेल्थ ऑफ नेशन्स' में सुझाये हुए सम्पूर्ण आर्थिक संघटनका चित्र ही खड़ा कर देता।

सन् १८२९ और १८५० के बीच मानचेस्टर विचारधारावालोंने जो आन्दोलन चलाया, उसका उद्गम अदम स्मिथके ही विचार थे। यूरोपियन अन्नके आयातके विरुद्ध लगे प्रतिबन्धोंको दूर करनेकी उन्होंने माँग की।

स्मिथके विचारोंका ही प्रभाव था कि इंग्लैण्डमें १९वीं शताब्दीके मध्यमें पूर्णतः मुक्त व्यापार आरम्भ हो गया। स्मिथका स्वप्न साकार हुआ।

यह सही है कि औद्योगिक क्रान्ति देखनेके लिए स्मिथ जीवित नहीं रहा, पर इतना निर्विवाद है कि उसने जिन विचारोंका प्रतिपादन किया, उनका प्रभाव उस क्रान्तिपर अवश्य ही पड़ा है। और सब स्थितियाँ प्रस्तुत थीं, स्मिथने उसके लिए आदर्शवादी पृष्ठभूमि तैयार कर दी।

विचारोंकी समीक्षा

स्मिथकी आर्थिक विचारधाराने अर्थशास्त्रको शास्त्रीय स्वरूप प्रदान किया। वाणिज्यवादियों तथा प्रकृतिवादियोंके छिटपुट विचारोंका उसने अध्ययन करके उन्हें इस भाँति विकसित किया कि आगेके विचारकोंके लिए वे दृढ़ आधार बन गये।

स्मिथके विचारोंका मनन और अनुशीलन पर्याप्त हुआ है। उनकी आलोचना भी हुई है। आधुनिक अर्थशास्त्री स्मिथके प्रमुख विचारोंके सम्बन्धमें इस प्रकार मत व्यक्त करते हैं :

उत्पादन—स्मिथका श्रम-विभाजन उसकी मौलिक देन तो नहीं है, पर उसने उसे नया जामा पहनाकर सारी आर्थिक कार्यवाहीका मूल आधार बना दिया है।

उसकी सबसे बड़ी विशेषता यही है कि वह आजके आर्थिक जगत्का आधारस्तम्भ बन गया है। वाणिज्यवादियों और प्रकृतिवादियोंके संकुचित घेरेसे निकलकर स्मिथने व्यापक दृष्टिसे इस समस्याकी ओर देखा और उसे व्यापक रूप प्रदान किया है। उसकी दृष्टि यह है कि श्रम करनेवाले प्रत्येक व्यक्तिको समाजमें समुचित स्थान मिलना ही चाहिए। उसके श्रम-विभाजनके सिद्धान्तसे ही सबपर करका भार पड़नेकी धारणाका उदय हुआ है। इसे परवर्ती अर्थशास्त्रियोंने ज्योंका त्यों स्वीकार कर लिया है।

विनिमय—स्मिथके मूल्य-सिद्धान्तको भी परवर्ती विचारकों द्वारा पर्याप्त प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है। उसका उत्पादन-लागत-सम्बन्धी सिद्धान्त दोषपूर्ण माना जाता है। साम्य (Equilibrium) की धारणा उसके समक्ष स्पष्ट नहीं हो सकी थी। दोषपूर्ण होनेपर भी कीमतों सम्बन्धी स्मिथकी धारणा बहुत प्रख्यात है। उसके श्रम-सिद्धान्तको परवर्ती समाजवादी विचारकोंने अपना एक अस्त्र ही बना डाला और इस अर्थमें स्मिथको समाजवादी विचारधाराका पूर्वज भी कहा जा सकता है।

उत्पादन-लागत सम्बन्धी सिद्धान्त एक शताब्दीतक शास्त्रीय अर्थशास्त्रियोंमें अपना अडिग स्थान बनाये रहा। बादमें आस्ट्रियन विचारकोंके उपयोगिता-सिद्धान्तने उसका स्थान ग्रहण किया। उपयोगितागत मूल्यके सम्बन्धमें स्मिथके विचार कुछ अधिक पुष्ट और परिष्कृत होते, तो मार्शलके पहले ही मूल्यसम्बन्धी स्पष्ट धारणा परिपक्व हो गयी होती। पर अनेक आलोचक मार्शलकी धारणाको भी सही मानते हैं। अस्तु, इतना तो स्पष्ट है कि स्मिथने मूल्यके श्रम-सिद्धान्त तथा मूल्यके उत्पत्ति-लागतके सिद्धान्त प्रस्तुत करके इस दिशामें विचारको आगे बढ़नेके लिए समुचित सामग्री प्रदान कर दी है, भले ही उसमें कुछ असंगतियाँ हैं।

वितरण—सामान्यतः स्मिथका वितरणका सिद्धान्त भ्रमपूर्ण है। उसमें असंगतियाँ भरी पड़ी हैं। उसमें प्रकृतिवादी विचारधाराके दोष विद्यमान हैं। पर उसने परवर्ती विचारकोंके विचारके लिए समुचित सामग्री प्रदान की, इस विशेषताको अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

उसके मजदूरी-कोषका सिद्धान्त आगेके विचारकोंने तथा साधनों और जनसंख्याकी परस्पर-निर्भरताका सिद्धान्त मैल्थसने विकसित किया।

स्मिथने श्रम और पूँजीके विरोधमें जो विचार प्रकट किये, वे आगे चलकर समाजवादी विचारकोंकी आधारशिला बन गये।

अन्य बातोंमें स्मिथ आशावादी था, पर वितरणके सम्बन्धमें वह निराशावादी हो गया था। भू-स्वामियों और पूँजीपतियोंकी 'पराये धनपर लक्ष्मीनारायण' की वृत्ति उसने समझ ली थी। इस विचारने समाजवादियोंको बड़ी प्रेरणा दी।

राजस्व—स्मिथके कर-प्रणाली-सम्बन्धी प्रनियमोंकी महत्ता इसीसे प्रकट है कि अर्थशास्त्रियोंने उसे यथावत् स्वीकार कर लिया है। लगानको उसने करोंका एकमात्र वांछनीय साधन माना है, इस बातको अर्थशास्त्री गलत मानते हैं।

स्वाभाविकतावाद—स्मिथके स्वाभाविकतावादका आगे चलकर जो विकास हुआ, उसमें मनुष्य स्वार्थका एकमात्र पुतला मान लिया गया, पर वस्तुतः स्मिथकी ऐसी धारणा नहीं थी। उसका तो केवल यही कहना था कि मनुष्यमें स्वार्थके अतिरिक्त भी अनेक वृत्तियाँ रहती हैं, पर उसके अधिकांश आर्थिक कार्य स्वार्थकी ही मूल प्रेरणासे प्रेरित होकर होते हैं।

प्रकृतिवादियोंने 'प्राकृतिक नियम' पर जो जोर दिया, उसके स्वाभाविकता-वाले अंशको लेकर स्मिथने विकसित किया और भलीभाँति उसका विश्ले-षण किया।

कुछ आलोचकोंका, मुख्यतः हिल्डेनबर्ग, लिस्ट, मुलर, स्पान आदिका कहना है कि स्मिथकी धनसम्बन्धी धारणा संकुचित है। वह उसे विनिमय-मूल्यका पर्याय ही मानता है। ऐसा मानना ठीक नहीं। जर्मन अर्थशास्त्रियोंके कथना-नुसार स्मिथमें व्यक्तिवाद और स्वार्थवाद ही प्रधान है, राज्यके महत्त्वको वह भलीभाँति पहचानता नहीं। कुछ लोग कहते हैं कि स्मिथमें आदर्शवाद कम है, भौतिकवाद अधिक। आर्थिक संस्थाओं आदिके आकस्मिक उद्भवके सिद्धान्तको भी कुछ विचारक स्वीकार नहीं करते।[1]

यह सही है कि स्मिथके विचारोंमें अनेक असंगतियाँ हैं और कितनी ही बातोंमें वह स्वयं अनिश्चित है कि कौन मार्ग ठीक है, कौन गलत; फिर भी अर्थशास्त्रमें उसका अवदान नगण्य नहीं, उसका स्थायी एवं व्यापक प्रभाव इसका प्रमाण है। उसकी 'वेल्थ ऑफ नेशन्स' वह गंगोत्री है, जिसमेंसे परवर्ती अंग्रेजी और फरासीसी, जर्मन और अमेरिकन विचारधाराएँ प्रस्फुटित एवं विकसित हुई हैं। ● ● ●

१ ग्रे : डेवलपमेंट ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन, पृष्ठ १५२—१५४।

बैंथम

'सुख-प्राप्तिकी भावना ही मानवके सारे कार्योंकी प्रेरिका है, स्वार्थ नहीं।'

—बैंथम

अदम स्मिथके प्रारम्भिक अनुयायियोंमें उपयोगितावादके जन्मदाता बैंथम-का नाम सर्वप्रथम उल्लेखनीय है। वह एक ओर स्मिथ और दूसरी ओर मैल्थस तथा रिकार्डोके बीचकी कड़ीका भी काम देता है।

जेरमी बैंथम (सन् १७४८–१८३२) दार्शनिक है, विचारक है, सुधारक है, लेखक है। उसने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं, जिनमें अर्थशास्त्रसे सम्बन्ध रखनेवाले दो ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण हैं : 'प्रिंसिपल्स ऑफ मारल्स एण्ड लेजिसलेशन' (सन् १७८९) और 'मैनुएल ऑफ पोलिटिकल इकॉनॉमी' (सन् १७९८)। उसकी समस्त रचनाएँ ११ खण्डोंमें प्रकाशित हुई हैं।

उपयोगितावाद

बैंथमने उपयोगितावादके सिद्धान्तको जन्म दिया। इस धारणाका मूल आधार है—सुखवादी मनोविज्ञान। बैंथम ऐसा मानता है कि मनुष्यके समस्त कार्योंके मूलमें एक ही भावना है और वह है—सुख-प्राप्तिकी इच्छा और दुःख-प्राप्तिकी अनिच्छा। बैंथमकी दृष्टिसे मनुष्यके सुख-दुःखके विचार उसकी भावनाओं और इच्छा-शक्तिपर अपना नियन्त्रण रखते हैं; इच्छा-शक्ति उनके सम्बन्धमें बुद्धिसे जिज्ञासा करती है। बुद्धि दोनों पक्षोंपर विधिवत् विचार करनेके उपरान्त कुछ निश्चय करती है। उसके उपरान्त मनुष्य उसे कार्यरूपमें परिणत करता है।[1]

बैंथमकी ऐसी धारणा है कि सुख और दुःख नापे जा सकते हैं, पर उनकी नापजोखमें कुछ कठिनाई है। कुछ सुख मात्रामें गहरे होते हैं, कुछ हल्के। अवधि, निश्चितता, सगोत्रता, शुद्धता, उत्पादकता और सीमाकी दृष्टिसे सुखकी मात्रामें भेद हो सकता है। बैंथमका सुझाव है कि धनको सुखका सामान्य

---

१ हेने : हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ २४८।

मापक माना जा सकता है। इसका अर्थ है—अधिक धन अर्थात् अधिक सुख। धनकी मात्राके साथ सुखकी वृद्धिका यह सिद्धान्त व्यक्तियोंपर भी लागू है, समाजपर भी। कारण, अनेक व्यक्तियोंका समूह ही तो समाज है।

बेंथमने यद्यपि धनकी मात्रामें वृद्धिके साथ सुखकी मात्रामें वृद्धि मानी है, परन्तु धन जितना बढ़ेगा, सुख भी उतना ही बढ़ेगा, इस बातको वह स्वीकार नहीं करता। बेंथम सीमान्त और घटती उपयोगिताका सिद्धान्त स्पष्ट नहीं कर सका है, परन्तु उसके विचारोंमें वह अन्तर्भूत है ही।[1]

बेंथम मानता है कि सुख-दुःखकी भावनासे प्रेरित होकर मनुष्य अपने सारे कार्य करते हैं अर्थात् उनके सारे कार्योंका कारण है—'उपयोगिताका सिद्धान्त'।

बेंथमका उपयोगितावाद सुखवादी उपयोगितावाद है। वह मानता है कि मनुष्यके लिए 'अच्छा' वही है, जिससे उसे अधिकतम सुखकी प्राप्ति होती है। उसकी कसौटी है—लाभ, सुविधा, सुख, अच्छाई या प्रसन्नता। इस कसौटीपर कस करके ही मनुष्य यह निश्चय करता है कि उसे क्या करना चाहिए।

राज्यका कर्तव्य

बेंथमने उपयोगितावादके आधारपर यह निष्कर्ष निकाला है कि उपयोगिताके सिद्धान्तसे मनुष्य केवल इतना ही निर्धारित नहीं करते कि उन्हें क्या करना चाहिए, अपितु यह भी कि वे क्या करेंगे। मनुष्योंका समुदाय ही समाज है, अतः राज्य भी उपयोगितावादके सिद्धान्त द्वारा संचालित होना चाहिए।

अर्थशास्त्र, बेंथमकी दृष्टिसे विज्ञान भी है, कला भी। विज्ञानके नाते वह उस ज्ञानका आविष्कार करता है, जिसके द्वारा मनुष्यको अधिकतम सुख मिल सके, जिसका मापदण्ड है पैसा। कलाके नाते वह उन उपायोंकी खोज करता है, जिनके द्वारा अधिकतम व्यक्तियोंको अधिकतम सुखके आदर्शकी प्राप्ति हो सके।

बेंथमके कथनानुसार राज्यके प्रत्येक नियमनसे मनुष्यको कष्ट होता है और चूँकि मनुष्य ही अपने सुखका सर्वोत्तम निर्णायक है, अतः उसपर कोई सरकारी नियंत्रण नहीं लगना चाहिए, ताकि वह अपनी इच्छाके अनुकूल अधिकतम सुख प्राप्त कर सके। प्रतिद्वंद्विताकी खुली छूट रहे, व्यापार सर्वथा मुक्त रहे।

बेंथमने राष्ट्रीय सम्पत्तिके विकासके लिए तथा मनुष्यके अधिकतम सुखका सर्वोत्तम उपाय यही बताया है कि 'राज्यको कुछ भी नहीं करना चाहिए', कारण,

(१) समाजकी सम्पत्ति समाजके घटकों—व्यक्तियोंकी सम्पत्ति है। और व्यक्तिका सर्वोत्तम हित व्यक्ति स्वयं ही समझता है।

---

१ हेने : वही, पृष्ठ २४९।

(२) सरकारी नियंत्रणसे व्यक्तिका दुःख बढ़ता है। सरकारी कर जबरन लगाये जाते हैं, जिससे व्यक्तिको कष्ट होता है।

अतः राज्यकी नीति होनी चाहिए—'चुप रहो, शांत रहो।'[1]

बेंथम स्वाभाविकतावादका विरोधी है। कहता है कि 'अधिकतम लोगों-के अधिकतम सुख' को ध्यानमें रखकर 'जन-हित' की दृष्टिसे कानून बनाये जा सकते हैं और मनुष्य व्यक्तिगत स्वार्थसे ऊपर उठकर ऐसे कानून बना सकता है।

बेंथमने उपयोगितावादका समर्थन करते हुए ये तथ्य उपस्थित किये हैं :

१. सुखकी अधिकतम मात्रा वांछनीय है और वह व्यक्तियोंके व्यक्तिगत कार्योंकी प्रेरिका होनी चाहिए।

२. मनुष्य सुख-दुःखकी तुलना करते हैं और फिर वैसा आचरण करते हैं।

३. पक्षपात, अवांछनीय स्वार्थ और अज्ञानसे इस तुलनामें दोष आ सकता है।

४. उस दोषके परिहारके लिए राज्य सामाजिक कर्तव्योंका विधान करे।[2]

५. सबकी सम्पत्तिकी मात्रा समान रहेगी, तो सबको समान सुखकी प्राप्ति होगी। अतः सम्पत्तिके वितरणमें समताका ध्यान रखना उचित है, जिसके लिए कर-प्रणालीका सहारा लिया जा सकता है।

मूल्यांकन

उपयोगितावादमें स्मिथके स्वाभाविकतावादका तीव्र विरोध है। बेंथम कहता है कि ऐसे सभी विचार मूर्खतापूर्ण हैं कि मनुष्य दैवी प्रेरणाके वशीभूत होकर स्वार्थकी दृष्टिसे ही सारे कार्य करता है। बेंथम ऐसा मानता है कि मनुष्यके सारे कार्योंकी एकमात्र प्रेरिका है—सुख-प्राप्तिकी भावना। स्मिथने जहाँ अर्थ-शास्त्रको नीतिशास्त्रसे जोड़ दिया था, बेंथमने उसे पृथक् करके अर्थशास्त्रको शुद्ध वैज्ञानिक रूप प्रदान करनेकी चेष्टा की।

उपयोगितावादका यह सिद्धान्त मैल्थस, रिकार्डो, जेम्स मिल, जान स्टुअर्ट मिलके हाथों खूब फूला-फला। आस्ट्रियन विचारधाराने इसके आधारपर मूल्य-सिद्धान्तका विशिष्ट रूपसे विकास किया। इसने व्यावहारिक रूप भी ग्रहण किया। १९वीं शताब्दीमें इंग्लैंडमें जो सुधार हुए, उनमें इसका बड़ा हाथ रहा।

उपयोगितावादकी मुख्य विशेषताएँ हैं—'स्वाभाविकतावाद' का विरोध, शुद्ध सुखवादी धारणा तथा नीतिशास्त्रका अर्थशास्त्रके साथ ऐसा सम्मिश्रण, जिसके कारण आगे चलकर समाजशास्त्रका जन्म सम्भव हो सका।[3] ●●●

---

१ हेने : वही, पृष्ठ २५०।
२ हेने : वही, पृष्ठ २५२।
३ हेने : वही, पृष्ठ २५३।

अठारहवीं शताब्दी

एक सिंहावलोकन

वाणिज्यवादके पालनेमें झूलती हुई अठारहवीं शताब्दी प्रकृतिवादकी छायामें आ गयी। दोनों ही आर्थिक विचारधाराओंने इस शताब्दीपर अपना रङ्ग जमाया। एकने 'सोना ! सोना !! और सोना !!!'—की रट लगायी, दूसरीने कहा, सोने-चाँदीसे पेट थोड़े ही भरेगा। पेट भरेगा अन्नसे और अन्न आयेगा कृषिसे। इसके लिए तराजू-बटखरा और सोना-चाँदी छोड़कर प्रकृतिकी गोदमें जाना पड़ेगा, कृषिकी ओर झुकना पड़ेगा। भूमि ही एकमात्र उत्पादक है। चलो, लौटो खेतोंकी ओर !

प्रकृतिवादने पैसेके चक्रका भी विश्लेषण किया। उसके घुमाव, उसके परिभ्रमणका भी सिद्धान्त निकाला और कहा कि सम्पत्ति-स्वामी-वर्ग हो, चाहे अनुत्पादक-वर्ग; दोनों ही उत्पादक-वर्गकी कमाईपर गुलछर्रे उड़ाते हैं। वास्तविक उत्पादन होता है कृषिमें और कृषक ही सच्चा उत्पादक है।

वाणिज्यवादी सोने-चाँदीके लिए विदेशी व्यापारपर बल देते थे, भूमि, व्यापार तथा जनसंख्यापर नियंत्रणोंकी माँग करते थे; प्रकृतिवादी कहते थे कि विदेशी व्यापार एक अनिवार्य दुश्चक्र है, उससे किसीको लाभ नहीं, उसपरसे नियंत्रण उठा लेने चाहिए। प्रत्येक व्यक्तिको स्वतंत्रता मिलनी चाहिए, पूर्ण स्वतंत्रता। जब हर आदमीको पूर्ण स्वतंत्रता होगी, तभी वह अपने हितके काम कर सकेगा और उसके कार्यसे समाजका हित हो सकेगा।

इन दोनों विचारधाराओंकी गोदमें परिपुष्ट होकर अदम स्मिथ सामने आया। उसने पश्चिमी अर्थशास्त्रको एक व्यवस्थित रूप प्रदान करनेकी चेष्टा की। अंग्रेजोंने तो उसे 'अर्थशास्त्रका जनक' माना ही, विश्वकी आर्थिक विचारधाराके अन्य तत्त्वविदोंने भी उसका महत्त्व स्वीकार किया।

एक ओर स्वर्णका बाहुल्य, दूसरी ओर यंत्रोंका आविष्कार और यों पूँजीवादका विकास—इस भावभूमिमें स्मिथका विकास हुआ।

स्मिथने न तो वाणिज्यवादियोंकी भाँति स्वर्ण और रजतको सर्वश्रेष्ठ स्थान प्रदान किया और न प्रकृतिवादियोंकी भाँति एकमात्र कृषिको ही सर्वोपरि माना। दोनोंको आवश्यक मानते हुए स्मिथने सर्वोच्च स्थान दिया—श्रमको।

स्मिथने श्रमको सबसे अधिक महत्त्वकी वस्तु माना। कहा, श्रम ही सम्पत्तिका मूल साधन है। बिना श्रमके न तो पूँजीका ही कोई अर्थ है और न भूमिका ही।

स्मिथने श्रम-विभाजनका सिद्धान्त निकाला, पूँजीका सिद्धान्त निकाला, मूल्यका सिद्धान्त निकाला, करका सिद्धान्त निकाला, वितरणका सिद्धान्त निकाला, स्वतंत्र अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारका सिद्धान्त निकाला। और सबसे बड़ी बात यह कि उसने अपने विचारोंको ऐसी साहित्यिक भाषामें व्यक्त किया, उसमें इतनी मधुरिमा उँड़ेली कि परवर्ती आलोचक पहले सपाटेमें तो मंत्रमुग्ध ही हो गये। बादमें जब कलमका जादू कुछ हल्का पड़ा, तो वे वास्तविकताके धरातलपर उतरकर उसकी आलोचनामें प्रवृत्त हुए।

स्मिथने अपने पूर्ववर्ती विचारकोंको भलीभाँति हृदयंगम किया, अपना स्वतंत्र चिन्तन किया और उसे इस प्रकारसे व्यवस्थित किया कि अर्थशास्त्रको शास्त्रीय अर्थशास्त्रका रूप प्राप्त हो सका।

स्मिथके साथ ही आया बेंथम। उसकी उपयोगितावादी धारणाने अर्थशास्त्रकी शास्त्रीय पद्धतिको विकसित करनेमें अच्छा हाथ बँटाया।

यों अठारहवीं शताब्दीमें पश्चिमी अर्थशास्त्रका जन्म हुआ। उसकी शास्त्रीय परम्पराका उदय हुआ। उन्नीसवीं शताब्दीके आरम्भमें मैल्थस और रिकार्डोने अपने विचारोंसे इस पद्धतिको परिपुष्ट कर परिपक्वताकी ओर कदम बढ़ाया।

●●●

आर्थिक विचारधारा

उदयसे सर्वोदयतक

द्वितीय खण्ड

उन्नीसवीं शताब्दी
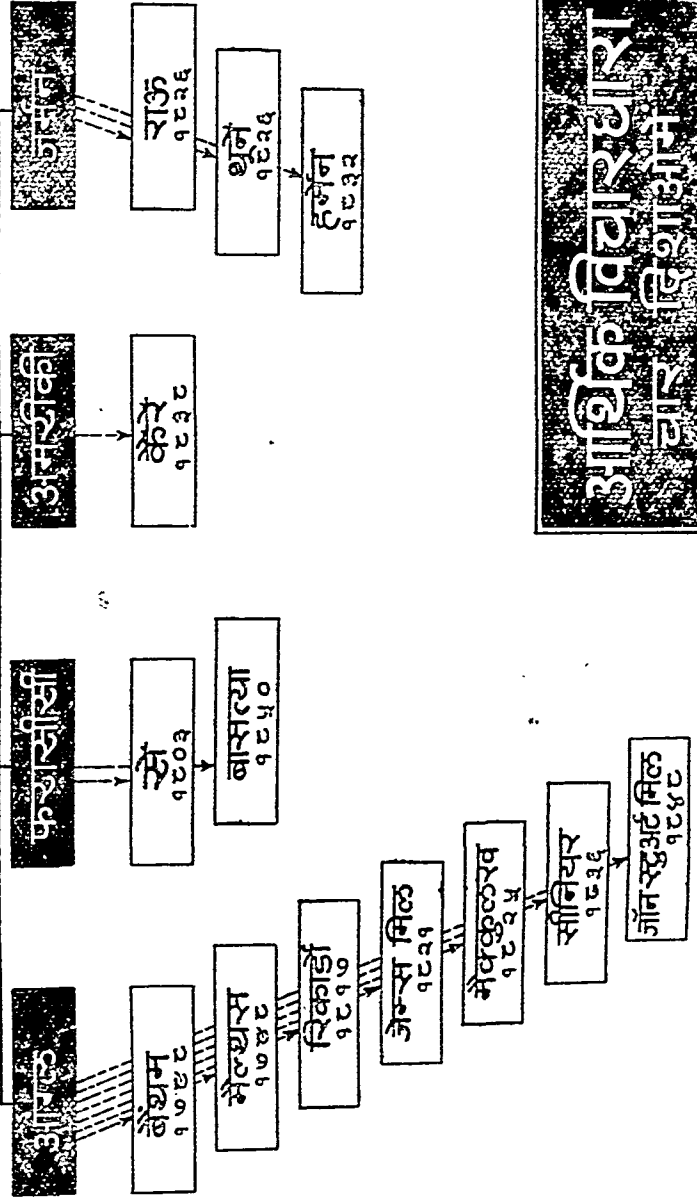
अदम स्मिथ १७७६
आंग्ल
फरांसीसी
अमरीकी
जर्मन
बैंथम १७९८
मैल्थस १७९८
रिकार्डो १८१७
जेम्स मिल १८२१
मैक्कुलख १८२५
सीनियर १८३६
जॉन स्टुअर्ट मिल १८४८
से १८०३
बासत्या १८५०
कैरे १८३८
राऊ १८२६
थूनें १८२६
हर्मेन १८३२
आर्थिक विचारधारा
चार दिशाओंमें

शास्त्रीय विचारधाराका विकास

मैल्थस : १ :

> इन्द्राग्नी द्यावा पृथिवी मातरिश्वा मित्रावरुणा भगो अश्विनोभा।
> बृहस्पतिर्मरुतो ब्रह्म सोम इमां नारी प्रजया वर्धयन्तु।
>
> —अथर्ववेद १४।२।१।५५

हमारे यहाँ विवाहके समय अन्य वैदिक मंत्रोंके साथ इस मंत्रका भी पाठ किया जाता है। पति और पत्नी, दोनों ही प्रतिज्ञा करते हैं कि 'इन्द्र, अग्नि, भूमि, वायु, मित्र, वरुण, ऐश्वर्य, अश्विनी, बृहस्पति, मरुत्, ब्रह्म, चन्द्रमा आदि जिस प्रकार प्रजाकी वृद्धि करते हैं, उसी प्रकार हम दोनों प्रजाकी वृद्धि करें।'[1]

वैदिक ऋषियोंने जहाँ ऐसा स्वीकार किया था कि मानवके सर्वांगीण

---

१ श्रीकृष्णदत्त भट्ट : वर-वधूसे दो बातें, सं० २००५, पृष्ठ ३५।

विकासके लिए स्त्री-पुरुषका विवाह-सूत्रमें बँधना आवश्यक है, वहाँ उन्होंने प्रजोत्पत्तिपर भी बल दिया था। उन्होंने कहा था कि पुत्रोत्पत्तिसे माता-पिताको आध्यात्मिक सुख भी मिलेगा, भौतिक भी। 'ऐसे युगमें, जब कि व्यक्तिके अधिकार उसकी शक्तिपर निर्भर थे, पुत्रको इतना महत्त्व देना असंगत नहीं मालूम होता। मूसा और कन्फ्यूसियसके विधान अपने अनुगामियोंको एक पुत्र उत्पन्न करनेका आदेश देते हैं, क्योंकि केवल इसीसे मुक्ति मिलती है। इसी प्रकार हिन्दुओंमें भी उस व्यक्तिके लिए स्वर्गके द्वार बंद हैं, जिसकी अन्त्येष्टि क्रिया उसके अपने पुत्र द्वारा नहीं की जाती और जो अपने जीवन कालमें कन्या-दान नहीं कर पाता। यूनान और रोमके निवासियोंमें जन-संख्याकी वृद्धिके लिए कानूनी और राजनीतिक दबाव डाला जाता था, जिससे दूर-दूरतकके देशोंकी विजय करनेके लिए सबल सैनिक और शासक बराबर मिलते रहें। मुसलमानोंके विवाह-सम्बन्धी नियमोंमें ऐसे स्पष्ट चिह्न मिलते हैं, जो यह सूचित करते हैं कि सामाजिक और धार्मिक प्रथाएँ जनसंख्या-विस्तारकी नीतिके अधीन थीं।[१]

जनसंख्या और उसकी समस्या अत्यन्त प्राचीन कालसे चलती आ रही है। उसके विस्तार एवं नियमनके लिए समय-समयपर अनेक प्रकारके प्रयत्न होते आ रहे हैं, पर आधुनिक युगमें जिस व्यक्तिने सबसे पहले जोरदार शब्दोंमें इस समस्याको लाकर विश्वके समक्ष खड़ा किया, उसका नाम है—मैल्थस। यों उसने लगान और अति उत्पादनके सम्बन्धमें भी अत्यन्त मौलिक विचार दिये हैं, पर उसकी सबसे अधिक ख्याति हुई है जनसंख्याके प्रश्नको लेकर!

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

मैल्थसका उदय उस युगमें हुआ, जिस युगमें औद्योगिक क्रान्तिका अभिशाप स्पष्ट होने लगा था। उसके दोष प्रकट होने लगे थे। स्मिथके सामने तो इस क्रान्तिका जन्म ही हो रहा था, पर मैल्थसके सामने औद्योगिक क्रान्तिके दोष—बेकारी, भुखमरी और दुर्भिक्षकी काली छाया समाजपर मँड़राने लगी थी। धनके असमान वितरण एवं दिन-दिन बढ़नेवाले दारिद्र्यने स्थिति भयंकर बना दी थी।

इंग्लैण्डकी स्थिति दयनीय हो रही थी, आयर्लैण्डमें दुर्भिक्ष पड़ रहे थे, गल्लेका दाम चढ़ रहा था, फसलें नष्ट हो रही थीं। इस स्थितिका सामना करनेके लिए अनाज-सम्बन्धी ऐसे कानून बनाये गये थे, जिनसे वह सुधरनेके बजाय उलटे

१ राजेन्द्रनाथ भार्गव : अर्थशास्त्रके मूलाधार, १९५८, पृष्ठ ६४।

बिगड़ती ही जा रही थी। सन् १७८० में गेहूँका भाव जहाँ ३४॥ शिलिंग था, वहाँ सन् १८०० में ६३॥ और सन् १८२० में ८७॥ शिलिंग हो गया था ![1]

पूर्वपीठिका

अठारहवीं शताब्दीके उत्तरार्धमें एक ओर औद्योगिक क्रान्तिका अभिशाप, बेकारी और धनके असमान वितरणका अभिशाप, दूसरी ओर दुर्भिक्षोंकी मार, अन्नकी उपजमें ह्रास : ऐसी 'एक ओर कुआँ, दूसरी ओर खाई' वाली स्थितिमें पड़ी जनता त्राहि-त्राहि कर रही थी।

उधर अबतक चलती आनेवाली वाणिज्यवादी और प्रकृतिवादी विचारोंकी परम्पराएँ इस बातपर जोर दे रही थीं कि राष्ट्रीय सम्पत्तिके सम्वर्द्धनके लिए यह आवश्यक है कि जनसंख्याका विस्तार किया जाय। साथ ही समकालीन विचारक वैलेस, ह्यूम, स्मिथ, प्राइस, रूसो, गाडविन, बफन, मांटेस्क्यू, कोण्डरसेट आदि इस समस्यापर गम्भीरतासे सोचकर भिन्न-भिन्न मत प्रकट करने लगे थे। कोई उसपर नियंत्रणकी बात कहता था, कोई यह कहता था कि जनसंख्याकी वृद्धिसे कोई हानि नहीं है।

प्रश्न था कि ऐसी भयंकर स्थितिमेंसे मार्ग कौन-सा निकाला जाय। यह काम किया—मैलथसने।

जीवन-परिचय

थामस रोबर्ट मैलथसका जन्म सन् १७६६ में इंग्लैण्डकी सरे काउण्टीके राकरी नामक स्थानमें हुआ। मैलथसको कैम्ब्रिजमें उच्च शिक्षा मिली। उसके बाद वह पादरी बन गया। सन् १७९९ से १८०२ तक उसने पहले नार्वे, स्वेडेन और रूसकी यात्रा की और बादमें फ्रांस, स्विट्जरलैण्ड तथा यूरोपके अन्य देशोंकी। सन् १८०५ में उसका विवाह हुआ और फिर वह लन्दनके निकट हेलेबरीमें ईस्ट इण्डिया कम्पनीके कॉलेजमें इतिहास और अर्थशास्त्रका प्राध्यापक नियुक्त हुआ और जीवनके अन्ततक वहीं अध्यापन करता रहा। सन् १८३४ में उसका देहान्त हुआ।

मैलथसने सबसे पहले जनसंख्या-सम्बन्धी अपना लेख 'एसे ऑन दि

---

१ हेने : हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ २५८।

प्रिंसिपल ऑफ पॉपुलेशन, एज इट एफेक्ट्स दि फ्यूचर इम्प्रूवमेण्ट ऑफ सोसाइटी' सन् १७९८ में गुमनामसे प्रकाशित कराया। फिर उसका द्वितीय संस्करण निकला, जिसका शीर्षक था—'एसे ऑन दि प्रिंसिपल ऑफ पॉपुलेशन और ए व्यू ऑफ इट्स पास्ट एण्ड प्रेजेण्ट एफेक्ट्स ऑन ह्यूमन हेपीनेस, विथ एन एनक्वायरी इन टू अवर प्रॉसपेक्ट्स रेसपेक्टिंग दि फ्यूचर रिमूवल और मिटिगेशन ऑफ दि ईविल्स व्हिच इट आकेजन्स।' मैल्थसके जीवन-कालमें ही इस प्रसिद्ध लेखके ४ संस्करण हुए। सभी संस्करणोंमें उसके विचारके विकासके साथ-साथ उत्तरोत्तर संशोधन एवं परिवर्द्धन होता गया।

मैल्थसने इसके अतिरिक्त 'प्रिंसिपल्स ऑफ पोलिटिकल इकॉनॉमी' (सन् १८२०), 'स्टडीज डीलिंग विथ कार्न लाज' (सन् १८१४-१५), 'ओन रेण्ट' (सन् १८१५), 'दि पूअर ला' (सन् १८१७) और 'डेफिनीशन्स इन पोलिटिकल इकॉनॉमी' (सन् १८२७) नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ भी लिखे।

प्रमुख 'आर्थिक विचार'

मैल्थसने तीन समस्याओंपर मुख्य रूपसे अपने विचार व्यक्त किये हैं :

(१) जनसंख्याका सिद्धान्त,

(२) लगानका सिद्धान्त और

(३) अति उत्पादनका सिद्धान्त।

जनसंख्याका सिद्धान्त

मैल्थसके पिता डैनियल मैल्थस स्वयं विद्वान् थे। गाडविन और ह्यूम उनके मित्र थे। विलियम गाडविन प्रख्यात अराजकवादी विचारक थे। सन् १७९३ में उनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'एनक्वायरी कन्सर्निंग पोलिटिकल जस्टिस एण्ड इट्स इन्फ्लुएन्स ऑन मॉरल्स एण्ड हैपीनेस' प्रकाशित हुई, जिसने सर्वत्र बड़ी हलचल उत्पन्न कर दी।

गाडविनकी ऐसी मान्यता थी कि सरकार एक अनिवार्य दुश्चक्र है और वही मानवके दुःख और दुर्भाग्यका मूल कारण है। गाडविन व्यक्तिगत सम्पत्तिका तीव्र विरोधी था। विज्ञान तथा समाजकी प्रगतिमें उसका असीम विश्वास था। वह मानता था कि भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल है। उसने आदर्श समाजकी कल्पना की थी, जिसमें कहा था कि जनसंख्याके विस्तारसे विषमतामें कोई वृद्धि नहीं होगी; और यदि होगी भी, तो या तो विज्ञान या मानवकी तर्कबुद्धि उसका उपाय कर लेगी।

गाडविनकी पुस्तकने कुछ समर्थक पैदा किये, कुछ विरोधी। मैल्थस परिवारमें पिता—डैनियल उसका समर्थक निकला और पुत्र—रोबर्ट उसका विरोधी। जनसंख्या और खाद्यकी समस्याको लेकर रोबर्ट मैल्थसने अपना प्रसिद्ध

निबन्ध लिखा, जिसमें उसने यह घोषणा की कि जनसंख्या सामाजिक प्रगतिमें इतनी बड़ी बाधा है कि उसे सहज ही पार कर लेना सर्वथा असम्भव है। खाद्य पदार्थोंका उत्पादन जिस मात्रामें होता है, उससे कहीं बड़ी मात्रामें जनसंख्या-की वृद्धि होती है। इस जनसंख्या-वृद्धिका ही परिणाम है—भुखमरी, संकट और मृत्यु। मैल्थसने इस बातपर जोर दिया कि गाडविनके अनुसार राज्य-सत्ताका अन्त कर दिया जाय, तो भी तो जनसंख्याकी समस्या हल होनेवाली नहीं। कारण, हमारे दुःख और दुर्भाग्यका मूल तो हमारे अपने दुर्बल एवं अपूर्ण स्वभावमें ही विद्यमान है।[1]

मैल्थसके जनसंख्या-सम्बन्धी सिद्धान्तकी मुख्य तीन आधारशिलाएँ हैं :

(१) जनसंख्या-वृद्धिका गुणात्मक क्रम,

(२) खाद्यान्नकी पूर्तिका समानान्तर क्रम और

(३) नियंत्रणके दैवी एवं मानवीय उपाय।

मैल्थस मानता है कि जनसंख्याकी वृद्धि ज्यामितीय या गुणात्मक क्रममें होती है, जब कि खाद्यान्नकी पूर्ति समानान्तर क्रममें हुआ करती है।

गुणात्मक क्रम

मैल्थसके अनुसार जनसंख्या १ : २ : ४ : ८ : १६ : ३२ : ६४ : १२८ : २५६ के क्रममें बढ़ती है। उसकी वृद्धिका क्रम ज्यामितिके अनुसार रहता है।
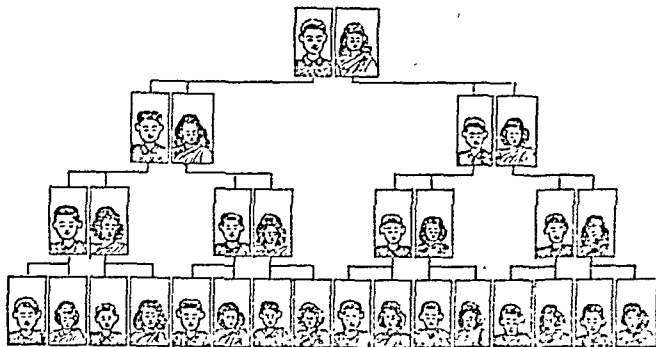
जनसंख्याकी वृद्धिकी गति

प्रत्येक देशकी जनसंख्या इतनी तीव्रतासे बढ़ती है कि २५ वर्षमें वह दुगुनी हो जाती है। उसका कहना है कि प्रत्येक विवाहित दम्पति ६ बच्चोंको जन्म देते हैं, जिनमेंसे २ बच्चे या तो काल-कवलित हो जाते हैं अथवा विवाह नहीं

---

१ हेने : वही, पृष्ठ २६१।

करते या सन्तानको जन्म देनेके अयोग्य रहते हैं। इस प्रकार दो प्राणियोंसे चार बच्चे उत्पन्न होते हैं और इसी प्रकार सृष्टिका यह क्रम दूने हिसाबसे बढ़ता चलता है।

समानान्तर क्रम

मैल्थसके अनुसार जनसंख्या जिस अनुपातमें बढ़ती है, खाद्य पदार्थोंकी पूर्ति उसकी अपेक्षा बहुत कम हो पाती है। अन्नकी वृद्धिका क्रम समानान्तर
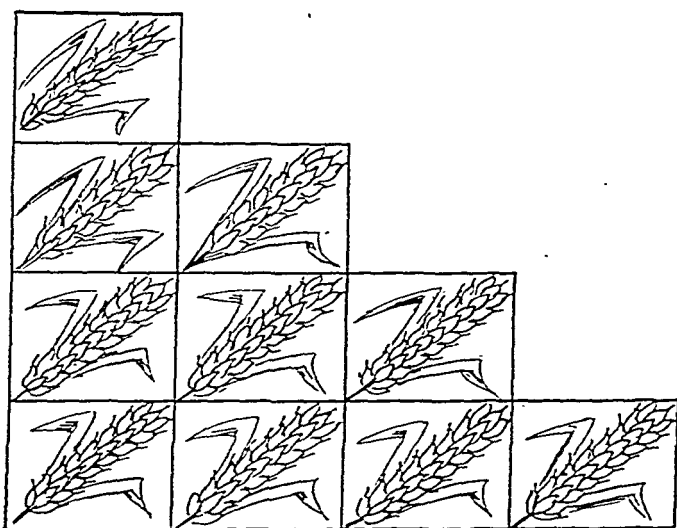
उपजकी वृद्धिकी गति

रहता है। वह १ : २ : ३ : ४ : ५ : ६ : ७ : ८ : ९ के क्रमसे बढ़ती है। जनसंख्यामें जहाँ ज्यामितिका क्रम रहता है, खाद्यान्न-पूर्तिमें वहाँ गणितका क्रम रहता है।

२२५ वर्षोंमें जनसंख्यामें जहाँ २५६ गुनी वृद्धि होगी, वहाँ खाद्यान्नकी पूर्ति केवल ९ गुनी बढ़ेगी।

खाद्यान्न-पूर्तिके इस अभावका स्वाभाविक परिणाम होता है—देशमें भुखमरी, बेकारी और बीमारीकी वृद्धि।

नियंत्रणके साधन

मैल्थस मानता है कि सर्वत्र जो आर्थिक उथल-पुथल दृष्टिगोचर होती है, उसका मूल कारण है जनसंख्या। खाद्यान्न-पूर्तिका अनुपात कम रहनेसे लोगोंको भोजनके लिए पर्याप्त अन्न नहीं मिल पाता है, जिसके कारण अनेक प्रकारके दुःख और कष्ट बढ़ते-पनपते हैं। पौष्टिक एवं संतुलित आहारके अभावमें दुर्बलता और बीमारियाँ बढ़ती हैं। अतः गरीबोंको तो विवाह ही नहीं करना चाहिए।

मैल्थस कहता है कि जिस व्यक्तिके माता-पिता उसे पर्याप्त भोजन देनेसे इनकार करते हैं और समाज जिसे समुचित कार्य नहीं देता, उसके जीवित रहने-

युद्ध और महामारी द्वारा जन-संहार
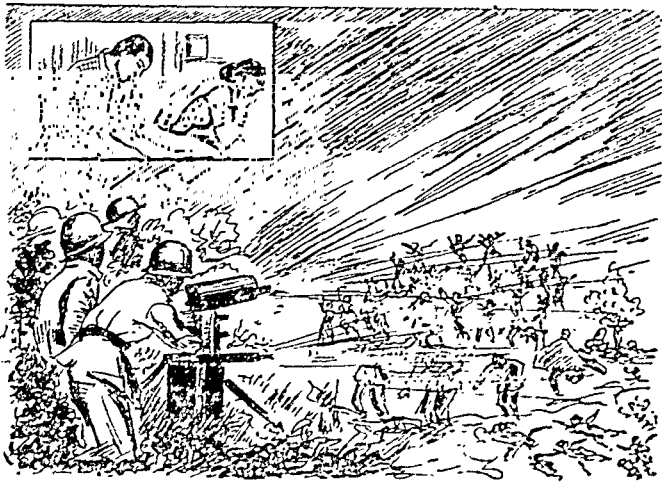
का क्या अर्थ है? प्रकृति उससे कहती है : 'हटो यहाँसे, रास्ता साफ करो!' प्रकृतिकी ओरसे उसके विनाशके साधन प्रस्तुत हो जाते हैं। और वे हैं—युद्ध, बाढ़, भूकम्प, रोग, महामारी आदि।

जनसंख्यापर नियंत्रणके इन प्राकृतिक प्रतिबन्धोंसे यदि बचना हो, तो उसका साधन यही है कि मनुष्य अपने-आपपर बुद्धिसम्मत प्रतिबन्ध लगाये। ये प्रतिबन्ध नैतिक और अनैतिक, दो प्रकारके हो सकते हैं। नैतिक प्रतिबन्ध हैं विलम्बसे विवाह करना और कौमारावस्थामें ब्रह्मचर्यका पूर्णरूपेण पालन करना। अनैतिक प्रतिबन्ध हैं—गर्भपात तथा गर्भावरोधी विधियोंका प्रयोग; कृत्रिम एवं अप्राकृतिक साधन।

मैल्थस पादरी था, संयम और सदाचारपर उसकी श्रद्धा थी। उसने ब्रह्मचर्य एवं संयमपूर्ण पवित्र जीवनको ही जनसंख्याकी वृद्धि रोकनेका सर्वोत्तम साधन माना है। अनैतिक साधनोंको वह पाप मानता है और उनका तीव्र विरोध करता है।

मैल्थसकी मान्यता यह है कि मनुष्यमें प्रजननकी असीम शक्ति है। आजके प्राणिशास्त्रज्ञ कहते हैं कि स्त्रीके शरीरमें जन्मके समय ७० हजार अपक्व स्त्री-बीज रहते हैं। १५ से ४५ वर्षकी आयुमें उनमेंसे लगभग ४०० स्त्री-बीज परिपक्व होते हैं। पुरुषके एक बारके सम्भोगमें २०० करोड़से अधिक पुंबीज गिरते हैं, जिनमेंसे

यदि केवल एकका परिपक्व स्त्री-बीजके साथ सम्पर्क हो जाय, तो गर्भस्थिति होकर सन्तानका जन्म हो सकता है।[1] मैल्थस कहता है कि मनुष्यकी इस असीम प्रजनन-शक्तिपर यदि कोई नियंत्रण न रहे, तो जनसंख्याकी वृद्धि अनिवार्य है। पृथ्वीकी उत्पादन-क्षमता समान अनुपातमें नहीं बढ़ती। अतः यह आवश्यक है कि जनसंख्या-वृद्धिपर अंकुश लगाया जाय, अन्यथा प्रकृति स्वयं ही विनाशकी लीला प्रारम्भ कर देगी।

मैल्थसने अनेक देशोंके इतिहाससे आँकड़े देकर अपनी इस मान्यताका समर्थन किया है।

भाटक-सिद्धान्त

मैल्थसने सन् १८१५ में भाटकपर एक उत्तम पुस्तिका लिखी। उसका नाम है—'एन इनक्वायरी इनटू दि नेचर एण्ड प्रोग्रेस ऑफ लैण्ड'। यह पुस्तिका रिकार्डोसे पहले तो लिखी ही गयी, इसमें भाटकके सिद्धान्तकी अनेक महत्त्वपूर्ण बातें मिलती हैं। जैसे :

(१) कृषि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य है। खानेके लिए अन्न और उद्योग-धन्धोंके लिए कच्चे मालकी प्राप्तिका एकमात्र साधन है कृषि।

(२) जनसंख्याकी वृद्धिके साथ-साथ नये-नये भूमिखण्डोंपर कृषि की जाती है। ये नये भूमिखण्ड अपेक्षाकृत कम उर्वर होते हैं। तात्पर्य यह कि समस्त भूमिखण्डोंकी उर्वराशक्तिमें समानता नहीं रहती।

(३) जिन लोगोंको कृषिका सामान्य-सा भी अनुभव है, वे इस तथ्यको जानते हैं कि कृषिमें उत्तरोत्तर अधिक मात्रामें लगायी जानेवाली पूँजीके अनुपातसे उत्पादन नहीं बढ़ता। पूँजीकी मात्रा जिस अनुपातमें बढ़ायी जाती है, उसी अनुपातमें उपज नहीं बढ़ती। यदि ऐसा सम्भव होता, तो छोटेसे ही भूमिखण्डपर अत्यधिक मात्रामें पूँजी लगाकर अत्यधिक उत्पादन कर लिया जाता और नयी भूमि उपलब्ध करने, उसे कृषियोग्य बनाने आदिकी झंझटोंमें फँसनेकी आवश्यकता ही न पड़ती।

मैल्थसकी यह धारणा 'उत्पादन-ह्रास-सिद्धान्त' ही है, यद्यपि उसने इन शब्दोंका प्रयोग नहीं किया।

(४) भूमिखण्डोंकी उर्वराशक्तिमें भिन्नताके कारण कुछ भूमिखण्डोंमें उत्पादनकी लागतसे कुछ अधिक उत्पत्ति होती है। यह अधिक उत्पत्ति, यह बचत ही 'भाटक' कही जाती है।

---

१ मैकडावेल : हैण्डबुक ऑफ फिजियॉलॉजी एण्ड बायोकेमिस्ट्री, ३९वाँ संस्करण, १९४८।

(५) स्वयं अपनी माँग बना लेना भूमिकी अपनी विशेषता है। कृषिसे होनेवाली बचत जनसंख्यामें वृद्धि करके खाद्यान्नकी माँगको भी बढ़ा देती है।

(६) कृषिमें होनेवाली बचतका कारण यह है कि प्रकृति दयालु है और मनुष्य प्रकृतिके सहयोगसे कृषि करता है। अतः इस बचतको स्मिथकी भाँति एकाधिकारका मूल्य मानना अनुचित है। उसे आंशिक एकाधिकारका मूल्य माना जा सकता है।

(७) भूमिकी उर्वराशक्तिपर निर्भर रहनेसे भाटक तथा एकाधिकारकी कीमतमें अन्तर होता है।

(८) न तो समाज और भू-स्वामियोंके हित परस्पर-विरोधी हैं और न भू-स्वामियों और उद्योगपतियोंके हित ही परस्पर-विरोधी हैं।[१]

अति-उत्पादनका सिद्धान्त

मैल्थसने अति-उत्पादन और व्यापारिक मन्दीके सम्बन्धमें अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण विचार प्रकट किये हैं। एक ओर अत्यधिक अमीरी, दूसरी ओर अत्यधिक गरीबी; एक ओर बाजारमें वस्तुओंका बाहुल्य, दूसरी ओर कोई उनका खरीदार नहीं; एक ओर अत्यधिक उत्पादन, दूसरी ओर अत्यधिक बेकारी देखकर मैल्थस इसके कारणोंकी खोजमें लगा और उसीका परिणाम हैं उसके ये विचार।

जे० बी० सेने इस मतका प्रतिपादन किया था कि माँग अपनी पूर्तिकी स्वयं ही व्यवस्था करती है, अतः स्वतंत्र विनिमयशील अर्थव्यवस्थामें अति-उत्पादनकी शक्यता ही नहीं है। मैल्थसने इस सम्बन्धमें उससे भिन्न विचार प्रकट किये हैं। उसने रिकार्डोसे भी इस विषयमें पत्र-व्यवहार किया था और अपना मतभेद प्रकट किया था। उस समय मैल्थसके अति-उत्पादन-सम्बन्धी विचारोंको समुचित महत्त्व नहीं मिला। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री केन्सने आगे चलकर फरवरी १९३३ में इस सिद्धान्तको विकसित किया और 'एसेज इन बायग्राफी' पुस्तकमें इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की।

मैल्थसके अति-उत्पादन-सम्बन्धी विचार संक्षेपमें इस प्रकार हैं :

(१) मनुष्य अपनी आयको दो ही प्रकारसे व्यय करता है :

१. उपभोग में—वस्तुओं एवं सेवाओंकी प्राप्तिमें।

२. बचतमें।

(२) आयकी वृद्धिके साथ-साथ उपभोग एवं बचत, दोनोंमें ही वृद्धिकी सम्भावना है।

(३) उपभोग या विनियोगपर धनके समान या असमान वितरणका प्रभाव

---

१ हेने : हिस्ट्री आफ इकानामिक थाट, पृष्ठ २७१-२७२।

पड़ता है। असमान वितरणकी स्थितिमें थोड़ेसे अमीर लोग अत्यधिक बचत कर लेते हैं, जब कि समान वितरणकी स्थितिमें गरीब लोग अपनी अतिरिक्त आय उपभोगकी वस्तुओं एवं सेवाओंकी प्राप्तिमें खर्च कर डालते हैं।

(४) विनियोगका आधार है—बचत। दोनों मिलकर वास्तविक माँग निश्चित करते हैं।

मैल्थसकी मान्यता यह है कि समृद्धि-कालमें आयके समान वितरणके अभाव-में थोड़ेसे अमीर पर्याप्त बचत कर लेते हैं। फलतः विनियोग एवं उत्पादनमें वृद्धि होती है। पर चूँकि सभी लोगोंकी आय बढ़ती नहीं और साथ ही साथ उपभोग-सम्बन्धी आदतोंमें भी परिवर्तन नहीं होता, इसलिए उत्पादनकी मात्राके अनुपात-में वस्तुओंकी माँग बढ़ नहीं पाती। इसीका यह परिणाम होता है कि बाजार वस्तुओंसे पटा रहता है और कोई खरीदार नहीं रहता। अति-उत्पादन और बेकारी बढ़ने लगती है।

एरिक रौलके शब्दोंमें 'मैल्थसके सिद्धान्तमें मार्केकी बात यह है कि उसने यह प्रतिपादन किया कि आर्थिक व्यवस्थामें सामंजस्यकी भावना नहीं है। यह सर्व-प्रथम अवसर है कि जब आंग्ल पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्थाके दोष स्वीकार किये गये हैं और यह माना गया है कि इस व्यवस्थाके मूलमें ही संघर्षकी स्थिति अन्तर्निहित है।'[१]

मैल्थसने अति-उत्पादनकी समस्याके निराकरणके लिए दो उपाय सुझाये हैं :

(१) मजदूरीमें कटौती की जाय और

(२) राज्य अनुत्पादक उपभोगपर पैसा खर्च करे।

मैल्थसकी दृष्टिमें घरेलू नौकर, अपना श्रम बेचकर उपभोगपर उसे खर्च करनेवाले व्यक्ति अनुत्पादक उपभोक्ता हैं। ये लोग उपभोग द्वारा वस्तुओंकी वास्तविक माँग तो बढ़ा देते हैं, परन्तु उत्पादन नहीं करते, जिससे उत्पादनकी मात्रा तो बढ़ती नहीं, उपभोगकी मात्रा बढ़ जाती है। इस प्रकार अति-उत्पादन-की समस्या स्वतः ही समाप्त हो जाती है।

व्यापारको सरकारी संरक्षण प्राप्त रहे, ऐसा मैल्थस मानते थे। यह बात दूसरी है कि मैल्थसकी यह धारणा कुछ दोषपूर्ण है, परन्तु इतना स्पष्ट है कि उसने उस युगमें पूँजीवादके कुपरिणामोंकी ओर जनताका ध्यान आकृष्ट किया। पर, उस समय मैल्थसका जनसंख्या-सम्बन्धी सिद्धान्त ही विशेष ख्याति प्राप्त कर सका, अन्य सिद्धान्त नहीं।

---

१. एरिक रौल : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ २१०।

विचारोंकी समीक्षा

मैल्थसके जनसंख्या-सम्बन्धी विचारोंकी तबसे लेकर अबतक सबसे अधिक आलोचना हुई है। इतना ही नहीं, मैल्थसके जनसंख्याविषयक विचारोंको लेकर एक वाद ही खड़ा हो गया है—'नव-मैल्थसवाद' (Neo-Malthusianism)।

मैल्थसकी आलोचना मुख्यतः इन आधारोंपर की जाती है :

(१) जनसंख्या-वृद्धिका मैल्थसने जो गुणात्मक क्रम बताया था, वह पश्चिमी देशोंमें सत्य सिद्ध नहीं हुआ। कई देशोंमें जनसंख्या बढ़नेके स्थानपर उल्टे घटी ही है। शिक्षा, वैज्ञानिक अनुसंधान तथा उच्च जीवन-स्तर आदिके द्वारा जनवृद्धिको नियंत्रित किया जा सकता है, इस तथ्यको मैल्थस भलीभाँति हृदयंगम नहीं कर सके।

(२) खाद्यान्नकी पूर्तिका मैल्थसने जो समानान्तर क्रम बताया था, वह भी सही नहीं। विज्ञानकी प्रगतिके फलस्वरूप उपजमें तीव्रगतिसे वृद्धि होती जा रही है। पशु-पक्षियोंका मांस भी खाद्यान्नके अन्तर्गत मानते हैं और उनकी संख्यामें मनुष्योंकी ही भाँति तीव्रगतिसे वृद्धि होती है। इस तथ्यकी ओर मैल्थसने पूरा ध्यान नहीं दिया। साथ ही उसने भिन्न जीवन-स्तरोंकी बात भी नहीं सोची। अमीरों और गरीबोंके जीवन-स्तरका भी तो उनकी खाद्यान्न पूर्तिपर प्रभाव पड़ता ही है।

(३) मैल्थस सम्भोगकी इच्छामें और सन्तानोत्पादनकी इच्छामें परस्पर भेद नहीं कर सके, यद्यपि दोनों दो भिन्न वस्तुएँ हैं।

(४) ऐच्छिक प्रतिबन्धोंके आलोचक कहते हैं कि मैल्थसने नैतिक प्रतिबन्धपर जोर देकर मनुष्यकी कामपिपासाकी स्वाभाविक प्रवृत्तिकी पूर्तिके लिए गुंजाइश नहीं रखी और उसे अपनी इस प्रवृत्तिको बलपूर्वक अवदमित करने तथा तड़पनेके लिए विवश कर दिया।

(५) मार्क्सवादी आलोचकोंने मैल्थसकी इस धारणाका तीव्र विरोध किया है कि गरीबोंको विवाह ही नहीं करना चाहिए; पर्याप्त आयके अभावमें विवाह करके और बच्चे पैदा करके वे स्वयं ही दरिद्रताका अभिशाप भोगते हैं। मैल्थस ऐसा मानता था कि अपनी गरीबी और अपनी दुर्दशाके लिए गरीब स्वयं ही उत्तरदायी हैं। न तो उनके अमीर मालिक ही इसके लिए उत्तरदायी हैं और न उनके कामके अधिक घण्टे और कम मजूरी ही। मजदूरोंको निवासके लिए जानवरोंकी-सी माँदें मिलती हैं, उनकी चिकित्साकी समुचित व्यवस्था नहीं रहती, उन्हें समुचित शिक्षा नहीं मिलती, सरकार भी उनका पक्ष न लेकर उनके मालिकों-

के हितोंका ही समर्थन करती है—इन सब बुराइयोंका एकमात्र कारण यही है कि मजदूर पर्याप्त वेतनकी व्यवस्थाके बिना ही विवाह करके घर बसा लेता है और बच्चे पैदा करने लगता है। गरीबोंके शोषणके लिए अमीरोंकी इस वकालत-का विरोध मैथल्सके समयमें ही उसके सामने आ गया था। वह कहता है कि 'मुझपर ऐसा दोषारोपण किया जा रहा है कि मैं ऐसे कानूनकी सिफारिश कर रहा हूँ कि गरीबोंको शादी ही न करने दी जाय। पर मैं ऐसा मानता हूँ कि गरीबोंके विवाह कर लेनेसे मजदूरोंकी संख्यामें वृद्धि होगी, जिससे मजदूरीकी दर गिरेगी और बेकारीमें वृद्धि होगी।'

डॉक्टर कैनज जैसे आलोचक कहते हैं कि जनसंख्या-वृद्धि और खाद्यान्न-पूर्तिका कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं। इंग्लैण्ड जैसे देश उपनिवेशोंसे उपभोग-सामग्रीके बदलेमें खाद्यान्न मँगाकर अपनी आवश्यकता पूरी कर लेते हैं।

मैल्थसके विचारोंकी यह आलोचना कुछ अंशोंमें सही तो है, पर जन-संख्याका उसका सिद्धान्त आज भी अर्थशास्त्रियों एवं राजनीतिज्ञोंके लिए प्रेरक बना हुआ है। भले ही उसका गुणात्मक क्रम और समानान्तर क्रम परिस्थिति-विशेष-के कारण सही न साबित हुआ हो, पर इस अंशमें तो उसकी यथार्थता अक्षुण्ण है ही कि उत्पादन जिस मात्रामें बढ़ता है, उसकी अपेक्षा जनसंख्याकी वृद्धिकी मात्रा अधिक रहती है और मनुष्य यदि जनसंख्याकी वृद्धि रोकनेकी स्वयं ही चेष्टा नहीं करेगा, तो किसी न किसी रूपमें संहार और विनाशकी लीला प्रकट होगी ही।

नव-मैल्थसवाद गर्भ-निरोधके जिन कृत्रिम साधनोंका समर्थन करते हैं, मैल्थसने उनका समर्थन कभी न किया होता। पाल ब्यूरोकी पुस्तक 'टुवार्ड्स मॉरल बैंकरप्टसी' की आलोचना करते हुए गांधीजीने ठीक ही कहा है कि "मैल्थसने 'इस समय मनुष्योंकी संख्या बहुत बढ़ रही है, इसलिए यदि यह अभीष्ट हो कि सारी मानव-जाति समूल नष्ट न हो जाय, तो सन्तति-निरोधको आवश्यक मानना ही पड़ेगा'—इस सिद्धान्तका प्रतिपादन करके अपने समयके लोगोंको चकित कर दिया था। पर मैल्थसने तो इसका उपाय इन्द्रिय-संयम ही सिखलाया था, किन्तु आजका नवमैल्थस-सिद्धान्त तो संयमकी शिक्षा न देकर पशु-वृत्तिकी तृप्तिके दुष्परिणामोंसे बचनेके लिए यंत्रों और औषधियोंका व्यवहार सिखलाता है!"[1]

भाटक-सिद्धान्त : मैल्थसके भाटक-सम्बन्धी विचार रिकार्डोसे कुछ साम्य रखते हैं और कुछ पार्थक्य। जैसे :

---

१ मो० क० गांधी : कुत्सित जीवन और दाम्पत्य-विमर्श, पृष्ठ ४७।

मैल्थसकी यह धारणा थी कि समाजके हितोंमें और भू-स्वामीके हितोंमें कोई विरोध नहीं है।

रिकार्डोकी धारणा इसके विपरीत थी। वह यह मानता था कि भू-स्वामी-वर्ग समाजपर भारस्वरूप है। उसके हितोंमें और समाजके हितोंमें परस्पर विरोध है।

मैल्थस प्रकृतिकी कृपालुताका कायल था, जब कि रिकार्डोका कहना था कि ऐसा सोचना एक भ्रान्ति ही है।

अदम स्मिथ स्वाभाविकतावादका समर्थक था, जब कि मैल्थस कहता है कि प्रकृति यदि सदैव मानव हितका ही सम्वर्द्धन करती होती, तो जन-संख्याकी विषम समस्या ही न उत्पन्न होती। स्मिथ जहाँ आशावादी है, वहीं मैल्थस निराशावादी।

स्मिथकी दृष्टिमें भाटक एकाधिकारकी कीमत था, मैल्थसकी दृष्टिमें नहीं।

मैल्थसके भाटक-सिद्धान्तने रिकार्डोको बड़ी प्रेरणा प्रदान की। उसके विचारोंका ही रिकार्डोने विशद रूपमें विकास किया तथा अपने प्रसिद्ध भाटक-सिद्धान्तकी स्थापना की।

अति-उत्पादन-सिद्धान्त : मैल्थसने पूर्ववर्ती तथा समकालीन विचारकोंके विपरीत इस सिद्धान्तका प्रतिपादन किया था। वे लोग ऐसा मानते थे कि अति-उत्पादनकी स्थिति अशक्य है। वह या तो आयेगी ही नहीं, अथवा यदि वह आयेगी, तो किसी उद्योगमें अत्यन्त स्वल्पकालके लिए आयेगी।

मैल्थसने इस प्रचलित धारणाके विरुद्ध अपने मतका प्रतिपादन किया और व्यापार-चक्रकी गतिका वर्णन करते हुए यह बताया कि अति-उत्पादनसे बाजारमें वस्तुओंका बाहुल्य रहता है और वास्तविक माँगके अभावमें अमीरोंमें गरीबी आती है।

उस समय तो मैल्थसके इस सिद्धान्तको प्रतिष्ठा नहीं मिली, लोगोंने इसकी ओर समुचित ध्यान नहीं दिया; पर आगे चलकर केन्सने इसकी प्रशंसा की, इसे मान्यता प्रदान की और इसको अपनी धारणाकी आधारशिला बनाया।

मैल्थसका मूल्यांकन

अनेक दोषोंके बावजूद आर्थिक विचारधाराके विकासमें मैल्थसका स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

मैल्थस पहला अर्थशास्त्री है, जिसने सामाजिक समस्याओंकी ओर अत्यन्त तीव्रताके साथ विचारकोंका ध्यान आकृष्ट किया। मैल्थसने आँकड़ोंको सबसे पहले शास्त्रीय विवेचनमें स्थान दिया। उसने 'जनसंख्या-विज्ञान' को जन्म दिया। डारविनके विकासवादके सिद्धान्तका वह प्रेरक बना। अर्थशास्त्रमें

अनुमान-पद्धतिका विकास मैल्थससे ही प्रारम्भ होता है। उसीके कारण अर्थ-शास्त्र और समाजशास्त्रका पारस्परिक सम्बन्ध घनिष्ठ होने लगा। उसने अपने विचारोंसे रिकार्डो और केन्स जैसे विचारकोंको प्रभावित किया।

मैल्थसके विचारोंकी आधारशिलापर ही उसके मानस-उत्तराधिकारी—नव मैल्थसवादी लोग खड़े हैं। वे जनसंख्याकी वृद्धि रोकनेके लिए कृत्रिम साधनों-का समर्थन करते हैं और यहतक कह डालते हैं कि मैल्थस जीवित होता, तो वह भी गर्भावरोधक कृत्रिम साधनोंका समर्थक होता, पर बात ऐसी नहीं है। मैल्थस संयम और ब्रह्मचर्यका कट्टर समर्थक था। घृणित उपायोंका उसने तीव्र विरोध किया है। अपने नामपर चलनेवाली इस 'काम-प्रवंचना' के लिए उसने अपने इन मानस पुत्र-पुत्रियोंको कभी क्षमा न किया होता![1]

विनोबाका कहना है कि 'मान लीजिये कि पति-पत्नी ऐसा प्रबन्ध करें कि सन्तान उत्पन्न न हो और वे अपनी-अपनी विषय-वासना जारी रखें, तो उनके दिमागोंको कोई संतुलन मिलेगा ही नहीं। इससे संतान ही कम नहीं होगी, ज्ञान-तंतु भी क्षीण होंगे, प्रभा कम होगी, प्रज्ञा कम होगी और तेजस्विता कम हो जायगी। नीति कितनी गिरेगी? अध्यात्म कितना खोयेंगे?'[2]

पर मैल्थसके मानस-पुत्रोंको इस समस्याके मनोवैज्ञानिक, नैतिक, आध्यात्मिक और सामाजिक पहलुओंपर ध्यान देनेका अवकाश ही कहाँ? ● ● ●

१ जीद और रिस्ट : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन्स, पृष्ठ १४९।
२ परिवार-नियोजनपर विनोबा, 'कल्याण', नवम्बर १९६१, पृष्ठ १२६१।

रिकार्डो : २ :

अर्थशास्त्रकी शास्त्रीय विचारधारामें मैल्थसके उपरान्त सबसे प्रख्यात व्यक्ति है—रिकार्डो। मैल्थस जिस प्रकार जनसंख्या-सम्बन्धी सिद्धान्तके लिए प्रख्यात है, रिकार्डो उसी प्रकार भाटक-सिद्धान्तके लिए। रिकार्डोकी रचनामें यद्यपि स्मिथकी भाँति भाषा-सौष्ठवका अभाव है, साथ ही किसी विशिष्ट योजनाके अनुसार वह अपने विचारोंका प्रतिपादन भी नहीं कर सका है, फिर भी उसके विचारोंके प्रति इतना अधिक आदर था, उसमें इतना अधिक गाम्भीर्य एवं विद्वत्ता थी कि आलोचकोंका साहस ही न होता था कि वे उसकी आलोचना करें। वे इस बातके लिए आशंकित रहते थे कि रिकार्डोकी आलोचना करके वे स्वयं ही कहीं हास्यास्पद न बन जायँ।

अपनी सूक्ष्म विश्लेषण-पद्धति एवं गम्भीर विवेचनाके कारण रिकार्डो वैज्ञानिक विचार-प्रणालीका अग्रदूत माना जाता है। इस दिशामें रिकार्डोने अदम स्मिथकी अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य किया है, परन्तु उसके विचारोंमें रहनेवाली असंगतियोंने अत्यधिक विवाद खड़ा कर दिया। उसके सिद्धान्तोंको लेकर जितना विवाद हुआ है, उतना विवाद शायद अन्य किसी अर्थशास्त्रीके सिद्धान्तोंको लेकर नहीं हुआ है।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

अदम स्मिथके समयमें पूँजीवादी अर्थव्यवस्थाका जन्म ही हो रहा था, परन्तु ५० वर्ष बाद ही रिकार्डोके समयमें इंग्लैण्डकी आर्थिक स्थितिमें अत्यधिक परिवर्तन हो चुका था। औद्योगिक विकासके साथ-साथ उसके दुष्परिणाम भी प्रकट होने लगे थे। व्यापार निर्बाध गतिसे चलने लगा था, जनसंख्याकी वृद्धि हो रही थी, अन्नकी कमी होनेसे वस्तुओंके मूल्य चढ़ रहे थे, गरीबों और अमीरोंके बीच पार्थक्य बढ़ रहा था, भू-स्वामियों और उद्योगपतियोंके स्वार्थोंमें संघर्ष हो रहा था, पूँजी और भूमि तथा श्रम और पूँजीके बीच टक्करें हो रही थीं। औद्योगिक क्रान्तिके फलस्वरूप बड़े-बड़े कारखाने खुल चुके थे। मजदूर गाँव छोड़कर शहरोंमें आकर बसने लगे थे और मिल-मालिकोंके विरुद्ध मजदूरी बढ़वानेके लिए आन्दोलन करने लगे थे। गरीबी, बेकारी, प्रतिस्पर्धा, जनसंख्या-की वृद्धि और मूल्य-वृद्धिका चारों ओर जाल फैल गया था।

युद्ध तथा व्यय-भारसे पीड़ित सरकारने मुद्रास्फीति कर रखी थी, जिसके

कारण वस्तुओंका मूल्य और भी चढ़ रहा था। अनाजकी कमी होनेसे कम उर्वर भूमिखण्ड जोते जाने लगे थे। मिल-मालिक सस्ते दामोंपर कच्चा माल चाहते थे और भू-स्वामी इसके लिए सचेष्ट थे कि उन्हें उनकी उपजका अच्छा पैसा मिले।

यह सब क्यों हो रहा है? ऐसी भयंकर स्थिति क्यों उत्पन्न हो गयी है?—यह था वह मूलभूत प्रश्न, जो रिकार्डोके सामने मुँह बाये खड़ा था।

जीवन-परिचय

डेविड रिकार्डोका जन्म सन् १७७२ में लन्दनमें हुआ। उसके माता-पिता हालैण्ड-निवासी यहूदी थे, पर इंग्लैण्डमें आकर बस गये थे। २०-२१ वर्षकी आयुमें ही विवाह और धर्म-परिवर्तनके प्रश्नको लेकर रिकार्डोका माता-पितासे मत-भेद हो गया और वह स्वतंत्र रूपसे सट्टेका व्यापार करने लगा। पाँच वर्षके भीतर ही उसने २० लाख पौण्डकी सम्पत्ति अर्जित कर ली। उस युगमें इतनी सम्पत्ति बहुत भारी मानी जाती थी। उसके बाद वह व्यापार छोड़कर अर्थशास्त्रके अध्ययनमें प्रवृत्त हो गया।

रिकार्डोका सबसे पहला निबन्ध सन् १८१० में प्रकाशित हुआ। उसका शीर्षक था—'दि हाई प्राइस ऑफ बुलियन ए प्रूफ ऑफ दि डिप्रीसिएशन ऑफ बैंक नोट्स'। सन् १८१७ में उसकी प्रमुख पुस्तक 'ऑन दि प्रिंसिपल्स ऑफ पोलिटिकल इकॉनॉमी एण्ड टैक्सेशन' प्रकाशित हुई। स्वयं व्यापारी एवं पूँजीपति होते हुए भी रिकार्डोको क्या पता था कि उसकी यह पुस्तक पूँजीवादी भवनकी नींव ही हिला डालेगी।[1]

सन् १८१९ में रिकार्डो इंग्लैण्डकी लोकसभा (संसद्) का सदस्य चुना गया। संसद्की कार्यवाहियोंमें वह सम्मिलित तो होता था, पर बोलता बहुत कम था; पर जब बोलता था, तो सारा सदन बड़े आदर और ध्यानसे उसकी बातें सुनता था। सन् १८२१ में उसने 'अर्थशास्त्र-गोष्ठी' को जन्म दिया। सन् १८२२ में 'प्रोटेक्शन ऑफ एग्रीकल्चर' नामक उसकी रचना प्रकाशित हुई। सन् १८२३ में उसका देहान्त हो गया।

---

१ जीद और रिस्ट : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन्स, पृष्ठ १५५।

प्रमुख आर्थिक विचार

यद्यपि रिकार्डोके आर्थिक विचारोंका क्षेत्र बहुत व्यापक रहा है, तथापि सुविधाकी दृष्टिसे उसके विचारोंका इस प्रकार विभाजन किया जा सकता है :

१. वितरणके सिद्धान्त
   (१) भाटक-सिद्धान्त
   (२) मजूरी-सिद्धान्त
   (३) लाभ-सिद्धान्त
२. मूल्य-सिद्धान्त
३. विदेशी व्यापार
४. बैंक तथा कागदी मुद्रा

इसी क्रमसे रिकार्डोका अध्ययन करना अच्छा होगा।

१. वितरणके सिद्धान्त

रिकार्डो और मैल्थस समकालीन रहे हैं। दोनोंमें परस्पर मैत्री भी थी और पत्र-व्यवहार भी होता रहता था। २० अक्तूबर १८२० को अपने एक पत्रमें रिकार्डोने मैल्थसको लिखा था :

'तुम शायद ऐसा सोचते हो कि सम्पत्तिके कारणों और उसकी प्रकृतिकी शोध ही 'अर्थशास्त्र' है, पर मेरी दृष्टिमें 'अर्थशास्त्र' उन नियमोंकी शोध कही जानी चाहिए, जो यह निर्णय करते हैं कि उद्योगमें जो उत्पत्ति होती है, उसका विभिन्न उत्पादक-वर्गोंमें किस प्रकार वितरण किया जाय।'

रिकार्डोके पहले अर्थशास्त्री उत्पादनकी समस्यापर सबसे अधिक बल दिया करते थे, पर रिकार्डोने वितरणको अध्ययनका प्रमुख विषय बनाया। तत्कालीन परिस्थितिका भी यही तकाजा था। रिकार्डोने वितरणके महत्त्वको स्वीकारकर अर्थ-शास्त्रके एक बड़े अंगकी पूर्ति की।

रिकार्डोके पहले प्रकृतिवादियों तथा अदम स्मिथने उत्पादनकी समस्यापर विचार करके उसे इस स्थितिमें पहुँचा दिया था कि उत्पादनके लिए तीन वस्तुओं-की आवश्यकता है—भूमि, श्रम और पूँजी। इन तीनों साधनोंको उत्पादित वस्तुका अंश मिलता है। भूमिको भाटक, श्रमको मजूरी और पूँजीको लाभके रूप-में यह अंश प्राप्त होता है।

उत्पादक-वर्गको मिलनेवाला यह अंश किस सिद्धान्तके अनुसार प्राप्त होता है, इस प्रश्नका रिकार्डोसे पूर्व किसीने विधिवत् विवेचन नहीं किया था। इस कामको रिकार्डोने अपने हाथमें लिया और वितरणके तीनों साधनोंके लिए भाटक-सिद्धान्त, मजूरी-सिद्धान्त और लाभ-सिद्धान्तका प्रतिपादन किया।

भाटक-सिद्धान्त

स्मिथ मानता था कि भूमिसे भाटक इसलिए मिलता है कि प्रकृति दयालु है और मनुष्य प्रकृतिके सहयोगसे काम करता है।

मैल्थस मानता था कि जनसंख्या-वृद्धिके साथ भूमिमें उत्पत्ति-ह्रास नियम लागू होता है।

रिकार्डोने मध्यम मार्ग निकालकर इस सिद्धांतका प्रतिपादन किया कि 'भाटक' उत्पत्तिका वह अंश है, जो भूमिकी स्थायी एवं अनश्वर शक्तियोंके प्रतिफलस्वरूप भू-स्वामीको दिया जाता है।

रिकार्डोका कहना था कि भूमिमें मौलिक, प्राकृतिक एवं अनश्वर शक्तियाँ हैं, फिर भी प्रकृतिकी दयालुता नहीं, अपितु कंजूसी ही भाटकका कारण है। जबतक प्रथम कोटिके भूमिखण्डोंपर, जो अधिक उर्वर होते हैं, खेती की जाती है, तबतक भू-स्वामियोंको भाटक प्राप्त नहीं होता। जनसंख्या-वृद्धिके कारण खाद्यान्नकी माँग बढ़नेसे जब द्वितीय कोटिके अपेक्षाकृत कम उर्वर भूमिखण्डोंपर खेती की जाती है, तब प्रथम कोटिके भूमिखण्डोंके स्वामियोंको भाटक मिलने लगता है।

रिकार्डोका मत है कि जहाँ जनसंख्या कम रहती है, वहाँ सबसे पहले वह भूमि जोती जाती है, जो सबसे उर्वरा होती है और उसकी जो उपज होती है, उसका सभी लोग उपभोग कर लेते हैं। ऐसी भूमिका बाहुल्य रहता है और इस कारण उससे निम्नकोटिकी भूमि जोती ही नहीं जाती। परन्तु जब जनसंख्यामें वृद्धि होती है, तो उपजका मूल्य बढ़ने लगता है और भू-स्वामीको लागतपर अतिरिक्त मिलने लगता है। लागतपर आयका अतिरेक ही 'भाटक' है।

मूल्य-वृद्धिके कारण अपेक्षाकृत कम उर्वरा भूमि जोतना भी लाभदायक सिद्ध होता है। कारण, उस स्थितिमें अपेक्षाकृत निम्न कोटिके भू-स्वामी भी अपनी उत्पत्तिको अधिक मूल्यपर बेचकर उत्पादनकी लागत प्राप्त कर सकते हैं। जनसंख्यामें ज्यों-ज्यों वृद्धि होती चलती है, त्यों-त्यों निम्न और निम्नतर कोटिके भूमिखण्ड जोते जाने लगते हैं। उनमें अन्तिम कोटिवाले भूमिखण्डको—सीमान्त भूमिखण्डको छोड़कर शेष सभी भूमिखण्डोंपर अतिरेक या 'भाटक' मिलने लगता है।

रिकार्डो कहता है कि जनसंख्या-वृद्धिके कारण गल्लेकी माँगमें जो वृद्धि होती है, उसकी पूर्ति दो प्रकारकी खेतीसे की जा सकती है: (१) विस्तृत खेती और (२) गहरी खेती। विस्तृत खेतीमें कम उर्वरा भूमिकी उत्पत्ति तथा अधिक उर्वरा भूमिकी उत्पत्तिका अन्तर 'भाटक' है। गहरी खेतीमें पुराने ही भूमिखण्डोंपर अधिक श्रम और अधिक पूँजी लगायी जाती है। उसमें आगे चलकर उत्पत्ति-

ह्रास-नियम लागू होता है। गहरी खेतीमें सीमान्त इकाईके उत्पादन और उससे पहलेकी इकाइयोंके उत्पादनके बीच जो अन्तर रहता है, वह 'भाटक' है।

सीमान्त भूमि और सीमान्त इकाई द्वारा ही भूमिके भाटकका निर्धारण होता है। हेनेने इसकी चर्चा करते हुए कहा है कि रिकार्डोकी अर्थ-व्यवस्थामें सीमान्त भूमि ही केन्द्रबिन्दु है।[1]

रिकार्डो ऐसा मानता है कि जनसंख्या-वृद्धिका प्रभाव पड़ता ही है, कृषिके उपायोंमें किये जानेवाले सुधारोंका भी 'भाटक' पर प्रभाव पड़ता है। उसका कहना था कि यदि कृषि-सुधारोंके फलस्वरूप उपजमें वृद्धि होगी, तो सीमान्त भूमिपर खेती बन्द हो जायगी। इसका परिणाम यह होगा कि भाटक कम हो जायगा। इसलिए भू-स्वामी कृषिके सुधार नहीं चाहते। इससे उनके स्वार्थमें बाधा पड़ती है।[2]

भू-स्वामी चाहते हैं कि गल्ला हमेशा तेज रहे और वे अधिकाधिक लाभ उठाते रहें। उनकी यह वृत्ति समाज-विरोधी है।

वस्तुओंके मूल्य और भाटकके पारस्परिक सम्बन्धकी चर्चा करते हुए रिकार्डो कहता है कि वस्तुओंके मूल्यका प्रभाव भाटकपर पड़ता है, जब कि भाटकका प्रभाव वस्तुओंके मूल्यपर नहीं पड़ता। जैसे :

कल्पना कीजिये अ ब स तीन खेत हैं और तीनोंकी उर्वरा-शक्ति भिन्न है। तीनोंपर ५-५ श्रमिक लगते हैं। अ खेतमें ५ मन, ब खेतमें १० मन और स खेतमें २० मन गेहूँ होता है। कुल उपज हुई ३५ मन, श्रमिक लगे १५।

अ सीमान्त खेत है। उसमें ५ मन गेहूँ पैदा होता है, श्रमिक लगे ५। हर श्रमिकको ३ रुपये देने पड़ते हैं, तो गेहूँका भाव होगा ३) मन। यदि उससे कम भाव रहेगा, तो सीमान्त भूमिमें घाटा लग जानेसे उसपर खेती ही नहीं होगी। पर जनसंख्याके कारण ३५ मन गेहूँ चाहिए ही। उस स्थितिमें 'अ' खेत जोतना ही पड़ेगा।

यहाँ 'अ' खेतका तो कुछ भाटक नहीं मिलेगा। 'ब' को ५ मन और 'स' को १० मन अधिक होनेके कारण ३) मनके हिसाबसे १५) और ३०) भाटक मिलेगा।

रिकार्डोकी यह मान्यता थी कि सीमान्त भूमिकी जो उत्पादन-लागत होगी, उसीके अनुकूल गल्लेके मूल्यका निर्धारण किया जायगा। वह कहता था कि सीमान्त भूमिकी लागतसे उपजकी कीमत निर्धारित होनेके कारण भाटकका

---

१ हेने : हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ २९२।

२ एरिक रौल : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ १८६।

प्रभाव मूल्यपर नहीं पड़ता। पर वस्तुओंके मूल्यका प्रभाव तो भाटकपर पड़ता ही है।

भाटक-सिद्धान्तके पीछे रिकार्डोकी यह मान्यता है कि भूमिकी मात्रा सीमित होनेके कारण न तो उसे बढ़ाया ही जा सकता है और न उसे कम ही किया जा सकता है। पृथक्-पृथक् भूमिखण्डोंकी उर्वरा-शक्तिमें भिन्नता होती है। सीमान्त भूमिको भाटक नहीं मिलता। विस्तृत खेतीमें घटिया भूमिखण्डोंपर खेती होती चलती है। गहरी खेतीमें आगे चलकर उत्पत्ति-ह्रास-नियम लागू होता है। सीमान्त भूमिकी उत्पादन-लागतसे ही मूल्यका निर्धारण किया जाता है।

रिकार्डो यह भी मानता है कि सभी श्रेणियोंकी भूमिका उत्पादन समान मात्रामें बढ़ता है और कुल उत्पादनकी वृद्धि समान रहती है।[1]

प्रकृतिवादियोंसे तुलना

प्रकृतिवादियोंसे रिकार्डोका भाटक-सिद्धान्त भिन्न है। उनके लिए वह उत्पादन-सम्बन्धी समस्याओंके अन्तर्गत आता था, रिकार्डोने उसे वितरणके अन्तर्गत माना।

प्रकृतिवादी मानते थे कि शुष्क उत्पत्तिपर समाजका हित निर्भर करता है, जब कि रिकार्डो मानता था कि भू-स्वामियोंके हितोंमें और समाजके हितोंमें परस्पर विरोध है और भाटक-वृद्धिसे समाजके हितमें वृद्धि नहीं होती है।

प्रकृतिवादी लोगोंकी दृष्टिमें प्रकृति दयालु है, रिकार्डोकी दृष्टिमें वह कंजूस है।

प्रकृतिवादी मानते थे कि खेतीसे हर कृषकको बचत होती ही है, रिकार्डो मानता था कि सीमान्त भूमिमें खेती करनेसे कोई बचत नहीं होती, कोई भाटक नहीं मिलता।

प्रकृतिवादी मानते थे कि कृषि-सुधारसे शुष्क उत्पत्ति बढ़ेगी। रिकार्डो मानता था कि उसके कारण भाटक घटेगा और भू-स्वामी-वर्ग और उपभोक्ताओं तथा पूँजीपतियोंके बीच वर्ग-संघर्ष बढ़ेगा।

प्रकृतिवादी मानते थे कि कृषिके अतिरिक्त अन्य सभी कार्य करनेवाले अनुत्पादक हैं, रिकार्डोने ऐसा कोई भेद नहीं किया।

प्रकृतिवादी लोगोंने जनसंख्याके साथ भाटक-सिद्धान्तका कोई सम्बन्ध नहीं स्थापित किया था, जब कि रिकार्डोने जनसंख्या-वृद्धिके साथ भाटक-सिद्धान्तका सम्बन्ध स्थापित किया है और कहा है कि जनवृद्धिके साथ नये-नये कम उर्वर भूमिखण्डोंपर खेती होती है और इस प्रकार भाटककी मात्रामें वृद्धि होती चलती है।

---

१ जे० के० मेहता : अर्थशास्त्रके मूलाधार, पृष्ठ २६०।

रिकार्डोने भाटकको अनर्जित आय बताया है। यों तो रिकार्डो स्वयं पूँजीपति था और व्यक्तिगत सम्पत्तिका समर्थक था, पर उसके इस तर्कने समाजवादियोंको पूँजीवादके विरुद्ध एक प्रबल तर्क प्रदान कर दिया।

मजूरी-सिद्धान्त

रिकार्डोने मजूरी-सिद्धान्तका प्रतिपादन करते हुए यह बताया कि उत्पादनमें श्रमिकको जो अंश प्राप्त होता है, वह मजूरी है।

उसके कथनानुसार मजूरी दो प्रकारकी है: स्वाभाविक मजूरी और बाजारू मजूरी।

स्वाभाविक मजूरी वह है, जिसमें श्रमिककी न्यूनतम आवश्यकताओंकी पूर्ति तो होती है, पर जनसंख्या न तो बढ़ती है, न घटती है, प्रत्युत वह स्थिर बनी रहती है।

बाजारू मजूरी माँग और पूर्तिके न्यायसे निश्चित होती है।

रिकार्डोकी मान्यता यह है कि मजूरीके क्षेत्रमें पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा होनेके कारण एक समयमें सभी श्रमिकोंको एक-सी ही मजूरी मिलती है। यदि कहीं अधिक मजूरी मिलती है, तो माँग न बढ़कर पूर्ति बढ़नेसे मजूरी गिरकर एक ही स्तरपर आ जाती है।

बाजारू मजूरी और स्वाभाविक मजूरीमें रिकार्डोके मतानुसार कुछ भेद भी रह सकता है। एक अधिक हो सकती है, दूसरी कम।

रिकार्डो ऐसा मानता है कि किसी प्रगतिशील देशमें, जहाँ उर्वर भूमिखण्ड पर्याप्त हों और श्रम तथा पूँजी द्वारा उत्पादनमें पर्याप्त वृद्धि की जा सकती हो, स्वाभाविक मजूरीसे बाजारू मजूरी अधिक दिनोंतक अधिक बनी रह सकती है। कारण, श्रमिकोंकी माँग अधिक होगी, पूर्ति कम। उसकी इस धारणामें कल्पनाका पुट अधिक है, वास्तविकताका कम।

रिकार्डोने बाजारू मजूरीका न्यूनतम पैमाना यह माना है कि जिससे श्रमिककी न्यूनतम आवश्यकताओंकी पूर्ति होती रहे और वह जीवित बना रहे। मजूरी इतनी ऊँची नहीं हो सकती कि वह लाभको समाप्त कर दे। वह कहता है कि गल्ला महँगा होनेसे ऐसा सम्भव है कि मजूरोंको नकद मजूरी अधिक मिले, पर नकद मजूरी बढ़ जानेपर भी उनकी वास्तविक मजूरी गिर जायगी। कारण, गल्ला उन्हें अपेक्षाकृत कम मिलेगा।[1]

रिकार्डो ऐसा मानता है कि श्रमिकोंकी संख्या कम रहेगी, तो उनकी मजूरी स्वतः बढ़ जायगी और वे अधिक सुखी हो सकेंगे, पर कानून बनाकर उनकी स्थितिमें सुधार सम्भव नहीं। उनकी स्थिति सुधरनेका एकमात्र उपाय यही है कि

---

१ हेने: हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ २००।

वे आत्मसंयम करें और अपनी जनसंख्या बढ़ने न दें। रिकार्डोकी धारणा है कि अन्य संविदोंकी भाँति मजूरीको भी पूर्ण प्रतिस्पर्द्धाके लिए खुला छोड़ देना चाहिए। रिकार्डो ऐसा नहीं मानता कि श्रमिकों तथा भू-स्वामियोंके हितोंमें परस्पर कोई विरोध है। कारण, श्रमिककी मजूरी भाटक-शून्य सीमान्त भूमिपर निर्भर करती है। भाटकके बढ़ने-घटनेका उसपर कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता। रिकार्डो यह भी मानता है कि श्रमका प्रभाव तो मूल्यपर पड़ता है, पर मजदूरी मूल्यको प्रभावित नहीं करती।

कुछ असंगतियोंके बावजूद रिकार्डोका मजूरी-सिद्धान्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

लाभ-सिद्धान्त

रिकार्डोका लाभ-सिद्धान्त उसके मजूरी-सिद्धान्तका पूरक ही माना जा सकता है। वह कहता है कि स्वाभाविक मजूरी श्रमिकोंकी न्यूनतम आवश्यकताओंके बराबर होती है। सीमान्त भूमिमें होनेवाली उपजमेंसे इस मजूरीको निकाल देनेके बाद जो कुछ शेष रहता है, उसीका नाम है—लाभ। मजूरी ज्यों-ज्यों बढ़ती है, लाभका अंश त्यों-त्यों कम होता जाता है। जब मजूरी इतनी बढ़ जाती है कि लाभ समाप्तप्राय हो जाता है, तो नये-नये भूमिखण्डोंका तोड़ा जाना बन्द हो जाता है, श्रमिकोंकी मजूरी भी स्थिर हो जाती है और उनकी जनसंख्या भी।

रिकार्डो पूँजी और लाभमें कोई भेद नहीं करता। सम्भवतः इसका कारण यही है कि उसके जमानेमें पूँजीपति ही स्वयं साहसी भी होता था। व्यय निकाल देनेपर जो बच रहता था, उसे वह लाभ मान लेता था। रिकार्डो मानता है कि ऐसी स्थिति आनेकी कोई सम्भावना नहीं है, जब कि लाभका अंश पूर्णतः समाप्त हो जाय। यदि कष्ट एवं संकट उठानेके बदलेमें कुछ भी लाभ मिलनेकी आशा नहीं रहेगी, तो पूँजी लगानेका कोई साहस ही क्यों करेगा?[1]

रिकार्डो ऐसा मानता है कि श्रमिकों तथा पूँजीपतियोंके हित परस्पर विरोधी हैं। एकके लाभमें दूसरेकी हानि है।

जनसंख्याकी वृद्धि देखते हुए रिकार्डोको बड़ी निराशा होती है और वह ऐसा मानता है कि भविष्य अन्धकारमय है। कारण, जनवृद्धिसे कम उर्वर भूमिखण्ड जोते जायँगे और लाभका अंश कम होते-होते शून्य हो जायगा। तब नये भूमिखण्डोंका तोड़ा जाना बन्द कर दिया जायगा और स्थिति भयंकर हो उठेगी।

२. मूल्य-सिद्धान्त

स्मिथकी भाँति रिकार्डोने मूल्यके दो भाग किये हैं—उपयोगितागत मूल्य और विनिमयगत मूल्य। उपयोगितागत मूल्य महत्त्वपूर्ण है, पर उसे ठीक-ठीक

---

१ हेने : वही, पृष्ठ ३०४।

मापना कठिन है। रिकार्डो उसे छोड़कर विनिमयगत मूल्यपर विशेष ध्यान देता है।

विनिमयगत मूल्य वह बाजारू मूल्य है, जो अल्पस्थायी रहता है और वस्तुकी माँग और पूर्तिके अनुसार घटता-बढ़ता रहता है। रिकार्डोकी धारणा यह है कि जिन वस्तुओंकी मात्रा बहुत कम होती है, जैसे चित्रकारका चित्र; उनमें विनिमयगत मूल्य बहुत रहता है, पर साधारण वस्तुओंका मूल्य आवश्यकतानुसार घटता-बढ़ता रहता है। उसे घटाना-बढ़ाना सरल होता है। वह मानता है कि वस्तुओंका मूल्य उनपर लगे श्रमके बराबर होता है। कारण, उसके मतसे भाटक वस्तुके मूल्यमें सम्मिलित नहीं रहता है; लाभ भी विनिमयगत मूल्यको प्रभावित नहीं करता, केवल श्रमकी मात्रा ही वह वस्तु है, जिसका कि विनिमयगत मूल्यपर प्रभाव पड़ता है।

'सीमान्त' का सहारा लेकर ही रिकार्डोने मूल्य-सिद्धान्तका भी प्रतिपादन किया है। उसने मूल्य और सम्पत्तिमें भेद करते हुए कहा है कि आविष्कारों द्वारा हम उत्पादनमें सरलता लाकर देशकी सम्पत्तिका संवर्धन तो करते हैं, पर वस्तुका मूल्य कम करते हैं।

रिकार्डोकी धारणामें सभी श्रमिकोंकी कार्य-कुशलता समान मान ली गयी है; कार्यके शिक्षणमें व्यय होनेवाले श्रम एवं समयका कोई विचार नहीं किया गया; लाभकी दरको समान माना गया है और भाटकको उत्पादनकी लागतमें सम्मिलित नहीं किया गया है। इन सभी कारणोंसे रिकार्डोका मूल्य-सिद्धान्त अपूर्ण बताया जाता है। मार्क्सने इसे पूँजीवादके उन्मूलनके लिए एक उत्तम शस्त्र बताया है, पर रिकार्डो स्वयं ही इसकी अपूर्णताका कायल है। वह मैक्कुलखको १८ दिसम्बर सन् १८१९ को लिखे पत्रमें कहता है कि 'मूल्य-सिद्धान्तकी अपनी व्याख्यासे स्वयं मैं ही संतुष्ट नहीं हूँ। शायद और किसी व्यक्तिकी समर्थ लेखनी इस कार्यको पूरा करनेमें समर्थ हो सके।'

३. विदेशी व्यापार

रिकार्डोने तीन कारणोंसे मुक्त-व्यापारका समर्थन किया है :

(१) इससे प्रादेशिक श्रम-विभाजनको प्रोत्साहन मिलता है, जिसके कारण उद्योगके पनपनेमें और प्रकृतिकी देनका सफलतापूर्वक उपयोग करनेमें सहायता मिलती है। श्रमका सुविधाजनक रीतिसे उपभोग होता है।

(२) इससे विदेशोंसे गल्ला मँगाकर गल्लेकी महँगीपर नियंत्रण किया जा सकता है। वस्तुओंकी मूल्य-वृद्धि तथा भाटक-वृद्धिको रोका जा सकता है और उत्पादकोंकी लाभ-दर बढ़ायी जा सकती है।

(३) इससे मुद्रा-स्फीति एवं मुद्रा-संकुचनके परिणामोंसे देशकी रक्षा की जा सकती है। कारण, मुक्त-व्यापारसे आयात-निर्यात स्वयं ही समानताकी ओर अग्रसर होगा। निर्यातसे आयात बढ़ते ही मुद्रा विदेश भेजनी पड़ती है, जिससे देशमें मुद्रा-संकोच होता है, मूल्य गिरता है। दूसरे देशमें मुद्रा-स्फीतिसे कीमतें बढ़ती हैं और आयात घटकर निर्यात बढ़ता है। यों आयात-निर्यात बराबर हो जाता है।[1]

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारके शास्त्रीय सिद्धान्तका सर्वप्रथम प्रतिपादक डेविड रिकार्डो ही माना जाता है। रिकार्डोकी मान्यता है कि प्रत्येक देशके भीतर पूँजी तथा श्रम पूर्णतया गतिशील होते हैं। फलतः जहाँ साधारण घरेलू मूल्य श्रम-व्ययके बराबर होता है, वहाँ अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य श्रम-व्ययसे परित्यक्त हो जाता है। रिकार्डोके अनुसार यदि व्ययमें निरपेक्ष अन्तर स्वदेशी व्यापारका कारण है, तो व्ययमें सापेक्षिक अन्तर विदेशी व्यापारका कारण है।[2]

रिकार्डो मानता है कि विदेशी व्यापार तुलनात्मक श्रम-व्ययके आधारपर चलता है। कोई भी देश जिस वस्तुका उत्पादन अन्य देशकी तुलनामें कम व्ययमें कर पाता है, उसीके निर्माणपर वह अधिक ध्यान देता है। वह उसी वस्तुके निर्माणपर जोर देता है, जिसमें उसे तुलनात्मक हानि न्यूनतम हो और तुलनात्मक लाभ अधिकतम हो। अन्य वस्तुओंका वह आयात कर लेता है। एक वस्तुमें उसे यदि २० प्रतिशत लाभ हो और दूसरीमें ३३$\frac{1}{3}$ प्रतिशत, तो वह ३३$\frac{1}{3}$ प्रतिशत लाभवाली वस्तुका ही निर्माण करता है, कम लाभवाली वस्तुका उत्पादन अन्य देशके लिए छोड़ देता है और वहाँसे उसको आयात कर लेता है।

रिकार्डो कहता है कि मान लें, इंग्लैण्डमें पुर्तगालकी अपेक्षा कपड़ा और शराब बनानेकी उत्पादन-लागत कम पड़ती है, तो वह दोनों ही वस्तुओंका उत्पादन नहीं करेगा। वह केवल उसी वस्तुका उत्पादन करेगा, जिसमें उसे दूसरीसे अपेक्षाकृत अधिक लाभ होगा। दूसरी वस्तु वह पुर्तगालसे खरीद लेगा।

४. बैंक तथा कागजी मुद्रा

रिकार्डो आरम्भसे ही बैंकिंग और मुद्रासम्बन्धी विषयोंमें विशेष रुचि रखता था। फरासीसी युद्धोंके कारण बैंकनोटोंका मूल्य गिरने लगा था, जिसके कारण केवल विशेषज्ञोंको ही नहीं, सर्वसाधारणको भी इस विषयमें दिलचस्पी हो गयी थी। रिकार्डोने सन् १७९७ के मुद्रा-संकटको बड़े ध्यानसे देखा और उसपर गम्भीर विचार किया। पहले नोटोंका दाम १० प्रतिशत गिरा और बादमें तो

---

१ जीद और रिस्ट : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन्स, पृष्ठ १७८-१७९।

२ रासबिहारी सिंह : अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र, पृष्ठ ८।

३० प्रतिशततक गिर गया। रिकार्डोने इस समस्यापर सन् १८१० में एक पुस्तिका लिखी—'दि हाई प्राइस ऑफ बुलियन : ए प्रूफ ऑफ दि डिप्रीसिएशन ऑफ बैंक नोट्स।'

इस पुस्तिकामें रिकार्डोने यह मत प्रकट किया कि नोटोंकी संख्या-वृद्धि ही नोटोंका मूल्य गिरनेका प्रधान कारण है। उसका सुझाव है कि सरकारको कागदी नोटोंकी संख्या घटानी चाहिए और मुद्रा-व्यवस्थापर अपना नियंत्रण रखना चाहिए। प्रचलनमें जो नोट हैं, उनकी संख्या कम की जाय और उनके मूल्यकी सोनेकी शिलाएँ बैंकमें रखी जायँ, ताकि बैंक बिना धरोहरके अंधाधुंध नोट न फैला सकें।

इसका तात्पर्य यह नहीं कि रिकार्डो कागदी मुद्रा, हुंडी, साख आदिका विरोधी था। बात ऐसी नहीं। नोटोंको वह प्रगतिका चिह्न मानता था, पर उनकी मात्रा अन्धाधुन्ध बढ़ाकर मुद्रा-स्फीति कर देनेका वह विरोधी था। उसने मुद्राके मात्रा-सिद्धान्तको जन्म दिया।

विचारोंकी समीक्षा

रिकार्डोकी सबसे महती देन वितरण-सम्बन्धी है। उसका भाटक-सिद्धान्त अत्यधिक आलोचनाका विषय बना है, यद्यपि उसकी महत्ता आज भी किसी प्रकार कम नहीं हुई है। आधुनिक भाटक-नियमोंपर रिकार्डोके सिद्धान्तकी स्पष्ट छाया दिखाई पड़ती है।

भाटक-सिद्धान्तके आलोचकोंने कई प्रकारके तर्क उपस्थित किये हैं, उनमें मुख्य तर्क इस प्रकार हैं। जैसे :

(१) रिकार्डो मानता है कि सर्वोत्तम भूमिपर ही सबसे पहले खेती की जाती है।

कैरे और रोशर ऐसा मानते हैं कि यह कोई आवश्यक बात नहीं कि सबसे पहले सबसे उर्वरा भूमि ही जोती जाती है। कैरेका तो उल्टे यह कहना है कि सबसे पहले कम उपजाऊ भूमिपर ही खेती की गयी, उसके बाद उर्वरा भूमि जोती गयी।

रिकार्डोके अनुयायी कैरेकी बातको गलत मानते हैं।

(२) रिकार्डो भूमिकी उत्तम स्थितिको समुचित महत्त्व नहीं प्रदान करता।

इस तर्कमें इसलिए कोई दम नहीं है कि रिकार्डोने भूमिकी स्थिति एवं उसकी उर्वरा शक्ति, दोनोंको ही महत्त्व प्रदान किया है।

(३) रिकार्डोने मुक्त-प्रतियोगिता और विभिन्न भूमिखण्डोंसे एक ही प्रकारकी उपज होनेकी बात कही है। व्यवहार्यतः यह बात गलत है।

रिकार्डो जिस प्रकारके सिद्धान्तका प्रतिपादन करना चाहता था, उसके

विकासके लिए कुछ न कुछ कल्पना आवश्यक थी। इसके अतिरिक्त विभिन्न भूमिखण्डोंसे एक प्रकारका अन्न भले ही न उत्पन्न हो, बाजारमें तो वह सारा अन्न एक ही प्रकारका माना जायगा।

(४) रिकार्डोका सिद्धान्त ऐतिहासिक दृष्टिसे गलत है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा यातायातके साधनोंकी वृद्धिके कारण महँगे गल्ले और भारी भाटककी वृत्तिका अवरोध-सा हो गया है। भाटक अब भू-स्वामी और कृषकके बीचका एक संविदामात्र रह गया है।

यह आलोचना भी विशेष जोरदार नहीं है। इसमें भाटक-सिद्धान्तके सम्बन्धमें भ्रमोत्पादक विचार उपस्थित किये गये हैं।

(५) बासत्या इस बातको नहीं स्वीकार करता कि भूमिकी 'मौलिक' तथा 'अविनाशी' शक्तियोंके कारण भाटक प्राप्त होता है। उसके मतसे भाटक तो जंगल साफ करने, खेतकी मेंड बाँधने, खाद देने आदिके पुराने परिश्रमका परिणाम है।

रिकार्डोके समर्थक अब भूमिकी शक्तियोंका वर्णन करनेमें उसके लिए 'अविनाशी' शब्दका प्रयोग नहीं करते।

(६) रिकार्डोका यह कहना गलत है कि सीमान्त भूमिमें कोई भाटक नहीं मिलता। आज तो कोई भी भूमि भाटक-शून्य नहीं है।

रिकार्डोके अनुयायी इस तर्कके उत्तरमें कहते हैं कि भले ही विकसित देशोंमें ऐसी भाटक-शून्य भूमिका अभाव हो, पर रूस, आस्ट्रेलिया, अफ्रीका जैसे देशोंमें, जहाँ अभी यातायात और संवाद-वहनके साधन अपेक्षाकृत कम हैं, भाटक-शून्य भूमिका मिलना सम्भव है।

(७) भूमिपर उत्पत्ति-ह्रास-नियम सदा ही लागू होता है, रिकार्डोका यह कहना गलत है।

कहीं-कहीं भूमिपर उत्पत्ति-वृद्धि-नियम भी लागू हो सकता है और कहींपर उत्पादन-समता-नियम।

(८) भाटक-सिद्धान्त मूल्यको प्रभावित करता है। कुछ अर्थशास्त्री ऐसा नहीं मानते।

(९) रिकार्डोका भाटक-सिद्धान्त निराशावादको जन्म देता है।

यह ठीक है कि उसके विवेचनमें निराशाका स्वर दृष्टिगोचर होता है, परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि वह प्रगतिका विरोधी है। वह तो केवल इसी तथ्यकी ओर समाजका ध्यान आकृष्ट करता है कि स्थिति कितनी विषम होती जा रही है। हम यदि समय रहते न चेतेंगे, तो दुर्भिक्ष भले न आये, अभाव और संकट तो हमें आकर घेरेंगे ही। प्रोफेसर जीद कहते हैं

कि मान लीजिये, इंग्लैण्ड यदि आज ऐसा निश्चय करे कि वह अपनी ४॥ करोड़ जनताके खाद्यान्नकी पूर्ति अपनी ही भूमिसे करेगा, तो क्या रिकार्डोकी भविष्यवाणी सत्य सिद्ध नहीं होगी ?[१]

रिकार्डोने प्रकृतिवादियोंकी भाँति 'प्रकृतिकी ओर' का नारा न लगाकर श्रमकी महत्ता प्रतिपादित की है और भाटकको अनुपार्जित धन बताया है, जिसे कि मार्क्सवादी लोगोंने भलीभाँति विकसित किया है। मुक्त-व्यापारका रिकार्डोने स्मिथसे भी जोरदार समर्थन किया। इसका प्रभाव तत्कालीन नियामकोंपर पड़ा ही।

इतनी अधिक समीक्षाके उपरान्त भी 'भाटक-सिद्धान्त' के महत्त्वमें कोई विशेष कमी नहीं आयी। रिकार्डोके मजूरी-सिद्धान्तमें कुछ अपूर्णताएँ हैं। जैसे :

(१) श्रमिकोंमें कार्य-कुशलताकी दृष्टिसे भेद होता है, पर रिकार्डोने इसकी ओर ध्यान नहीं दिया।

(२) श्रमिकोंको अपने कार्यके शिक्षणमें समय लगता है, उनके श्रममें भिन्नता होती है। इस ओर भी रिकार्डोका ध्यान नहीं है।

(३) रिकार्डो श्रमिकोंमें पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा मानता है, जब कि सर्वांशमें ऐसा नहीं होता।

(४) रिकार्डो मानता है कि श्रमिक अपने भाग्यके निर्माता स्वयं हैं और सरकार उनकी दशामें कोई सुधार नहीं कर सकती। वह श्रमिकोंसे यह अपेक्षा रखता है कि वे स्वयं ही आत्म-संयम द्वारा जन-वृद्धि रोक लेंगे। ऐसा मान लेना ठीक नहीं।

पर कुछ कमियोंके बावजूद इतना तो है ही कि मजूरीके लौह नियमकी रचनामें रिकार्डोके मजूरी-सिद्धान्तका बहुत बड़ा हाथ है। जर्मन समाजवादी लासालका कहना है कि उत्पादनकी पूँजीवादी पद्धति ही इस धारणाके लिए उत्तरदायी है कि मजूरीका स्तर वही रहना चाहिए, जिससे श्रमिक किसी प्रकार अपना जीवन-धारण कर सकें। अतः उसने श्रमिकोंके स्तरको सुधारनेका एकमात्र उपाय यह बताया है कि मालिक-मजूरका सम्बन्ध समाप्त कर दिया जाय।[२]

रिकार्डोका लाभ-सिद्धान्त भी दोषपूर्ण है। उसकी मान्यता यह है कि समाजकी प्रगतिके साथ-साथ लाभका अंश घटता जाता है। मार्क्सने पूँजीवादके इस पहलूमें उसके नाशके चिह्न बताये हैं।

---

१ जीद और रिस्ट : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन्स, पृष्ठ १७०।

२ भटनागर और सतीशबहादुर : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ १४०।

रिकार्डो मानता है कि पूँजीकी उत्पादिका शक्ति ही लाभका कारण है, उपभोगमें कमी करनेसे लाभ प्राप्त होता है और मजूरीकी दरमें वृद्धिके साथ-साथ लाभ घटता जाता है। उसने कहा है कि भू-स्वामियों और पूँजीपतियोंके स्वार्थोंमें संघर्ष होता है, पूँजीपतियों और मजदूरोंके स्वार्थोंमें संघर्ष होता है। इस संघर्षका अन्त तभी होगा, जब लाभ शून्य हो जायगा। वैसी स्थितिमें कोई पूँजी क्यों लगायेगा ? अतः समाजकी प्रगति रुक जायगी। उसके इस निराशा-वादकी बड़ी आलोचना हुई है।

रिकार्डोका मूल्य-सिद्धान्त तो स्वयं उसीकी दृष्टिमें अपूर्ण है। मैल्थसको १५ अगस्त १८२० को लिखे गये एक पत्रमें उसने यह बात स्वीकार की है कि 'न तो मैं ही और न मैक्कुलक ही उत्तम मूल्य-सिद्धान्तकी स्थापना कर सके। हम दोनों ही इस कार्यमें असफल सिद्ध हुए हैं।'

विदेशी व्यापारके सम्बन्धमें रिकार्डोके विचारोंकी तीव्र आलोचना की गयी है।

कहा गया है कि कुछ देशोंको बहुतसी ऐसी वस्तुएँ विदेशोंसे खरीदनी ही पड़ती हैं, जो वे स्वयं बना नहीं सकते। रिकार्डोकी यह मान्यता भी गलत है कि वस्तुका मूल्य केवल उसकी लागतपर निर्भर करता है। उसमें उपयोगिता और लागत दोनोंका हाथ रहता है। यह भी आवश्यक नहीं कि रिकार्डोके लागत-समता-सिद्धान्तके अनुसार ही प्रत्येक वस्तुका उत्पादन हो। कहीं-कहीं उत्पादन-ह्रास-नियम और उत्पादन-वृद्धि-नियम भी लागू होता है।

ओहलिन, एजवर्थ, सैलिगमैन, आदि अर्थशास्त्रियोंने रिकार्डोकी इस धारणाकी जोरदार टीका की है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और अन्तर्देशीय व्यापारमें अन्तर होता है। रिकार्डो कहता है कि श्रम और पूँजी देशमें गतिशील रहती है, विदेशमें अगतिशील; अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तुलनात्मक लागत-सिद्धान्तपर और वस्तु-विनिमयपर आधृत है, परन्तु अन्तर्देशीय व्यापारमें ये आधार नहीं रहते। ओहलिन आदि ऐसा नहीं मानते। वे कहते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारमें और अन्तर्देशीय व्यापारमें कोई विशेष अन्तर नहीं है।

बैंकिंग और मुद्रासम्बन्धी रिकार्डोके विचारोंकी पुष्टताका प्रमाण यही है कि उनके आधारपर सन् १८२२ और १८४४ के बैंक-कानून बने और उन्होंने बैंक ऑफ इंग्लैण्डका नियंत्रण किया। यों रिकार्डो उदारमतवादी था, पर बैंकके विषयमें उसका दृढ़ विश्वास था कि उसपर सरकारका कड़ा नियंत्रण वांछनीय है, अन्यथा सारी अर्थ-व्यवस्था नष्ट-भ्रष्ट हो सकती है।

मूल्यांकन

रिकार्डोने अर्थशास्त्रीय विचारधाराको अत्यधिक प्रभावित किया है। उसकी मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं :

(१) उसने वितरणकी समस्याओंका विस्तारपूर्वक विवेचन किया।

(२) भाटक-सिद्धान्त उसकी अतूल्य देन है। उसमें उसने दो तथ्योंपर विशेष बल दिया :

१. भाटक अनुपार्जित आय है।

२. भू-स्वामियोंके हित समाजके व्यापक हितोंके विरोधी हैं।

(३) अपने मूल्य-सिद्धान्त द्वारा उसने इस धारणाका प्रतिपादन किया कि श्रम ही वास्तविक लागत है।

(४) उसने मुक्त-व्यापारका समर्थन करते हुए तुलनात्मक लागत-सिद्धान्तका प्रतिपादन किया।

(५) कागदी मुद्राके नियंत्रण-सम्बन्धी उसके विचार आधुनिक जगत्में अनेकांशमें स्वीकृत हो चुके हैं।

(६) मैल्थसके उत्पादन-ह्रास-नियमको उसने विकसित किया।

(७) रिकार्डोने अर्थशास्त्रमें निगमन-प्रणालीको जन्म दिया।

(८) समाजवादियोंने आगे चलकर मुख्यतः रिकार्डोके विचारोंपर ही अपने विचारोंका भव्य प्रासाद खड़ा किया। व्यक्तिगत पूँजीका विरोध, वर्ग-संघर्ष, मार्क्सका प्रख्यात श्रम-सिद्धान्त—इन सबके विकासके लिए रिकार्डो अनेकांशमें उत्तरदायी है।

ग्रेका यह कथन सत्य ही है कि 'यदि मार्क्स और लेनिनकी ऊर्ध्वकाय मूर्तियाँ खड़ा करना अपेक्षित है, तो उनकी पृष्ठभूमिमें रिकार्डोकी प्रतिमूर्ति होनी ही चाहिए'।[1]

●●●

१ ग्रे : डेवलेपमेण्ट ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन, पृष्ठ १७०।

प्रारम्भिक आलोचक : ३ :

अदम स्मिथने अर्थशास्त्रकी शास्त्रीय विचारधारामें रंग भरा, बैंथम, मैल्थस और रिकार्डोने अपने विचारों द्वारा उसे भलीभाँति परिपुष्ट किया। कहा जा सकता है कि स्मिथ, बैंथम, मैल्थस और रिकार्डोने मिलकर अर्थशास्त्रकी शास्त्रीय शाखाका महल खड़ा कर दिया।

सागरमें छोटी-सी कंकड़ी फेंक देनेसे जिस प्रकार अनेक लहरें उठने लगती हैं, शास्त्रीय विचारधाराके कारण आर्थिक सागरमें भी उसी प्रकारकी अनेक लहरें उत्पन्न होने लगीं। किसीने इन अर्थशास्त्रियोंके विचारोंका समर्थन किया, किसीने इनका विरोध किया। समर्थकोंमें भी अनेक ऐसे थे, जो आंशिक रूपमें समर्थन करते थे और आंशिक रूपमें विरोध। 'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः!' किसी भी विचार-परम्पराको विकसित होनेके लिए यह परम आवश्यक भी है।

स्मिथके प्रारम्भिक आलोचकोंमें तीन आलोचक विशेष रूपसे उल्लेखनीय हैं : लाडरडेल, रे और सिसमाण्डी।

लाडरडेल

लार्ड लाडरडेल (सन् १७५९–१८३०) स्काटलैण्डका प्रमुख अर्थशास्त्री था। सन् १७८० में उसने संसद्में प्रवेश किया। राजनीतिमें वह धुर उत्तरसे धुर दक्षिणमें चला गया था। उसके देशवासी उसे 'झक्की' मानते थे।[1]

लाडरडेलकी प्रमुख अर्थशास्त्रीय रचनाका नाम है—'एन इनक्वायरी इनटू दि नेचर एण्ड ओरिजिन ऑफ पब्लिक वेल्थ, एण्ड इनटू दि मीन्स एण्ड काजेज ऑफ इट्स इनक्रीज'। यह सन् १८०४ में प्रकाशित हुई। इस पुस्तकका व्यापक प्रचार हुआ था। जर्मन और फरासीसी भाषामें इसका अनुवाद किया गया था।

लाडरडेलने अपनी पुस्तकमें स्मिथके विचारोंकी आलोचना की है। उसके मतसे राष्ट्रीय सम्पत्ति और व्यक्तिगत सम्पत्तिको एक ही मानना गलत है। अपनी इस धारणाके प्रतिपादनके लिए लाडरडेलने मूल्य-सिद्धान्तका विवेचन किया है।

लाडरडेल कहता है कि मूल्यके लिए दो बातें आवश्यक हैं—उपयोगिता और न्यूनता। वस्तु उपयोगी होनी चाहिए अथवा मनुष्यके लिए सुखकर होनी चाहिए, ताकि मनुष्य उसकी प्राप्तिकी इच्छा करे। साथ ही उसकी मात्रा न्यून

---

१ ग्रे : डेवलपमेण्ट ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन, पृष्ठ १६२।

हो। यदि माँग ज्योंकी त्यों बनी रहे, तो वस्तुकी न्यूनताके साथ मूल्य बढ़ेगा और उसके प्राचुर्यके साथ घटेगा।

लाडरडेलकी धारणा है कि सामाजिक अथवा राष्ट्रीय सम्पत्तिका मूल्य निर्भर करता है उपयोगितापर, जब कि व्यक्तिगत सम्पत्तिका मूल्य निर्भर करता है न्यूनता-पर। वस्तुकी न्यूनताके साथ व्यक्तिगत सम्पत्तिका मूल्य बढ़ेगा, जब कि सामाजिक सम्पत्तिका मूल्य प्राचुर्यके साथ बढ़ेगा। जलका उदाहरण देते हुए लाडरडेल कहता है कि कोई उसकी न्यूनता उत्पन्न करके सम्पत्तिवान् बन सकता है, पर ऐसा कार्य राष्ट्र या समाजके हितोंका विरोधी है।[1]

मूल्यकी विवेचना करते हुए लाडरडेलने माँगकी लोचके सिद्धान्तकी पूर्व-कल्पना की है।[2] सम्पत्तिके कार्योंका भी लाडरडेलका विवेचन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वह मानता है कि भूमि, श्रम और पूँजी, ये तीनों ही सम्पत्तिके मूल स्रोत हैं।

धनके असमान वितरणकी लाडरडेल भर्त्सना करता है। वह कहता है कि 'सार्वजनिक सम्पत्तिकी वृद्धिमें सबसे बड़ा रोड़ा यही है कि सम्पत्तिका वितरण विषम है। उचित वितरणके द्वारा ही देशकी सम्पन्नतामें वृद्धि हो सकती है'।[3]

रे

जान रे (सन् १७८६–१८७३) ने एडिनबरामें चिकित्साकी शिक्षा प्राप्त की थी। आर्थिक और पारिवारिक दुर्भाग्य उसे कनाडा घसीट ले गया। वहाँ उसने अध्यापन और चिकित्सा आदिके द्वारा जीवन-निर्वाह किया।

रेकी प्रमुख रचना है—न्यू प्रिंसिपल्स ऑन दि सब्जेक्ट ऑफ पोलिटिकल इकॉनॉमी (सन् १८३४)। इस रचनामें उसने लाडरडेलसे मिलते-जुलते विचार प्रकट किये हैं।

लाडरडेलकी भाँति रेकी भी ऐसी मान्यता है कि व्यक्तिगत और राष्ट्रीय हितोंमें समानता नहीं है। वह मानता है कि दोनोंकी सम्पत्तिमें वृद्धिके जो कारण होते हैं, वे भिन्न हैं।

रेकी धारणा है कि सम्पत्तिकी उत्पत्ति आविष्कारोंके द्वारा होती है और राष्ट्रीय सम्पत्तिके सम्वर्धनके लिए आविष्कार परम उपयोगी हैं।[4] रेने स्मिथके श्रम-विभाजन-सम्बन्धी विचारोंकी भी आलोचना की है। स्मिथ जहाँ यह मानता है कि श्रम-विभाजनका परिणाम आविष्कार है, वहाँ रे यह मानता है कि आवि-

---

१ लाडरडेल : पब्लिक वेल्थ, पृष्ठ ४०।

२ ग्रे : डेवलपमेण्ट ऑफ इकॉनॉमिक टाक्ट्रिन, पृष्ठ १६५।

३ लाडरडेल : पब्लिक वेल्थ, पृष्ठ ३४५, ३४६।

४ हेने : हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ ३८५।

ष्कारका परिणाम श्रम-विभाजन है। स्मिथके मुक्त-व्यापारकी नीतिका भी रेने विरोध किया है। वह राज्यके हस्तक्षेपका समर्थन करता है। उसने यह भी कहा है कि स्मिथके आर्थिक विचारोंके प्रतिपादनकी प्रणाली पूर्णतः वैज्ञानिक नहीं है।

रेके विचारोंमें कैरेकी पूर्वकल्पना दृष्टिगोचर होती है।[1]

दोनोंकी तुलना

लाडरडेल और रे, दोनों ही राष्ट्रीय सम्पत्ति और व्यक्तिगत सम्पत्तिमें भेद मानते हैं। दोनोंका ही यह मत है कि राष्ट्रीय या सामाजिक हित और व्यक्तिगत हित एक-से नहीं होते। दोनोंने ही सरकारी हस्तक्षेपका समर्थन किया है। स्मिथने सम्पत्ति बचानेपर जो बल दिया है, उसका विरोध लाडरडेलने भी किया है और रेने भी। लाडरडेल ऐसा मानता है कि श्रम ही सम्पत्ति-वृद्धिका साधन है, परन्तु रे ऐसा मानता है कि कार्य-कुशलता एवं सुसंचालन ही सम्पत्ति-वृद्धिका कारण है। रेने इसके लिए आविष्कारोंपर बहुत बल दिया है।

हेनेका कहना है कि स्मिथने श्रम-विभाजन और बचतके सम्बन्धमें मानवीय स्वार्थकी जो बात कही है, उसका इन दोनों विचारकोंने ठीक ही विरोध किया है, पर वे यह नहीं सोच सके कि उपभोग और उत्पादनमें अथवा कीमत और उपयोगितामें सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है। कोई समाजवादी कल्पना उनके मस्तिष्कमें आ नहीं सकी।[2]

सिसमाण्डी

जी० चार्ल्स ल्योनार्ड सिमाण्ड द सिसमाण्डी (सन् १७७३–१८४२) अर्थशास्त्रका प्रसिद्ध लेखक तो है ही, प्रख्यात इतिहासकार भी है। आर्थिक विचारधाराके विकासमें उसका अनुदान अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। वह अपनेको अदम स्मिथका शिष्य कहता है, परन्तु केवल सैद्धान्तिक विषयोंमें ही। व्यावहारिक समस्याओंके निदानमें सिसमाण्डीका स्मिथसे अत्यधिक मतभेद है और उसने स्मिथकी कटु आलोचना की है।

सिसमाण्डी समाजवादी नहीं है, फिर भी समाजवादी लोग उसकी रचनाओंका गम्भीर अध्ययन करते हैं। ऐसा माना जाता है कि सिसमाण्डी एक युग-प्रवर्तक विचारक है। उसकी रचनाओंने उन्नीसवीं शताब्दीके सभी प्रमुख आन्दोलनोंको प्रभावित किया है। चाहे ओवेन, फुर्ये और ब्लां जैसे सहयोगी-समाजवादी हों; चाहे मिल और रस्किन जैसे मानवीय-परम्परावादी हों; चाहे

---

१ ग्रे : डेवलपमेण्ट ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन, पृष्ठ २०३।

२ हेने : वही, पृष्ठ ३८८।

रोशर, हिल्डेब्राण्ड और श्मोलर जैसे इतिहासवादी हों; चाहे मार्शल जैसे नव-परम्परावादी हों; चाहे राडबर्टस और लासाल जैसे राज्य-समाजवादी हों; चाहे मार्क्स और एंजिल जैसे मार्क्सवादी हों—सबपर सिसमाण्डीके विचारोंका प्रभाव परिलक्षित होता है।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

सिसमाण्डीका जन्म और विकास उस युगमें हुआ, जब पूर्ण प्रतियोगिताका साम्राज्य था और सरकारने उत्पादनपर अंकुश रखना अथवा मालिकों और मजदूरोंके बीच हस्तक्षेप करना सर्वथा बन्द कर दिया था। औद्योगिक विकास अपनी चरमसीमाकी ओर जा रहा था। इंग्लैण्डमें मांचेस्टर, बर्मिंघम और ग्लासगो तथा फ्रांसमें लिली, सेदान जैसे नगर औद्योगिक केन्द्र बनते जा रहे थे। उद्योगोंके विकासके फलस्वरूप अमीरों और गरीबोंके बीचकी खाई चौड़ी होती जा रही थी। मजदूरोंका शोषण खूब ही बढ़ रहा था। उनसे सत्रह-सत्रह घण्टे काम लिया जाता था।

सिसमाण्डीने सन् १७८९ की फरासीसी क्रान्ति देखी। उसके भले-बुरे परिणाम देखे, नेपोलियनी युद्धोंके दुष्परिणाम भी देखे, सन् १८१५–१८१८ और सन् १८२५ की मन्दियाँ देखीं, जिनके कारण बेकारी बढ़ी, बैंकोंका दिवाला निकला और व्यापारियोंकी बधिया बैठ गयी।

एक ओर इन ऐतिहासिक घटनाओं तथा युगकी तात्कालिक पुकारने सिसमाण्डीको प्रभावित किया, दूसरी ओर मैल्थस, रिकार्डो, से, सीनियर, लिस्ट, ओवेन, ओरट्स आदि समकालीन विचारकोंकी विचारधाराओंने भी उसे प्रभावित किया।

जीवन-परिचय

सन् १७७३ में जेनेवामें सिसमाण्डीका जन्म हुआ। पादरी पिता उसे व्यापारी बनाना चाहते थे, फिर भी उसे अच्छी शिक्षा मिल गयी। कुछ दिन उसने सरकारी नौकरी भी की। इतिहास, राजनीति और साहित्यमें पहलेसे ही उसकी विशेष रुचि थी, बादमें वह अर्थशास्त्रकी ओर झुका।

सन् १८०३ में सिसमाण्डीने 'कामर्शल वेल्थ' नामक पुस्तक लिखी। उसके बाद १६ वर्ष वह प्रवास तथा शोध-कार्यमें लगा रहा। उसने इंग्लैण्ड और यूरोपके विभिन्न देशोंका भ्रमण किया और वहाँकी आर्थिक स्थितिका गहरा अध्ययन किया, जिससे उसके विचारोंका परिष्कार हुआ।

सिसमाण्डीकी प्रमुख अर्थशास्त्रीय रचना 'दि न्यू प्रिंसिपल ऑफ पोलिटिकल इकॉनॉमी और ऑफ वेल्थ इन इट्स रिलेशन टु पॉपुलेशन' सन् १८१९ में प्रकाशित हुई। इसमें उसने मैल्थस और रिकार्डो आदिकी खरी आलोचना की

है। उसकी 'स्टडीज इन पोलिटिकल इकॉनॉमी' (दो खण्ड, सन् १८३७-३८) में तत्कालीन इंग्लैण्ड और यूरोपके श्रमिक-वर्गके जीवन-स्तरका गम्भीर अध्ययन है।

उसने ऐतिहासिक शोधपर 'हिस्ट्री ऑफ दि इटालियन रिपब्लिक्स' (१६ खण्ड) और 'हिस्ट्री ऑफ दि फ्रेंच पीपुल' (२९ खण्ड) नामक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचनाएँ की हैं। सन् १८४२ में सिसमाण्डीका देहान्त हो गया।

सिसमाण्डीके प्रत्यक्ष शिष्य तो कम ही थे, पर उसने अपने विचारोंके द्वारा अर्थशास्त्रकी शास्त्रीय विचारधाराके प्रति तीव्र असन्तोष उत्पन्न कर दिया, जिससे आगे चलकर समाजवादी विचारधाराको पनपनेका अच्छा अवसर प्राप्त हुआ।

प्रमुख आर्थिक विचार

सिसमाण्डीके आर्थिक विचारोंको निम्न प्रकारसे विभाजित करके अध्ययन कर सकते हैं :

(१) अर्थशास्त्रका लक्ष्य एवं अध्ययनकी पद्धति
(२) वितरणकी योजना
(३) अति-उत्पादन और यंत्र
(४) जनसंख्याकी समस्या
(५) आर्थिक संकटोंके कारण
(६) सुझाव

१. अर्थशास्त्रका ध्येय

ग्रेका कहना है कि सिसमाण्डी अर्थशास्त्रीकी अपेक्षा आचार-शास्त्री अधिक था।[1] हो भी क्यों न ? उसने अपनी आँखों देखा था कि इतने अधिक औद्योगिक विकासके बावजूद मानव दुःखी है। साथ ही इटली, फ्रांस, स्विट्जरलैण्डमें ही नहीं, इंग्लैण्ड, बेलजियम और जर्मनीमें भी श्रमिकोंकी दशा अत्यन्त दयनीय है। वे भयंकर उत्पीड़नके शिकार हो रहे हैं। तभी तो वह यह मानता है कि अर्थशास्त्रका ध्येय या लक्ष्य केवल सम्पत्ति बटोरना नहीं है, उसका ध्येय है—मानवको अधिकतम सुखी बनाना। जो अर्थशास्त्र मानवकी प्रसन्नतामें वृद्धि नहीं करता, वह 'अर्थशास्त्र' ही नहीं है।[2] गरीबोंकी दुर्दशासे वह इतना करुणाभिभूत हो गया था कि उसने एक स्थानपर यहतक कह डाला है कि 'सरकार यदि एक वर्गको किसी दूसरे वर्गके हितोंकी बलि देकर भी लाभ पहुँचानेका कभी विचार करे, तो उसे निश्चय ही गरीबोंको उस योजनासे लाभ पहुँचाना चाहिए।'

सिसमाण्डीकी धारणा है कि अभीतक अर्थशास्त्रको 'सम्पत्तिका विज्ञान' माना

---

१ ग्रे : डेवलपमेण्ट ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन, पृष्ठ २१६।
२ जीद और रिस्ट : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन्स, पृष्ठ १८२।

गया है और राष्ट्रीय सम्पत्तिका सम्वर्द्धन ही उसका लक्ष्य रहा है। यह ठीक नहीं। अर्थशास्त्र 'मानवका विज्ञान' है। मानवका कल्याण करना, उसे अधिकतम सुख पहुँचाना और राष्ट्रीय कल्याणकी वृद्धि करना ही अर्थशास्त्रका एकमात्र लक्ष्य है।

लोक-कल्याणको अर्थशास्त्रका लक्ष्य बताकर सिसमाण्डी चाहता था कि उसे आदर्शवादी विज्ञानका स्वरूप प्रदान किया जाय और उसमें भावना तथा आचारको प्रमुख स्थान दिया जाय। तत्कालीन यूरोप और विशेषतः इंग्लैण्डकी दयनीय स्थितिको देखकर मानो सिसमाण्डी यह प्रश्न करता है कि हमारे जीवनके आनन्दको हो क्या गया है? हम किस दिशामें जा रहे हैं? आज जहाँ हम चारों ओर वस्तुओंकी प्रगति देख रहे हैं, वहाँ सभी जगह तो मानव पीड़ित हो रहा है! आज विश्वमें सुखी मानव हैं कहाँ?[1]

सिसमाण्डी कहता है कि यह बात सर्वथा गलत है कि सम्पत्ति और धनको प्राधान्य दिया जाय और मानवकी उपेक्षा की जाय। सेने सिसमाण्डीकी इस धारणाका विशेष रूपसे मजाक उड़ाया है और कहा है कि अर्थशास्त्रको सिसमाण्डी शासकोंका विज्ञान बनाकर उसे सीमित कर देता है। ऐसा करना गलत है। कारण, वह तो आर्थिक समस्याओंका विज्ञान है। कुछ लोग सिसमाण्डीकी इस धारणाकी आलोचना करते हुए कहते हैं कि अर्थशास्त्रमें भावना और आचारशास्त्र जोड़ना ठीक नहीं और व्यक्तिगत स्वातंत्र्यकी अपेक्षा शासकीय हस्तक्षेपको महत्त्व देना अनुचित है।

अध्ययनकी पद्धति

जहाँतक अर्थशास्त्रके अध्ययनकी पद्धतिका प्रश्न है, सिसमाण्डी इस बातपर बल देता है कि निगमन-प्रणालीके स्थानपर अनुगमन-प्रणालीका आश्रय लेना उचित है। वह कहता है कि व्यावहारिक समस्याओंका अध्ययन करके जब किसी सिद्धान्तका प्रतिपादन करना हो, तो इतिहास, अनुभव एवं परीक्षणकी पद्धति ही काममें लानी चाहिए। अर्थशास्त्रमें मानव एवं मानवके स्वभावका तथा उसके व्यवहारका अध्ययन होना चाहिए। उसके लिए किसी एक ही बातपर अपनेको केन्द्रित कर देना ठीक नहीं। देश, काल, परिस्थिति आदिका भी समुचित ध्यान करके ही किसी सिद्धान्तका प्रतिपादन करना चाहिए, अन्यथा हमारे सिद्धान्त अत्यन्त ही भ्रामक सिद्ध हो सकते हैं।[2]

२. वितरणकी योजना

केनेकी भाँति सिसमाण्डीने भी वितरणकी एक योजना प्रस्तुत की है। यह

---

१. ग्रे : डेवलपमेण्ट ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन, पृष्ठ २०६-२०७।

२ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ १८८-१८९।

कहता है कि हम राष्ट्रीय वार्षिक आयसे आरम्भ करते हैं, जिसके द्वारा हमें जनता-के उपभोगकी सामग्रियाँ प्रस्तुत करनी हैं। राष्ट्रीय वार्षिक आयके दो भाग हैं: (१) पूँजी और भूमिपर प्राप्त होनेवाला लाभ और (२) श्रम-शक्ति। इनमें प्रथमांश पिछले वर्षके श्रमका परिणाम है। रही बात श्रम-शक्तिकी, सो भविष्यकी वस्तु है। वह सम्पत्तिका रूप तभी ग्रहण कर सकती है, जब कि उसे इसका सुयोग मिले और विनिमय हो। श्रमको प्रतिवर्ष नया अधिकार प्राप्त होता है, जब कि पूँजी पिछले श्रमका स्थायी अधिकार है। दोनों अंश प्राप्त करनेवाले वर्गोंके हितोंमें पारस्परिक विरोध है।[1]

सिसमाण्डी कहता है कि वार्षिक आय और वार्षिक उत्पादन, दो भिन्न वस्तुएँ हैं। सच्ची अर्थव्यवस्थामें वार्षिक उपभोग राष्ट्रीय आय द्वारा सीमित होगा और सारा उत्पादन उपभोगके काममें आ जायगा। वर्तमान वर्षकी वार्षिक आय भावी वर्षके वार्षिक उत्पादनके लिए खर्च की जाती है। यदि कभी वार्षिक उत्पादन गत वर्षकी आयसे बढ़ जाता है, तो उसका परिणाम यह होता है कि कुछ वस्तुएँ नहीं बिक पातीं, जिससे अति-उत्पादन होता है। अतः वह उत्पादन और उपभोगके सामंजस्यपर बल देता है।

३. अति-उत्पादन

सिसमाण्डी यह मानकर चलता है कि वार्षिक उत्पादन वार्षिक आयसे बढ़ ही जाता है, अतः अति-उत्पादनकी समस्या उत्पन्न होती है। इसके फलस्वरूप पूँजीको हानि उठानी पड़ती है, श्रम-शक्तिको बेकारी भुगतनी पड़ती है और वस्तुओंका मूल्य गिर जाता है, जिससे उपभोक्ताओंको अस्थायी लाभ होता है।[2]

स्मिथ और रिकार्डो आदि अर्थशास्त्री अति-उत्पादनकी समस्या कोई समस्या ही नहीं मानते थे। उनका कहना था कि अति-उत्पादनकी स्थिति या तो उत्पन्न ही न होगी और होगी भी, तो वह किसी उद्योगमें बहुत थोड़े समय टिकेगी। कारण, वे ऐसा मानते थे कि उत्पादनके साधनोंकी अपेक्षा आवश्यकताएँ असीम हैं और यदि कहीं अति-उत्पादन हुआ भी, तो वहाँ एक वस्तुका मूल्य गिरेगा, पर अन्यत्र किसी वस्तुका उत्पादन कम होनेसे उसका मूल्य चढ़ेगा और तब एक उद्योगके उत्पादनके साधन दूसरे उद्योगमें लग जायँगे और यों अति-उत्पादनकी समस्या स्वयं ही हल हो जायगी।

---

१ हेने : वही, पृष्ठ ३९३-३९४।

२ हेने : वही, पृष्ठ ३९५।

सिसमाण्डी शास्त्रीय विचारकोंकी इस धारणाको भ्रामक और गलत बताता है कि अति-उत्पादनकी कोई समस्या है ही नहीं और है भी, तो माँग और पूर्तिके स्वाभाविक संतुलनसे वह स्वयं हल हो जाती है। सिसमाण्डीका मत है कि पहलेके अर्थशास्त्रियोंकी यह धारणा व्यावहारिक नहीं, केवल सैद्धान्तिक है। अनुभव, इतिहास एवं परीक्षण द्वारा इसका खोखलापन सिद्ध हो जाता है। आजका अध्यापक क्या कल डॉक्टर बन जा सकता है? जो जिस कार्यको करता है, वह कम वेतनपर अधिक काम करके भी उसी काममें लगा रहना चाहेगा, जबतक कि कुछ कारखाने बिलकुल ही दिवाला न बोल दें! यों श्रम भी कम गतिशील है, पूँजी भी। पूँजीपति भी जिस उत्पादनमें लगा रहता है, उसीमें लगा रहना पसन्द करेगा। अपनी अचल पूँजीको तो वह तत्काल अन्य उद्योगमें लगा भी तो नहीं सकता। मंदी पड़नेपर कपड़ा तैयार करनेवाली मशीनें जूटके बोरे थोड़े ही तैयार करने लगेंगी! अतः पूँजीपति अपना उद्योग तो मुश्किलसे बदलेगा; हाँ, उत्पादनकी लागत घटानेके लिए शोषणके कार्यमें तीव्रता अवश्य ले आयेगा।[1] वह मजदूरोंसे अधिक काम लेगा, उनकी मजूरी घटा देगा, स्त्रियों और बच्चोंको भी कारखानेमें कामपर नियुक्त कर लेगा, जिससे मजदूरीका व्यय कम हो जाय।

यंत्रोंका विरोध

सिसमाण्डी यंत्रोंका और बड़े पैमानेपर किये जानेवाले उद्योगोंका तीव्र विरोधी है। कारण, उसकी यह स्पष्ट धारणा है कि यंत्रोंके कारण बड़े पैमानेपर उत्पादन होता है, अति-उत्पादन होता है और उसके फलस्वरूप बेकारी बढ़ती है। जैसे ही कोई मशीन लगती है, वैसे ही कितने ही मजदूर निकाल बाहर किये जाते हैं। फिर उनकी जरूरत नहीं रह जाती। इतना ही नहीं, जो लोग रह जाते हैं, उन्हें भी तीव्र प्रतियोगिताका सामना करना पड़ता है। उसके कारण उनकी मजूरी पहलेकी अपेक्षा घट जाती है। झख मारकर उन्हें कम मजूरी स्वीकार करनी पड़ती है। मशीनोंसे मजदूरोंको नहीं, पूँजीपतियों और उद्योगपतियोंको लाभ होता है। मजदूर बेचारे तो दिन-दिन अधिक पिसते जाते हैं। उत्पादन-क्षमता बढ़ जानेपर भी उन्हें कम मजूरीपर अधिक काम करनेके लिए विवश होना पड़ता है।

सिसमाण्डीके पूर्ववर्ती अर्थशास्त्री यंत्रों और बड़े पैमानेके उत्पादनकी प्रशंसा करते नहीं अघाते थे। उनका कहना था कि इससे उत्पादन-लागत कम पड़ती है, लोगोंको सस्ते दाममें वस्तुएँ उपलब्ध होती हैं, धन बच जानेसे मनुष्यकी

---

१ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ १६३।

क्रय-शक्ति बढ़ती है, जीवन-स्तर ऊँचा उठता है और उत्पादनमें व्यापकता आनेसे एक कारखानेसे हटाये गये मजदूरोंको अन्यत्र काम मिल जाता है। पर सिसमाण्डी कहता है कि ये सभी तर्क भ्रामक हैं। इतिहास, अनुभव एवं परीक्षणकी कसौटी-पर ये खरे नहीं उतरते। उत्पादन-वृद्धिके साथ-साथ बेकारीमें भी वृद्धि होती है और उपभोगमें भी कमी ही आती है।

सिसमाण्डी श्रमिकोंके शोषणकी तीव्र आलोचना करता हुआ कहता है कि पूँजीपति श्रमिकोंका शोषण करते हैं। उन्हें लाभ इसलिए नहीं होता कि वे लागतसे ऊपर कुछ लाभकी सर्जना करते हैं, अपितु इसलिए होता है कि वे लागतसे कम मूल्य चुकाते हैं। दूसरोंके श्रमकी बलिपर ही लोग विलास करते हैं। श्रमिकोंको अपार श्रम करना पड़ता है और केवल उतनी ही मजूरी मिलती है, जिससे वे किसी प्रकार जीवित बने रह सकें।[1]

प्रतिस्पर्द्धा और लाभके सम्बन्धमें सिसमाण्डीने जो विचार व्यक्त किये हैं, उन्होंने समाजवादियोंको बड़ी प्रेरणा दी है। उसका मत है कि यह कहना गलत है कि प्रतिस्पर्द्धासे समाजको लाभ होता है। उल्टे होता यह है कि प्रतिस्पर्द्धाके कारण अकुशल उत्पादकोंका दिवाला पिट जाता है और पैसेवाले सशक्त पूँजीपति उपभोक्ताओं और श्रमिकोंको लाभ न उठाने देकर अपनी ही जेब भारी करते रहते हैं। लागत घटानेके लिए वे शोषणके अनेक घृणित उपाय काममें लाकर स्वयं तो दिन-दिन अमीर बनते जाते हैं और मजदूर बेचारे दिन-दिन शोषणकी चक्कीमें पिसते जाते हैं।

यही कारण है कि सिसमाण्डी नये आविष्कारोंका विरोध करता है। कहता है कि उनके कारण मनुष्यकी बुद्धि, उसकी शारीरिक शक्ति, उसका स्वास्थ्य, उसकी प्रसन्नता चौपट होती है, लाभ इतना ही है कि उनके कारण मनुष्यकी पैसा पैदा करनेकी क्षमतामें कुछ वृद्धि हो जाती है![2] पर यह आर्थिक लाभ कितना महँगा है!

४. जनसंख्याकी समस्या

सिसमाण्डी मानता था कि अर्थशास्त्रका लक्ष्य यह है कि वह इस बातकी खोज करे कि जनसंख्या और सम्पत्तिके बीच क्या सम्बन्ध रहे, जिससे मनुष्योंको अधिकतम सुखकी प्राप्ति हो सके। अतः उसने जनसंख्याकी समस्या-पर विशेष रूपसे विचार किया है।

सिसमाण्डीका कहना है कि एक ओर जहाँ सहानुभूति अथवा प्रेम मनुष्यको विवाह करनेके लिए प्रोत्साहित करते हैं, वहाँ अहंकार अथवा वस्तुस्थितिका

---

१ हेने : वही, पृष्ठ ३९९-४००।

२ ग्रे : वही, पृष्ठ २११।

विवेचन उसे विवाह करनेसे रोकता है। इन भावनाओंका द्वंद्व चलता है और फलतः आयके अनुसार ही जनसंख्याका नियंत्रण होता है। उसकी मान्यता है कि श्रमिक लोग तबतक विवाह नहीं करते, जबतक उन्हें कोई नौकरी नहीं मिल जाती अथवा किसी निश्चित आयका आश्वासन नहीं मिल जाता। परन्तु औद्योगिक अस्थिरता उनकी दूर-दृष्टिको व्यर्थ बना देती है और मशीनोंके लग जानेसे बेकारी बढ़ने लगती है। सिसमाण्डी मैल्थसकी जनसंख्या-सम्बन्धी स्वाभाविक मर्यादाओंको स्वीकार नहीं करता। उसका कहना यह है कि मनुष्यकी आय ही जनसंख्याकी वास्तविक सीमा है।[1]

५. आर्थिक संकटोंके कारण

सिसमाण्डीने औद्योगिक विकासके कुपरिणाम अपनी आँखों देखे थे और वह उनसे अत्यधिक प्रभावित हुआ था। वह पहला अर्थशास्त्री है, जिसने इन आर्थिक संकटोंके कारणकी खोज करनेका प्रयत्न किया। उसने पूँजीवादी उत्पादनके अभिशापकी तहमें जानेकी चेष्टा की और इस तत्त्वको खोज निकाला कि औद्योगिक विकासने समाजको दो वर्गोंमें विभाजित कर दिया है—एक अमीर है, दूसरा गरीब। मध्यम-वर्ग क्रमशः समाप्त होता जा रहा है। एक ओर किसान बड़े-बड़े फार्मोंकी प्रतिस्पर्द्धामें टिक न पाकर मजदूर बनता जा रहा है, दूसरी ओर स्वतंत्र शिल्पी भी पूँजीपतियोंके कारखानोंकी प्रतिस्पर्द्धामें टिक न पाकर मजदूर बनता जा रहा है। यों मजदूरोंकी संख्या बढ़ती है और उन्हें विवश होकर कम मजूरी स्वीकार करनी पड़ती है। वे दिन-दिन गरीब होते चलते हैं, उधर पूँजीपति-वर्ग दिन-दिन अमीर होता चलता है।[2]

सिसमाण्डी मानता है कि आर्थिक संकटोंका मूल कारण है मजदूरोंकी दुर्दशा और वस्तुओंका अत्यधिक उत्पादन। बाजारमें वस्तुओंका बाहुल्य हो जाता है, पर मजदूरोंमें क्रय-शक्तिका अभाव होनेसे वस्तुएँ बिना बिकी पड़ी रहती हैं।

वस्तुओंके अति-उत्पादनके कई कारण हैं। जैसे, बाजारका व्यापक हो जाना और उत्पादकोंको इस बातका ठीक पता न रहना कि वे कितनी वस्तुएँ तैयार करें; माँगका ठीक पता होनेपर भी अपनी पूँजीके फँसावको देखते हुए उत्पादकोंका अति-उत्पादनकी ओर झुक जाना तथा मजूरीकी प्रथाके द्वारा राष्ट्रीय सम्पत्तिका मालिकों और मजदूरोंके बीच असमान वितरण होना आदि।

सिसमाण्डी कहता है कि इस अति-उत्पादनके कारण एक ओर गरीब लोग जीवनकी आवश्यकताओंसे वञ्चित रह जाते हैं, दूसरी ओर अमीरोंके भोग-विलासकी वस्तुओंकी माँग बहुत बढ़ जाती है। पुराने उद्योग समाप्त होने

---

१ हेने : हिस्ट्री ऑफ इकानॉमिक थॉट, पृष्ठ ३३८।

२ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ १९९–२०१।

चलते हैं, पर नये उद्योग उस गतिसे बढ़ नहीं पाते। यह स्थिति भयङ्कर है और इसका निराकरण वांछनीय है।

६. सरकारी हस्तक्षेपका सुझाव

सिसमाण्डी मजदूर-वर्गकी दुर्दशासे अत्यधिक दुःखी होकर कहता है कि 'मैं इस बातका इच्छुक हूँ कि नगरोंके और देहातके उद्योगोंपर अनेक स्वतन्त्र श्रमिकोंका आधिपत्य हो, न कि एकाध व्यक्ति ही सैकड़ों-हजारों श्रमिकोंपर अपनी सत्ता चलाये।' श्रम तथा सम्पत्तिका पारस्परिक सम्बन्ध पुनः स्थापित होना चाहिए। थोड़ेसे लोगोंके हाथोंमें न तो सारी सम्पत्ति होनी चाहिए और न उन्हें इतनी सत्ता मिलनी चाहिए कि वे लाखों व्यक्तियोंको अपने अधीन रख सकें।[1]

सिसमाण्डीने इस स्थितिके निवारणके लिए तथा सार्वजनिक और व्यक्तिगत हितोंके पारस्परिक संघर्षको मिटानेके लिए शासकीय हस्तक्षेपकी माँग की है।

सिसमाण्डीके प्रमुख सुझाव इस प्रकार हैं :

(१) माँगके अनुरूप उत्पादन किया जाय।

(२) कुछ प्रत्यक्ष उपाय किये जायँ। जैसे :

१. आविष्कारोंपर प्रतिबन्ध लगाया जाय।
२. श्रमिकोंको ऐसे साधन मिल सकें, जिनसे उनके पास कुछ सम्पत्ति एकत्र हो सके।
३. छोटे उद्योग-धन्धोंको पनपाया जाय।
४. श्रमिकोंको बीमारी, वृद्धावस्था, दुर्घटना आदिका सामना करनेके लिए समुचित सुविधा प्रदान की जाय।
५. श्रमिकोंके कामके घण्टे कम किये जायँ, उन्हें छुट्टियाँ दी जायँ, बच्चोंको नौकर रखनेपर प्रतिबन्ध लगाया जाय और तालाबन्दी और बीमारीमें पूँजीपतिसे श्रमिकको पैसा दिलानेके लिए कुछ उपयुक्त व्यवस्था की जाय।
६. श्रमिकोंको यह अधिकार दिया जाय कि वे अपने अधिकारोंकी प्राप्तिके लिए संगठन कर सकें।

सरकारी हस्तक्षेपकी माँग करते हुए सिसमाण्डीने राजनीतिज्ञोंसे इस बातकी अपील की है कि वे अत्यधिक उत्पादनको रोकनेके लिए यथासाध्य चेष्टा करें।[2]

सिसमाण्डी न तो साम्यवादका समर्थक है और न सहकारिताका। साम्यवादका तो वह स्पष्ट विरोधी है। ओवेन, थामसन और फुर्येके उतोपियावादका

---

१ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ २०७।

२ हेने : हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ ३६६

भी वह समर्थन नहीं करता, यद्यपि वह मानता है कि दोनोंके उद्देश्योंमें साम्य है।[1] वह इस बातपर जोर देता है कि आर्थिक विषमताका निराकरण वांछनीय है, पर अपने सुझावोंके बावजूद उसे इस बातका भरोसा नहीं कि इनसे समस्या हल हो जायगी।[2] कहता है कि 'आजकी स्थितिसे सर्वथा भिन्न समाजकी स्थापना मानव-बुद्धिके परे प्रतीत होती है।'

मूल्यांकन

सिसमाण्डी अदम स्मिथकी परम्पराको स्वीकार करते हुए भी उससे भिन्न है। वह शास्त्रीय सिद्धान्त और पूँजीवादका समर्थक है, पर व्यावहारिक पक्षमें वह शास्त्रीय परम्पराके विरुद्ध है। श्रमिकोंकी करुण दशाका उसने जो निरीक्षण एवं परीक्षण किया, उसने उसके भावुक हृदयको वेध डाला और इसीका यह परिणाम था कि वह शास्त्रीय विचारधाराका आलोचक बन बैठा।

यों सिसमाण्डी समाजवादी विचारधाराका प्रेरक है, पर स्वयं वह समाजवादी भी नहीं है।

सिसमाण्डी अर्थशास्त्रको सम्पत्तिका विज्ञान नहीं मानता, वह उसे मानव-कल्याणका शास्त्र मानता है। उसके अध्ययनके लिए वह अनुभव, इतिहास और परीक्षणकी पद्धतिका समर्थन करता है।

अति-उत्पादनके विषयमें सिसमाण्डीके विचार शास्त्रीय परम्परासे सर्वथा भिन्न हैं। अति-उत्पादन और केन्द्रीकरणका उसने तीव्र विरोध किया है। यंत्रोंको वह हितकर नहीं, विनाश एवं शोषणका साधन मानता है। प्रतिस्पर्द्धाके भयंकर अभिशापसे वह बुरी भाँति संत्रस्त है और उसे वह अनर्थोंकी जननी मानता है। उसके कारण समाजमें गरीब और अमीर, दो वर्ग बनते हैं और मध्यम-वर्गकी समाप्ति होती चलती है। श्रमिकोंकी दशा सुधारनेके लिए सिसमाण्डी सरकारी हस्तक्षेपकी माँग करता है, श्रमिकोंको संगठित होनेका परामर्श देता है और यंत्रों तथा नवीन आविष्कारोंका विरोध करता है। यों वह व्यक्तिगत सम्पत्तिका समर्थक है, अमीरोंका महत्त्व भी मानता है; पर गरीबोंके लिए उसके हृदयमें करुणा और सहानुभूति है।

शास्त्रीय परम्पराकी अनेक बातें स्वीकार करते हुए भी सिसमाण्डी परम्परावादी नहीं है। वह समाजवादी भी नहीं है, यद्यपि सहयोगी समाजवादी, मानवीय परम्परावादी, इतिहासवादी, नव-परम्परावादी, राज्य-समाजवादी, मार्क्सवादी—

---

१ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ २०७।

२ एरिक रौल : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनामिक थॉट, पृष्ठ २३६।

सबके सब सिसमाण्डीकी विचारधारासे प्रभावित हैं। उन्नीसवीं शताब्दीकी सारी आर्थिक विचारधारापर सिसमाण्डीका प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

समाजवादी विचारधारावालोंने भी सिसमाण्डीकी भाँति समाजको गरीब और अमीर, ऐसे दो वर्गोंमें बाँटा है और कहा है कि व्यक्तिगत हितोंमें और सामाजिक हितोंमें विरोध है; औद्योगिक प्रगतिके फलस्वरूप मध्यम-वर्ग क्रमशः समाप्त होता जा रहा है तथा मध्यमवर्गी लोग श्रमिक बनते जा रहे हैं; उत्पादनके साधन बुरे हैं और प्रतिस्पर्द्धा बुरी चीज है। इस स्थितिको सुधारनेके लिए सरकारी हस्तक्षेप आवश्यक है। पर सिसमाण्डी जहाँ एक सीमातक ही सरकारी हस्तक्षेपका समर्थन करता है, वहाँ साम्यवादी अधिकतम सरकारी हस्तक्षेपकी माँग करते हैं। सिसमाण्डी जहाँ व्यक्तिगत स्वतंत्रता और व्यक्तिगत सम्पत्तिका समर्थन करता है, वहाँ साम्यवादी व्यक्तिगत स्वतंत्रताको कोई मूल्य ही नहीं देते और व्यक्तिगत सम्पत्तिका सर्वथा निर्मूलन कर देना चाहते हैं। सिसमाण्डीने लाभ और ब्याजकी पूर्ण समाप्ति नहीं चाही है, साम्यवादी उसे पूर्णतः समाप्त कर देना चाहते हैं। एक महान् भेद दोनोंमें यह था कि सिसमाण्डी जहाँ शान्ति-पूर्ण और वैध उपायों द्वारा समाजकी स्थितिमें परिवर्तन लानेके लिए उत्सुक था, वहाँ साम्यवादी रक्त-क्रान्तिके पुजारी थे।

ऐसी स्थितिमें सिसमाण्डीको न तो पक्का शास्त्रीय परम्परावादी माना जा सकता है और न साम्यवादी। वह दोनोंके बीचकी ऐसी कड़ी है, जिसकी महत्ता अस्वीकार नहीं की जा सकती।

आर्थिक विचारधाराके विकासमें सिसमाण्डी एक नक्षत्रकी भाँति जाज्वल्यमान है।

● ● ●

विचारधाराकी चार शाखाएँ : ४ :

सन् १७७६ में अदम स्मिथने 'वेल्थ ऑफ नेशन्स' के माध्यमसे जिस शास्त्रीय विचारधाराको जन्म दिया, उसने लाडरडेल, रे और सिसमाण्डी जैसे प्रख्यात विचारकोंके सहयोगसे आगेका मार्ग प्रशस्त किया।

आगे चलकर इस विचारधाराने मुख्यतः ४ शाखाएँ ग्रहण कीं :

१. आंग्ल विचारधारा (English classicism) : जेम्स मिल (सन् १८२०), मैक्कुलख (सन् १८२५), सीनियर (सन् १८३६) ने इसे विशेष रूपसे विकसित किया। इस शाखाकी अन्तिम परिपक्वता जान स्टुअर्ट मिल (सन् १८४८) के हाथों हुई।

२. फरासीसी विचारधारा (French classicism) : जे० बी० से (सन् १८०३) और बासत्या (सन् १८५०) ने इसे विशेष रूपसे परिपुष्ट किया।

३. जर्मन विचारधारा (German classicism) : राउ (सन् १८२६), थूने (सन् १८२६) और हर्मन (सन् १८३२) ने इस शाखाके विकासमें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भाग लिया।

४. अमरीकी विचारधारा (American classicism) : कैरे (सन् १८३८) ने इस शाखाको विशेष रूपसे विकसित किया।

आगे हम प्रत्येक शाखाका संक्षेपमें विचार करेंगे।

१. आंग्ल विचारधारा

आंग्ल विचारधाराके मूल स्रोत तीन थे :

१. बैंथमका उपयोगितावाद,

२. मैल्थसका जनसंख्या-सिद्धान्त और

३. रिकार्डोका भाटक-सिद्धान्त।

ऐसा तो नहीं है कि इस विचारधाराके विचारक सर्वांशमें एक-दूसरेके समर्थक रहे हों, पर उनका सामान्य दृष्टिकोण एक सा ही था और मोटी-मोटी बातोंमें उनका मतैक्य था।

उपयोगितावादका प्रभाव होनेके कारण इस धाराके विचारक स्मिथके स्वाभाविकतावादके आलोचक रहे हैं, उनका दृष्टिकोण भौतिकवादी रहा है।

रिकार्डोसे प्रभावित होनेके कारण ये विचारक भी निराशावादी थे और ऐसा मानते थे कि भाटक, मजूरी और लाभके हितोंमें पारस्परिक संघर्ष है। प्रगतिके

साथ-साथ समाजकी स्थिति अचल रहने लगेगी और उसके उपरांत उसकी कार्य-वाही स्थगित होकर स्थिति विषम होने लगेगी।

मूल्यके सिद्धान्तके सम्बन्धमें इस धाराके विचारक ऐसा मानते थे कि मूल्यका निर्धारण होता है उत्पत्तिकी लागतसे। उन्होंने उपभोक्ताकी उपयोगिताके विषयगत तथ्यकी ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। उनके लेखे सम्पत्तिका अर्थ था विनिमयगत मूल्य। वे मानते थे कि व्यक्तिगत सम्पत्तिको अनेक गुना कर देनेसे समाजकी सम्पत्ति निकल आती है।

इस धाराके प्रतिनिधि विचारक हैं—जेम्स मिल, मैक्कुलख और सीनियर। जेम्स मिलका पुत्र जेम्स स्टुअर्ट मिल इस धाराका अन्तिम प्रतिनिधि माना जाता है, परन्तु वह समाजवादी और इतिहासवादी आलोचकोंकी समीक्षासे प्रभावित होनेके कारण थोड़ा-सा इन लोगोंसे पृथक् पड़ता है। उसने इस बातकी चेष्टा की कि इन सभी विचारोंमें कुछ परस्पर सन्तुलन स्थापित किया जाय, पर वह इस कार्यमें कृतकार्य नहीं हो सका। उसकी विचारधाराका अध्ययन बादमें करना अच्छा होगा।

जेम्स मिल

जेम्स मिल (सन् १७७८–१८३६) प्रख्यात इतिहासकार और उपयोगितावादी दार्शनिक था। उसने सन् १८१८ में 'भारतवर्षका इतिहास' लिखा और सन् १८२० में 'एलीमेण्ट्स ऑफ पोलिटिकल इकॉनॉमी' लिखी। यह दूसरी पुस्तक अर्थशास्त्रपर उसकी प्रमुख पुस्तक मानी जाती है।

जेम्स मिलकी बेंथम और रिकार्डोसे मैत्री थी। तीनोंने मिलकर सन् १८२१ में 'पोलिटिकल इकॉनॉमी क्लब' की स्थापना की थी। मिलने ही रिकार्डोको इस बातके लिए प्रोत्साहित किया कि वह अपने अर्थशास्त्रीय विचारोंको प्रकाशित होने दे। अपनी पुस्तक 'पोलिटिकल इकॉनॉमी' में उसने रिकार्डोकी ही विचारधाराका प्रतिपादन किया है।

मिलकी रचनाओंमें मजूरी कोष-सिद्धान्त, मैल्थसका जनसंख्या-सिद्धान्त और रिकार्डोका वितरण-सिद्धान्त ही विशिष्ट रूपसे व्यक्त हुआ है। उसने कोई नया मौलिक विचार न देकर केवल इतना ही किया कि अर्थशास्त्रको विशेष रूपसे व्यवस्थित करनेमें सहायता प्रदान की।[१]

मैक्कुलख

जान रेमजे मैक्कुलख (सन् १७८९–१८६४) प्रसिद्ध अर्थशास्त्री विचारक था, पत्रकार था और लन्दन विश्वविद्यालयमें (सन् १८२८) में अर्थशास्त्रका प्रथम प्राध्यापक नियुक्त हुआ था।

१ हेने : हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ ३१० ।

उसकी प्रमुख रचना है—'प्रिंसिपल्स ऑफ पोलिटिकल इकॉनॉमी' (सन् १८२५)। उसने स्मिथकी 'वेल्थ ऑफ नेशन्स' का तथा रिकार्डोकी 'प्रिंसिपल्स ऑफ पोलिटिकल इकॉनॉमी' का सम्पादन करके प्रचुर ख्यातिका अर्जन किया। उसने रिकार्डोकी जीवनी भी लिखी है।

मैक्कुल्लकने भी कोई नया मौलिक विचार नहीं दिया। पर इतना अवश्य है कि उसने रिकार्डोके सिद्धान्तोंका समर्थन एवं विवेचन विस्तारसे करके अर्थशास्त्रकी शास्त्रीय रचनामें प्रभूत योगदान किया। परवर्ती अर्थशास्त्रियोंपर उसका गहरा प्रभाव पड़ा।

मैक्कुल्लकने सबसे पहले मजदूरोंके हड़तालके अधिकारका समर्थन किया।[1] उसने अर्थशास्त्रमें अंकशास्त्र तथा पुस्तक-सूचीका श्रीगणेश किया।[2]

सीनियर

नासो विलियम सीनियर (सन् १७९०–१८६४) अर्थशास्त्रकी शास्त्रीय विचारधाराका सम्भवतः सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि है। रिकार्डोसे लेकर जान स्टुअर्ट मिलतककी विचार-परम्परामें सीनियरने ही सर्वाधिक योग्यतासे अर्थशास्त्रीय सिद्धान्तोंकी गवेषणा की। उसने शास्त्रीय परम्पराके गुण-दोषोंका तटस्थ दृष्टिसे विवेचन करते हुए अर्थशास्त्रको 'विशुद्ध अर्थशास्त्र' का स्वरूप प्रदान करनेमें विशेष श्रम किया।[3]

इंग्लैण्डमें सर्वप्रथम आक्सफोर्डमें सन् १८२५ में अर्थशास्त्रका अध्यापन प्रारम्भ किया गया और उक्त पदपर सर्वप्रथम सीनियरकी नियुक्ति हुई। सन् १८२५ से सन् १८३० तक और पुनः सन् १८४७ से सन् १८५२ तक वह आक्सफोर्डमें प्राध्यापक रहा। सन् १८३२ में वह रायल कमीशनका सदस्य मनोनीत किया गया था। सन् १८३६ में उसकी प्रमुख रचना 'आउटलाइन ऑफ दि साइन्स ऑफ पोलिटिकल इकॉनॉमी' प्रकाशित हुई।

सीनियरकी विश्लेषण-शक्ति अनुपम थी। उसने अर्थशास्त्रके क्षेत्रको व्यवस्थित करनेपर बड़ा बल दिया। साथ ही मूल्य-सिद्धान्त और वितरण-सिद्धान्तको भी उसने विशिष्ट रूपसे विकसित किया। लाभके 'आत्म-त्याग-सिद्धान्त' की उसकी देन महत्त्वपूर्ण है।

अर्थशास्त्रका क्षेत्र

सीनियरकी धारणा है कि अर्थशास्त्रको भौतिक विज्ञानोंकी भाँति विज्ञानका

---

१ जीद और रिस्ट : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन्स, पृष्ठ १८२।

२ हेने : वही, पृष्ठ ३११।

३ जीद और रिस्ट : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन्स, पृष्ठ ३५५।

रूप देना वांछनीय है। अर्थशास्त्रके अध्ययनका विषय होना चाहिए सम्पत्ति, न कि प्रसन्नता या जन-कल्याण। उसमें आचारशास्त्र जोड़नेकी और नाना प्रकारके सुझाव देनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। उसका कलापक्ष हटाकर उसे शुद्ध विज्ञानका स्वरूप देना उचित है। वह मानता है कि अर्थशास्त्र तो सत्यका आविष्कारक तथा कारण और परिणामोंका विवेचक विज्ञान है। उसे मानव-कल्याणके सुझाव देनेसे क्या तात्पर्य ? वह काम राजनीतिज्ञोंका है।

सीनियरने निगमन-प्रणालीका समर्थन करते हुए कहा है कि कुछ सर्वमान्य एवं सर्वविदित सत्योंका आविष्कार करनेके उपरान्त अर्थशास्त्रियोंको तर्ककी सहायतासे किन्हीं निष्कर्षोंपर पहुँचना चाहिए। तर्कसङ्गत होनेपर ये निष्कर्ष भी सत्य एवं सर्वमान्य ठहरेंगे।

चार मूल सिद्धान्त

सीनियरने सिद्धान्तोंके विवेचनतक ही अर्थशास्त्रका क्षेत्र सीमित माना है। उसकी दृष्टिमें विज्ञानका स्वरूप शुद्ध सैद्धान्तिक है, निगमन-प्रणाली उसका आधार है। तर्कसङ्गत निरीक्षण उसका मार्ग है। सीनियरने इस विज्ञानके ये चार मूल सिद्धान्त स्वीकार किये हैं :[1]

(१) **सुखवादी सिद्धान्त** : मानव स्वल्प त्याग करके अधिक आय प्राप्त करना चाहता है।

(२) **मैल्थसका जनसंख्या-सिद्धान्त** : जनसंख्या नैतिक संयम अथवा प्राकृतिक नियन्त्रण द्वारा सीमित होती है।

(३) **उद्योगोंमें क्रमागत-वृद्धि-सिद्धान्त** : श्रम-शक्ति एवं धनोत्पादनके अन्य साधनोंके विस्तारसे अनन्त वृद्धि सम्भव है।

(४) **कृषिमें आह्रासी प्रत्याय-सिद्धान्त** : खेतीमें सदा ही उत्पादन-ह्रासका नियम लागू होता है।

सीनियरकी मान्यता है कि सुखवादी सिद्धान्त तो ऐसा सत्य है, जिसे कोई भी व्यक्ति अस्वीकार नहीं कर सकता। शेष तीनों सिद्धान्त परीक्षणके आधारपर निश्चित हुए हैं। अतः ये चारों सत्य सर्वमान्य एवं सर्वविदित हैं।

सीनियरके ये चारों सिद्धान्त भले ही परीक्षणपर सर्वांशमें सत्य नहीं सिद्ध होते,[2] मैल्थसका जनसंख्या-सिद्धान्त प्रत्येक देशमें खरा नहीं उतरता, उसी प्रकार उद्योगमें सदा क्रमागत वृद्धि ही होती हो और कृषिमें सदा क्रमागत ह्रास ही होता हो, ऐसा भी नहीं देखा जाता; फिर भी इस तथ्यसे इनकार नहीं

---

१ सीनियर : पोलिटिकल इकॉनॉमी, पृष्ठ २६।

२ ग्रे : डेवलपमेण्ट ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन, पृष्ठ २७८-२७९।

किया जा सकता कि सीनियरकी ये मान्यताएँ अर्थशास्त्रकी दृष्टिसे अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण हैं और इन्होंने अर्थशास्त्रके विज्ञानको संकुचित, सीमित एवं व्यवस्थित करनेमें और उसे तर्कसङ्गत बनानेमें महत्त्वका कार्य किया है। इस दृष्टिसे सीनि-यरने स्मिथ और रिकार्डोकी कमीकी पूर्ति की है।[1]

मूल्य-सिद्धान्त

सीनियरका मूल्य-सिद्धान्त शास्त्रीय धारासे कुछ भिन्न है। उसने प्रत्येक वस्तु-के मूल्यके ३ कारण बताये हैं :

उपयोगिता, हस्तांतरिता और सापेक्षिक न्यूनता।

उपयोगिताकी परिभाषा सीनियरके मतसे यह है कि मनुष्यकी किसी भी इच्छाकी तृप्ति वस्तुकी जिस शक्ति द्वारा होती है, वह उपयोगिता है। उपयोगिता अनेक बातोंसे प्रभावित हुआ करती है और मुख्यतः वस्तुकी पूर्ति ही उसका आधार होती है। यह आवश्यक नहीं कि एक ही प्रकारके दो पदार्थोंसे दूनी तृप्ति हो। इसी प्रकार ऐसा भी सम्भव है कि एक सरीखे १० पदार्थोंसे ५ गुनी भी तृप्ति न मिले। सीनियर ऐसा मानता था कि मानवीय आवश्यकताएँ अतृप्त होती हैं, इसलिए व्यक्ति सदा विभिन्न प्रकारकी विलासिताकी वस्तुओंकी माँग करता है।[2]

हस्तान्तरिता भी मूल्य-निर्धारणका एक कारण है। उसके कारण किसी भी समय वस्तुकी उपयोगिताका उपभोग हो सकता है।

सीनियरकी यह भी मान्यता है कि माँगकी अपेक्षा वस्तु यदि कम है, तो उस कमीका भी मूल्यपर प्रभाव पड़ता है। साथ ही वस्तुकी पूर्ति निर्भर करती है उसकी उत्पादन-लागतपर—भूमि, श्रम और पूँजीपर। सीनियरके मतमें उद्योगोंमें उत्पादन-वृद्धि-नियमसे भी मूल्य प्रभावित होता है। इस सम्बन्धमें सीनियरने एकाधिकारकी भी चर्चा करते हुए कहा है कि उसमें वस्तुका मूल्य भी अपेक्षाकृत अधिक मिलता है और कुछ बचत भी होती है। यह एकाधि-कार अपूर्ण भी होता है, पूर्ण भी। कहीं ऐसी एकाधिकारवाली वस्तुका उत्पादन बढ़ाना सम्भव होता है, कहीं पर नहीं।

सीनियरका मूल्य-सिद्धान्त अस्पष्ट है। कहीं तो उसने कहा है कि माँगका मूल्यपर अधिक प्रभाव पड़ता है और कहीं यह कहा है कि माँगका मूल्यपर बहुत कम प्रभाव पड़ता है। एकाधिकारको उसने ४ भागोंमें विभाजित किया है।[3] पर वह विभाजन भी अवैज्ञानिक माना जाता है।

---

१ भटनागर और सतीशबहादुर : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ १५५।

२ केवल कृष्ण ड्यूवेट : अर्थशास्त्रके आधुनिक सिद्धान्त, पृष्ठ २७८।

३ एरिक रौल : ए हिस्ट्री ऑफ इकानॉमिक थॉट, पृष्ठ ३४५-३४६।

आत्मत्यागका सिद्धान्त

सीनियरने स्मिथ और रिकार्डो आदिके इस मतकी समीक्षा की है कि उत्पादनके केवल दो साधन हैं—भूमि और श्रम। सीनियर उत्पादनके ३ साधन मानता है—भूमि, श्रम और पूँजी। उसका कहना है कि इन तीनों साधनोंकी आय अर्जित है, न्यायसङ्गत है।

सीनियरने पूँजीको उत्पादनका तीसरा अङ्ग बताते हुए आत्मत्यागका नया सिद्धान्त प्रदान किया है। यह उसकी महत्त्वपूर्ण देन है।[1] वह ऐसा मानता है कि पूँजीकी सहायतासे उत्पादनमें वृद्धि होती है और कोई भी व्यक्ति तभी पूँजीका सञ्चय करता है, जब उसे इस बातका विश्वास होता है कि इसके कारण भविष्यमें उसे लाभ प्राप्त हो सकेगा। तब वह वर्तमानका उपभोग भविष्यके लिए स्थगित कर देता है और आत्मत्याग द्वारा अपनी कमाईका कुछ अंश बचाकर पूँजी एकत्र करता है। इस पूँजीका प्रतिदान लाभके रूपमें उसे मिलना ही चाहिए। हेनेका कहना है कि सीनियरको इस सिद्धान्तके सम्बन्धमें सम्भव है, जी० पी० स्क्रोपके ३ वर्ष पूर्व प्रकाशित लेखसे कुछ प्रेरणा प्राप्त हुई हो।[2]

सीनियरकी तर्कबुद्धि प्रशंसनीय है। उसने अर्थशास्त्रको व्यवस्थित बनानेमें, उसे विशुद्ध विज्ञानका स्वरूप प्रदान करनेमें तथा आत्मत्यागके सिद्धान्त द्वारा पूँजीका महत्त्व बढ़ानेमें और लाभका औचित्य स्थापित करानेमें प्रशंसनीय कार्य किया है। भले ही वह कुछ अत्यधिक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तोंकी प्रस्थापना नहीं कर सका, फिर भी अर्थशास्त्रकी आंग्ल विचारधाराके विकासमें उसका अनुदान नगण्य नहीं।

२. फरासीसी विचारधारा

फरासीसी विचारधाराकी नींव सेने डाली। उसने स्मिथके सिद्धान्तोंको व्यवस्थित रूप प्रदान करके फ्रांसकी राष्ट्रीय भावनाके अनुकूल इस विचारधाराका विकास किया।[3] इस विचारधाराकी विशेषता यह है कि इसमें आंग्ल विचारकोंके निराशावादके प्रतिकूल आशावाद भरा है।

फरासीसी विचारकोंके आशावादके मूलमें उनकी राष्ट्रीय आशावादिता और व्यवस्थितता तो है ही, प्रकृतिवादियोंकी विचारधाराका भी प्रभाव है तथा समाजवादका विरोधी स्वर भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। इन विचारकोंने मैल्थसके

---

१ जीद और रिस्ट : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन्स, पृष्ठ ३५५।

२ हेने : हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ ३४६।

३ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ १२२।

जनसंख्या-सिद्धान्त, रिकार्डोके भाटक-सिद्धान्त और आहासी प्रत्याय-सिद्धान्तकी सफलतामें या तो शंका प्रकट की है या उन्हें अस्वीकार किया है।

फरासीसी विचारधाराके मुख्य प्रतिनिधि दो माने जाते हैं : से और बासत्या।

जे० बी० से

जीन बपिस्ते से (सन् १७६७–१८३२) प्रख्यात पत्रकार, सैनिक, सरकारी कर्मचारी, व्यापारी, राजनीतिज्ञ और अर्थशास्त्री था। सन् १८०३ में अर्थशास्त्र-पर उसकी प्रसिद्ध रचना 'पोलिटिकल इकॉनॉमी' प्रकाशित हुई, जिसने यूरोप और अमेरिकामें स्मिथके विचारोंके प्रसारमें सर्वाधिक योगदान किया।[1] उसने उलझनके दलदलसे निकालकर उनका भलीभाँति परिष्कार किया और उत्कृष्ट उदाहरणों द्वारा उनका समर्थन और प्रचार किया। परन्तु वह केवल स्मिथका दुभाषिया ही नहीं था, उसमें मौलिक प्रतिभा थी, जिसके द्वारा उसने कुछ विशिष्ट धारणाएँ भी प्रस्तुत कीं।[2]

सेके समयमें भौतिक विज्ञानोंका विशेष रूपसे विकास हो रहा था। अतः उसने अर्थशास्त्रको इसी दृष्टिसे परखनेकी चेष्टा की और इस बातका प्रयत्न किया कि अर्थशास्त्र भी विशिष्ट विज्ञानका रूप ग्रहण कर सके। उसे नियमित एवं व्यवस्थित करनेमें सीनियरकी भाँति सेका भी महत्त्वपूर्ण स्थान है।

औद्योगिक क्रान्ति हो चुकनेके कारण उसके गुण-दोष भी सेके नेत्रोंके समक्ष थे। उनका उसने इंग्लैण्ड जाकर भलीभाँति अध्ययन किया था। उसके विचारों-पर इन सब बातोंकी पूरी छाप है। औद्योगिक समाजमें उसने प्रबल आस्था प्रकट की है। उसका विपणि-सिद्धान्त और मूल्य-सिद्धान्त विशेष रूपसे प्रख्यात है।

उसके प्रमुख विचारोंको तीन भागोंमें विभाजित कर उनका अध्ययन कर सकते हैं :

अर्थशास्त्रके सिद्धान्त, विपणि-सिद्धान्त और मूल्य-सिद्धान्त।

अर्थशास्त्रके सिद्धान्त

सेके मतसे सम्पत्तिके उत्पादन, वितरण तथा उपभोगका शास्त्र 'अर्थशास्त्र' है। वह सैद्धान्तिक और विवेचनात्मक विज्ञान है और जहाँतक व्यावहारिक नीतिका प्रश्न है, वहाँ वह सर्वथा तटस्थ है। वह मानता है कि प्रकृतिसे ही अर्थशास्त्रके सिद्धान्तोंका आविष्करण होना चाहिए।

सेकी मान्यता थी कि उत्पादनका अर्थ है—उपयोगिताका निर्माण। अतः उद्योग, व्यवसाय या कृषि—जिसके द्वारा भी उपयोगिताका निर्माण होता है, वह

---

१ हेने : हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ ३५५-३५६।

२ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ १२३।

कार्य उत्पादक माना जायगा। स्मिथने श्रम-विभाजनके सिद्धान्तपर बल देते हुए भी कृषिकी उत्कृष्टता स्वीकार की थी। वह प्रकृतिवादियोंकी धारणासे अपने-आपको सर्वथा मुक्त करनेमें असमर्थ रहा था; परन्तु सेने स्पष्ट शब्दोंमें यह धारणा व्यक्त की कि जो भी व्यवसाय या कार्य उपयोगिताके निर्माणमें योगदान करता है, वह उत्पादक है। अतः जीद और रिस्टका यह कहना उपयुक्त है कि प्रकृतिवादियों-की धारणाको निर्मूल करनेमें सेको ही सर्वश्रेष्ठ स्थान देना चाहिए।[1]

विपणि-सिद्धान्त

सेका विपणि-सिद्धान्त उसकी दृष्टिमें परम क्रान्तिकारी सिद्धान्त था। उसका विश्वास था कि यह सिद्धान्त मानवके सच्चे भ्रातृत्वका आधार प्रदान करता है और इसके कारण विश्वकी सम्पूर्ण नीतिमें परिवर्तन हो जायगा। उसका कहना था कि प्रत्येक देश जितना उत्पादन कर सकता है, करे। इससे अति-उत्पादन-की सम्भावना नहीं है। इसके कारण मानवका जीवन-स्तर उन्नत होगा और सबकी समृद्धि होगी।

से ऐसा मानता है कि द्रव्य तो विनिमयका कृत्रिम माध्यम है। वस्तुतः वस्तु-विनिमय ही वास्तविक व्यापार है। एक वस्तुके लिए अन्य वस्तुका विक्रय होता है। कोई वस्तु यदि न बिके, तो उसका कारण यह नहीं मानना चाहिए कि द्रव्यका अभाव है। वस्तुका अभाव ही उसका कारण हो सकता है। जैसे ही कहीं-पर एक वस्तु उत्पन्न होने लगती है, वैसे ही वह अन्य वस्तुका बाजार बनाने लगती है। इस प्रकार अति-उत्पादन या उत्पादन-बाहुल्यकी कोई सम्भावना नहीं है। कहींपर कोई वस्तु अधिक है, तो कहीं दूसरी वस्तु कम है। ये दोनों परस्पर पूरक हैं।[2]

सेने अपने इस विपणि-सिद्धान्तसे कई परिणाम निकाले हैं। जैसे, (१) बाजारके विस्तारसे माँगका विस्तार होगा और उसके कारण कीमतका स्तर ऊँचा चढ़ेगा। (२) आयातसे देशके उद्योगोंको कोई हानि नहीं पहुँचती। देशकी बनी वस्तुओंके लिए विदेशोंमें बाजार खुलता है। (३) प्रत्येक व्यक्ति अन्य व्यक्तिकी समृद्धिमें योगदान करता है। हर आदमी उत्पादक भी है, उप-भोक्ता भी। यों सभी परस्पर एक-दूसरेकी समृद्धिमें हाथ बँटाते हैं।

से यह मानता है कि राष्ट्रीय जीवनमें कृषि, उद्योग और व्यापार—सबको साथ-साथ समृद्ध होनेका अवसर प्राप्त होना चाहिए। स्मिथने उद्योगोंके विकास-पर जितना जोर दिया है, सेने उससे कहीं अधिक जोर दिया है।

---

१ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ १२४।

२ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ १३०-१३१।

मूल्य-सिद्धान्त

सेके मतसे दाम मूल्यका मापक है और मूल्य वस्तुकी उपयोगिताका मापक है। उसने उपयोगिताको ही मूल्य-निर्धारणका मूलतत्त्व माना है।

औद्योगिक विकासपर सेने अत्यधिक बल दिया है और उसकी महती सम्भावनाओंपर प्रकाश डालते हुए साहसीकी महत्ता स्वीकार की है। से ऐसा मानता है कि साहसीकी उपयोगिता पूँजीपतिसे भी अधिक है। साहसी जितना कुशल, दक्ष, इच्छा-शक्ति-सम्पन्न एवं सूझ-बूझवाला होगा, तदनुकूल ही उसे सफलता प्राप्त होगी। उत्पादन और वितरणके क्षेत्रमें औद्योगिक साहसीका स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

हेनेका कहना है कि अनेक असंगतियोंके बावजूद सेने अर्थशास्त्रकी विचारधाराके विकासमें महत्त्वपूर्ण हाथ बँटाया है। वह स्मिथ और रिकार्डोकी कोटिका नहीं है, फिर भी उसकी देन नगण्य नहीं।[1]

बासत्या

फ्रेडरिक बासत्या (सन् १८०१–१८५०) प्रख्यात पत्रकार एवं अर्थशास्त्री था। व्यापारी बननेकी उसकी योजना थी, पर २५ वर्षकी आयुमें उसे रियासत मिल गयी, तो पहले उसने कृषिका प्रयोग किया, बादमें से तथा अन्य फरासीसी अर्थशास्त्रीय विचारकोंकी रचनाओंसे आकृष्ट होकर वह अध्ययनमें जुट गया। आगे चलकर वह फ्रांसके समाजवाद-विरोधी अर्थशास्त्रियोंका नेता बन गया। सन् १८४५ में उसने 'फ्री ट्रेड' नामका पत्र निकाला। सन् १८४८ की क्रान्तिके बाद वह विधान निर्मात्री परिषद्‌का और फिर असेम्बलीका सदस्य बन गया। वहाँ उसने कम्युनिस्टों और समाजवादियोंके विरुद्ध मोर्चा लेनेमें ही विशेष रूपमें अपनी शक्ति लगायी। इसीसे मार्क्सने उसे 'वल्गर बुर्जुआ' कहकर पुकारा है। उसकी प्रमुख रचनाएँ दो हैं: 'सोफिज्म्स ऑफ प्रोटेक्शन' (सन् १८४६) और 'इकॉनॉमिक हारमनी' (सन् १८५०)।

मुक्त-व्यापार

बासत्याने आर्थिक हितोंके स्वाभाविक समन्वयपर बड़ा जोर दिया है। वह मानता था कि स्वतंत्रता और सम्पत्तिसे सामाजिक समन्वयकी स्थापना होती है। अतः उन्हें स्वतंत्र रूपसे विकसित होनेका अवसर मिलना चाहिए। बासत्या मुक्त-व्यापारका बड़ा समर्थक था, प्रकृतिवादियोंसे भी अधिक। संरक्षणवादका वह तीव्र विरोधी था। उसका कहना था कि संरक्षणवादका तरीका भी शोषणका है, समाजवादका भी। संरक्षणवादकी उसने कटु आलोचना करते हुए कहा है कि

---

१ हेने : हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ ३५८।

संरक्षणकी आवश्यकता उसीको पड़ती है, जो अपने बलपर लाभ नहीं कमा सकता। उसीके पोषणके लिए सरकार संरक्षण देती है और दूसरोंकी आयके द्वारा उसका पोषण करती है। संरक्षणवादका उसने खूब ही मजाक उड़ाया है। वह कहता है कि मोमबत्ती बनानेवाले सूर्यके विरुद्ध प्रार्थनापत्र देंगे कि हमें संरक्षण दिया जाय! बायाँ हाथ कहेगा कि दाहिने हाथके विरुद्ध मुझे संरक्षण दिया जाय!

बासत्या तीखा व्यंग्य करता हुआ कहता है कि 'राज्य एक महान् गल्प है, जिसके माध्यमसे मनुष्य दूसरेकी कमाईके बलपर पलता है!'[1] उसकी 'इकॉनॉमिक सोफिज्म्स' में उसका यह विनाशक पक्ष अपनी पूरी तीव्रताके साथ दृष्टिगोचर होता है। 'संरक्षणोंको पूर्णतः समाप्त कर मानवको पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त हो'—इस बातपर बासत्याका पूरा जोर है।[2] खुली प्रतियोगिताके कारण उत्पादनका व्यय कम होगा और उचित वितरण होगा।

मूल्य-सिद्धान्त

बासत्याने अपने मूल्य-सिद्धान्तका प्रतिपादन करते हुए उसमें 'सेवा' का तत्त्व मिला दिया है। उसने मूल्य और उपयोगिताके बीच कुछ सूक्ष्म-सा पार्थक्य खड़ा किया है। प्रकृतिदत्त निःशुल्क उपयोगिताको वह उपहाररूपी उपयोगिता बताता है और मानवीय श्रम द्वारा प्राप्त उपयोगिताको वह प्रयत्नरूपी उपयोगिता बताता है।

बासत्या ऐसा मानता है कि सेवा ही उपयोगिताकी धारणा है। सेवा क्या है? सेवा है अन्य व्यक्तिके श्रमकी; प्रयत्नकी बचत। दूसरोंकी आवश्यकताओंको तृप्त करनेका नाम है—सेवा। बासत्याकी धारणा है, सेवाके प्रतिदानमें सेवाका ही विनिमय होता है। जिन दो वस्तुओंका विनिमय होता है, उनका अनुपात ही मूल्य है। सेवा ही मूल्यका सार है। समाजकी प्रगतिके साथ-साथ उपहारोंकी वृद्धि होती जाती है और सेवा कम होती जाती है। मूल्य गिरता जाता है।

बासत्याका 'सेवा' का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। उसमें वस्तुओंके मूल्यके अतिरिक्त सभी प्रकारकी उत्पादक सेवाएँ सम्मिलित हैं, जैसे ऋण, भाटक, ब्याज आदि। संक्षेपमें उसमें 'वे सभी वस्तुएँ आ जाती हैं, जिनसे कोई भी सेवा होती है।'[3]

बासत्याने रिकार्डोका भाटक-सिद्धान्त, मैल्थसका जनसंख्या-सिद्धान्त, रिकार्डोका श्रम-सिद्धान्त और सेका मूल्यका उपयोगिता-सिद्धान्त अस्वीकार किया है।

---

१ ग्रे : डेवलपमेण्ट ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन, पृष्ठ २६१।

२ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ ३३१।

३ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ ३३९-३४०।

पूँजीको वह 'संचित सेवा' मानता है। उसकी धारणा है कि विनिमय करनेवाले दोनों पक्ष संचित सेवाका उपयोग करते हैं, अतः संचित सेवासे ही वस्तुओंके मूल्यका निर्धारण होगा।

आर्थिक विचारधाराके विकासमें बासत्याका अनुदान विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं है। उसमें गाम्भीर्यका अभाव है। उसने तत्कालीन औद्योगिक जीवनके अभिशापकी ओरसे आँख-सी मूँद ली है। गरीबों और मजदूरोंसे उसने कहा है कि वे अपने भाग्यपर सन्तोष करें, क्योंकि भविष्य उज्ज्वल है! उसके जर्मन अनुयायी तो इस सीमातक चले गये कि उन्होंने दरिद्रताका अस्तित्व-तक स्वीकार करनेसे इनकार कर दिया! गनीमत है कि बासत्याने गरीबोंका अस्तित्व तो मान लिया है।

३. जर्मन विचारधारा

सन् १७९४ में गार्वेने स्मिथकी 'वेल्थ ऑफ नेशन्स' का जर्मनमें अनुवाद किया। तबसे जर्मन विचारक स्मिथकी विचारधारासे प्रभावित हुए। वे शास्त्रीय विचारधाराकी ओर झुके तो अवश्य, परन्तु उन्होंने उस विचारधाराको सर्वांशमें स्वीकार नहीं किया। उन्होंने अपनी मौलिकता बनाये रखी।

जर्मन विचारकोंपर कामेरलवादका प्रभाव विशेष रूपसे था। उन्होंने शास्त्रीय विचारधाराका कामेरलवादसे सम्मिश्रण कर दिया। स्मिथको सामान्यतः उन्होंने मान्यता प्रदान की, पर रिकार्डोके भाटक-सिद्धान्तको अस्वीकार कर दिया। उन्होंने अर्थशास्त्रको विशुद्ध विज्ञान बनानेके आंग्ल विचारकोंके मतका समर्थन नहीं किया, प्रत्युत उन्होंने ऐसा माना कि आर्थिक सिद्धान्तोंमें राष्ट्रीय हितों एवं नैतिक आदर्शोंका स्थान होना ही चाहिए। वह 'अर्थशास्त्र' किस कामका, जिसमें राजनीति एवं नीतिशास्त्रके लिए समुचित स्थान ही न हो! कामेरलवाद जर्मन विचारधाराकी अपनी विशिष्टता है। विश्वविद्यालयमें उसका अध्ययन और अध्यापन पूर्ववत् चलता रहा।

यों क्रास, सर्टोरियस, लूडर, हूफलैण्ड, लोत्स, जैकब, नेबेनियस आदि विचारकोंने सन् १८०० से १८५७ तक जर्मन विचारधाराको विकसित करनेमें अच्छा योगदान किया, पर जर्मन विचारधाराके तीन विशिष्ट प्रतिनिधि माने जाते हैं: राउ, हर्मन और थूने।[1]

राउ

कार्ल हिनरिख राउ (सन् १७९२–१८७०) हेडिल्बर्ग विश्वविद्यालयमें लगभग ५० वर्षतक अर्थशास्त्रका प्राध्यापक था। उसकी 'हैण्ड बुक ऑफ पोलि-

---

१ हेने : हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ १५२।

टिकल इकॉनॉमी' (सन् १८२६–१८३७) अर्थशास्त्रकी प्रामाणिक रचना मानी जाती है।

राउ अर्थशास्त्र एवं अर्थनीति दोनोंको भिन्न मानता है। अर्थशास्त्रके सम्बन्धमें वह स्मिथ और सेका अनुयायी है, अर्थनीतिके लिए वह मानता है कि राष्ट्रीय हितकी दृष्टिसे उसका नियमन वांछनीय है। उसकी यह दृढ़ धारणा है कि यदि दोनोंमें संघर्षकी स्थिति उत्पन्न हो, तो राष्ट्रीय अर्थनीतिको प्राथमिकता देनी चाहिए।

विनिमयगत मूल्य और उपयोगितागत मूल्यके सम्बन्धमें राउने महत्त्वपूर्ण विचार प्रकट किये हैं। मूल्यके विषयगत सिद्धान्तके विकासमें राउका बड़ा हाथ माना जाता है।[1] उसने इस धारणाकी कड़ी टीका की है कि पूँजीकी मात्रापर श्रमिकोंकी माँग निर्भर करती है। श्रमिकोंकी सेवाको वह अनुत्पादक मानता है।

हर्मेन

फ्रेडरिख बेंदिक विल्हेल्म फान हर्मेन (सन् १७९५–१८६८) जर्मनीका रिकार्डो माना जाता है। वह म्यूनिख विश्वविद्यालयमें प्राध्यापक रहा था और बादमें उसने विभिन्न सरकारी पदोंपर काम किया। राजनीति, अर्थशास्त्र और सांख्यिकीपर उसने अनेक पुस्तिकाएँ लिखीं। सन् १८३२ में अर्थशास्त्रपर उसकी प्रमुख रचना 'इनवेस्टीगेशन इन पोलिटिकल इकॉनॉमी' प्रकाशित हुई।

हर्मेनने तत्कालीन अर्थशास्त्रकी कमियोंकी ओर विचारकोंका ध्यान आकृष्ट किया।[2] यद्यपि वह स्मिथका अनुयायी था, तथापि अनेक बातोंमें उसका उससे मतभेद था। वह इस बातको अस्वीकार करता है कि व्यक्तिका हित और सार्वजनिक हित एक ही है। वह बताता है कि दोनोंके हितोंमें प्रायः ही संघर्ष हुआ करता है। वह इस बातका समर्थन नहीं करता कि व्यक्तिगत स्वार्थकी प्रेरणासे मनुष्य जो कुछ कार्य करता है, वह राष्ट्रीय हितकी सभी माँगोंकी पूर्ति करेगा ही। इस राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाकी सीमाके अन्तर्गत नागरिक भावना भी होनी ही चाहिए।[3]

भाटक-सिद्धान्तके सम्बन्धमें हर्मेनने कुछ महत्त्वपूर्ण विचार प्रकट किये। वह इस बातको स्वीकार नहीं करता कि उत्पादनके अन्य साधनोंपर मिलनेवाले लाभांशसे भाटक कोई भिन्न वस्तु है। इसके लिए वह विदेशसे आनेवाली बढ़िया मशीनसे होनेवाले उत्पादनकी कीमत और स्वदेशमें बननेवाली रद्दी मशीनसे

---

१ एरिक रौल : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ ३२७।

२ हेने : हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ ५५८-५५९।

३ जीद और रिस्ट : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन्स, पृष्ठ ४१३।

होनेवाले उत्पादनकी कीमत आदिका उदाहरण देकर कहता है कि पूँजीके मामलेमें भी अतिरिक्त लाभ होता और हो सकता है।[1]

हर्मनने ब्याज और लाभमें स्पष्ट भेद करते हुए साहसीको उत्पादनका एक विशिष्ट अंग माना है। मालिकके साहसको वह श्रमिकोंकी माँगका आधार नहीं मानता, प्रत्युत उपभोक्ताओंकी माँगको ही वह श्रमिकोंकी वास्तविक माँगका आधार मानता है। शास्त्रीय विचारधाराके मजूरी कोषके सिद्धान्तको वह नहीं मानता।

हर्मनके विचारोंका उसके जीवनकालमें बहुत ही कम प्रभाव पड़ा।[2] थूनेमें उसकी अपेक्षा अधिक मौलिकता मानी जाती है।

थूने

जॉन हेनरिख फान थूने (सन् १७८३–१८५०) सहृदय भू-स्वामी था, जिसे अपने श्रमिकोंके प्रति पर्याप्त सहानुभूति थी। उसने अपने फार्मपर अपने आर्थिक विचारोंके प्रयोग किये। वह व्यावहारिक किसान था। श्रमिकोंके प्रति सहानुभूति होनेके कारण वह उनकी सामाजिक समस्याओंका विशेष रूपसे अध्ययन करने लगा। उसकी इस दिलचस्पीने ही संयोगसे उसे अर्थशास्त्री बना दिया।[3]

थूनेकी प्रख्यात रचना 'दि आइसोलेटेड स्टेट' (सन् १८२६–१८६३) अर्थशास्त्रके साहित्यमें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। इस पुस्तकमें थूनेने एक ऐसे काल्पनिक राज्यका वर्णन किया है, जिसका केन्द्रबिन्दु एक नगर है। उसके चारों ओर गोलाकार भूमिखण्ड है। यह सारी भूमि एक-सी उपजाऊ है तथा यहाँपर लगनेवाले श्रमका उत्पादन भी एक-सा है और आसपासके नागरिक और ग्रामीण समुदाय परस्पर सहानुभूतिपूर्ण हैं। इन सब उपादानोंके द्वारा थूनेने यह दिखाने की चेष्टा की है कि भूमिकी स्थिति और बाजारसे उसकी दूरीका भाटकपर कैसा क्या प्रभाव पड़ता है।

थूनेने अपने फार्मका विधिवत् हिसाब-किताब रखा और उसे अपने विवेचनका आधार बनाया। उसने यह निष्कर्ष निकाला कि 'किसी भी भूमिखण्डका भाटक उन सुविधाओंका परिणाम है, जो सबसे खराब भूमिखण्डकी तुलनामें उसे प्राप्त हों, फिर वे चाहे स्थितिकी सुविधाएँ हों अथवा भूमिकी उपजकी सुविधाएँ हों।'[4]

---

१ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ ५७४।

२ हेने : हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ ६६१।

३ ग्रे : डेवलपमेण्ट ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन, पृष्ठ २३६।

४ ग्रे : वही, पृष्ठ २४३।

थूनेने भाटक-सिद्धान्तका विवेचन करते हुए सीमान्तकी भावनाका उपयोग किया है। वह कहता है कि किसी भी भूमिखण्डपर एक निश्चित विन्दुके आगे जितना अतिरिक्त श्रम लगाया जायगा, उसके अनुकूल उत्पादनमें वृद्धि नहीं होगी। इक्कीसवें मजदूरके श्रमसे जितनी अतिरिक्त उपज होगी, उतनी बाईसवें मजदूरके श्रमसे नहीं होगी और तेईसवें मजदूरके श्रमसे अपेक्षाकृत और भी कम उपज बढ़ेगी। अतः श्रमकी वृद्धि उस समयतक जारी रखनी चाहिए, जबतक कि अन्तिम मजदूरके द्वारा बढ़नेवाली उपज उसको दी जानेवाली मजूरीके समान हो।[1] स्वाभाविक मजूरीके वह दो अंग मानता है: (१) कार्यकुशल बने रहनेके लिए श्रमिक द्वारा किया जानेवाला व्यय और (२) श्रमके लिए उसे मिलनेवाला पुरस्कार। उसने स्वाभाविक मजूरीका यह सूत्र निकाला है।[2]

स्वाभाविक मजूरी = $\sqrt{\text{अ प}}$

अ = श्रमिककी आवश्यकताओंका मूल्य

प = श्रमिककी उत्पादकता

इस सूत्रपर थूने इतना लट्टू था कि वह चाहता था कि यह मेरी कब्रपर अंकित कर दिया जाय।

मुक्त-व्यापारके सम्बन्धमें थूने अपनी पुस्तकके प्रथम खण्डमें स्मिथका समर्थक तो है, परन्तु आगे चलकर द्वितीय खण्डमें वह अपने विचारोंमें कुछ संशोधन करते हुए कहता है कि राष्ट्रीय दृष्टिकोणको देखते हुए आवश्यक होनेपर उसपर नियंत्रण करना चाहिए।[3] वह मानता है कि सार्वदेशिक तथा राष्ट्रीय दृष्टिकोणोंमें विशेष अन्तर नहीं है। अर्थशास्त्रमें दोनोंको ही उचित माना जाता है।

४. अमरीकी विचारधारा

अमेरिकामें 'वेल्थ ऑफ नेशन्स' की आशावादी प्रवृत्तियोंका जोरदार स्वागत हुआ। असीम साधन और विस्तृत भू-प्रदेशमें ऐसा होना स्वाभाविक भी था। नये राष्ट्रका उदय हो रहा था। भूमिकी कोई कमी नहीं थी। प्राकृतिक साधनोंका कोई अभाव नहीं था। जनसंख्याकी समस्या उत्पन्न नहीं हुई थी। अतः मैल्थस और रिकार्डोकी निराशावादी भावनाओंके प्रसारके लिए अमेरिकामें गुंजाइश ही नहीं थी। मुक्त-व्यापारकी बातको वहाँ इसलिए विशेष समर्थन नहीं मिल सका कि उसके चलते कहीं राष्ट्रीय उद्योगोंको क्षति न पहुँचे और ब्रिटेनका शक्तिशाली औद्योगिक विकास कहीं उसे ले न डूबे। अतः अमेरिकामें स्मिथकी विचारधारा

---

१ ग्रे : वही, पृष्ठ २४४-२४५।

२ ग्रे : वही, पृष्ठ २४६।

३ हेने : हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ ३७२-३७३।

भलीभाँति पनपी तो सही, पर उसने राष्ट्रीय हितकी दृष्टिसे संरक्षणपर भी जोर दिया।

यों बेंजमिन फ्रेंकलिनको अमेरिकाका प्रथम अर्थशास्त्री कहा जा सकता है। उसने मुद्रा और जनसंख्यापर कुछ उत्तम विचार प्रकट किये थे, सन् १७६६ में उसकी एक रचना 'लन्दन क्रानिकल' में छपी थी, पर यों अमेरिकाका प्रभावशाली एवं ख्यातनामा सर्वप्रथम अर्थशास्त्री कैरे ही माना जाता है। उसके पहले हेमिल्टन (सन् १७५७–१८०४) और डेनियल रेमाण्ड (सन् १८२०) ने भी अर्थशास्त्रके सम्बन्धमें कुछ विचार दिये थे। लिस्टपर हेमिल्टनके विचारोंका कुछ प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। रेमाण्ड और हेमिल्टनके विचारोंमें बहुत कुछ साम्य है। एवरिट (सन् १७९८–१८४७) और फिलिप्स (सन् १७८४–१८७३) का भी कैरेके पूर्ववर्तियोंमें नाम लिया जाता है, पर इन सबमें कोई विशेष प्रतिभा नहीं मिलती। विश्वकी आर्थिक विचारधारापर अमेरिकाके जिस प्रमुख विचारकका विशेष प्रभाव पड़ा है, वह है कैरे।

कैरे आशावादी प्रकृतिका उत्कृष्ट प्रतिनिधि माना जाता है। उसके दीर्घ जीवनकालमें अमेरिकापर तथा यूरोपपर उसकी पर्याप्त छाप पड़ी।[1]

कैरे

हेनरी चार्ल्स कैरेका जन्म फिलाडेल्फियामें सन् १७९३ में हुआ। पिताका पुस्तक-प्रकाशनका व्यवसाय था, जिसमें सन् १८१४ में कैरे भी शामिल हो गया और सन् १८२१ में उसने उसकी व्यवस्था सँभाली। अच्छी सम्पत्ति जमा करके सन् १८३५ में वह व्यापारसे विरत हो गया और उसके बाद उसने जीवनके अन्तिम ४४ वर्ष साहित्य और अध्ययनमें लगाये। ८६ वर्षकी आयुमें कैरेका देहान्त हुआ।

कैरेने १३ बड़ी और ५७ छोटी पुस्तकें लिखीं, जिनमें सर्वाधिक लोकप्रिय पुस्तक है—'दि प्रिंसिपल्स ऑफ सोशल साइन्स'। यह सन् १८५७ से १८६० के बीच ३ खण्डोंमें प्रकाशित हुई। इससे पहलेकी उसकी आरम्भिक रचनाओंमें 'प्रिंसिपल्स ऑफ पोलिटिकल इकॉनॉमी' (सन् १८३७–४०)—(तीन खण्डोंमें)—तथा 'हारमनी ऑफ इन्टरेस्ट्स, एग्रीकल्चरल, मैन्युफैक्चरिंग एण्ड कामर्शल' आदि भी महत्त्वपूर्ण हैं, पर 'प्रिंसिपल्स ऑफ सोशल साइन्स' में कैरेने पिछली सभी रचनाओंमें प्रतिपादित किये गये अपने सभी सिद्धान्तोंका विधिवत् एवं विशद रूपमें विवेचन किया है। इस पुस्तकका अमेरिका, यूरोप और जापानमें व्यापक रूपसे अध्ययन किया गया।

कैरेने मूल्य, सामाजिक प्रगति एवं वितरण आदिका तो विस्तारसे विवेचन

---

१ ग्रे : डेवलपमेण्ट ऑफ इकॉनामिक डाक्ट्रिन, पृष्ठ २४६।

किया ही है, इसके अतिरिक्त उसने भाटक, जनसंख्या तथा संरक्षणके सम्बन्धमें भी कुछ विशिष्ट विचार प्रकट किये हैं।

कैरेने मूल्यके सिद्धान्तका विस्तारसे विवेचन किया है।[1] श्रमको वह मूल्यका एकमात्र कारण मानता है। उसका मूल्य-सिद्धान्त श्रम-सिद्धान्त ही है। वह कहता है कि किसी भी वस्तुका मूल्य उसमें लगी श्रमकी मात्रासे निर्धारित होता है, फिर वह चाहे वर्तमानकी बात हो, चाहे अन्य किसी समयकी। आवश्यकताओं-की तृप्तिके लिए जिन साधनोंकी आवश्यकता होती है, उन साधनोंकी प्राप्तिके लिए प्रकृतिसे संघर्ष करना पड़ता है। इस संघर्षमें जितनी शक्ति व्यय होती है, जितना श्रम लगता है, उसीके अनुरूप मूल्य निर्धारित होता है। जब मानवीय प्रगतिके साथ पूँजी भी श्रमका हाथ बँटाने लगती है, तो मनुष्यपर प्रकृतिका दबाव कम होने लगता है, फलतः मूल्य घटने लगता है।

कैरे अपने मूल्य-सिद्धान्तको भूमिपर भी लागू करता है, कच्चे मालपर भी। भाटकको वह पृथक् नहीं मानता। कहता है कि 'भूमिगत पूँजी और यंत्रगत पूँजीमें कोई भेद नहीं। पूँजीपर जिस प्रकार व्याज प्राप्त होता है, उसी प्रकार भूमिसे भाटक प्राप्त होता है। प्रकृति द्वारा प्राप्त अन्य असीम उपहारोंकी भाँति समस्त भूमिगत सम्पत्तिका मूल्य एकमात्र उसके दोहन एवं सुधारमें लगे हुए श्रमकी मात्रासे ही निर्धारित होता है।'[2] भूमिको सुधारनेमें, उसे कृषिके उपयुक्त बनानेमें, उसे उपजाऊ बनानेमें श्रमकी जो मात्रा लगती है, उसीपर भूमिका मूल्य निर्भर करता है।

कैरे अत्यधिक आशावादी है। समाजकी प्रगतिमें उसकी अत्यधिक आस्था है। अमेरिकाकी तत्कालीन स्थिति, विस्तृत भूमि, असीम खनिज पदार्थ, साधनों-की प्रचुरता और थोड़ी जनसंख्या, नये-नये निवासी, जिनमें अपार आत्मविश्वास और उत्साह भरा था—इन सब कारणोंसे उसका आशावादी होना स्वाभाविक था। तभी तो उसने मैल्थस और रिकार्डोके निराशावादी दृष्टिकोणकी खरी टीका की है।

कैरेकी मान्यता है कि प्राकृतिक साधनोंपर समझदारीसे श्रमका उपयोग कर उत्पादनमें असीम वृद्धि की जा सकती है, जिससे समाज उत्तरोत्तर प्रगति कर सकता है। रिकार्डोके आह्रासी प्रत्याय-सिद्धान्तको वह मिथ्या बताता है और कहता है कि यह भूमिपर लागू ही नहीं होता।[3] कैरे रिकार्डोकी इस बातको

---

१ कैरे : प्रिंसिपल्स ऑफ पोलिटिकल इकॉनॉमी, खण्ड १, अध्याय २, पृष्ठ १९-२०।

२ कैरे : पोलिटिकल इकॉनॉमी, खण्ड १, पृष्ठ १२९-१३०।

३ ग्रे : डेवलपमेण्ट ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन, पृष्ठ २५१-२५२।

स्वीकार नहीं करता कि सबसे पहले सर्वोत्तम भूमिखण्ड जोते गये, उसके बाद निकृष्टतम भूमिखण्ड जोते गये। कैरे मानता है कि बात इससे सर्वथा उल्टी है। वह कहता है कि नये जाकर बसनेवाले लोग सबसे पहले ऊसर बंजर जमीन जोतते हैं, फिर वे उपजाऊ भूमिकी ओर अग्रसर होते हैं।

शास्त्रीय विचारकोंके निराशावादी दृष्टिकोणको कैरे नहीं मानता। उन लोगोंने इस बातपर जोर दिया है कि प्रकृतिपर विजय प्राप्त करनेमें मनुष्य असमर्थ है। कैरे कहता है कि प्रकृतिपर विजय प्राप्त करनेके लिए ही तो मनुष्यका जन्म हुआ है।

मैल्थसके जनसंख्या-सिद्धान्तको वह इस ईश्वरीय आदेशके विपरीत मानता है कि 'तुम फलो-फूलो और अपनी संख्यामें वृद्धि करो।' कैरेकी मान्यता है कि मनुष्य साथ चाहनेवाला प्राणी है। उसीसे उसकी नैतिक, मानसिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक प्रगति और उन्नति होती है। मैल्थसके इस सिद्धान्तको भी कैरे अस्वीकार करता है कि खाद्य-सामग्रीकी समुचित वृद्धि नहीं होती। वह कहता है कि उपभोक्ता बढ़ते हैं, तो उत्पादक भी तो बढ़ते हैं। युद्धसे जनसंख्याके नियमनकी बात भी कैरेको नहीं जँचती। कैरेका मत है कि कृषि ही एकमात्र ऐसा क्षेत्र है, जहाँ निरन्तर असीम मात्रामें श्रम और पूँजीका उपयोग करके उत्पादनमें क्रमागत-वृद्धि प्राप्त की जा सकती है।

कैरेने मानवताका भविष्य उज्ज्वल बताते हुए इस बातपर जोर दिया है कि चिन्ता करनेकी कोई बात नहीं। अगली पीढ़ियाँ अपनी समस्याएँ स्वयं हल कर लेंगी। मानव-विकासके साथ-साथ उसकी प्रजनन-शक्ति भी क्षीण होती चलती है। अतः जनसंख्याकी समस्या स्वयं ही सुलझ जायगी।[1]

कैरे पहले मुक्त-व्यापारका समर्थक था, बादमें वह संरक्षणवादी बन गया। उसने संरक्षणवादके समर्थनमें जो तर्क प्रस्तुत किये हैं, उनमें वैज्ञानिकताका अभाव है। उसके तर्कोंमें मूल बातें दो हैं : (१) सामीप्यका लाभ और (२) भूमिको उसका अपव्यय लौटा देनेकी आवश्यकता। कैरे प्रगतिके लिए उत्पादकों और उपभोक्ताओंका सामीप्य चाहता है। दूर देशके व्यापारमें वह सामीप्य नहीं रहता। लोगोंको बाहर जाना पड़ता है, आत्मनिर्भरता नहीं रहती। पराया आश्रय लेनेसे, व्यापारमें हस्तक्षेप होनेसे युद्धकी आशंका होती है, जिससे भयंकर क्षति उठानी पड़ती है। मुक्त-व्यापारके कारण वस्तुओंकी उत्पादन-लागत घटानेका प्रयत्न होता है, जिससे मजूरी घटती है और मनुष्यको यंत्र बना दिया

---

१. हेने : हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ ३२४-३२६।

जाता है। उसके कारण कुछ लोग धनी हो जाते हैं, शेष सारी जनता दरिद्र।[1]

कैरे भूमिका अपव्यय उसीको लौटानेकी दृष्टिसे भी संरक्षणका समर्थन करता है। उसकी मान्यता है कि यदि भूमिका अपव्यय उसे लौटता रहे, तो उसकी उपज कभी कम नहीं होगी। मुक्त-व्यापारमें यह अपव्यय विदेशोंको चला जानेसे भूमि उससे वंचित हो जाती है, फलतः उत्पादनपर उसका कुप्रभाव पड़ता है।

संरक्षणका समर्थक होनेके कारण कैरेको अमेरिकाका सर्वप्रथम राष्ट्रवादी भी कहा जा सकता है। पर जो हो, कुछ असंगतियोंके बावजूद आर्थिक विचारधाराके विकासमें कैरेका स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।[2] कैरेकी विचारधाराका पेशीन स्मिथ, फ्रैंसिस बावेन, होरेस ग्रीली आदि अमेरिकन शाखाके लोगोंपर तो प्रभाव पड़ा ही; फरासीसी विचारक बासत्यापर भी उसका कुछ प्रभाव पड़ा था। उसने उसके मूल्य और वितरणके सिद्धान्तसे समुचित लाभ उठाया और आशावादसे भी।

समाजवादी विचारधारा : १

समाजवादी पृष्ठभूमि : १ :

"सोना ! सोना !! अधिक सोना !!!" वाणिज्यवादकी इस धातु-पिपासाने प्रकृतिवादको विकसित होनेका अवसर प्रदान किया। प्रकृतिवादने शुष्क उत्पत्ति-को ही देशके कल्याणका साधन माना। एकने सोने-चाँदीकी पूजा की, दूसरेने भूमिके महत्त्वको सर्वोपरि बताया। एकने कड़े नियंत्रणोंका समर्थन किया, दूसरेने व्यक्तिगत स्वातंत्र्यका नारा लगाया और सारे नियंत्रण समाप्त करनेकी माँग की। एक व्यापार-वाणिज्यको ही सब कुछ मानता था, दूसरा कृषिको ही सर्वस्व मानता था, और कहता था कि जो व्यक्ति कृषि नहीं करता, वह अनुत्पादक है।

इन दोनों विचारधाराओंके बीचसे निकल पड़ी—शास्त्रीय विचारधारा। स्मिथने अर्थशास्त्रको व्यवस्थित रूप देनेकी चेष्टा की, सुन्दर और रोचक शैलीमें अपने विचारोंका प्रतिपादन किया, श्रमको ही मूल्यका वास्तविक मापदण्ड बताया।

मिल-मालिकों और मजूरोंके पारस्परिक संघर्षोंका चित्रण करते हुए स्मिथने इस विचारको बल दिया कि व्यक्तियोंपर किसी भी प्रकारका प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिए। वह जमाना ऐसा था कि एक ओर मजदूर एलिजाबेथके 'स्टेट्यूट ऑफ अप्रेंटिसेज' के अनुसार मजूरीकी माँग कर रहे थे, दूसरी ओर मालिकोंका रुख यह था कि वे अपने इच्छानुसार मजूरी देना चाहते थे। स्मिथने व्यक्ति-स्वातंत्र्यके पक्षमें जो तर्क उपस्थित किये, उनका पूरा-पूरा लाभ मिल-मालिकोंने उठाया। परिणाम यह हुआ कि सरकारने उक्त कानून ही रद्द कर दिया।

समाजवादका उदय क्यों ?

अठारहवीं शताब्दीके अन्तमें औद्योगिक विकास औद्योगिक क्रान्तिको जन्म दे रहा था। यंत्रोंके प्राचुर्यके साथ-साथ पूँजीवाद पूरे तौरसे पनप रहा था। पूँजीवादका अभिशाप भी प्रत्यक्ष हो रहा था। अमीरों और गरीबोंके बीचकी खाई चौड़ी होती जा रही थी। शास्त्रीय विचारधाराने उसके विस्तारका ही काम किया। आर्थिक संघर्षोंने जो स्थिति उत्पन्न कर दी, उसका कोई उपयुक्त समाधान शास्त्रीय विचारकोंके पास था नहीं। फलतः समाजवादका उदय हुआ।

दो प्रमुख कारण

अशोक मेहताने समाजवादके उदयके दो कारण बताये हैं : (१) नैतिक आकर्षण और (२) दक्षताका अभाव। समृद्धिके युगमें समाजवादकी ओर लोग उसके नैतिक आकर्षणके कारण आकृष्ट होते हैं और अभावके समयमें पूँजीवादकी अन्धेरगर्दी और विवेकहीनताके कारण लाखों व्यक्ति समाजवादकी ओर खिंचते हैं।[1]

नैतिक आकर्षण

अशोक मेहता कहते हैं कि 'क्या कारण है कि आप, हम और विश्वके लाखों व्यक्ति समाजवादके महान् और जाज्वल्यमान आदर्शके लिए अपना सर्वस्व बलिदान करनेके लिए प्रस्तुत हैं? समाजवादमें ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो हमें अपने निश्चित जीवनक्रमसे अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है और हमें समय, शक्ति, साधन और आवश्यकता प्रतीत होनेपर जीवनतकका उत्सर्ग कर देनेके लिए प्रेरित करती है? इसके लिए दो ही कारण सम्भव हैं। पहला कारण है नैतिक आकर्षण।

'विश्वमें इतना अन्याय है कि आप उसके विरुद्ध विद्रोह कर बैठते हैं। हमारी सामाजिक व्यवस्था नितान्त न्यायविरुद्ध एवं नैतिक दृष्टिसे दोषपूर्ण है। एक ओर मुट्ठीभर धनी व्यक्ति रहें और दूसरी ओर असंख्य निर्धन व्यक्ति रहें;

---

१ अशोक मेहता : डेमोक्रेटिक सोशलिज्म, १९५४, पृष्ठ ५।

एक ओर थोड़ेसे व्यक्ति विलासी जीवन व्यतीत करें और दूसरी ओर लाखों व्यक्तियोंको जीवनके लिए परम आवश्यक वस्तुओंके भी लाले पड़े रहें, कारखाने बन्द पड़े रहें और मजूर लोग बने रहें, 'जहाँ सम्पत्तिका संचय हो रहा हो और मानव क्षीण हो रहा हो'—यह सब क्या है ? ये सब किसी ऐसी स्थितिके पहलू हैं, जो चेतनाशील प्रत्येक व्यक्तिको नैतिक चुनौती देते हैं। कोई सम्पत्तिवान् दूसरे लोगोंका शोषण करे, उनके श्रम, स्वेद एवं अश्रुके मूल्यपर अपनी तिजोरी भरे और घृणित विलासी जीवन व्यतीत करे—यह ऐसी स्थिति है, जिससे मानवकी अन्तरात्मा काँप उठती है। स्थितिकी यह विषमता हमसे उत्तर माँगती है और उसका उत्तर हमें समाजवादमें प्राप्त होता है, जिसमें मानव स्वतंत्रता और समानता प्राप्त करेगा, जिसमें उत्पीड़क और उत्पीड़ित, शोषक और शोषितका भेद समाप्त हो जायगा और पहली बार ऐसे समाजकी स्थापना होगी, जिसमें मानवके साथ मानवका भ्रातृवत् सम्बन्ध होगा।

'आखिर क्या कारण था कि इतने अधिक बुद्धिमान् कार्ल मार्क्सने उस युगमें अपने जीवनके तीससे अधिक वर्ष समाजवादके सिद्धान्त एवं आदर्शका निरूपण करनेमें लगाये, जब कि उनका परिवार भूखों मर रहा था, पत्नीकी चिकित्साके लिए पासमें पैसे नहीं थे और वे कई-कई बार भाड़ा न चुका सकनेके कारण मकानोंसे निकाल बाहर किये गये थे। उन्होंने ऐसा इसीलिए किया कि समाजवादके नैतिक आकर्षणसे वे अपनेको बचा नहीं सके। चारों ओर व्याप्त अन्यायने मार्क्सको पूर्णतः इस ओर ध्यान देनेके लिए विवश कर दिया और उसीके परिणामस्वरूप मार्क्सके ही शब्दोंमें 'समाजवादका वैज्ञानिक रूप' सामने प्रकट हुआ।

दक्षताका अभाव

'बहुतसे लोग दक्षताके अभावके कारण समाजवादी बन जाते हैं। उत्पादन और वितरणमें जो कौशल-शून्यता और अपव्यय होता है, उसे किसने नहीं देखा ? भूमि बंजर पड़ी रहती है, कारखाने सुस्त पड़े रहते हैं। भलीभाँति प्रशिक्षित युवक और युवतियाँ कामकी तलाशमें घूमती रहती हैं और उन्हें काम नहीं मिलता। समाजमें भ्रष्टाचार, अदक्षता और आन्तरिक विरोधके फलस्वरूप देशके उत्पादन-स्रोतोंको स्पर्श नहीं किया जाता, उनका संगठन नहीं होता और लाभ नहीं उठाया जाता। हम पूँजीवादके विरोधी बन बैठते हैं, क्योंकि हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि उत्पादनकी पूँजीवादी पद्धति, पूँजीवादी समाजव्यवस्था उत्पादन, विनिमय तथा वितरणकी समस्याओंको युक्तिसंगत रीतिसे हल करनेमें असमर्थ है।'[1]

---

१ अशोक मेहता : डेमोक्रेटिक सोशलिज्म, पृष्ठ ३, ४।

समाजवादके जन्मदाता

यों तो सिसमाण्डीने शास्त्रीय विचारधारा और पूँजीवादी पद्धतिके विरुद्ध कुछ सामान्य विचार प्रकट किये थे, जिनका समाजवादी विचारकोंने आगे चलकर समुचित लाभ उठाया था, पर सिसमाण्डी था शास्त्रीय विचारधाराका प्रतिपादक। वह समाजवादी नहीं था, समाजवादका प्रेरक अवश्य था। उसने शास्त्रीय परम्परा-का और पूँजीवादका ही समर्थन किया, फिर भी समाजवादके विकासमें उसकी देन अनमोल है।

सेण्ट साइमन 'समाजवादका जनक' माना जाता है, यद्यपि पूर्णतः समाजवादी वह भी नहीं था। पर इतना तो निश्चित है कि आलसी वर्गका उन्मूलन करके वह समाजमें तीव्र क्रान्ति लानेका पक्षपाती था। उसने समाजकी अर्थ-व्यवस्था-का विधिवत् विश्लेषण किया और नये सामाजिक संघटनकी रूपरेखा प्रस्तुत की, जिसका आधार व्यक्तिगत सम्पत्ति थी। पर उसके अनुयायियोंने साइमनकी इस कमीकी पूर्ति कर दी। उन्होंने गुरुकी ही दलीलोंसे व्यक्तिगत सम्पत्तिका विरोध करके समाजवादकी आधारशिला दृढ़ बना दी।

समाजवादकी पृष्ठभूमिमें ओवेन, फूर्ये, थामसन, ब्लाँ और प्रोदोंका सबसे बड़ा हाथ माना जाता है।

'समाजवाद' शब्द

'समाजवाद' शब्दका मुद्रणमें सर्वप्रथम प्रयोग सन् १८०३ में इटलीमें हुआ। परन्तु उस समय 'समाजवाद' शब्द जिस अर्थमें प्रयुक्त हुआ, वह बादमें प्रयुक्त होनेवाले 'समाजवाद' शब्दसे सर्वथा भिन्न था। सन् १८२७ में ओवेनके अनु-यायियोंके लिए 'कोआपरेटिव मैगजीन' में 'समाजवादी' शब्दका प्रयोग किया गया। सन् १८३३ में फरासीसी पत्र 'ल ग्लोब' में सेण्ट साइमनके सिद्धान्तकी व्याख्या और विशेषता प्रकट करनेके लिए 'समाजवाद' शब्दका प्रयोग किया गया। उसके बादके सवा सौ वर्षोंमें इस शब्दका न जाने कितने भिन्न-भिन्न अर्थोंमें प्रयोग किया गया है।

प्रायः प्रारम्भसे ही 'समाजवाद' शब्द किसी-न-किसी विशिष्टतासूचक या अर्थको सीमित करनेवाले विशेषणके साथ प्रयुक्त होता रहा है, कतिपय विशेषणों-की रचना विरोधियोंने कुछ मतोंको तुच्छ दिखानेके लिए की। मार्क्स द्वारा अपने घोषणापत्रमें प्रयुक्त 'सामन्तीय समाजवाद' और 'पेट्टी बुर्जुआ समाजवाद' इसका उदाहरण है। क्षेत्रको सीमित करनेवाले बहुत-से शब्द जान-बूझकर चुने गये।

जैसे, 'वास्तविक समाजवाद', 'राज्य समाजवाद', 'क्रिश्चियन समाजवाद', 'फेबियन समाजवाद', 'शिल्पीसंघ (गिल्ड) समाजवाद', 'लोकतांत्रिक समाजवाद' ।[1]

प्रारम्भिक विचारधारा

प्रोफेसर कोलने प्रारम्भिक समाजवादी विचारधाराका विवेचन करते हुए कहा है : 'अधिकांश 'वामपंथी' एकाधिकारका दोष प्रकट करनेमें एकमत थे, किन्तु एकाधिकार क्या है, इस विषयमें उनमें मतभेद था। कुछ लोग सभी बड़ी-बड़ी सम्पत्तियोंको एकाधिकारपूर्ण मानते थे, क्योंकि उन सम्पत्तियोंके कारण ही कुछ लोगोंको दूसरोंपर अनुचित अधिकार प्राप्त था, जब कि अधिकतर लोगोंने वैधताप्राप्त विशेषाधिकारको एकाधिकार माना और उसे सामन्तवादी अधिकारों और आर्थिक संस्थाओंकी पुरानी प्रणालीके साथ रखा। कुछ लोगोंने बड़े पैमानेके व्यवसायों और खासकर रेलवे, नहरों तथा दूसरे 'उपयोगी' उद्योगों-में धन लगानेकी बड़ी-बड़ी परियोजनाओंका पक्ष लिया। दूसरे लोग उद्योग-विरोधी थे। उनका विश्वास था कि छोटे-छोटे समुदायोंके अतिरिक्त अन्य किसी रूपमें लोग सुखी नहीं रह सकते और न पारिवारिक कृषि या शिल्पके छोटे कारखानेके अतिरिक्त अन्य कहीं सन्तोषप्रद कार्य ही कर सकते हैं। कुछ लोग सम्पत्तिको बाँटनेके पक्षमें थे, तो अन्य लोग उसे सामुदायिक या अन्य किसी प्रकार-के सामूहिक स्वामित्वमें रखनेके पक्षपाती थे। कुछ लोग चाहते थे कि सभी व्यक्तियोंकी आय एक हो, अन्य लोग 'हर व्यक्तिको उसकी आवश्यकताके अनुसार' वितरणके इच्छुक थे और इससे भी आगे कुछ लोगोंका ऐसा आग्रह था कि समाजको दी गयी सेवाके अनुपातमें पारिश्रमिक मिलना चाहिए। वे चाहते थे कि आर्थिक असमानताकी कोई न कोई ऐसी व्यवस्था रहनी चाहिए, जिससे अधिक उत्पादनके लिए उत्साह मिलता रहे।'[2]

समाजवादकी विचारधाराके उदयकालमें इस प्रकारके अनेक भिन्न मत प्रकट किये गये हैं। आगे चलकर उन्नीसवीं शताब्दीके मध्यकालमें इस बातकी आव-श्यकता प्रतीत हुई कि इन सभी विचारोंको व्यवस्थित करके किसी विशेष साँचेमें ढाला जाय। फ्रेडरिक एंजिलने इस दिशामें महत्त्वपूर्ण कार्य किया और उसने समाजवादको उतोपीय (कल्पनाशील) और वैज्ञानिक, ऐसे दो विशिष्ट भागोंमें विभाजित किया। सन् १८३८ में यह विभाजन-रेखा खींची गयी। उससे पहलेकी विचारधारा उतोपीय मानी जाती है, बादकी वैज्ञानिक।

उन्नीसवीं शताब्दीके पूर्वार्द्धमें उतोपीय समाजवादका प्राबल्य रहा। इस कल्पनाशील समाजवादके स्तम्भ हैं—सेण्ट साइमन (सन् १७६०–१८२५),

---

१ अशोक मेहता : 'एशियाई समाजवाद : एक अध्ययन', पृष्ठ २-३।

२ जी० डी० एच० कोल : सोशलिस्ट थॉट, खण्ड १, पृष्ठ ३०४-५।

राबर्ट ओवेन (सन् १७७१–१८५८), चार्ल्स फूर्ये (सन् १७७२–१८३७), विलियम थामसन (सन् १७८३–१८३३), लुई ब्लाँ (सन् १८११–१८८२) और प्रोदों (सन् १८०९–१८६५)।

वैज्ञानिक समाजवादके स्तम्भ हैं कार्ल मार्क्स (सन् १८१८–१८८३) और फ्रेडरिक एंजिल्स (सन् १८२०–१८९५)।

समाजवादी विचारधाराके उदयपर हम पहले विचार करेंगे, विकासपर बादमें।

सेण्ट साइमन

सेण्ट साइमनको 'औद्योगिक क्रान्तिके पालनेमें पोषित शिशु' की संज्ञा दी जाती है। उसका जन्म हुआ सन् १७६० में, जब कि औद्योगिक क्रान्तिने विश्वके रंगमंचपर पदार्पण किया और सन् १८२५ में उसकी मृत्यु हुई, जब इंग्लैण्डमें औद्योगिक क्रान्ति अपने विकासकी चरम सीमापर थी। यों यह स्पष्ट है कि औद्योगिक क्रान्तिके साथ-साथ सेण्ट साइमनके विचारोंका विकास हुआ। उद्योगवादकी उसपर महती छाप है और इसलिए कुछ विचारक उसे 'उद्योगवादका महंत' कहकर भी पुकारते हैं।

जीवन-परिचय

फ्रांसके एक सम्पन्न परिवारमें काउण्ट हेनरी द सेण्ट साइमनका जन्म हुआ। बाल्यावस्थासे ही उसमें साहस एवं शौर्यकी भावनाएँ थीं। १६ वर्षकी ही आयुमें अमेरिका जाकर वहाँके स्वाधीनता-संग्राममें उसने भाग लिया। फलतः वह अपनी पैतृक सम्पत्तिसे हाथ धो बैठा। पर साहसकी मात्रा पर्याप्त होनेसे उसने थोड़े ही समयके भीतर अपना भाग्य पुनः चमका लिया। कुछ दिनोंके उपरांत साइमन पुनः संदेहमें गिरफ्तार कर लिया गया, पर बादमें छोड़ दिया गया। तभीसे वह अपने-आपको एक प्रकारका मसीहा मानने लगा[1] और एक नवीन औद्योगिक समाजकी रचनामें विशेष रूपसे तत्पर हो गया। यूरोप लौटकर उसे दो बार आर्थिक संकटोंमें पड़ना पड़ा। एक बार फ्रांसीसी क्रांतिके समय और दूसरी बार अपनी शाहखर्चीके कारण। विवाह किया और कुछ दिन बाद तलाक दे डाली। अपव्ययसे जीवनके अन्तिम दिन अत्यन्त कष्टमय बीते। सन् १८२३ में उसने इसी कारण आत्महत्या करनेकी भी चेष्टा की, पर बादमें एक अमीरकी कृपासे उसके अन्तिम दो वर्ष किसी प्रकार कट गये।

सेण्ट साइमनने यों तो अनेक रचनाएँ कीं, पर अर्थशास्त्रसे सम्बद्ध उसकी प्रमुख रचनाएँ हैं—'इण्डस्ट्री' (सन् १८१७-१८१८), 'दि इण्डस्ट्रियल सिस्टम'

---

१ जीद और रिस्ट : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन्स, पृष्ठ २१५।

(सन् १८२१-१८२८) और 'क्वेश्चन्स एण्ड एनसर्स ऑन इण्डस्ट्री' (सन् १८२३-२४)। इन सभी रचनाओंमें प्रायः एक-से ही विचारोंका पुनः-पुनः प्रतिपादन किया गया है।

साइमनके अनुयायी लोगोंने साइमनके विचारोंको विशेष रूपसे विकसित किया। वे उसे एक नवीन धर्मका प्रवर्तक मानते थे।

प्रमुख आर्थिक विचार

औद्योगिक क्रान्तिके फलस्वरूप बढ़नेवाली आर्थिक विषमता और आर्थिक संघर्षोंके बीच साइमनका जन्म और विकास होनेके कारण उसपर क्रान्तिका पर्याप्त प्रभाव पड़ा था। अमेरिकाके स्वाधीनता-संग्राममें भाग लेनेके कारण और फरासीसी क्रान्तिसे प्रभावित होनेके कारण भी साइमनके विचार ऐसे बने कि वह सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक ढाँचेको ही बदल देनेकी बात सोचने लगा। सिसमाण्डी, टामस मूर, मैबली, मोरली, गाडविन, बेब्यूफ, ओवेन, फूर्ये आदि समकालीन विचारकोंने भी साइमनको प्रभावित किया।

साइमनने दो क्रान्तियोंमें भाग लिया था, समाजकी दयनीय स्थिति उसे खट-कती थी, सामाजिक समस्याओंका उसने गम्भीरतासे अध्ययन किया था और वह इस निष्कर्षपर पहुँचा था कि इस दिशामें क्रान्ति किये बिना, सारे सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक ढाँचेमें आमूल परिवर्तन किये बिना समाजका कल्याण सम्भव नहीं।

'मानव द्वारा मानवके शोषण' का नारा सबसे पहले सेण्ट साइमनने ही बुलन्द किया। उसके तर्कों और शब्दावलियोंका आगे चलकर समाजवादियोंने भरपूर उपयोग किया, पर इतना निश्चित है कि उसका अन्तिम समर्थन पूँजीवादको ही था, पर उसकी विचारधाराके इस अभावको उसके अनुयायियोंने पूरा कर दिया। उनका मसीहा जहाँ व्यक्तिगत सम्पत्तिका समर्थक था, वहीं ये अनुयायी लोग उसके तीव्र विरोधी थे। इस तरह पैगम्बर और उसके अनुयायियोंने दो धाराएँ ग्रहण कीं।[1]

सेण्ट साइमनके प्रमुख आर्थिक विचारोंको दो भागोंमें विभाजित किया जा सकता है :

(१) उद्योगवाद,

(२) शासन-व्यवस्था।

१. उद्योगवाद

सेण्ट साइमन यह मानकर चलता है कि समाजकी समृद्धिका मूल आधार है धनोत्पादन और धनोत्पादनके लिए अनिवार्य आवश्यकता है औद्योगिक विकास-

---

१ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ २१४।

की। यह उद्योगवाद ही भावी समाज-रचनाका आधार हो सकता है। साइमनकी दृष्टिमें औद्योगिक वर्ग और उसके समर्थक, बुद्धिजीवी लोग, व्यापारी और इंजीनियर आदि ही वास्तवमें कर्मनिष्ठ हैं और उत्पादक हैं, शेष व्यक्ति आलसी और अनुत्पादक हैं। इस प्रकार वह समाजमें दो वर्ग मानता है—एक श्रमिक और दूसरा आलसी।

इस सम्बन्धमें साइमनने एक उपमा दी, जो उसीके नामसे आर्थिक जगत्‌में अत्यन्त प्रख्यात है।[1] वह कहता है :

कल्पना कीजिये कि फ्रांसके प्रथम श्रेणीके ५० डॉक्टर, ५० रसायनज्ञ, ५० शरीरशास्त्रज्ञ, ५० बैंकर, २०० व्यापारी, ६०० कृषक और ५०० उद्योगपति आदि काल-कवलित हो जाते हैं, तो इनके अभावमें फ्रांसको जो अपूरणीय क्षति सहन करनी पड़ेगी, उसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है। इन उत्पादकोंके अभावमें राष्ट्र-जीवन शून्य-सा हो जायगा।

इसके स्थानपर यदि हम ऐसी कल्पना करें कि कला, विज्ञान और उद्योगके ये निर्माता, उत्पादनके ये स्तम्भ जीवित रहते हैं और उनके बजाय सारा राजकुल, सभी राज्याधिकारी, सेनाधिकारी, धर्माधिकारी, न्यायाधीश और कुलीन वर्गके १ लाख व्यक्ति काल-कवलित हो जाते हैं, तो फ्रांसकी क्या क्षति होगी? यह सही है कि इन १ लाख ३० हजार देशवासियोंके निधनसे फ्रांसकी भावनाशील जनताको थोड़ा-सा मानसिक क्लेश तो अवश्य होगा, परन्तु उससे समाजको रत्तीभर भी असुविधा नहीं होगी।

तात्पर्य यह कि कुलीन-वर्ग, पादरी-पुजारी, राजनीतिक नेता या अधिकारी-वर्ग केवल शोभाके लिए है, उसकी कोई उपयोगिता नहीं। इस वर्गके बिना भी समाजका कार्य चल सकता है। पैतृक सम्पत्ति अथवा सम्मानपर आश्रित आलसी-वर्ग राष्ट्रके लिए अनुपयोगी है। उसकी उपयोगिता यदि कुछ है, तो वह केवल दिखावटी है। पर औद्योगिक वर्गके बिना तो समाजका कार्य ही नहीं चल सकता।

सेण्ट साइमनकी मान्यता है कि उद्योग ही समाजका प्राण है और औद्योगिक वर्गके बिना राष्ट्रकी समृद्धि ही रुक जायगी। इसी मान्यताके आधारपर साइमनने भावी समाजकी जो कल्पना की है, उसमें न सामन्तोंके लिए स्थान है और न पादरी-पुजारियोंके लिए। वह समाज श्रमनिष्ठ एवं कर्मनिष्ठ व्यक्तियोंका ही होगा। पड़े रहकर मौज करनेवाले अकर्मण्य व्यक्तियोंके लिए उसमें कोई स्थान नहीं रहेगा। साइमनके नये समाजमें शरीर-श्रमिक, कृषक, हस्तशिल्पी, निर्माता, बैंकर, कलाकार, व्यापारी आदि ही रहेंगे। उसमें रहनेका अवसर एकमात्र

---

[1] जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ २१६।

श्रमिक-वर्ग ही पा सकेगा। उसमें प्रत्येक व्यक्तिको श्रम करना पड़ेगा। अकर्मण्य और आलसी-वर्ग स्वतः ही लुप्त हो जायगा। श्रमिक-वर्गमें सबके प्रति समानताका व्यवहार होगा। लोगोंकी क्षमता, प्रतिभा, शक्ति एवं सामर्थ्यके कारण थोड़ा-बहुत अन्तर रहे तो रहे। प्रत्येकको उसकी क्षमता, शक्ति, सामर्थ्य एवं पूँजीके अनुरूप सामाजिक लाभोंकी प्राप्ति हो सकेगी।[1]

स्पष्ट है कि साइमन पूँजीपतिको उचित अंश देनेके लिए उत्सुक है। वह जन्मगत, श्रेणीगत सभी भेदोंकी समाप्तिके लिए आतुर है और प्रत्येकको उसकी उत्पादन-क्षमताके अनुरूप उत्पादनका अंश देनेको प्रस्तुत है। उसके इस औद्योगिक राज्यमें व्यक्तिगत सम्पत्तिके लिए समुचित स्थान है। उसका राष्ट्रीयकरण तो वह नहीं चाहता, वह उसके पुनर्वितरणका समर्थक है, जिससे वह उत्पादनके लिए अधिक अनुकूल सिद्ध हो सके। गरीबी, बेकारी और आर्थिक संकटके निवारणका साइमनकी दृष्टिमें एक ही उपाय है और वह है यही कि प्रत्येक व्यक्ति श्रम करे। श्रम ही जीवन-धारणका एकमात्र साधन होगा। वह मानता है कि श्रम और पूँजीके बीच कोई विरोध नहीं है। विरोध है, तो श्रमिकों और अकर्मण्योंके ही बीच है। यह विरोध तभी मिटेगा, जब प्रत्येक व्यक्तिको काम करना पड़ेगा।[2]

साइमन प्रथम व्यक्ति था, जिसने कार्यक्षमताकी दृष्टिसे विचार किया और दक्षताके अभाव तथा खेतिहर जीवनके ढीले-ढाले ढंगके विरुद्ध आवाज उठायी। काहिलोंसे उसे सबसे अधिक घृणा थी। उसने सबसे पहले इस बातका अनुभव किया कि नये समाजको जन्म देनेके लिए विज्ञानका अर्थव्यवस्थाके साथ गठबन्धन किया जाय; दरिद्रता, अभाव, गन्दगी और रोगके दानवोंसे मानव-जीवनको मुक्त करनेके लिए विज्ञान और अर्थव्यवस्थाको परिणय-सूत्रमें आबद्ध किया जाय।[3]

२. शासन-व्यवस्था

सेण्ट साइमनने जिस भावी समाजकी कल्पना की है, उसके लिए वह 'राज्य करनेवाली सत्ता' के स्थानपर 'प्रशासन करनेवाली सत्ता' चाहता था। राजनीति, राजनीतिज्ञों और लोकतंत्रका उसके लिए कोई उपयोग नहीं था। वह शक्तिको वैज्ञानिकों, शिल्पियों और उद्योग चलानेवालोंके हाथमें रखना चाहता था।[4] साइमनकी ऐसी मान्यता थी कि नयी समाज-व्यवस्थाके लिए जो प्रशासक सत्ता होगी, वह वर्तमान शासकीय सत्तासे भिन्न होगी। उसका प्रमुख कार्य

---

१ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ २१८–२१९।

२ हेने : हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ ४२७।

३ अशोक मेहता : डेमोक्रेटिक सोशलिज्म, पृष्ठ २०।

४ अशोक मेहता 'एशियाई समाजवाद-एक अध्ययन', पृष्ठ १०।

यह होगा कि उत्पादनके साधनोंका नियोजन इस विधिसे किया जाय, जिससे उत्पादनमें अधिकतम वृद्धि हो सके। नयी प्रशासक सत्ताका जनतापर नियंत्रण रखने, उपद्रव रोकने, चोरियाँ बन्द करने, न्याय करने आदिका काम तो कम रहेगा, मुख्य कार्य यही रहेगा कि उद्योग-धन्धोंका अधिकतम विकास किस प्रकार किया जाय। वर्तमान अधिकारी-वर्गके स्थानपर साइमनके नये समाजमें उद्योग-वर्गके सूत्रधार ही सारा सूत्र अपने हाथमें रखेंगे।

सेंट साइमनकी धारणा थी कि सम्पत्तिके अधिकारके नियम जनमत तथा सामाजिक सुविधाके अनुसार बदलने चाहिए। वह कहता था कि 'मानव-समाजका संघटन इस प्रकार करना चाहिए कि वह अधिकसे अधिक लोगोंके लिए लाभदायक सिद्ध हो। बहुजन समाजके नैतिक और भौतिक सुधारके लिए तथा ध्येयकी प्राप्तिके लिए उनके कार्य और उनकी कार्रवाइयाँ क्या हों, इसका निर्णय स्वयं उन्हें ही करना चाहिए।'[1]

सेण्ट साइमनका विश्वास था कि भावी समाजके सहज गुण तभी चरितार्थ हो सकते हैं, जब प्रशासन एवं अर्थव्यवस्था, दोनों ही नवोदित व्यवस्थापक-वर्गके हाथमें हो। राज्य, राजनीति और राजनीतिज्ञोंका उसकी दृष्टिमें कोई महत्त्व नहीं था। राज्यकी वह आलोचना करता था और राजनीतिज्ञोंके प्रति तिरस्कारकी भावना रखता था। विज्ञान और इंजीनियरिंगमें उसकी आस्था थी और यही कारण था कि वह कहता था कि औद्योगिक शासन-यंत्र उत्पादनकी शक्तियोंका संघटन करेगा, मनुष्योंका संघटन नहीं। साइमन मानता था कि उसने जो लक्ष्य निर्धारित किया है, उसकी पूर्तिके लिए वर्तमान राजनीतिक नेतृत्व समाप्त कर उसके स्थानपर औद्योगिक नेतृत्वकी स्थापना की जायगी।

नयी शासन-व्यवस्थामें निर्माता, साहसी, श्रमिकों तथा उपभोक्ताओंके हितोंकी रक्षाकी व्यवस्था होगी। उसके लिए दो सदन रहेंगे। एक सदनमें शिल्पियों, व्यापारियों, उद्योगपतियों, कृषकोंके निर्वाचित प्रतिनिधि रहेंगे; दूसरे सदनमें वैज्ञानिकों, विशेषज्ञों, कलाकारों और श्रमिकोंके निर्वाचित प्रतिनिधि रहेंगे। दोनों सदन मिलकर ऐसे नियमोंकी रचना करेंगे, जिनके द्वारा देशके उत्पादन, उद्योग, वाणिज्य-व्यवसायकी अभिवृद्धि हो सकेगी। दोनों सदनोंके नियमोंका एकमात्र लक्ष्य होगा—देशकी भौतिक सम्पत्तिका विकास।[2]

साइमन ऐसा मानता था कि उसने जैसी प्रशासकीय व्यवस्थाकी रूपरेखा प्रस्तुत की है, उसके द्वारा वैज्ञानिकोंकी प्रतिभा एवं शक्ति और सामर्थ्यका देशहित-के लिए समुचित सदुपयोग हो सकेगा। फलतः देशकी भौतिक समृद्धि तो होगी

---

१ जीद और रिस्ट : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन्स, पृष्ठ २२०।

२ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ २२०-२२१।

हीं; कार्यक्षमतामें भी वृद्धि होगी। उसमें कार्मक्षमता शक्तिका स्थान ग्रहण कर लेगी और दिशा-सूचन निर्देशनका। इस प्रकार समाज दिन-दिन उन्नतिके पथकी ओर अग्रसर होता चलेगा। राजनीतिके स्थानपर लोक-कल्याणकी ओर सबका ध्यान केन्द्रित होता चलेगा।'[1]

साइमन उद्योगका केन्द्रीकरण चाहता है, पर उसने व्यक्तिगत सम्पत्तिको प्रश्रय दिया है। अतः उसकी विचारधारा समाजवादी नहीं है, फिर भी आगे चलकर समाजवादियोंने और साम्यवादियोंने सेण्ट साइमनकी विचारधाराके अनेक अंशोंका उपयोग किया और उसके आधारपर नयी मान्यताएँ प्रस्थापित कीं। ब्लाँ, मेंजर, सोरेल, मार्क्स, एंजिल्स आदि सब सेण्ट साइमनके ऋणी हैं।

सेंट साइमनवादी

सेंट साइमनका हृदय दीनोंकी दुर्दशा देखकर द्रवित हो उठा था। उसीकी अभिव्यक्ति उसके विचारोंमें झलकती है। वह चाहता था कि अन्याय किसीके प्रति न हो, श्रम प्रत्येक व्यक्ति करे और उत्पादनमें अधिकाधिक वृद्धि हो। औद्योगिक उत्पादनकी ओर उसका झुकाव था, विज्ञानका वह प्रशंसक था। उसकी शिष्य-मण्डलीने उसकी विचारधाराको अनेकांशमें ग्रहण किया, पर उसने व्यक्तिगत सम्पत्तिकी साइमनकी तर्क-पद्धतिको अस्वीकार कर दिया और इस प्रकार समाजवादी विचारधाराके उदयकी भूमिका प्रस्तुत कर दी।

साइमनने अपनेको मसीहा मान लिया था और उसके शिष्य उसे उसी दृष्टिसे देखते थे। ये शिष्य अपना सारा संगठन धार्मिक ढंगपर चलाते थे। इनके अपने गिरजाघर थे, अपने पादरी थे, अपने प्रचारकोंके दल थे। अनेक पुस्तिकाएँ भी इन लोगोंकी ओरसे प्रकाशित हुई थीं। उनका बड़ी धूमधामसे प्रचार किया जाता था। शिष्यों और उपासकोंकी भारी भीड़ जुटा करती थी। 'ल प्रोडक्ट्योर' नामक इनका एक पत्र भी था। इन सब साधनोंके द्वारा सेंट साइमनके विचारोंका अधिकाधिक प्रचार उसके शिष्योंने किया। इन शिष्योंकी यह दूरदर्शिता ही थी कि उन्होंने इस कौशल द्वारा अपने मसीहाके विचारोंका प्रचार किया। यदि वे इसके लिए किसी अन्य मार्गका आश्रय लेते, तो उन्हें अपने क्रान्तिकारी विचारों को लोक-मानसतक पहुँचानेका अवसर ही न प्राप्त होता।

साइमनकी शिष्य-मण्डलीमें कई व्यक्ति अत्यधिक प्रतिभाशाली थे। उन्होंने अपने मसीहाके सिद्धान्तोंका प्रचार ही नहीं किया, उन्हें विकसित करके पुष्ट भी किया और व्यक्तिगत सम्पत्तिका विरोध करके गुरुसे एक भिन्न मार्ग भी खोज निकाला, जिसने समाजवादकी आधारशिलाका काम किया।

---

१ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ २२०।

साइमनवादी शिष्य-मंडलीमें प्रमुख थे—सैंट अमन्द बेजार्ड (सन् १७९१–१८३२), बार्थेल्मी एनफेन्टिन (सन् १७९६–१८६४), आगस्त कोमटे (सन् १७९८–१८५७), आगस्तिन थियरी, ओलिन्दे रोड्रीग्यू। बेजार्ड और एनफेन्टिनने अपनी लेखनी और वाणी द्वारा साइमनके आन्दोलनको विशेष बल प्रदान किया। दोनोंने मिलकर ४७ पुस्तिकाएँ लिखीं। फ्रांसकी शिक्षित और सभ्य जनतापर जब इन विचारोंका अच्छा प्रभाव पड़ने लगा, तब फरासीसी सरकारने इस आन्दोलनको दबानेकी चेष्टा की। फलतः साइमनवाद विशेष पनप नहीं सका।

बेजार्डकी 'एक्सपोजीशन ऑफ दि डाक्ट्रिन्स ऑफ सेण्ट साइमन' (दो खण्ड) साइमनवादियोंकी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण रचना मानी जाती है। इसके प्रथम खण्डमें इस आन्दोलनके सम्बन्धमें आर्थिक एवं सामाजिक विचारोंका उत्तम संग्रह है।

प्रमुख आर्थिक विचार

साइमनवादियोंके विचारोंको दो भागोंमें विभाजित किया जा सकता है :

(१) व्यक्तिगत सम्पत्तिका विरोध,
(२) सामूहिक स्वामित्व।

व्यक्तिगत सम्पत्तिका विरोध

साइमनवादी विचारकोंका कहना था कि चाहे आर्थिक न्यायकी दृष्टिसे देखें, चाहे सामाजिक न्यायकी दृष्टिसे देखें, चाहे ऐतिहासिक न्यायकी दृष्टिसे देखें, व्यक्तिगत सम्पत्ति प्रत्येक दृष्टिसे निंद्य है। जैसे भी हो, उसे समाप्त ही कर देना चाहिए।

जहाँतक आर्थिक न्यायका प्रश्न है, वर्तमान व्यवस्थामें जहाँ भू-स्वामी अधिकसे अधिक लाभ और लगान प्राप्त कर लेना चाहते हैं, वहाँ वे श्रमिकको कमसे कम देना चाहते हैं। जो व्यक्ति श्रम करता है उसे न्यूनतम मिले और जो व्यक्ति श्रम न करे उसे अत्यधिक लाभ मिले, यह श्रमिकोंका स्पष्ट शोषण और अन्याय है। धनका यह विषम वितरण सर्वथा अनुचित है। यह कहना भी ठीक नहीं कि भू-स्वामी या पूँजीपति भी तो अपनी आय-वृद्धिके लिए कठिन श्रम करते हैं; वे जितना श्रम करते हैं, उसकी अपेक्षा वे कई गुना लाभ उठा लेते हैं। यह दूसरोंके श्रमका शोषण छोड़कर और क्या है?[1]

सिसमाण्डीने भी 'शोषण' शब्दका प्रयोग किया था, पर सिसमाण्डी और

---

१ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ २२५-२२६।

साइमनवादियोंके अर्थमें थोड़ासा अन्तर है। सिसमाण्डीका कहना था कि ब्याज पूँजीकी आय है, अतः वह सर्वथा उचित है; किन्तु यदि श्रमिकको पर्याप्त मजूरी न दी जाय, तो श्रमिकका शोषण भी किया जा सकता है, पर यह दोष अस्थायी है। इसे ठीक किया जा सकता है। साइमनवादी लोगोंका कहना था कि यह समाज-व्यवस्थाका मूलभूत दोष है। व्यक्तिगत सम्पत्तिसे इसका उद्भव है। अतः जबतक व्यक्तिगत सम्पत्तिकी समाप्ति न की जाय, तबतक शोषण भी नहीं मिट सकता।

जहाँतक सामाजिक न्यायका प्रश्न है, साइमनवादियोंका कहना था कि प्रकृतिवादी और शास्त्रीय परम्परावालोंका यह दृष्टिकोण गलत है कि भू-स्वामियोंको उत्पादनका समुचित अंश न मिले, तो वे न भूमिको उर्वरा ही बनानेका प्रयत्न करेंगे और न कृषिमें सहायक ही होंगे, फलतः श्रमिक भी भूमिसे लाभ उठानेसे वञ्चित रहेंगे, अतः व्यक्तिगत सम्पत्ति बनी रहनी चाहिए। साइमनवादी कहते थे कि इस बातका क्या भरोसा कि सम्पत्तिके स्वामीकी मृत्यु होनेपर उसका पुत्र भी पिताकी ही तरह निकलेगा ? वह यदि नालायक निकले और उत्पादनमें भाग न लेते हुए भी सम्पत्ति-स्वामी होनेके नाते उत्पादनका लाभ उठाता रहे, तो क्या होगा ? वह यदि सामाजिक हितकी दृष्टिसे अपनी सम्पत्तिका उपयोग न करे, तो व्यक्तिगत सम्पत्तिका अधिकार देनेसे क्या लाभ ? अतः सामाजिक हितकी दृष्टिसे भी व्यक्तिगत सम्पत्तिका बनाये रखना अनुचित है। उसका राष्ट्रीय-करण होना ही चाहिए।

ऐतिहासिक दृष्टिसे भी अब व्यक्तिगत सम्पत्तिको बनाये रखना अनुचित है। यह आवश्यक नहीं कि कई वर्ष पूर्व जो बात ठीक रही हो, वह आगे भी उसी प्रकार ठीक ही बनी रहेगी। एक युगमें मनुष्य दास रखता था, सामन्तशाहीके युगमें सम्पत्तिका उत्तराधिकार सबसे बड़े पुत्रको ही मिलता था, पर फरासीसी क्रान्तिके उपरान्त स्थितिमें परिवर्तन हो गया। सम्पत्ति सभी पुत्रोंमें समान रूपसे बाँटी जाने लगी। अतः ऐतिहासिक न्यायका तर्क सर्वथा असङ्गत है। इतिहास जब-तब करवटें बदलता रहता है। अतः यह सम्भव है कि शीघ्र ही वह दिन आ जाय, जब समाजवादी व्यवस्था लागू हो जाय और व्यक्तिगत सम्पत्ति पूर्णतः समाप्त कर दी जाय।[1]

सामूहिक स्वामित्व

सेण्ट साइमनवादियोंकी धारणा है कि जबतक आनुवंशिकता समाप्त नहीं होती, व्यक्तिगत सम्पत्तिका उच्छेद नहीं होता, श्रमिक-वर्गका समाजपर प्रभुत्व

---

१ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ २३५।

स्थापित नहीं होता, आलसी लोगोंका निष्कासन नहीं होता, तबतक समाजका वैषम्य भी समाप्त नहीं होता। सामाजिक विषमताका परिहार करनेके लिए, सम्पत्तिके असमान वितरणका उन्मूलन करनेके लिए यह आवश्यक है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति समाप्त कर दी जाय और उसके स्थानपर सम्पत्तिपर सामूहिक स्वामित्व हो।

साइमनवादियोंकी माँग थी कि सम्पत्तिपर पुत्रका उत्तराधिकार न रहे। सारी सम्पत्ति राज्यकी हो। राज्य ही इस बातका निर्णय करे कि कौनसी संपत्ति किस वस्तुके उत्पादनमें लगायी जाय तथा उत्पादनके सहायक साधनोंको कितना अंश दिया जाय। राज्य सबके हितको दृष्टिमें रखते हुए साधनोंका वितरण करे। प्रत्येकको अवसरकी समानता प्राप्त हो, ताकि वह अपनी प्रतिभा, क्षमता, शक्ति एवं सामर्थ्यके अनुकूल उत्पादनमें वृद्धि कर सके। व्यक्तियोंको क्षमताके परीक्षणके लिए तथा उत्पादनको दिशा-दर्शनके लिए राज्य ऐसे व्यक्तियोंको प्रमुख या निरीक्षकके रूपमें नियुक्त करे, जो समाजके हितको सर्वोपरि मानकर उसकी उन्नति और विकासमें अत्यन्त रुचिपूर्वक लगेंगे।[1]

साइमनवादियोंकी यह सारी योजना सुनियोजित है। इसमें दो ही कमियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। एक तो उन्होंने इस बातका स्पष्टीकरण नहीं किया कि ये औद्योगिक प्रमुख चुने कैसे जायँगे, और दूसरे यह कि सारी सम्पत्ति राज्यके हाथमें पहुँचेगी कैसे? क्या सरकार सम्पत्तिवानोंसे सम्पत्ति छीन लेगी, अथवा कोई मुआवजा देकर उनसे ले लेगी अथवा सम्पत्तिवान् स्वयं ही अपनी सम्पत्तिका त्याग-कर उसे राजकीय कोषमें जमा करा देंगे।

मूल्यांकन

सेंट साइमनवादियोंने जनताके मनोविज्ञानका सदुपयोग कर अपने क्रान्तिकारी विचारोंको धार्मिक चोला पहनाया था। सम्भव है, वे ऐसा मानते रहे हों कि धार्मिक रूप दे देनेसे जनता स्वेच्छया इन बातोंको स्वीकार कर लेगी और इस प्रकार सारी समस्याका सरलतासे निराकरण हो जायगा।

सेंट साइमनवादी व्यक्तिगत सम्पत्तिका तीव्र विरोध करके आर्थिक विचार-धाराको एक नया मोड़ देते हैं। वे मानते हैं कि व्यक्तिगत सम्पत्ति अनेक अनर्थोंकी मूल है और इसके कारण आलस्य एवं प्रमादकी वृद्धि होती है तथा अनेक व्यक्ति परोपजीवी बनते हैं। अतः वे चाहते हैं कि आनुवंशिकता समाप्त कर दी जाय, देशकी समस्त सम्पत्ति—सारे उत्पादन-यंत्र, सारी भूमि, सारी

---

१ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ २३०-२३१।

पूँजी तथा सारे व्यक्तिगत कोष एक केन्द्रीय कोषमें संचित कर लिये जायँ और फिर उसमेंसे जिसकी जैसी कार्यक्षमता हो, जिसकी जैसी प्रतिभा हो, जिसकी जैसी योग्यता हो, तदनुकूल सम्पत्तिका वितरण कर दिया जाय।

सेंट साइमनवादी समाजवादके वास्तविक जन्मदाता हैं। राजकीय कोपके कारण साइमनवाद समाप्त हो गया अवश्य, पर उसकी विचारधाराने समाजवादकी सारी रूपरेखा प्रस्तुत कर दी। कई साइमनवादी विचारकोंने उच्च सरकारी पद ग्रहण करके अपनी व्यवहारकुशलता और व्यापारिक तंत्रकी दक्षताका भी सम्यक् परिचय प्रदान किया।

आर्थिक विचारधाराके विकासमें सेंट साइमन और उनके अनुयायियोंकी देन अविस्मरणीय है।

●●●

सहयोगी समाजवाद : २ :

औद्योगिक क्रान्तिके फलस्वरूप समाजमें जिस वैषम्य एवं आर्थिक संकटका प्रादुर्भाव होने लगा था, उसने तत्कालीन विचारकोंका इस ओर तीव्रतासे ध्यान आकृष्ट किया। एक ओर अमीर दिन-दिन अमीर बनते चल रहे थे, दूसरी ओर गरीब दिन-दिन गरीब। बेकारी और तबाही, दुर्भिक्ष और दारिद्र्यका चारों ओर प्रसार हो रहा था। इस दुर्दशाका कारण क्या है और इसका निराकरण किस प्रकार किया जा सकता है—इन बातोंपर विचारकोंका चिन्तन चलने लगा था। उन्हें इस बातका विश्वास हो उठा कि पूँजीवादी उत्पादन-पद्धति ही इन सारे अनर्थोंका मूल कारण है।

इस वैषम्यके निराकरणके लिए किसीने अत्यन्त सामान्य सुझाव दिये, किसीने इस बातपर बल दिया कि सारी अर्थ-व्यवस्था और राज्य-व्यवस्था ही बदल देनी चाहिए, किसीने व्यक्तिगत सम्पत्तिका समर्थन करते हुए कुछ सुझाव उपस्थित किये और किसीने उसका उन्मूलन ही कर डालनेकी माँग की।

इसी चिन्तनधारामेंसे सहयोगी समाजवाद (Associationism) का जन्म हुआ। ओवेन और फूर्ये, थामसन और ब्लाँ जैसे विचारकोंने कहा कि किसी निश्चित योजनाके अनुसार लोग यदि स्वेच्छासे सहयोग करें, तो सम्पत्तिकी असमानता और वितरणकी अन्यायपूर्ण पद्धति समाप्त की जा सकती है। इन लोगोंकी मान्यता थी कि प्रतियोगिता और प्रतिस्पर्द्धा मिटा दी जाय और उसके स्थानपर सहकार और सहयोगिताकी प्रतिष्ठा कर दी जाय, तो आर्थिक वैषम्य दूर किया जा सकता है।

इन विचारकोंकी सबसे महती विशेषता यह है कि ये अपने कल्पनाशील विचारोंकी अभिव्यक्ति करके ही नहीं रह गये, इन्होंने उन्हें मूर्त स्वरूप देनेकी भी चेष्टा की। वे जिस प्रकारके समाजकी स्थापना करना चाहते थे, उसे स्थापित करनेका भी उन्होंने प्रयत्न किया। यह बात दूसरी है कि उनके प्रयोग सफल नहीं हो सके, पर विचारधाराके विकासमें उन्होंने सक्रिय हाथ बँटाया। इन लोगोंकी व्यावहारिक योजनाएँ भिन्न-भिन्न थीं, परन्तु सबके मूलमें यह भावना विद्यमान थी कि सहयोगकी आधारशिला रहनेपर ही पूँजीवादके अभिशापसे मुक्त हुआ जा सकता है।

सहयोगी समाजवादकी मुख्य विशेषताएँ ये हैं :

(१) स्वेच्छया सहकार,
(२) वातावरणमें परिवर्तनपर जोर और
(३) प्रतिस्पर्द्धाका विरोध ।

सहयोगी समाजवादी ऐसा मानते थे कि मानवके विकासके लिए राज्यकी अथवा किसी अन्य संस्थाकी सहायता अपेक्षित नहीं । सब लोग अपनी इच्छासे सहयोग करें । उसके लिए ऊपरसे कोई जोर न डाला जाय । किसीको सहयोग करनेके लिए विवश न किया जाय । इस प्रकार सहयोगवादका सिद्धान्त व्यक्तिपरक था । अन्य समूहवादी समाजवादी जहाँ राज्यकी अनिवार्य आवश्यकता मानते थे, वहाँ सहयोगी समाजवादी आन्तरिक इच्छाके कारण होनेवाली एकता और मैत्रीपर सबसे अधिक जोर देते थे, बाहरी दबाव द्वारा उत्पन्न की जानेवाली एकताको गलत मानते थे । उनकी धारणा थी कि छोटी-छोटी स्वायत्त सहकारी संस्थाओंके द्वारा ही पूँजीवादके अभिशापसे मुक्त हुआ जा सकता है ।

सहयोगी समाजवादी लोगोंकी मान्यता थी कि अधिकांश जनसमूह व्यक्ति-स्वातन्त्र्यसे वंचित है, उसमें प्रेरणाका अभाव है । इस संकटसे मुक्त होनेका एक-मात्र उपाय यही है कि वातावरणमें परिवर्तन कर दिया जाय । आज व्यक्तिमें जो दोष दृष्टिगोचर होते हैं, उनका मूल कारण यह नहीं कि व्यक्तिमें जन्मजात ही ये दोष रहते हैं, प्रत्युत वातावरण ही इन दोषोंका उत्तरदायी है । अतः वातावरणको बदल देनेसे ही व्यक्तिमें अपेक्षित सुधार हो जायगा । अपनी इस धारणाको मूर्तरूप देनेके लिए इन लोगोंने काल्पनिक समाजकी इकाइयाँ स्थापित कीं । उनकी यह काल्पनिकता, उनका यह उतोपियावाद सफल नहीं हो सका, यह बात दूसरी है ।

सहयोगी समाजवादी प्रतिस्पर्द्धा और प्रतिद्वंद्विताका विरोध करते थे । उनकी मान्यता थी कि इसके फलस्वरूप आर्थिक समृद्धि नहीं होती । इसके निराकरणके लिए उन्होंने सहकार और सहयोगकी भावनापर सबसे अधिक बल दिया । फरासीसी क्रान्तिकारी जहाँ यह मानते थे कि किसी प्रकारका सहयोग या संघ बन्धनका कारण है, वहाँ सहयोगी समाजवादी मानवके संगठित होनेके अधिकारपर विशेष बल देते थे ।[1]

ओवेन

राबर्ट ओवेन (सन् १७७१–१८५८) ने 'समाजरूपी रथको आगे बढ़ाने-वाले दो पहियों'—ट्रेड यूनियनों और उपभोक्ता सहकारी समितियों—का विकास किया ।[2] प्रोफेसर कोलके शब्दोंमें 'महान् उतोपियावादी–कल्पनाशील अंग्रेज

---

१ जीद और रिस्ट : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन्स, पृष्ठ २४२–२४८ ।

२ अशोक मेहता : डेमोक्रेटिक सोशलिज्म, पृष्ठ २५ ।

राबर्ट ओवेन वह आश्चर्यजनक व्यक्ति था, जिससे उन्नीसवीं शताब्दीके अनेक आन्दोलनोंका उद्भव हुआ। ओवेनको ब्रिटिश समाजवाद और सहकारिताका संस्थापक बताया गया है। सर राबर्ट पीलकी भाँति कारखानोंमें सुधारके आन्दोलनका श्रीगणेश करनेका श्रेय उसे प्राप्त है। शैक्षणिक प्रयोगके क्षेत्रमें उसका एक निश्चित स्थान है। वह 'युक्तिसंगत' आन्दोलनका जनक था। नैतिक तथा धर्मनिरपेक्षवादी कार्यकलापोंमें उसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन सब बातोंके साथ-साथ वह अपने अध्यवसाय द्वारा निर्मित उद्योगपति, असाधारण नेता और ट्रेड यूनियन आन्दोलनका प्रेरणा-स्रोत था।'[1]

ओवेन ब्रिटिश समाजवादका जनक माना जाता है। वह व्यावहारिक समाज-सुधारक था। उसने समाजवादी सिद्धान्त भी दिये और उन्हें अपनी कल्पनाके अनुरूप मूर्त स्वरूप देनेका भी प्रयत्न किया।

जीवन-परिचय

राबर्ट ओवेनका जन्म इंग्लैण्डके वेल्स प्रान्तमें सन् १७७१ में एक शिल्पीके घरमें हुआ था। उसने अपने बलपर ही अपना शिक्षण प्राप्त किया। छोटी आयुमें ही उसने एक मिलमें कार्यारम्भ किया और उत्तरोत्तर उन्नति करता गया। ३० वर्षकी आयुमें ओवेन न्यू लेनार्क मिलका साझीदार व्यवस्थापक नियुक्त हुआ। उस समय उसने मिल-मजदूरोंकी स्थिति सुधारनेकी चेष्टा की।

सन् १८१५ में ओवेनने अपना व्यवसाय छोड़कर सामुदायिक बस्तियोंकी स्थापना करनेका प्रयत्न किया। सन् १८२५ में उसने अमेरिकाके इण्डियानामें ऐसी एक बस्ती बसायी, जिसका नाम था—न्यू हारमनी कोलोनी। दूसरी बस्ती उसने स्काटलैण्डके आरबिस्टन स्थानपर बसायी। इन बस्तियोंमें ओवेनको भारी क्षति सहन करनी पड़ी। सन् १८३२ में उसने लन्दनमें एक राष्ट्रीय समतुल्य श्रम बाजारकी स्थापना की। उसका यह कार्य अत्यन्त साहसपूर्ण था और सहकारिताका एक अद्भुत प्रयोग था, पर यह भी असफल रहा। सन् १८३४ से अपने जीवनके अन्ततक वह लेखन-कार्य करता रहा। सन् १८५८ में उसका देहान्त हो गया।

---

१ जी० डी० एच० कोल : सोशलिस्ट थॉट, खण्ड १, पृष्ठ ८६ ।

ओवेनकी सर्वाधिक प्रसिद्ध रचनाएँ हैं—'गास्पेल ऑफ दि न्यू मारल वर्ल्ड' (सन् १८३४) और 'व्हाट इज सोशलिज्म ?' (सन् १८४३)। उसने 'इकॉनॉमिस्ट' आदि पत्रोंमें अनेक लेख प्रकाशित किये।

पूर्वपीठिका

ओवेनके विचारोंपर इंग्लैण्डकी औद्योगिक क्रान्तिका अत्यधिक प्रभाव था। उसके फलस्वरूप उत्पन्न होनेवाली आर्थिक विषमता, पूँजीपति और श्रमिक, ऐसे दो वर्ग, श्रमिकोंकी दयनीय स्थिति, बेकारी, आर्थिक संकट, मूल्योंका उतार-चढ़ाव, साहूकारोंका शोषण, आयर्लैंडका अन्न-संकट, दुर्भिक्ष आदि सारी बातोंने ओवेनके कल्पनाशील मस्तिष्कको प्रेरित किया कि वह इस भयंकर स्थितिके निवारणके लिए कुछ सक्रिय कदम उठाये। अमरीकाका स्वातंत्र्य-संग्राम और फ्रांसकी राज्यक्रान्ति भी उसे इसके लिए प्रेरित कर रही थी। उधर श्रमिक और ऋणी व्यक्ति मालिकों और साहूकारोंके पंजोंसे छुटकारा पानेके लिए ट्रेड यूनियनों—श्रम संघोंकी और उपभोक्ता भंडारोंकी स्थापना कर रहे थे, पर उन्हें अपने इस प्रयासमें सफलता नहीं प्राप्त हो रही थी।

ओवेनके प्रयोग

ओवेनने श्रमिकोंकी दशा सुधारनेके निमित्त अपनी मिलमें अनेक सुधार किये। जैसे, कामके घण्टे १७ से घटाकर १० कर देना; १० वर्षसे कम आयुके बच्चोंको नौकर न रखना; जुर्माना या अन्य प्रकारके दण्ड बन्द कर देना; मजदूरोंके बच्चोंके निःशुल्क शिक्षणका प्रबन्ध करना; मजदूरोंको उचित वेतन देना; उनके लिए आवासकी उत्तम व्यवस्था करना; उनके लिए सस्ती दूकानें खोलना आदि।[१]

आज भले ही ये सुधार कोई विशेष महत्त्वपूर्ण न प्रतीत हों, पर आजसे डेढ़ सौ वर्ष पूर्व ऐसे सुधारोंको व्यवहारमें लाना क्रान्तिकारी माना जाता था। तत्कालीन उद्योगपति, राजनीतिज्ञ और समाज-सुधारक दूर-दूरसे यह देखने आते थे कि ओवेन साहबकी मिलमें कैसे सुधार कार्यान्वित किये जा रहे हैं।

कुछ उद्योगपति ओवेनके इन सुधारोंका तीव्र विरोध करते थे। उनका कहना था कि इन सुधारोंका परिणाम यह होगा कि श्रमिकोंकी आदतें बिगड़ जायँगी, जिनसे न तो श्रमिकोंका ही वास्तविक हित होगा, न कारखानेदारोंका।

ओवेन अपने इन आलोचकोंको उत्तर देते हुए कहता था कि 'अनुभवसे आप लोगोंको इस बातका ज्ञान हो ही गया होगा कि किसी बढ़िया मशीनोंवाले कारखानेमें, जहाँ मशीनें सदा स्वच्छ और कार्यशील रहती हैं, किसी घटिया मशीनोंवाले कारखानेमें, जहाँ मशीनें गन्दी और सुस्त पड़ी रहती हैं, कितना

---

[१] जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ २४७।

अन्तर होता है । जिन मशीनोंकी सफाई, स्वच्छता, कार्य-कुशलताकी ओर भरपूर ध्यान दिया जाता है, वे बढ़िया ढङ्गसे चलती हैं और अच्छा परिणाम देती हैं । जिन मशीनोंकी ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया जाता, उनकी ठीक ढङ्गसे सफाई नहीं की जाती, अच्छी तरह जिन्हें तेल नहीं दिया जाता, वे चलती तो हैं, पर रोती हुई । तो जब निर्जीव यन्त्रोंका यह हाल है, तो जरा सोचिये तो कि यदि आप उनसे कहीं अधिक उत्तम और अनन्त शक्ति-सम्पन्न मानवोंकी ओर भरपूर ध्यान दें, तो कितना उत्तम परिणाम निकल सकता है । उन्हें पर्याप्त वेतन, भोजन और पोषक पदार्थ दिये जायँ, उनके साथ दयालुताका व्यवहार किया जाय, तो कितना अधिक सुपरिणाम निकल सकता है, इसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है । अपर्याप्त पोषण देनेसे उनके मस्तिष्कमें जो बिगाड़ पैदा होता है, जो बेचैनी और उकताहट पैदा होती है, उसके कारण वे भरपूर उत्पादन कर नहीं पाते, उनकी शक्ति क्षीण होती जाती है और वे अकालमें ही काल-कवलित हो जाते हैं ।' ओवेन कहता है कि श्रमिकोंकी दशा सुधारनेमें मेरा अपना ही लाभ है । उसने कर्मचारियोंको अधिक वेतन दिया, काम न करनेके समयका भी पैसा दिया, बीमारी और वृद्धावस्थाके बीमेकी व्यवस्था की । अच्छे मकान दिये, लागत मूल्यपर खाद्यान्न दिया और शिक्षा तथा मनोरंजनकी सुविधाएँ प्रदान कीं । इससे ओवेनको विश्वख्याति तो मिली ही, उत्तम मुनाफा भी मिला ।

ओवेन श्रमिकोंके प्रति करुणासे प्रेरित तो था ही, वह यह भी मानता था कि श्रमिकोंकी दशामें सुधार होनेसे उनकी कार्य-कुशलतामें वृद्धि हो जायगी और परिणामस्वरूप मालिकोंके लाभमें भी वृद्धि होगी ही ।

ओवेनको यह आशा थी कि अन्य मिल-मालिक ओवेनका अनुकरण करेंगे । परन्तु ऐसा हुआ नहीं । ओवेनकी आशा निराशामें परिणत हो गयी । तब उसने धारासभाके द्वारा श्रमिकोंकी दशा सुधरवानेकी चेष्टा की । पहले ब्रिटिश सरकारका और फिर अन्य देशोंकी सरकारोंका ध्यान इस ओर आकृष्ट करनेका उसने प्रयत्न किया । इन दोनों प्रयत्नोंमें आशानुरूप सफलता प्राप्त न होनेपर ओवेन नयी बस्तियोंकी स्थापनाकी ओर झुका ।[१]

ओवेनने अपनी लेनार्क मिलको अपनी प्रयोगशाला बना लिया था । वहाँ उसने अपने अनुभव एवं बुद्धिसे 'वातावरणका सिद्धान्त' खोज निकाला । उसकी मान्यता थी कि समुचित अवसर एवं उचित नेतृत्व प्राप्त हो, तो सभी व्यक्ति अच्छे बन सकते हैं । कोई भी व्यक्ति जन्मसे बुरा नहीं होता । वातावरणके

---

१ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ २४८ ।

अनुरूप ही उसका व्यक्तित्व विकसित होता है। मनुष्य जो कुछ होता है, उसमें बहुत बड़ा प्रभाव सामाजिक परिस्थितियों और वातावरणका होता है।

सामाजिक पृष्ठभूमि, सामाजिक वातावरणसे पृथक् करके मानवकी कल्पना नहीं की जा सकती, इसे राबर्ट ओवेनने अच्छी तरह समझ लिया था। इतना ही नहीं, वह यह भी मानता था कि वातावरण मानवको बना भी सकता है, बिगाड़ भी सकता है। मानवपर वातावरणके प्रभावको राबर्ट ओवेन द्वारा स्वीकार किये जानेसे समाजवादी विचाररूपी ढाँचेको एक स्तम्भ मिल गया।[1]

ओवेनने यह अनुभव किया कि वर्तमान सामाजिक एवं आर्थिक ढाँचेमें रहते हुए श्रमिकोंकी स्थितिमें समुचित सुधार करना कठिन है। न तो मिल-मालिक ही उसके उदाहरणसे प्रभावित हो रहे हैं और न सरकार ही आवश्यक कानून बना रही है। इस स्थितिमें कहीं चलकर नयी बस्तियोंका प्रयोग करना वांछनीय है।

ओवेनने अमेरिकाके इण्डियानामें एक बस्ती बसायी, दूसरी बस्ती स्काटलैण्डमें बसायी गयी। 'संयुक्त श्रम, व्यय और सम्पत्ति तथा सुविधा' के सिद्धान्तपर इन बस्तियोंकी स्थापना की गयी। यहाँ कृषिकी व्यवस्थाके साथ उत्पादनकी भी व्यवस्था थी। इस बातका ध्यान रखा गया था कि उसमें श्रमगत भिन्नता और हितगत भिन्नता न हो तथा सक्रिय और ज्ञानवान् श्रमजीवी वर्ग उत्पन्न हो। प्रत्येक व्यक्तिपर सीधा उत्तरदायित्व था। सब कामोंको आपसमें बाँटकर करना था। गुटबन्दी और कटुताकी जड़ चुनावकी व्यवस्था नहीं थी।[2] ओवेन चाहता था कि ऐसे वातावरणका निर्माण हो, जिसमें सभी लोग शिक्षित हों, एकसा कानून सबपर लागू हो और व्यक्तियोंकी चेतन प्रवृत्तियाँ भिन्न-भिन्न हों। ओवेनके आदर्शके अनुरूप कुछ अन्य लोगोंने भी नयी बस्तियोंकी स्थापना की, परन्तु ओवेन तथा उसके अन्य साथियोंका यह प्रयोग असफल रहा। इन बस्तियोंमें बसनेवाले व्यक्तियोंकी अशिक्षा, स्वार्थ और जड़ता ही वह मूल कारण थी, जिसके फलस्वरूप ओवेनका यह क्रान्तिकारी प्रयोग विफल हो गया।

नयी बस्तियोंके अपने प्रयोगमें ओवेन चाहता था कि सामाजिक प्रगतिमें बाधक तीन प्रमुख बाधाओं—व्यक्तिगत सम्पत्ति, धर्म और विवाहका उन्मूलन कर दिया जाय। पर वह अपने प्रयत्नमें कृतकार्य न हो सका। वह बहुत दूरकी सोचता था, परन्तु युग उसके विचारोंसे बहुत पीछे था।[3]

---

१ अशोक मेहता : डेमोक्रेटिक सोशलिज्म, पृष्ठ २६।

२ अशोक मेहता : एशियाई समाजवाद : एक अध्ययन, पृष्ठ ५०-५१।

३ भटनागर और सतीशबहादुर : ए हिस्ट्री ऑफ इकोनॉमिक थॉट, पृष्ठ ११३-११४।

ओवेनकी मान्यता थी कि मनुष्यमें उत्तम कार्यशीलता और उत्तम बुद्धि वातावरणजन्य होती है, अतः उसे क्षमताके अनुकूल वेतन न दिया जाय, आवश्यकताके अनुकूल दिया जाय। इस सिद्धान्तके फलस्वरूप समाजमें समानताका विस्तार हो सकेगा।[१]

नयी बस्तियोंके प्रयोगमें विफल होनेपर ओवेनने एक और नया प्रयोग किया श्रम-बाजारका। वह मानता था कि मुनाफा ही सारे अनर्थोंकी जड़ है और द्रव्य ही मुनाफा-वृद्धिका कारण है। द्रव्यके ही कारण असंख्य अपराध होते हैं। इसके कारण जघन्य कृत्य होते हैं और चरित्रका नाश होता है। द्रव्यके कारण वस्तुओंके मूल्यमें उतार-चढ़ाव आता है और श्रमिकोंको जीवनोपयोगी पदार्थोंकी प्राप्ति नहीं हो पाती। इस मुनाफेका उन्मूलन करके ही समाजमें सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है। इस उद्देश्यको दृष्टिमें रखकर ओवेनने सन् १८३२ में राष्ट्रीय समतुल्य श्रम-बाजारकी स्थापना की और श्रम-हुण्डियाँ चालू कीं।

प्रत्येक श्रमिक अपनी उत्पादित सामग्री देकर उसके परिवर्तनमें अपने श्रमके घंटोंके हिसाबसे श्रम-हुंडी ले लेता था और जिस उपभोक्ताको उस वस्तुकी आवश्यकता होती थी, वह समान मूल्यकी श्रम-हुंडी देकर उस वस्तुको ले जाता था। ओवेन मानता था कि इस प्रकार श्रमका विनिमय होगा और द्रव्य तथा मुनाफा आप ही अपनी मौत मर जायगा।

इस श्रम-बाजारने पहले तो अच्छी ख्याति प्राप्त की। कोई ८४० व्यक्तियोंने इसमें सहयोग प्रदान किया। कई स्थानोंपर इसकी शाखाएँ खुल गयीं। परन्तु बादमें श्रमिकोंकी बेईमानीके कारण यह प्रयोग भी असफल हो गया। इसके मुख्य कारण दो थे :

१. श्रमिक अपने श्रमके घण्टे अधिक बताकर अधिक श्रम-हुंडियाँ लेने लगे।

२. श्रमिक घटिया चीजें लाकर देने लगे, जिन्हें कोई खरीदना पसन्द न करता था।

ओवेनकी बस्तियों, आर्थिक जीवनके विभिन्न क्षेत्रोंमें सहकार और नयी चेतना फूँकनेवाले संगठनोंके आधारपर स्थापित कृषि-व्यवस्थाके द्वारा नवजीवनका गोपनीय तत्त्व प्राप्त किया जा सकता है। व्यवसायगत नव-चेतनाकी नीति सन् १८३३ में भवन निर्माणकारी लोगोंके प्रधान राष्ट्रीय शिल्पी संघ—'ग्रैण्ड नेशनल गिल्ड ऑफ बिल्डर्स' के स्थापना-सम्बन्धी प्रस्तावोंमें घोषित की गयी थी। ठोस उतोपियावादकी तरह ओवेनवादका तत्त्व भी सामुदायिक निर्माण

---

१ जीद और रिस्ट : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन्स, पृष्ठ २४६।

है। यह सबसे अच्छा कृषिमें, कृषि-बस्तियोंमें और सामुदायिक गाँवोंमें पल्लवित हो सकता है, किन्तु सहकारिता और दस्तकारीमें भी विकासकी गुंजाइश थी, बशर्ते कि स्वायत्तता, विकेन्द्रीकरण और सहयोगका दृढ़तासे पालन किया जाता।'[1]

प्रमुख आर्थिक विचार

ओवेनके प्रयोग सफल नहीं हो सके, यह बात दूसरी है; पर आर्थिक विचारधाराके विकासमें ओवेनके विचारोंका स्थान अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। उसके विचारोंको मुख्यतः तीन भागोंमें विभाजित किया जा सकता है :

(१) श्रमिकोंकी स्थितिमें सुधार,
(२) नये वातावरणका निर्माण और
(३) मुनाफेका विरोध।

१. श्रमिकोंकी स्थितिमें सुधार

ओवेन श्रमिकोंकी दयनीय स्थितिसे भलीभाँति परिचित था। मानवीय करुणासे उसका हृदय ओतप्रोत था। यही कारण था कि उसने इस बातका प्रयत्न किया कि श्रमिकोंकी स्थितिमें सुधार हो। उसकी मान्यता थी कि उनके कामके घण्टे कम करनेसे, जुर्माने आदिकी नृशंस प्रथा बन्द कर देनेसे, उनके लिए भोजन, आवास, छुट्टी, वेतन, भत्ते आदिकी समुचित व्यवस्था कर देनेसे उनकी दशामें निश्चय ही सुधार होगा और शरीरसे जब वे सशक्त होंगे और चिन्ताओं-से मुक्त रहेंगे, तो उनकी कार्यक्षमता निश्चय ही बढ़ेगी, जिसके कारण कारखाने-दारोंको भी अन्ततः लाभ ही होगा।

ओवेनकी अपेक्षाके अनुकूल अन्य कारखानेदारोंने उसके सुधारोंका अनुकरण नहीं किया, उलटे उन्होंने विरोध किया। तब ओवेनने राज्यका आश्रय लेकर श्रमिकोंके हितार्थ कानून बनवानेकी चेष्टा की।

लार्ड शेफ्ट्सबरीके बहुत पहले ओवेनने इस बातका आन्दोलन चलाया था कि कारखानेमें काम करनेवाले बच्चोंके कामके घण्टे नियत कर दिये जायँ। ओवेनके आन्दोलनका ही यह परिणाम था कि सन् १८१९ में पहला कारखाना-कानून बना। इस कानूनमें कहा गया था कि ९ सालसे कम उम्रका कोई बच्चा किसी कारखानेमें नौकर नहीं रखा जा सकता। ओवेनका बस चलता, तो वह १० सालसे कम उम्रके किसी बच्चेको कारखानेमें नौकर न रखने देता।[2]

इस कानूनके बाद सन् १८३३ में लार्ड अलथार्पका कारखाना-कानून बना, जिसके अनुसार श्रमिकों और बच्चोंके काम करनेके घण्टे निश्चित कर दिये गये

---

१ अशोक मेहता : एशियाई समाजवाद : एक अध्ययन, पृष्ठ ५२-५४।
२ जीद और रिस्ट : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन्स, पृष्ठ २४८।

और कारखाना-निरीक्षकोंकी नियुक्ति होने लगी। सन् १८४७ में १० घण्टे कामका कारखाना-कानून बना। फिर खनिक-कानून बना। सन् १८५०, १८६४, १८७५ में ऐसे कई कानून बने। ये कानून केवल इंग्लैण्डमें ही बनकर नहीं रह गये; फ्रांस, जर्मनी तथा यूरोपके अन्य देशोंमें भी ऐसे कानून बने।

ओवेनकी इस मान्यतासे कि श्रमिकोंकी स्थिति सुधरनेसे उनकी कार्यक्षमतामें वृद्धि होगी और इसके कारण कारखानेदारोंको लाभ पहुँचेगा; यह प्रकट होता है कि वह पुरानी अर्थव्यवस्थाका पोषक ही था। उसके विचार सुधारवादी तो थे, पर वे क्रान्तिकारी नहीं थे।

२. नये वातावरणका निर्माण

ओवेनका मूल विचार था कि मनुष्य जन्मना बुरा नहीं होता, वातावरण ही उसे बुरा-भला बनाता है। उसका नारा था कि 'वातावरणका परिवर्तन कर दो, समाजका परिवर्तन हो जायगा'। सामाजिक वातावरण तत्कालीन शिक्षा-पद्धति, कानून और व्यक्तिकी चेतन प्रवृत्तियोंका परिणाम होता है। इन सब बातोंमें यदि परिवर्तन कर दिया जाय, तो मनुष्यमें भी परिवर्तन हो जायगा।

ओवेनके सभी प्रयोगोंके मूलमें वातावरणकी यह भावना काम करती थी, फिर वह मिलमें सुधारकी बात हो, नयी बस्तियोंकी बात हो या कानून बनवानेकी बात हो।[1]

वातावरणके प्रभावपर सबसे अधिक बल देनेवाला सर्वप्रथम विचारक ओवेन ही है। इस कारण उसे निदान-शास्त्र (Etiology) का जन्मदाता माना जाता है। निदानशास्त्र समाजशास्त्रका वह अङ्ग है, जिसमें मनुष्य वातावरणके हाथका कंदुक माना जाता है।

ओवेनने वातावरणके सिद्धान्तपर जोर देते हुए उत्तरदायित्वकी भावनाको थोथा बताया है और कहा है कि इसके कारण मानव-जातिकी भारी हानि हुई है। मनुष्य जो भी भला-बुरा कार्य करता है, उसका उत्तरदायित्व भले या बुरे वातावरणपर है, न कि मनुष्यपर। बुरे वातावरणमें मनुष्य बुरा काम करनेके लिए विवश रहता है।

तभी तो ओवेनने योग्यताके अनुसार वेतन देनेके स्थानपर आवश्यकताके अनुसार वेतन देनेपर जोर दिया है। कारण, योग्यता तो वातावरणकी उपज है।

३. मुनाफेका विरोध

ओवेन मुनाफेको पाप मानता है। वह कहता है कि किसी भी वस्तुको उसके लागत मूल्यपर ही बेचना उचित है। उसपर मुनाफा कमानेके कारण ही

---

१ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ २४८-२४९।

असंख्य अनर्थ होते हैं। मुनाफा ही सारे आर्थिक संकटों और संघर्षोंका मूल कारण है। व्यापारी-वर्ग मुनाफा कमानेके लिए वस्तुओंका मूल्य चढ़ा देता है। वह वस्तुओंको सस्ता खरीदकर महँगा बेचता है और इस प्रकार मुनाफा कमाता है। इसके फलस्वरूप उत्पादन उपभोगके अनुसार न होकर लाभके अनुसार किया जाता है। बेचारा श्रमिक इस मुनाफेके कारण उन्हीं वस्तुओंका उपभोग नहीं कर पाता, जिनका उत्पादन वह स्वयं ही करता है। अतः मुनाफेका अन्त होना आवश्यक है।

यह मुनाफा द्रव्य, सोने-चाँदीके रूपमें होता है। प्रतिस्पर्द्धा और प्रतियोगिताके बलपर पनपता है। इसके निवारणके लिए यह आवश्यक है कि प्रतिस्पर्द्धाका उन्मूलन किया जाय, मुनाफेका उन्मूलन किया जाय और द्रव्यका उन्मूलन किया जाय।

ओवेनने इस समस्याके निराकरणके लिए सहयोग तथा श्रम-हुंडियोंका सिद्धान्त निकाला। उसकी मान्यता थी कि किसी भी वस्तुके उत्पादनमें जितना समय लगता है, वही उसका मूल्य है। श्रम-हुंडियोंके रूपमें श्रमका विनिमय कर लेनेसे तथा सहयोगी समाजका विकास कर लेनेसे न तो द्रव्यकी आवश्यकता रहेगी, न मुनाफा कमाया जा सकेगा और न प्रतिस्पर्द्धा ही जीवित रह सकेगी।

श्रम-हुंडियोंके विकल्पके अपने आविष्कारको ओवेन 'मेक्सिको और पेरूकी सभी खानोंसे भी अधिक मूल्यवान्' मानता था।[1]

ओवेनके सहकारिताके विचारकी उपयोगिता किसीसे छिपी नहीं है। वह मानता था कि श्रमिकों, शिल्पियों और उपभोक्ताओंके पारस्परिक सहयोग द्वारा मुनाफेका उन्मूलन किया जा सकता है। उपभोक्ताओंके सहकारी भण्डारोंने ओवेनकी इस धारणाको मूर्त स्वरूप प्रदान किया। इससे मध्यवर्ती व्यापारी भी समाप्त हो गये और मुनाफा भी। पर इसमें मुनाफेकी समाप्तिके साथ द्रव्यकी समाप्ति नहीं हुई। द्रव्य रहा, पर मुनाफा समाप्त हो गया।[2]

मूल्यांकन

सामाजिक और आर्थिक विषमताके विरुद्ध जेहाद बोलनेवाले व्यावहारिक सुधारक ओवेनने श्रम-सुधारोंको जन्म दिया तथा औद्योगिक मनोविज्ञानके विकासमें सहायता प्रदान की। आगामी ५० वर्षोंमें जो श्रम 'विधान' बने, उनपर ओवेनकी स्पष्ट छाप है।

ओवेनके वातावरणके सिद्धान्तने निदान-शास्त्रकी नींव डाली।

---

१ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ २५१।
२ जीद और रिस्ट : वही पृष्ठ २५३।

आवश्यकताके अनुकूल वेतन देनेकी उसकी तर्कपद्धतिने सामाजिक समताकी ओर लोगोंका ध्यान आकृष्ट किया तथा 'समाजवाद' शब्दका प्रयोग कर समाजवादी विचारधाराको आगे बढ़ाया।

ओवेनने श्रम-विधानोंके आन्दोलनको बल दिया, सहयोग और सहकारिताके आन्दोलनकी नींव डाली, सामाजिक विषमताके प्रतिकारके लिए, मुनाफेके उन्मूलनके लिए व्यावहारिक उपाय सुझाये। वातावरणके परिवर्तनके, नयी बस्तियोंकी स्थापनाके और प्रतिस्पर्द्धाकी समाप्तिके उसके प्रयोग असफल सिद्ध होनेपर भी आर्थिक विचारधाराके विकासके लिए परम उपयोगी सिद्ध हुए। कुछ असंगतियोंके बावजूद ओवेनकी देन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ही मानी जाती है।

कार्लाइल, चार्ल्स डिकेन्स, जान रस्किन, विलियम मारिस और मैथ्यू आर्नोल्ड जैसे अंग्रेज विचारकोंपर ओवेनका भारी प्रभाव पड़ा। रस्किन और मारिसके इंग्लैण्डके 'उपवन नगर आन्दोलन' पर ओवेनका स्पष्ट प्रभाव है। विलियम थामसनने ओवेनके श्रम-सिद्धान्तको विकसित किया, जिसने आगे चलकर मार्क्सपर गहरा प्रभाव डाला। ओवेनकी समाजवादी विचारधाराने उसे 'ब्रिटिश समाजवादका जनक' बना दिया।

फूर्ये

कल्पनाके हाथोंमें मुक्तरूपसे किलोलें करनेवाले फ्रान्स्वाज मैरिये चार्ल्स फूर्ये (सन् १७७२–१८३७) ने समाजवाद और सहकारिताकी विचारधाराको विकसित करनेमें अत्यधिक हाथ बँटाया है। जीवनकालमें इस प्रतिभावान् और स्वप्नदर्शी विचारकको उचित प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त हो सकी, पर मृत्युके उपरान्त उसकी विचारधाराने यूरोपमें ही नहीं, अमेरिकामें भी अपने पैर फैलाये।

फूर्येका जन्म फ्रांसमें हुआ था। वह आजीवन अविवाहित रहा। ४० वर्षकी आयुतक उसने व्यापार किया और तदुपरान्त उसने अपना सारा ध्यान समाज-सुधारकी ओर लगाया।

सन् १८२९ में फूर्येकी प्रसिद्ध रचना 'दि न्यू इण्डस्ट्रियल वर्ल्ड' का प्रकाशन हुआ। इस पुस्तकमें फूर्येके विचारोंका अच्छा प्रतिपादन है। उसमें कुछ असंगत बातें भी हैं, परन्तु वे फूर्येकी 'सनक' मानी जा सकती हैं।

फूर्येकी बहुत बड़ी विशेषता यह है कि वह सरल और प्राकृतिक जीवनपर जोर देता है। वह गाँवोंकी ओर लौटनेका पक्षपाती है, सहयोगात्मक जीवनका पुजारी है और कृषिका जबरदस्त समर्थक है। मनोविज्ञानका उसे ज्ञान है। मानवकी विभिन्न रुचियोंका उसे ध्यान है। अतः वह श्रमको आकर्षक बनानेपर बड़ा बल देता है। पूँजीवादका भयंकर अभिशाप उसके नेत्रोंके समक्ष नाच रहा

था। व्यापारियों और उद्योगपतियोंकी बेईमानी उसकी आँखोंमें खटक रही थी। निराश्रितों, पीड़ितों और अकिंचनोंकी दयनीय स्थिति उसे काटे खा रही थी। तभी उसने ऐसे नये समाजकी रचनाका स्वप्न देखा, जिसमें न दारिद्र्य हो, न शोषण; न अन्याय हो, न अत्याचार; न घृणा हो, न वैमनस्य। बड़े उद्योगोंसे उसे घृणा थी। कृषि, लघु उद्योगों तथा विकेन्द्रीकरणका वह पक्का समर्थक था। जीदके अनुसार 'ओवेनका प्रभाव भले ही फूर्येसे अधिक दिखाई पड़ता है, पर फूर्येकी बौद्धिक देन अधिक व्यापक दृष्टिवाली है। फूर्येने सभ्यताके दोषोंको अत्यन्त ही बारीकीसे अनुभव किया है, उसमें भविष्यको दैवी गुणसम्पन्न बनानेकी विलक्षण शक्ति है।'[1]

अशोक मेहताके शब्दोंमें 'सेंट साइमन यदि ऊपर उठते हुए उद्योगपतिके प्रवक्ता और गुणगायक थे, यदि वे इंजीनियर या बैंकरकी भूमिकाको गौरवपूर्ण बनानेमें समर्थ रहे, तो फूर्ये निराश्रित और हतोत्साह मध्यमवर्गीय व्यक्तिकी भावना, ह्रास और उत्थानका प्रतीक था। फूर्ये आश्रयहीनोंकी मनोदशा, अनुभूति और अभिलाषाओंका प्रतिनिधित्व करता था। उसने उच्च बुर्जुआ-वर्गके विरुद्ध छोटे लोगोंकी कटुता प्रकट की। एक ओर जहाँ सेंट साइमनको उत्पादनमें अदक्षताकी चिन्ता थी, वहाँ फूर्ये त्रुटिपूर्ण वितरण-व्यवस्था और आर्थिक जीवनमें अन्यायोंको लेकर परेशान था। फूर्येमें नैतिक तत्त्व बहुत बलवान् था। उसने देखा कि पूँजीवाद सभी चीजोंको बर्बाद कर रहा है, सभ्यता भ्रष्ट हो चुकी है और वाणिज्यसे लेकर विवाहतक सभी सामाजिक परम्पराओंमें विकृति आ गयी है। अक्षमताके सम्बन्धमें फूर्येकी धारणा सेंट साइमनकी विचारधारासे बहुत भिन्न है। सेंट साइमनका दृष्टिकोण वही है, जो उपक्रमी, ऊपर उठ रहे बुर्जुआ-वर्ग, अर्थ-व्यवस्थाके नये व्यवस्थापक, इंजीनियर, बैंकर और बड़े उद्योगपतिका होता है। फूर्येका दृष्टिकोण किसान, शिक्षक, क्लर्क और छोटे व्यापारीका दृष्टिकोण था। फूर्येका सामान्य दृष्टिकोण यह था कि उत्पादन और वितरण मिले-जुले रूपमें हो। उसने इस बातपर जोर दिया कि अपनी पसन्दके अनुसार लोगोंको कोई भी कार्य करनेके लिए स्वतन्त्र होना चाहिए। फूर्येके चिन्तनमें कृषिकी प्रधानता थी। सेण्ट साइमनने जहाँ औद्योगिक विकासपर जोर दिया, वहाँ फूर्ये उद्योग-विरोधी बना रहा और कृषिको प्रधानता देनेपर बराबर जोर देता रहा।'[2]

---

१ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ २५५।

२ अशोक मेहता : डेमोक्रेटिक सोशलिज्म, पृष्ठ २१—२५।

प्रमुख आर्थिक विचार

फूर्येके आर्थिक विचारोंको मुख्यतः ४ भागोंमें विभाजित किया जा सकता है :

१. फ्लान्स्टरी या फ्लान्क्सकी कल्पना,
२. पूर्ण सहकारिता,
३. भूमिकी ओर प्रत्यावर्त्तन और
४. श्रममें रोचकता।

फ्लान्स्टरी

फूर्येकी कल्पनाकी इकाई है—'फ्लान्स्टरी'। संक्षेपमें उसे लोग 'फ्लान्क्स' भी कहकर पुकारते हैं। ओवेनकी 'न्यू हारमनी' बस्तीकी भाँति यह फूर्येकी आदर्श सामाजिक-इकाई है।

सरिताके रमणीक तटपर प्रकृतिकी गोदमें ४०० परिवारोंकी वह छोटी-सी बस्ती ४०० एकड़ भूमिपर बसी होगी। ये सारे परिवार एक बृहद् भवनमें निवास करेंगे। सबके उपभोगके पदार्थ सामुदायिक रहेंगे, केवल निवासके कमरे स्वतंत्र रहेंगे। भोजनालय, व्याख्यानशाला, शिक्षालय, वाचनालय आदि सभी स्थान सार्वजनिक रहेंगे, जहाँ १५०० व्यक्तियोंके खान पान तथा अन्य उपभोगोंकी समुचित व्यवस्था रहेगी। अपनी आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिए उन्हें अन्यत्र कहीं नहीं जाना पड़ेगा। प्रत्येक मनुष्य अपनी रुचिके अनुकूल अपने कमरे चुन लेगा, फिर चाहे वह संयुक्त भोजनालयमें भोजन करे और चाहे अपने कमरेमें ही। किसीकी स्वतंत्रतामें कोई बाधा नहीं रहेगी। पाक-क्रिया और स्वच्छता-का कार्य सब लोग मिलकर करेंगे। भोजन, बिजली, सफाई आदिकी सामुदायिक व्यवस्था रहनेसे व्ययमें भी कमी आयेगी और उसके कारण फ्लान्स्टरीके निवा-सियोंका रहन-सहनका खर्च कम पड़ेगा, फिर भी पाँच प्रकारकी श्रेणियाँ रहेंगी। जो जिस श्रेणीका होगा, वह उसके अनुकूल अपनी व्यवस्था कर सकेगा।

यहाँके निवासी अपनी भूमिपर स्वयं ही स्वयंप्रेरणासे कृषि करेंगे। सेव, सब्जी आदिके उत्पादनपर, मधुमक्खी-पालन और मुर्गी-पालनपर उनका विशेष जोर रहेगा; अन्न, दाल आदिके उत्पादनपर कम। कारण, उसमें नीरस श्रम अधिक लगता है। सारा उत्पादन सहकारिताके आधारपर स्वावलम्बनकी दृष्टिसे होगा। कृषिके अतिरिक्त छोटे-छोटे उद्योग-धन्धे भी चलाये जायँगे। फिर भी यदि किसी वस्तुकी कमी पड़ेगी अथवा किसीका आधिक्य हो जायगा, तो अन्य फ्लान्स्टरीसे उसकी पूर्ति की जा सकेगी अथवा अतिरिक्त उत्पत्ति वहाँ भेजी जा सकेगी।

फ्लान्स्टरीके सदस्य पूर्ण सहकारी पद्धतिसे काम करेंगे और जो कुछ उत्पत्ति

होगी, संयुक्त कम्पनीकी भाँति वे उसके स्वामी होंगे। श्रम, पूँजी और योग्यतामें सबका अनुदान रहेगा और उत्पत्तिकी बचतका वितरण इस प्रकार कर लिया जायगा—श्रमके लिए ५/१२, पूँजीके लिए ४/१२ और योग्यताके लिए ३/१२। सभी व्यक्ति समान भागसे उसमें श्रम करेंगे, पूँजी लगावेंगे और योग्यता प्रदर्शित करेंगे, इसलिए सबको उसमें भाग मिलेगा। अतः श्रम और पूँजीका संघर्ष स्वतः समाप्त हो जायगा।

फूर्येकी इस सामाजिक इकाईमें सेवा करनेवाले ही सेवाका आनन्द लेंगे। कुछ लोग खेतीका काम करेंगे, कुछ बगीचेका; कुछ लोग बुनकरका काम करेंगे, कुछ अन्य प्रकारका। सबको अपनी रुचिके अनुकूल कार्य करनेकी स्वतंत्रता होगी। ऐसा भी सम्भव है कि आज कोई बगीचेमें काम करे, कल करघेपर कपड़ा बुने और परसों पाकशालामें भोजन बनाये।

पूर्ण सहकारिता

फूर्येकी फ्रान्स्टरीकी मूल आधारशिला है—सहयोगात्मक जीवन। उसे कृषि और सादे सरल जीवनमें सुख प्रतीत हुआ, बाजार और प्रतिस्पर्द्धामें भयंकर दुःख। अतः उसने ऐसा आवश्यक माना कि उपभोक्ता ही स्वयं उत्पादन करे और उत्पादक ही स्वयं उपभोग करे। इसके लिए वह स्वयंप्रेरणाका तीव्र समर्थक था।

फूर्येकी मान्यता थी कि जीवनमें सुखकी अभिवृद्धि केवल तभी सम्भव है, जब मानवके जीवनमें कोई विवशता न हो, कोई परेशानी न हो और उसके कार्यमें आकर्षण हो, रुचि हो, सन्तोष हो। इसके लिए ऐसा संगठन आवश्यक है, जिसमें सहयोग और साहचर्यकी भावना हो, पृथकत्व और प्रतिस्पर्द्धाका नाम न हो। आवेगोंका दमन न करके उनके अभिव्यक्तीकरणकी स्वतंत्रता हो। फूर्ये मानता था कि इस प्रकारका स्वस्थ जीवन सहयोगकी भावभूमिपर प्रतिष्ठित खेतिहर समाजमें ही सम्भव है। वह समाज न तो इतना छोटा रहे कि व्यवसायको सीमित कर दे और न इतना व्यापक ही हो कि सहयोगसे कार्य करनेकी मानवकी शक्तिको ही कुंठित कर डाले।

फूर्ये चाहता था कि उसके नव-समाजका उत्पादन व्यक्तिगत लाभके लिए न होकर, सारे समुदायके हितकी दृष्टिसे हो। जो भी वस्तुएँ तैयार की जायँ, वे उत्तम हों, टिकाऊ हों और उनके निर्माणमें निर्माताओंको उत्साह और सन्तोषकी अनुभूति हो। वह मानता था कि इस सहयोगात्मक जीवनके फलस्वरूप लोगोंको सन्तोषप्रद काम मिलेगा, विभिन्न व्यवसाय और उद्योग पनपेंगे,

मानवकी सीधी-सादी आवश्यकताओंकी भलीभाँति पूर्ति होगी और लोगोंमें परस्पर घनिष्ठ मित्रताका उदय होगा ।[1]

फूर्येने सहकारिताको पूर्ण रूपसे विकसित करनेकी कल्पना उपस्थित की है। सहकारी उत्पादन, सहकारी उपभोग, सहकारी सुधार समिति, सहकारी बहुधंधी समिति, सहकारी वितरण समिति—सभी प्रकारके सहकारपर उसने जोर दिया है। ओवेन जहाँ केवल उपभोक्ता सहकारी समितियोंतक सीमित रहा था, वहाँ फूर्येने सहकारिताको अत्यधिक व्यापक बनाया।

फूर्येने पूँजीपतियों, श्रमिकों और उपभोक्ताओंके पारस्परिक हितोंके संघर्ष-को मिटानेके लिए सहभागिताका एक उत्तम उदाहरण उपस्थित किया है। उसकी यह आर्थिक मान्यता बड़ी महत्त्वपूर्ण है। उसने तीनोंको एकमें मिलानेकी चेष्टा की है। संघर्षका कारण तो तब उपस्थित होता है, जब व्यक्ति भिन्न-भिन्न होते हैं; जहाँ पूँजी, श्रम और उपभोग तीनोंका सम्बन्ध एक ही व्यक्तिसे होगा, वहाँ संघर्ष कैसा ?[2]

भूमिकी ओर प्रत्यावर्तन

भूमिकी ओर प्रत्यावर्तनकी फूर्येकी धारणामें दो बातें अन्तर्हित थीं :

एक तो यह कि फूर्ये चाहता था कि उद्योगोंके अभिशापसे पीड़ित नगरोंमें जनसंख्याकी जो वृद्धि हो रही है, उसका विकेन्द्रीकरण हो। लोग उपयुक्त स्थान चुनकर फ्लान्स्टरियोंमें विभक्त हो जायँ। हाँ, स्थान चुननेमें इस बातका विशेष ध्यान रखा जाय कि यह नयी सामाजिक बस्ती किसी सुरम्य स्थलीमें ही बसायी जाय, जहाँ सरिताका सुन्दर दुकूल हो, वनों और पर्वतोंका प्राकृतिक सौंदर्य आसपास बिखरा पड़ा हो और जहाँ कृषिके लिए उत्तम भूमि प्राप्त की जा सके। रस्किन और मारिसके शिष्य जिन उपवन-नगरोंकी स्थापना कर रहे हैं, उनकी पूर्वकल्पना फूर्येने ही की है।

दूसरी बात यह कि फूर्ये बड़े उद्योगोंके विकासको सीमित करना चाहता था। वह चाहता था कि उनके स्थानपर छोटे उद्योगोंको अधिकतम विकासका अवसर मिले। बड़े उद्योग केवल उतने ही चलें, जितनेकी अनिवार्य आवश्यकता हो।[3]

भूमिकी ओर प्रत्यावर्तनका फूर्येका उद्देश्य यही था कि लोग बड़े उद्योगोंके स्थानपर कृषिकी ओर झुकें। यंत्रोंका वह बहिष्कार नहीं करता, परन्तु बड़े उद्योगोंके अभिशापसे जनताको मुक्त करनेके लिए वह फ्लान्स्टरीकी कल्पना

---

१ अशोक मेहता : एशियाई समाजवाद : एक अध्ययन, पृष्ठ १४।

२ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ २६०।

३ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ २६१।

उपस्थित करता है। वह कृषि और छोटे उद्योगोंकी सहायतासे छोटी-छोटी सामाजिक इकाइयोंको आत्मनिर्भर बनानेका इच्छुक है और इस प्रकार पुरुष और प्रकृतिके बीच सामंजस्य स्थापित करनेके लिए सचेष्ट है। ओवेनकी वातावरणको परिवर्तित करनेकी भावना फूर्येमें भी स्पष्ट है, अन्यथा वह फलान्स्टरीकी कल्पना खड़ी ही क्यों करता ?[1]

श्रममें रोचकता

फूर्येने मानवके मनोविज्ञानका अच्छा अध्ययन किया था। फलान्स्टरीमें सामुदायिक जीवनके सारे कार्य सहकारिताकी पद्धतिपर स्वयं जनता द्वारा किये जानेकी योजना थी। किसी एक ही कामको करते रहनेसे नीरसताका अनुभव न हो, इस दृष्टिसे इस बातकी व्यवस्था की गयी थी कि समय-समयपर काममें परिवर्तन होता रहे। फूर्ये इस बातपर जोर देता था कि कार्यका आधार आकर्षण हो, न कि नियंत्रण। उसका यह आकर्षण-नियम मानवकी तीन प्रवृत्तियोंपर आधृत था :

नाना प्रकारकी पसन्द और परिवर्तनकी प्रवृत्ति,
प्रतिस्पर्द्धाकी प्रवृत्ति और
मिल-जुलकर कार्य करनेकी प्रवृत्ति।

फूर्येका विचार था कि इन मूल प्रवृत्तियोंको सँजोकर ही आकर्षणको उत्पादनका आधार बनाया जा सकता है। इससे उत्पादनमें कई गुनी वृद्धि तो होगी ही, वितरण भी न्यायसंगत रीतिसे होने लगेगा।[2]

फूर्ये चाहता था कि श्रममें ऐसा आकर्षण रहना चाहिए कि मनुष्य स्वतः ही उसकी ओर आकृष्ट हो। उसमें खेल जैसा आनन्द प्रतीत होना चाहिए। संगीत भी उसके साथ सम्मिलित रहे, ताकि मानवको न तो थकानकी अनुभूति हो और न नीरसताकी। श्रममें रोचकता उत्पन्न करनेके लिए थोड़े-थोड़े अन्तरपर काममें परिवर्तन भी किया जा सकता है और व्यक्तियोंको विभिन्न श्रेणियोंमें भी विभाजित किया जा सकता है। फिर यह निर्णय लोगोंपर छोड़ दिया जाय कि वे किस श्रेणीमें जाना पसन्द करते हैं या कौन-सा काम करना उन्हें रुचता है।

फूर्येकी यह विशेषता है कि वह श्रमको रोचक बनानेपर इतना जोर देता है। उससे पहलेकी परम्परामें तो श्रम एक अभिशाप ही माना जाता था। मनुष्य विवश होकर, परिस्थितियोंसे लाचार होकर, स्वार्थसे प्रेरित होकर अथवा डण्डेकी मारसे बचनेके लिए श्रम करता था। ऐसी स्थितिमें उसमें आनन्दका प्रश्न ही कहाँ

---

१ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ २५७।

२ अशोक मेहता : डेमोक्रेटिक सोशलिज्म, पृष्ठ २४।

उठता है ? पर फूर्ये जिस भावी समाजकी आधारशिला खड़ी करता है, उसमें वह चाहता है कि श्रम आनन्दका साधन बने। वह ऐसे समाजका स्वप्न देखता है, जिसमें मनुष्य श्रम करनेके लिए विवश नहीं किया जायगा, न रोटीके लिए, न स्वार्थके लिए और न सामाजिक या धार्मिक कर्तव्यके पालनके लिए। उसके समाजमें सभी लोग आनन्दके लिए श्रम करेंगे, जैसे वे खेलने जा रहे हों।[1]

मूल्यांकन

सामाजिक विकृतियोंके निवारणके लिए आज जिन मनोवैज्ञानिक साधनोंका व्यवहार किया जाता है, फूर्येने आजसे सवा-डेढ़ सौ वर्ष पूर्व ही उनकी कल्पना कर ली थी। पर समयसे इतना पूर्व होनेके कारण उसे 'सनकी' और 'पागल' माना गया! परन्तु फूर्येकी विचारधारामें शीघ्र ही अंकुर फूटने लगे। उसके आदर्शके अनुकूल सन् १८४१ में अमरीकामें 'ब्रुक फार्म' की स्थापना हुई, जिसमें थोरो और इमर्सन जैसे दार्शनिकों और हाथर्न जैसे उपन्यासकारोंका सहयोग प्राप्त था। फ्रांसमें आज भी 'फ्लान्स्टरी स्कूल' चलता है। फूर्येके शिष्य फ्रोबल्ने किण्डर-गार्टनकी वह मनोहर शिक्षा-प्रणाली खोज निकाली, जिसने आज सारे विश्वके बालकोंपर अपना जादू बिखेर रखा है। उसका पूर्ण सहकारिता-का विचार सहकारिता आन्दोलनमें भलीभाँति पुष्पित और पल्लवित हुआ है। 'उपवन-नगर' की योजनापर फूर्येका स्पष्ट प्रभाव है। सहभागिताका फूर्येका विचार फ्रांसके अ-मार्क्सवादी समाजवादियोंमें खूब पनपा।

फूर्येने फ्लान्स्टरीके लिए धन एकत्र करनेकी जिस योजनाकी कल्पना की थी, उसके आधारपर आगे चलकर मिश्रित पूँजीवाली कम्पनियोंका उदय हुआ।

फूर्येके विचारोंमें लोगोंको कुछ उपहासास्पद बातें भी मिलती हैं, जैसे वह कहता था कि 'स्त्रियाँ भी सामुदायिक सम्पत्ति मानी जायँ, उन्हें स्वेच्छा-रमणका स्वातन्त्र्य रहे।' ऐसे ही फूर्येने कहा है कि 'अन्य ग्रहों, उपग्रहोंके निवासियोंको एक विशेष अङ्ग होता है, जिससे हम वञ्चित हैं, पर वह अङ्ग बड़ा उपयोगी होता है। वह मनुष्यको गिरनेसे बचाता है, सुरक्षाका एक शक्तिशाली साधन है और उसमें आश्चर्यजनक हस्त-कौशल रहता है।' उसकी इस कल्पनाका उपहास करनेके लिए लोग कहने लगे कि फ्लान्स्टरीके सभी सदस्योंके एक पूँछ रहेगी, जिसके सिरेपर एक आँख लगी होगी![2]

फूर्येकी बातोंमें तथ्यका अंश पर्याप्त था। सहकारी उत्पादनका उसका

---

१ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ २६२।

२ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ २५५।

सिद्धान्त, श्रमको रुचिकर बनानेका सिद्धान्त और श्रमिकोंकी स्थितिमें नाना प्रकारके सुधारोंका विचार आगे चलकर कृतकार्य हुआ ही।[1]

यह निर्विवाद है कि आर्थिक विचारधाराके विकासमें फूर्येका स्थान अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

थामसन

विलियम थामसन (सन् १७८३–१८३३) आयर्लैण्डका निवासी प्रमुख समाजवादी विचारक था। उसकी प्रमुख रचना 'एन इनक्वायरी इनटू दि प्रिंसिपल्स ऑफ दि डिस्ट्रीब्यूशन ऑफ वेल्थ मोस्ट कण्ड्यूसिव टू ह्यूमैन हैपीनेस' सन् १८२४ में प्रकाशित हुई। उसके विचार बादमें मार्क्सवादी विचारधाराके आधार बने। उसने रिकार्डोकी अर्थ-व्यवस्था और बेंथमकी उपयोगितावादी धारणाकी समाजवादी व्याख्या की।[2]

थामसनकी मान्यता है कि श्रम ही मूल्यका आधार है। अतः श्रमिक-वर्गको ही सारी उत्पत्ति मिलनी चाहिए। पूँजीवादी समाजमें पूँजी और भूमिके दावोंके फलस्वरूप बेचारा श्रमिक इस लाभसे वंचित रह जाता है। उसे केवल उतना ही अंश मिल पाता है, जिसके कारण वह किसी प्रकार कठिनाईसे अपना जीवन धारण कर सके। पूँजीवादी-वर्ग शेष उत्पत्ति यह मानकर हड़प लेता है कि यह उसकी विशिष्ट बुद्धि और योग्यताका पुरस्कार है। चूँकि राजनीतिक सत्ता इस वर्गके ही हाथमें रहती है, अतः यह वर्ग श्रमिककी उत्पत्ति अनुचित रूपसे मार बैठता है।[3]

थामसनने इस अन्यायके प्रतिकारके लिए इस बातकी माँग की है कि सामाजिक संस्थाओंका पुनर्गठन होना चाहिए, पर वह उसका कोई उत्तम चित्र नहीं खड़ा कर सका। उसने न तो व्यक्तिगत सम्पत्तिके उन्मूलनकी बात कही और न यही कहा कि पूँजीपतियों और भू-स्वामियोंसे सारी उत्पत्ति लेकर श्रमिक को दे दी जाय।

बेंथमकी भाँति थामसन भी अधिकतम लोगोंके अधिकतम सुखका समर्थक था। इस सिद्धान्तका पूँजीवादसे विरोध था। कारण, एक ओर सम्पन्नता और विलास चरमसीमाकी ओर बढ़ रहा था, दूसरी ओर अभाव और दारिद्रय। इसके निराकरणका उपाय यही था कि पूँजीपतिको बेजा मुनाफा उठानेसे रोका जाय। थामसन पूर्णांशमें समाजवादी विचारक नहीं है, फिर भी उसने जिन विचारोंका

---

१ हेने : हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ ४३१।

२ एरिक रौल : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ २४६-२४७।

३ हेने : हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ ४३१-४३२।

प्रतिपादन किया, उनसे राडबर्ट्स और मार्क्सको अपने सिद्धान्तोंके निरूपणमें बड़ी सहायता मिली।

थामसनने ट्रेड यूनियनोंकी कल्पना सहकारिताके कार्यकलापोंके लिए बनाये गये संगठनोंके रूपमें की।[1] थामस हाजस्किन (सन् १७८३–१८६९) ने उन्हें वर्ग-संघर्षके संगठनोंके रूपमें देखा। उसने हाजस्किनके उत्तरमें एक पुस्तक 'लेबर रिवार्डेड' (सन् १८२७) लिखी थी। थामसनके सुधारके सुझावोंपर ओवेनकी पूरी छाप है।

थामसनके अतिरिक्त जान ग्रे (सन् १७९९–१८५०), जान फ्रांसिस ब्रे (सन् १८०९–१८९५) और हाजस्किनने भी समाजवादी विचारोंका प्रतिपादन किया। पर इन सबका स्वर प्रोदोंकी भाँति उग्र एवं क्रान्तिकारी नहीं था। ये सब रिकार्डोके मूल्य-सिद्धान्तको लेकर आगे चलते थे और उपयोगितावादका क्रान्तिकारी विवेचन करते थे। समाजवादी विचारधाराके विकासमें इन लोगों-की देन नगण्य नहीं। मार्क्सने हाजस्किनके सिद्धान्तको ही विशेष रूपसे विकसित किया।[2]

लुई ब्लाँ

जी० जोसेफ लुई ब्लाँ (सन् १८११–१८८२) फ्रांसका प्रसिद्ध इतिहासकार और राजनीतिज्ञ माना जाता है। पहले वह पत्रकार भी रहा था। सन् १८४८ की क्रान्तिके उपरान्त उसने शासनकी बागडोर भी सँभाली थी। शासनकालमें उसने अपने आर्थिक विचारोंको कार्यान्वित करनेकी चेष्टा की, परन्तु उसके विरोधियोंने उसकी दाल नहीं गलने दी।[3]

लुई ब्लाँके विचारोंमें ओवेन और फूर्येकी भाँति मौलिकता तो नहीं है, परन्तु समाजवादी विचारोंका वह विशिष्ट व्याख्याता अवश्य माना जाता है। उसकी 'श्रम-संगठन' सम्बन्धी पुस्तक सन् १८४१ में प्रकाशित हुई। उसने बड़ी ख्याति प्राप्त की।

प्रमुख आर्थिक विचार

लुई ब्लाँके विचारोंको मुख्यतः दो भागोंमें विभाजित किया जा सकता है :

१. प्रतिस्पर्द्धाका विरोध और

२. सामाजिक उद्योगशाला।

---

१ अशोक मेहता : फेबियन समाजवाद : एक अध्ययन, पृष्ठ २६।

२ एरिक रौल : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ २४६—२५०।

३ जीद और रिस्ट : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन्स, पृष्ठ २७२।

१. प्रतिस्पर्द्धाका विरोध

लुई ब्लाँकी यह मान्यता थी कि प्रतिस्पर्द्धा ही समस्त आर्थिक संकटोंका मूल कारण है। ब्लाँने पूँजीवादी स्वामित्व तथा प्रतिस्पर्द्धाके 'भीरुतापूर्ण एवं निर्मम-सिद्धान्त' को बुराइयोंकी जड़ माना, जिसने 'प्रत्येक व्यक्तिको अपने सर्वनाशके लिए स्वतंत्र छोड़ दिया है, ताकि वह फिर स्वयं दूसरोंको बर्बाद कर सके।' इसका उन्मूलन करके ही सामाजिक न्यायकी स्थापना की जा सकती है।[1]

लुई ब्लांकी मान्यता थी कि दारिद्र्य, वेश्यावृत्ति, नैतिक अधःपतन, अपराधोंकी वृद्धि, आर्थिक संकट और अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष आदि सभी दोषोंका मूल कारण प्रतिस्पर्द्धा ही है। इसके कारण 'एक ओर सर्वहाराका शोषण होता है, दूसरी ओर दरिद्रता बढ़ती है तथा बुर्जुआका नैतिक अधःपतन और सर्वनाश होता है।'[2] ब्लाँका कहना था कि यदि प्रतिस्पर्द्धाके भयंकर अभिशापसे मुक्त होना है, तो समाजका नये सिरसे निर्माण करना पड़ेगा और सहयोगके सिद्धान्तपर सामाजिक जीवनका सारा ढाँचा खड़ा करना पड़ेगा। प्रतिस्पर्द्धाके मूलपर ब्लाँने जितना तीव्र प्रहार किया है, उतना शायद ही और किसीने किया हो।

लुई ब्लाँने सामाजिक उद्योगशालाको सहयोगके सिद्धान्तकी आधारशिला बताया है और कहा है कि इसीके द्वारा प्रतिस्पर्द्धाका उन्मूलन किया जा सकता है।

२. सामाजिक उद्योगशाला

लुई ब्लाँ यह मानता था कि सहकारी उत्पादन-पद्धति द्वारा हम पूँजीवादके अभिशापसे मुक्त हो सकते हैं। इसके लिए सामाजिक उद्योगशाला खोलनी होगी। इस उद्योगशालामें श्रमिक अपने साधनों द्वारा बड़े पैमानेपर उत्पादन करेंगे। इसमें मध्यवर्ती लोगोंको कोई स्थान नहीं रहेगा। राज्य सरकार इसकी आरम्भिक पूँजीके लिए कुछ कर्ज दे दे, जिसपर वह कुछ व्याज भी ले सकती है। आरम्भमें सरकार श्रमिकोंकी व्यवस्थामें भी कुछ सहायता दे, बादमें वे स्वयं अपने नेतृवृन्दका चुनाव कर लेंगे।

श्रमिक अपनी उद्योगशालामें जिन वस्तुओंका उत्पादन करेंगे, उनके उत्पादनमें श्रमिकोंकी मजदूरी और पूँजीका व्याज शामिल रहेगा। बाजारमें उनकी बिक्रीसे जो आय होगी, उसमेंसे पंचमांश रक्षित कोषमें रखनेके उपरान्त जो कुछ बचेगा, वह तीन समान भागोंमें विभाजित कर दिया जायगा :

---

१ अशोक मेहता : एशियाई समाजवाद : एक अध्ययन, पृष्ठ २४।

२ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ २६६।

(१) मजदूरीमें वृद्धिके निमित्त,

(२) वृद्ध और अशक्त श्रमिकोंके सामाजिक बीमेके निमित्त तथा अन्य उद्योगोंके सहायतार्थ और

(३) उद्योगशालामें नये भरती होनेवाले श्रमिकोंकी साधन-पूँजीके निमित्त।[1]

ब्लाँकी यह मान्यता थी कि उद्योगशालाओंका उत्पादन स्वतंत्र रूपसे पूँजीवादी उत्पादनोंकी प्रतिस्पर्द्धामें मजेमें खड़ा हो सकेगा। उसका उत्पादन-व्यय कम होगा, कार्यक्षमता अधिक होगी, अतः वह सरलतासे पूँजीवादी उत्पादनको समाप्त कर प्रतिस्पर्द्धाकी ही समाप्ति कर डालेगा। ब्लाँका यह विश्वास था कि एक निश्चित निम्नतम वेतनके साथ कामका अधिकार, कामकी अच्छी शर्तें और औद्योगिक स्वायत्तता होनेसे अच्छे कर्मचारी इन सामाजिक उद्योगशालाओंमें आयेंगे और इस प्रकार धीरे-धीरे पूँजीपतियोंकी प्रतिस्पर्द्धा-शक्तिको अन्ततः नष्ट कर देंगे। इस आदर्श और सहमति द्वारा क्रांति होगी। ब्लाँने इस बातपर भी जोर दिया कि इन उद्योगशालाओंके द्वारा कृषि-व्यवस्थाका पुनर्गठन किया जाय। उसका स्वप्न था कि 'औद्योगिक कार्यको कृषिके साथ परिणय-सूत्रमें आबद्ध' कर दिया जाय।[2]

सामाजिक उद्योगशाला मूलतः उत्पादकोंकी सहकारी समिति है, जिसमें मध्यवर्तीके लिए कोई स्थान नहीं है। ब्लाँने इसमें न तो ओवेनकी भाँति कल्पनाका पुट मिलाया था और न फूर्येकी भाँति। वह वास्तविकतावादी था। इसीलिए उसकी यह योजना अत्यन्त व्यावहारिक और उत्तम मानी गयी और उसने बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त की।

राज्यसे आर्थिक सहायता लेने और राज्य द्वारा श्रमिकोंका हित-साधन करनेवाले कानून बनवानेपर ब्लाँने जोर दिया है। अन्य सब बातें उसने श्रमिकोंपर ही छोड़ दीं। वह मानता था कि आर्थिक विकास और कल्याणकारी सेवाओंकी योजना बनाना राज्यका काम है। ब्लाँके लिए राज्य-समाजवाद एक अल्पकालीन व्यवस्था थी। वह मानता था कि सामाजिक उद्योगशालाओंको राज्य थोड़ा-सा प्रोत्साहन दे दे, फिर तो वे स्वयं अपने पैरोंपर खड़ी हो सकेंगी। उन्हें अधिक प्रोत्साहनकी आवश्यकता नहीं पड़ेगी।[3]

---

१ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ २६६।

२ अशोक मेहता : एशियाई समाजवाद : एक अध्ययन, पृष्ठ २४-२५।

३ भटनागर और सतीशबहादुर : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ २०२।

मूल्यांकन

लुई ब्लॉं सहकारी उत्पादनके विचारका जन्मदाता है। समाजवादी विचार-धारामें उसके विचारोंका अपना महत्त्व है। उसकी दो विशेषताएँ मुख्य हैं :

(१) ब्लॉं सर्वहारा-वर्गके समाजवादका सर्वप्रथम प्रतिष्ठापक है। उसके पहलेके कल्पनाशील विचारक पूँजीवादके और पूँजीपतियोंके भी समर्थक रहे थे, केवल सर्वहारा-वर्गके हितोंको दृष्टिमें रखकर उन्होंने कोई योजना प्रस्तुत नहीं की थी। ब्लॉंकी सामाजिक उद्योगशालाकी योजना एकमात्र सर्वहारा-वर्गके हितको ध्यानमें रखकर प्रस्तुत की गयी थी।

(२) ब्लॉं पहला समाजवादी है, जिसने राज्यके हस्तक्षेप और स्वतंत्रताके सामंजस्यकी बात कही है। वह कहता है कि 'पूर्ण स्वतंत्रताका अर्थ यह है कि मनुष्य न्यायसम्मत रीतिसे अपनी सारी प्रतिभाओंका पूर्ण विकास कर सके और उनका पूर्णतः सदुपयोग कर सके।'[1]

ब्लॉंके समकालीन विचारकोंने यह कहकर उसकी आलोचना की है कि उसकी सामाजिक उद्योगशालाका प्रयोग असफल हो गया, अतः वह अव्यावहारिक है। बात ऐसी नहीं है। यह प्रयोग ही गलत ढंगसे हुआ और ब्लॉंके संरक्षणमें उसका काम चला ही नहीं। इसमें बेकार मजदूरोंको काम देनेके लिए मिट्टीका काम दिया गया था और इसका संचालक ऐसा व्यक्ति था, जो समाजवाद-विरोधी था।

ब्लॉंकी सामाजिक उद्योगशाला आजकी उत्पादक सहकारी समितिके रूपमें विश्वके विभिन्न अंचलोंमें सफलता प्राप्त कर रही है, इसे कौन अस्वीकार कर सकता है?

● ● ●

---

१ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ २७१।

स्वातंत्र्यवाद   : ३ :

उन्नीसवीं शताब्दीके आरम्भसे ही पूँजीवादके गुण-दोष प्रकट होने लगे थे और उनके फलस्वरूप आर्थिक विचारधारा अपना विशिष्ट रूप ग्रहण करने लगी थी। एक ओर शास्त्रीय परम्परा पूँजीवादका समर्थन कर रही थी, दूसरी ओर समाजवादी विचारधारा पूँजीवादके दोषोंपर—धनके विषम वितरणपर, वर्ग-संघर्षपर, ईर्ष्या-द्वेष आदि कुभावनाओंके प्रसारपर, उपनिवेशवाद और साम्राज्य-वादपर, तेजी-मन्दी, गरीबी-अमीरी और आर्थिक संकटों, युद्धों और संघर्षोंके विस्तारपर तीव्र प्रहार करने लगी थी। व्यक्तिगत सम्पत्ति और तज्जनित अभिशाप-के कारण जनता त्रस्त थी और विचारक इस प्रयत्नमें थे कि ऐसी कोई व्यवस्था खोज निकाली जाय, जिससे जनताका त्राण हो सके। ओवेन और फूर्ये, थामसन और ब्लाँ जैसे विचारक अपनी कल्पनाएँ लेकर आगे आ रहे थे और समाजको आर्थिक वैषम्यके संकटसे निकालनेके लिए प्रयत्नशील थे।

इस संक्रमण-कालमें ही प्रोदोंका जन्म और विकास हुआ।

प्रोदों

'सम्पत्ति चोरी है'—इस नारेका जन्मदाता पियर जोसेफ प्रोदों (सन् १८०९–१८६५) समाजवादी है भी और नहीं भी। उसका मूल्यका श्रम-सिद्धान्त और उस आधारपर किया गया सम्पत्तिका विवेचन और पूँजीवादका कटु आलोचन जहाँ उसे समाजवादी बताता है, वहाँ समाजवादका उसका आलोचन उसे बुर्जुआ विचारकोंकी श्रेणीमें ला बैठाता है। वस्तुतः वह स्वातंत्र्यवादी है, अराजकतावादी है। व्यक्तिगत स्वातंत्र्यका वह जबरदस्त समर्थक है और जहाँ स्वातंत्र्यका प्रश्न आता है, वहाँ वह पूर्ण स्वातंत्र्यको ही सर्वोपरि स्थान देता है। अतः उसकी विचारधाराको 'स्वातंत्र्यवाद' ही कहना उपयुक्त होगा।

जीवन-परिचय

फ्रांसके एक मद्य-विक्रेताका पुत्र प्रोदों शैशवसे ही दारिद्र्यकी गोदमें पला था। उसका पिता शराब तो बेचता था, पर ईमान नहीं बेचता था। मजाल क्या कि कोई मूल्यसे एक कौड़ी भी अधिक लेनेके लिए उसे फुसला सके। दाम बढ़ाकर मुनाफा कमानेको वह बेईमानी मानता था। प्रोदोंने मदाम द अगोल्तको एक पत्रमें लिखा था कि 'इसका परिणाम यह हुआ कि मेरे प्रिय पिताका सारा जीवन

दरिद्रतामें ही कटा, वह दरिद्र ही मरा और हम बच्चोंको भी दरिद्र ही छोड़ गया।"[1]

प्रोदोंको इसी कारण विवश होकर १० वर्षकी आयुसे ही जीविकोपार्जनके काममें लगना पड़ा। पहले उसने एक प्रेसमें प्रूफ-संशोधनका कार्य आरम्भ किया, क्रमशः प्रगति करते-करते सन् १८३७ में वह प्रेसका मुद्रक बन गया। बचपनसे ही प्रोदोंमें ज्ञानकी तीव्र पिपासा थी। वह अध्ययनकी ओर प्रवृत्त हुआ। छात्रावस्थामें उसे छात्र-वृत्ति भी मिलती रही। बादमें उसने लेखन-कार्य अपनाया। सन् १८४८ की क्रान्तिके समय वह एक पत्रका सम्पादन कर रहा था और उसके माध्यमसे सामाजिक एवं आर्थिक वैषम्यके निराकरणके लिए अपने स्वतंत्र विचारोंका प्रतिपादन कर रहा था। पर क्रान्तिमें उसने इसलिए भाग नहीं लिया कि वह मानता था कि राज्य-व्यवस्था कैसी भी हो, बुरी ही होती है।

प्रोदोंका परिवार एक कृषक-परिवार था। पिता छोटा-सा मद्य-विक्रेता था। अतः निर्धनताकी गोदमें उसे वे सारी कठिनाइयाँ निरन्तर भोगनी पड़ीं, जो साधारण कृषक एवं मध्यवित्त परिवारके लोगोंको झेलनी पड़ती हैं। प्रतिभा तो उसमें थी ही, सामाजिक अन्यायने उसके अंतस्‌में विद्रोहकी अग्नि प्रज्वलित कर दी। इसका परिणाम यह हुआ कि उसने अत्यन्त तीव्र शब्दोंमें अपने उग्र विचारोंकी अभिव्यक्ति की।[2]

प्रोदों फ्रांसकी विधान निर्मात्री परिषद्‌का सदस्य भी निर्वाचित हुआ था, जहाँ उसने अपने विनिमय बैंककी योजना प्रस्तुत की थी, परन्तु वह उसके समकालीन व्यक्तियोंको इतनी हास्यास्पद प्रतीत हुई कि २ के विरुद्ध ६९१ मतोंसे ठुकरा दी गयी। सन् १८४९ में प्रोदोंने एक बैंककी स्थापना की, परन्तु शीघ्र ही उसका दिवाला पिट गया। प्रोदोंके जीवनका उत्तरकाल क्रान्तिकारी पत्रकारितामें व्यतीत हुआ। उसे अपने उग्र विचारोंके फलस्वरूप तीन वर्षोंतक जेलकी हवा भी खानी पड़ी। सन् १८५८ में वह बेलजियम चला गया और दो वर्ष बाद स्वदेश लौटा। सन् १८६५ में उसका देहान्त हो गया।

प्रोदोंने लिखा बहुत है, पर उसकी दो रचनाएँ बहुत प्रख्यात हैं—'व्हाट इज पावर्टी ?' (सन् १८४०) और 'फिलासॉफी ऑफ मिजरी' (सन् १८४६)। मार्क्सने इस दूसरी पुस्तकके उत्तरमें एक पुस्तक लिखी थी 'दि मिजरी ऑफ फिलासॉफी' (सन् १८४७)।

प्रमुख आर्थिक विचार

प्रोदोंने दर्शन, नीतिशास्त्र और राजनीतिक सिद्धान्तोंपर भी अपने विचार

---

१ पत्र-व्यवहार, खण्ड २, पृष्ठ २३६।

२ जीद और रिस्ट : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन्स, पृष्ठ ३००।

व्यक्त किये हैं, पर यहाँ हम प्रोदोंके आर्थिक विचारोंकी ही चर्चा करेंगे। उन्हें मुख्यतः चार भागोंमें विभाजित किया जा सकता है :

(१) व्यक्तिगत सम्पत्तिका विरोध,
(२) श्रमका मूल्य-सिद्धान्त,
(३) विनिमय बैंक और
(४) न्याय और पूर्ण स्वातंत्र्य।

१. व्यक्तिगत सम्पत्तिका विरोध

प्रोदों व्यक्तिगत सम्पत्तिका तीव्र विरोधी है। वह कहता है कि सम्पत्ति चोरी है और सम्पत्तिवान् लोग चोर हैं। 'सम्पत्ति क्या है?' अपनी पुस्तकका श्रीगणेश ही वह इस प्रश्नसे करता है और उत्तर देता है—'सारी व्यक्तिगत सम्पत्ति चोरी है, दूसरेके श्रमका अपहरण एवं शोषण है। जो लोग सम्पत्तिशाली हैं, वे स्वयं बिना श्रम किये दूसरोंकी कमाई हड़प करके ही, दूसरोंके श्रमको चुराकर ही सम्पत्तिशाली बने हैं।' उसकी पुस्तकमें आदिसे अन्ततक इसी विचारका पुनः पुनः प्रतिपादन है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति चोरी है।[1]

प्रोदोंने प्रकृतिवादियोंके और सेके विचारोंका खण्डन करते हुए अपने इस विचारपर बड़ा बल दिया है। प्रोदों कहता है कि यह तर्क मूर्खतापूर्ण है कि भूमि सीमित है तथा कुछ लोग, जो उसके स्वामी बन गये थे, उनके उत्तराधिकारियोंको उसपर पैतृक अधिकार प्राप्त है। इस तर्कमें तो केवल इतना ही बताया गया है कि भू-स्वामी किस प्रकार भूमिके स्वामी बन बैठे। इसमें उनके अधिकारका औचित्य कहाँ सिद्ध होता है? इसके विपरीत होना तो यह चाहिए था कि भूमि जब सीमित थी, तो वह मुक्त रहती और प्रत्येक व्यक्तिको उसके उपयोगकी स्वतंत्रता रहती।

प्रोदों इस तर्कको भी गलत मानता है कि भू-स्वामियोंने भूमिपर श्रम करके उसे उपयोगी बनाया, इसलिए उन्हें उसके स्वामी बननेका अधिकार है। वह कहता है कि यदि इसी तर्कको लिया जाय, तो आज जो श्रमिक भूमिपर काम कर रहा है, उसे उसका स्वामी माना जाना चाहिए। पर ऐसा कहाँ माना जाता है?

प्रोदोंकी मान्यता है कि श्रमिकोंको मजूरी मिलनेपर भी भूमिपर उनका मालिकाना हक माना जाना चाहिए। वह कहता है कि भूमि प्रकृतिकी मुक्त देन है, इसलिए किसी व्यक्तिको उसपर एकाधिकार नहीं मिलना चाहिए। भूमिपर स्वामित्वकी बात समाप्त कर दी जानी चाहिए।[2]

---

१ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ ३०० ३०१।
२ हेने : हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ ४१५।

प्रोदों व्यक्तिगत सम्पत्तिका इस सीमातक विरोधी था कि वह सम्पत्तिके सामूहिक स्वामित्वका भी विरोध करता था। वह कहता था कि साम्यवादी भी तो विषमताको प्रोत्साहन देते हैं। व्यक्तिगत सम्पत्तिमें जहाँ सबल व्यक्ति निर्बलका शोषण करते हैं, वहाँ साम्यवादमें निर्बल व्यक्ति सबलका शोषण करते हैं!

प्रोदों चाहता था कि व्यक्तिगत सम्पत्तिके दोषोंका परिहार हो। अनर्जित आय समाप्त कर दी जाय; भाटक, ब्याज और मुनाफेका अन्त कर दिया जाय। सम्पत्तिका दुरुपयोग बन्द कर दिया जाय।[1] पर श्रमसे उपार्जित सम्पत्तिको रखने और उसका स्वतंत्रतापूर्वक व्यवहार करनेका अधिकार मनुष्यको रहना चाहिए।

२. श्रमका मूल्य-सिद्धान्त

अन्य समाजवादियोंकी भाँति प्रोदोंकी यह मान्यता थी कि श्रम ही एक-मात्र उत्पादक है। श्रमके बिना न तो भूमिका ही कोई अर्थ है और न पूँजीका ही। अतः यदि कोई सम्पत्ति-स्वामी यह माँग करता है कि मेरी सम्पत्तिके कारण जो उत्पादन हुआ है, उसमेंसे मुझे कुछ अंश मिलना चाहिए, तो उसका यह दावा अन्यायपूर्ण है। उसके इस दावेमें यह भ्रामक धारणा अन्तर्निहित है कि पूँजी स्वयं ही उत्पादिका है, पर ऐसा तो है नहीं। पूँजीपति तो बिना कुछ लगाये ही प्रतिदान पाता है। यह सब स्पष्ट चोरी है।[2]

प्रोदों मानता है कि व्यक्तिगत सम्पत्तिके ही कारण श्रमिक अपने श्रमका उचित पुरस्कार पानेसे वंचित रहता है। उसे श्रमका पूरा अंश मिलता नहीं। ब्याज, भाटक और मुनाफेके नामसे अन्य लोग उसका अंश झटक ले जाते हैं। श्रमिकको जितना मिलना चाहिए, उतना उसे मिल नहीं पाता। उसे मजूरी देनेके बाद जो बचत रहती है, वह अन्यायपूर्ण है।

प्रोदोंके बचत-मूल्यका सिद्धान्त यह है कि पृथक्-पृथक् रूपमें मनुष्य अपने श्रमसे जितना उत्पादन करते हैं, सामूहिक रूपमें वे उसकी अपेक्षा कहीं अधिक उत्पादन कर लेते हैं। पूँजीपति उन्हें मजूरी देता है पृथक्-पृथक् और लाभ उठाता है उनके सामूहिक उत्पादनका, जो अपेक्षाकृत कहीं अधिक होता है। बीचमें जो बचत रह जाती है, वह अन्यायपूर्ण है। श्रमका पूराका पूरा उत्पादन श्रमिकोंमें ही विभाजित कर देना चाहिए।

आजके अर्थशास्त्रियोंकी दृष्टिमें प्रोदोंका बचत-मूल्यका सिद्धान्त उपक्रमीका लाभ है, जो उसे श्रमकी संगठित योजनाके और श्रम-विभाजनके फलस्वरूप प्राप्त होता है। मार्क्सका श्रमका अतिरिक्त मूल्यका सिद्धान्त इससे भिन्न है।

---

१ एरिक रौल : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ २४२।

२ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ ३०१ ३०२।

३. विनिमय बैंक

प्रोदों पूँजीको सारे अनर्थोंका कारण मानता था, उसकी दृष्टिमें द्रव्यके ही माध्यमसे पूँजी सारे उत्पात करती है और श्रमिकोंको उनके वास्तविक अधिकारोंसे वंचित कर देती है। अतः द्रव्यके स्वरूपमें परिवर्तन करके पूँजीको समाप्त किया जा सकता है। वह कहता है कि 'मेरे लेखे द्रव्यका कोई मूल्य नहीं। मैं उसे अपने हाथमें इसीलिए लेता हूँ कि उससे छुटकारा पा सकूँ। न तो मैं उसका उपभोग कर सकता हूँ और न मैं उसकी खेती ही कर सकता हूँ।' प्रोदोंने द्रव्यका स्वरूप परिवर्तित करनेके लिए कागजी नोटोंकी योजना उपस्थित की।

प्रोदोंका कहना था कि वही सम्पत्ति न्यायसंगत है, जिसपर सबका सामूहिक या निर्वैयक्तिक रूपसे नहीं, बल्कि प्रत्यक्ष एवं व्यक्तिगत अधिकार हो। मजदूरोंको उतना ही एक साथ होनेकी जरूरत है, जितना 'वस्तुओंकी माँग, वस्तुओंके सस्तेपन, उपभोगकी आवश्यकता और उत्पादकोंकी सुरक्षाकी दृष्टिसे जरूरी हो।' यदि ऐसी सहकारी समितियाँ अपनी वित्तीय व्यवस्था कर सकें अर्थात् उन्हें अनुग्रहपूर्ण ऋण मिल सके, तो वे उत्पादनका महत्त्वपूर्ण दृष्टिपथ बन सकती हैं। इसके लिए प्रोदोंने ऐसे जनवादी बैंककी योजना बनायी, जो वस्तुओंको आधार मानकर विनिमय नोट जारी करे और ब्याज न ले। उसने ऐसे गोदामोंकी स्थापनापर भी जोर दिया, जो जमा की गयी वस्तुओंके आधारपर जमानत जारी कर सकें।[1]

प्रोदों ऐसा मानता था कि पूँजीपतिकी दासतासे श्रमिक तभी मुक्त हो सकता है, जब स्वामित्व एवं धन लगानेका कार्य वह स्वयं कर सके। इस उद्देश्यको सामने रखकर यह आवश्यक हो जाता है कि सस्ती दरपर ऋणकी समुचित व्यवस्था हो। प्रोदोंने विनिमय बैंककी योजना इसी लक्ष्यको पूरा करनेके लिए बनायी। यह बैंक पूँजी चाहनेवाले सभी श्रमिकोंको कागजी नोट देगा। ये नोट सर्वमान्य होंगे। इनपर कोई ब्याज नहीं लिया जायगा। श्रमिक इन नोटोंको लेकर अपना काम चलायेंगे और बादमें उधार ली हुई पूँजी वापस कर देंगे। नोटोंके कारण उन्हें पूँजीपतिका मुँह जोहनेकी आवश्यकता न पड़ेगी और वे ब्याजसे भी मुक्त रह सकेंगे और मुनाफेके अभिशापसे भी।

धारासभामें प्रोदोंकी इस योजनाका खूब ही मजाक उड़ा। लोगोंने कहा कि यह काल्पनिक अधिक है, व्यावहारिक कम। पर प्रोदोंको उसपर विश्वास था। अतः उसने सन् १८४९ में इस योजनाको कार्यान्वित करनेके लिए जनवादी बैंक खोला था, पर शीघ्र ही उसका दिवाला पिट गया।

ओवेनके नोटोंकी योजनासे, अन्य विनिमय बैंकोंसे अथवा सोल्वेकी हाल

---

१ अशोक मेहता : एशियाई समाजवाद : एक अध्ययन, पृष्ठ ५९।

की 'सामाजिक लेखा' की योजनासे प्रोदोंकी विनिमय बैंककी योजना सर्वथा भिन्न है।[1] सोचनेकी बात है कि प्रोदों जैसे नोटोंके प्रचलनकी बात करता है, क्या वह व्यवहार्य है और यदि वह व्यवहार्य है, तो क्या उसका वह परिणाम निकलेगा, जो प्रोदोंने बताया है ? प्रोफेसर रिस्टका कहना है कि सिद्धान्ततः भले ही दोनों प्रकारके नोटोंके पीछे बैंकके संचालकके हस्ताक्षरकी गारण्टी है, पर एकके पीछे धातुगत जमानत है, दूसरेके पीछे नहीं। व्यवहारमें प्रोदोंकी योजनाकी असफलता निश्चित है। प्रोदोंका नोट सर्वमान्य हो नहीं सकता। और यदि यह मान भी लिया जाय कि प्रोदोंका नोट प्रचलनमें आता है, तो भी उससे ब्याजका निराकरण नहीं हो पाता। द्रव्यके लोप कर देनेसे ब्याजका लोप नहीं हो सकेगा। नैतिक दृष्टिसे लोग बँधे हों और वे ब्याज न लें, यह बात दूसरी है।[2]

४. न्याय और पूर्ण स्वातंत्र्य

प्रोदों न्याय और पूर्ण स्वातंत्र्यका सबसे बड़ा समर्थक था। इसी दृष्टिसे वह राज्यका विरोधी बन बैठा था। उसका कहना था कि 'प्रत्येक राज्य स्वभावतः अधिकारमें, स्वतंत्रतामें हस्तक्षेप करनेवाला होता है।' वह कहता था कि 'मुझे पूर्ण स्वातंत्र्य चाहिए—आत्माकी स्वतंत्रता, प्रेसकी स्वतंत्रता, श्रमकी स्वतंत्रता, वाणिज्यकी स्वतंत्रता, शिक्षणकी स्वतंत्रता, उत्पादित वस्तुओंके स्वेच्छानुकूल विनियोगकी स्वतंत्रता—तात्पर्य ऐसी स्वतंत्रता मेरा लक्ष्य है, जो अनन्त हो, सम्पूर्ण हो, सर्वत्र हो और सदाके लिए हो।'

प्रोदों जिस समाजके निर्माणका स्वप्न देखता था, उसकी आधारशिला स्वातंत्र्य, समानता और बन्धुत्व था। उसकी धारणा थी कि ऐसे समाजमें प्रत्येक व्यक्तिको न्याय प्राप्त होनेकी सुविधा होनी चाहिए। उसमें मनुष्य स्वेच्छया परस्पर सेवा करें।[3] ऊपरसे उनपर राज्य या किसीका अंकुश न रहे। प्रोदों मानता था कि ऐसे समाजका निर्माण क्रमशः ही सम्भव है। हथेलीपर आम नहीं जम सकता। इसके लिए दो प्रकारके आन्दोलन चलाये जाने चाहिए। एक तो अनर्जित आयकी जन्मदात्री व्यक्तिगत सम्पत्ति समाप्त कर दी जाय और दूसरे, प्रत्येक व्यक्तिको अपने श्रमसे उपार्जित सम्पत्ति रखने, मनोनुकूल कार्य करने और सम्पत्तिका विनिमय करनेके अधिकार प्राप्त हों।

प्रोदोंकी स्वातंत्र्य-भावना उसे शासन-मुक्तिकी ओर खींच ले गयी। वह अपने राजनीतिक संगठनके लिए शासन-मुक्तिका समर्थक था। उसने पहलेकी सभी समाजवादी धारणाओंका इस आधारपर विरोध किया कि उनके कारण

---

१ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ ३२२-३२४।

२ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ ३१८-३२०।

३ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ ३०६-३०७।

मनुष्यकी पूर्ण स्वाधीनतामें बाधा पड़ती है। वह कहता था कि साहचर्यमें व्यक्तिकी स्वतंत्रता सीमित हो जाती है। साम्यवादमें राज्यकी ओरसे नियंत्रण रहता है, वह भी गलत है। मनुष्यको 'पूर्ण स्वाधीनता' रहनी चाहिए। बड़े ही मार्मिक शब्दोंमें प्रोदों कहता है[1]—'मैं उस बेचारे श्रमिकके लिए फूट-फूटकर रोया हूँ, जिसकी दैनिक रोटी सर्वथा अनिश्चित रहती है और जो वर्षोंसे यातना-पीड़ित हो रहा है। मैं उसकी हिमायत करता हूँ, पर मैं देखता हूँ कि मैं उसकी सहायता करनेमें असमर्थ हूँ। 'बुर्जुआ' वर्गकी दयनीय स्थितिपर भी मुझे रोना आता है। उसका सर्वनाश मैंने अपनी आँखों देखा है। उसका दिवाला पिट गया है। उसे सर्वहारा-वर्गका विरोध करनेके लिए उकसाया गया है। मेरी व्यक्तिगत प्रवृत्ति बुर्जुआसे सहानुभूति करनेकी है, परन्तु उसके विचारोंके प्रति स्वाभाविक विरोधी भाव होनेसे और परिस्थितियोंके कारण मुझे उसका शत्रु बनना पड़ा है।'

ऐसा भावुक प्रोदों सेंट साइमनवादियों, फूर्ये, समाजवादियों, साम्यवादियों—सबको अपनी कसौटीपर कसकर कहता है—इन सभीका रास्ता गलत है।

मूल्यांकन

प्रोदों व्यक्तिगत सम्पत्तिका कट्टर विरोधी है, पर वह समाजवादी नहीं है। वह साहचर्यवादी भी नहीं है, साम्यवादी भी नहीं है। स्वप्नद्रष्टाओंका उसने विरोध किया है, पर उसकी विनिमय बैंककी योजना उसे स्वप्नद्रष्टाओंकी ही कोटिमें ला खड़ा करती है। स्वाधीनताका वह इतना प्रबल समर्थक है कि वह शासन-मुक्ति और अराजकतावाद (Anarchism) की क्रान्तिकारी धारणातक चला गया और मैक्सस्टर्नर, क्रोपाटकिन और बकुनिन जैसे प्रख्यात अराजकतावादियोंका प्रेरणा-स्रोत बना।

कार्ल मार्क्स प्रोदोंका समकालीन था। सन् १८४४ में पेरिसमें दोनों विचारक विचारोंके आदान-प्रदानमें सारी-सारी रातें बिता देते थे। मार्क्स उसे 'पेटी बुर्जुआ' कहकर पुकारता है और कहता है कि मैंने प्रोदोंकी अरुचि रहनेपर भी उसे हेगेलके द्वंद्वात्मक भौतिकवादसे संक्रमित किया।

कुछ असंगतियोंके बावजूद प्रोदों आर्थिक विचारधाराके विकासमें महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। उसका क्रान्तिकारी स्वरूप उसकी चुभती भाषाके शब्द-शब्दसे प्रकट होता है। व्यक्तिगत सम्पत्तिके विरोधमें उसकी तर्क-प्रणाली आज भी समाजवादी लोगोंका प्रधान अस्त्र है।

● ● ●

---

१ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ ३१५।

राष्ट्रवादी विचारधारा

राष्ट्रवादका विकास : १ :

अर्थशास्त्रकी शास्त्रीय विचारधारा ज्यों-ज्यों आगे बढ़ने लगी, त्यों-त्यों उसकी आलोचना-प्रत्यालोचना बढ़ने लगी। कुछ विचारकोंने उसे अनेक अंशोंमें स्वीकार कर लिया। वे उस धाराके प्रवाहमें ही बहे। उन्होंने उसे विकसित भी किया। कुछ विचारकोंने उसके कुछ अंशोंको स्वीकार किया और अधिकांशको अस्वीकार कर दिया। ऐसे विचारकोंमेंसे ही कई पृथक् धाराओंका उदय हुआ। राष्ट्रवादी विचारधारा भी उनमेंसे एक है। औद्योगिक विकासकी दृष्टिसे राष्ट्रोंकी असमान स्थितिके मूलमेंसे ही राष्ट्रवादी विचारधाराका जन्म हुआ।

राष्ट्रवादी विचारधारा दो दिशाओंमें प्रवाहित हुई—जर्मनीमें और अमरीकामें। जर्मन विचारधाराके प्रबल स्तम्भ दो हैं : एक हैं अदम मुलर (सन् १७७०–१८२९) और दूसरे हैं फ्रेडरिख लिस्ट (सन् १७८९–१८४८)। अमरीकी

विचारधाराके विचारकोंमें अलेक्जेण्डर हेमिल्टन (सन् १७५७–१८०४), मैथ्यू कैरे (सन् १७६०–१८३९), हेजेकिया नील्स (सन् १७७७–१८३९), डेनियल रेमाण्ड (सन् १७८६–१८४९), हेनरी कैरे (सन् १७९३–१८७९), जान रे (सन् १७९६–१८७२) आदि। यों स्काटलैण्डके लार्ड लाडरडेल (सन् १७५९–१८३९) ने भी अदम स्मिथके विचारोंसे मतभेद प्रकट करते हुए राष्ट्रवादी विचारोंका प्रतिपादन किया था और व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा सामाजिक सम्पत्तिके मध्यवर्ती अन्तरको स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया था।

राष्ट्रवादी (Nationalist) विचारधाराके विचारकोंके भी दो भेद माने जाते हैं। एक तो वे, जो अधिक आदर्शवादी, अधिक दार्शनिक और प्रतिक्रियावादी थे। उन्हें रोमानी भी कहा जाता है। मुलर इनमें प्रमुख हैं। दूसरी श्रेणीमें अधिक व्यावहारिक विचारक आते हैं। ये संरक्षणवादी कहे जाते हैं। लिस्ट, हेनरी कैरे, नील्स आदि इनमें प्रमुख हैं।

राष्ट्रवादी विचारधाराके विचारक शास्त्रीय परम्पराकी अनेक बातोंको स्वीकार करते थे, कुछ ही बातोंमें उनका विरोध था। स्मिथ और उनके अनुयायी मानते थे कि उनके सिद्धान्त विश्वव्यापी हैं, और जो बात विश्वके लिए हितकर है, वह व्यक्तिके लिए भी हितकर होगी ही। लिस्ट आदिका कहना था कि यह मान्यता गलत है। यह आवश्यक नहीं कि जो बात विश्वके लिए हितकर हो, वह व्यक्तिके लिए भी हितकर होगी ही। राष्ट्रवादी विचारकोंका कहना था कि विश्व और व्यक्ति, दोनोंके बीचमें आता है—राष्ट्र। राष्ट्रकी इस महत्त्वपूर्ण कड़ीकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। उनका कहना था कि आज इंग्लैण्ड जैसे औद्योगिक दृष्टिसे विकसित और सम्पन्न राष्ट्रोंके हित जर्मनी या अमरीका जैसे अविकसित राष्ट्रोंके हितोंसे कैसे मेल खा सकते हैं? आज यदि जर्मनी या अमरीकाके विकासकी बात सोचनी होगी, तो राष्ट्रीय हितकी ओर पहले ध्यान देना पड़ेगा, अन्तर्राष्ट्रीय अथवा विश्व-हितकी ओर उसके बादमें।

राष्ट्रवादी विचारकोंका कहना था कि शास्त्रीय परम्परावाले व्यक्तिको राष्ट्रका नागरिक मानकर नहीं चले और उन्होंने अपने सिद्धान्तोंका प्रतिपादन करते समय यह नहीं सोचा कि राष्ट्रकी भी कुछ समस्याएँ हुआ करती हैं, जिनकी ओर ध्यान देना परम आवश्यक होता है। राष्ट्रवादियोंने व्यक्तिकी अपेक्षा राष्ट्रके हितको अपना लक्ष्य बनाकर अपने सिद्धान्त निकाले। उनका कहना था कि व्यक्ति और राष्ट्रके हितोंमें परस्पर विरोध हो सकता है और वैसी स्थितिमें राष्ट्रके हितोंको सर्वोपरि स्थान देना चाहिए।

शास्त्रीय विचारधारावाले ऐसा मानते थे कि पूर्ण प्रतिस्पर्धा और मुक्त व्यापारकी नीतिसे सबका हित होगा। इसी दृष्टिसे वे सरकारी हस्तक्षेपका विरोध

करते थे। परन्तु राष्ट्रवादी विचारकोंका कहना था कि राष्ट्रीय हितकी दृष्टिसे यह आवश्यक है कि सरकार अपना नियंत्रण रखे। राष्ट्रवादी विनिमयपर कम, उत्पादनपर अधिक बल देते थे। उनका कहना था कि आर्थिक क्षेत्रमें राष्ट्रीय विकास और राष्ट्रीय हितकी ओर सर्वाधिक ध्यान देना चाहिए, विश्व-हितकी बात उसके बाद करनी चाहिए। विश्व-हितकी माँगमें राष्ट्रीय हितोंपर कुठाराघात नहीं होने देना चाहिए।

राष्ट्रवादी विचारधाराका विकास यों तो जर्मनी और अमरीकाकी तत्कालीन ऐतिहासिक परिस्थितिके कारण ही हुआ, पर उसके विचार आज भी विश्वपर अपना प्रभाव रखते हैं। आज विश्वके प्रायः सभी राष्ट्र सबसे पहले राष्ट्रीय हितकी ओर ध्यान देते हैं, उसके बाद ही विश्व-हितकी बात सोचते हैं। ● ● ●

अदम मुलर

राज्यशक्तिका अन्धभक्त अदम हेनरिख मुलर (सन् १७७९–१८२९) विस्मृतिके गर्भमें ही पड़ा रहता, यदि नाजियोंने अपने सैद्धान्तिक पूर्वजोंकी खोज न की होती। खोजनेके बाद जर्मनीकी फासिस्टी विचारधाराके प्रमुख व्याख्याता डॉक्टर स्पानने यहतक कह डाला कि मुलर तो हमारा सर्वश्रेष्ठ अर्थशास्त्री है। उसका ऐसा कहना स्वाभाविक भी है। कारण, मुलरने जिस सफाईसे राज्यकी सर्वोपरिता व्यक्त की है, उसमें फासिस्टीवादको अपने पैर जमानेके लिए दृढ़ आधार मिल जाता है। पर अन्य लोगोंकी दृष्टिमें मुलर अर्थशास्त्री था ही नहीं।[1]

बर्लिनमें जन्म पाकर मुलरने गोटिनजेन विश्वविद्यालयमें शिक्षा प्राप्त की। कुछ वर्षतक अध्यापक रहा। रोमानी विचारधाराके नेताओंसे उसकी घनिष्ठता हो गयी। उसने राजनीतिमें भी भाग लिया। मुलरने अपनी साहित्यिक प्रतिभा द्वारा उन भू-स्वामियोंकी प्रतिक्रियावादी राजनीतिको बल प्रदान किया, जो उदार सुधारोंका विरोध कर रहे थे।[2] बादमें एक मित्र गेंजके प्रभावसे मुलरको आस्ट्रियन सरकारकी नौकरी मिल गयी। वहाँ उसने जीवनके अन्ततक कई उच्च पदोंपर कार्य किया।

मुलरकी सर्वप्रथम रचना सन् १८०० में फिख्टेकी हेंडेलस्टाट नामक पुस्तककी आलोचनापर प्रकाशित हुई। सन् १८०९ और १८१६ में मुलरकी दो रचनाएँ और प्रकाशित हुईं, जिनमें उसके उन व्याख्यानोंका संग्रह है, जो उसने जर्मन-विज्ञान और साहित्यपर दिये थे। इनमें मुलरके प्रमुख आर्थिक विचारोंका संग्रह है।

पूर्वपीठिका

मुलरके विचारोंका अध्ययन करनेमें उसके जीवनका ध्यान रखना आवश्यक है। सन् १८०५ में वह अपना धार्मिक मत बदलकर रोमन कैथोलिक बन गया, जिसके कारण मुलरको कुछ लोग 'कुख्यात विधर्मी' कहते हैं।[3] मुलरमें साहित्यिक प्रतिभा तो थी ही, वह काव्यात्मक शैलीमें अपने विचार व्यक्त करनेमें बहुत पटु था। राजनीतिक आन्दोलनमें उसकी रचनाओंका भरपूर प्रयोग किया जाता

---

१ ग्रे : डेवलपमेण्ट ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन, पृष्ठ २१७।

२ एरिक रोल : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ २१६।

३ हेने : हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ ४०७।

था। मुलरपर रोमानी आन्दोलनके प्रवर्तक फिख्टका और बर्कका प्रभाव विशेष रूपसे था।

स्मिथकी विचारधाराका यूरोपके विभिन्न देशोंमें प्रभाव पड़ रहा था। पर जर्मनी जैसे देश उस समय सामंतवादी स्थितिमें पड़े थे। स्मिथकी शास्त्रीय विचारधाराने वहाँ उदारवादी विचारोंके प्रस्फुटनकी स्थिति उत्पन्न कर दी थी। इसके विरुद्ध प्रतिक्रियावादी भू-स्वामी उठ खड़े हुए। उनके आन्दोलनके लिए जिस व्यक्तिने अपनी लेखनीके द्वारा सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य किया, वह था—मिलर। उसने शोषणके कठोर सत्योंको आदर्शका ऐसा चोला पहनाया कि रोमानी आन्दोलनको बहुत बड़ा बल मिल गया।[1]

उसने भू-स्वामित्व, अभिजातीयता और रूढ़िवादको उच्च स्थान प्रदान किया, शासित सदा शासित होनेके लिए है, इस भावनापर बल दिया और सरकारी हस्तक्षेपका जोरदार समर्थन करके प्रतिक्रियावादियोंके रोमानी आन्दोलनमें जान डाल दी।

प्रमुख आर्थिक विचार

अदम मुलरके आर्थिक विचारोंको मुख्यतः तीन भागोंमें विभाजित किया जा सकता है :

(१) राज्य-सिद्धान्त,
(२) सम्पत्ति और द्रव्य तथा
(३) स्मिथकी आलोचना।

१. राज्य-सिद्धान्त

मुलरकी ऐसी मान्यता थी कि राज्यशक्तिका स्थान सबसे ऊपर है। राज्य चिरन्तन है। अतीतमें उसकी जड़ें हैं, अतः उसका सम्मान करना है। भविष्यका चिन्तन करना है। वर्तमानमें वह धाराकी भाँति प्रवाहशील है। उसकी अखण्ड एकरस धारा सदा बहती रहती है।

मुलर अरस्तूकी इस विचारधाराको लेकर चलता है कि राज्यसे पृथक् मनुष्यकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। वह कहता है कि प्रत्येक नागरिक अपने नागरिक जीवनमें केन्द्रित है। राज्य उसके चारों ओर—ऊपर-नीचे, भीतर-बाहर—भरा पड़ा है। अतः राज्य कोई कृत्रिम वस्तु नहीं है, जिसका कि निर्माण नागरिक जीवनके किसी लक्ष्यकी प्राप्तिके लिए किया गया हो। वह तो स्वयं नागरिक जीवनकी समग्रता है। वह एक बुनियादी मानवीय आवश्यकता नहीं है, अपितु सर्वोपरि मानवीय आवश्यकता है।[2]

---

१ एरिक रौल : वही, पृष्ठ २१९।

२ ग्रे : डेवलपमेण्ट ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन, पृष्ठ २१९।

मुलरकी धारणा है कि राज्यकी मूलधारा सतत प्रवहमान है। अतीत, वर्तमान और भविष्यकी इस समय-शृंखलासे कोई भी मुक्त नहीं है। मुलरने अपनेको ऐसे साँचेमें ढाल लिया है, जिसमें उसे लगता है कि उसका आदर्श सामन्तवादी पद्धतिमें ही मूर्तिमान् हुआ था।[1]

राज्यके महत्त्वका मुलर इतना कायल है कि वह युद्धको अच्छा बताता है। कहता है कि युद्धके कारण लोगोंमें राष्ट्रीयताकी भावना पनपती है और राष्ट्रका महत्त्व लोगोंकी समझमें आने लगता है। शान्ति-कालमें सामाजिक ऐक्यके अत्यन्त कोमल और घनीभूत गुण लुप्त रहते हैं, उस समय नागरिक अपने-अपने कामोंमें फँसे रहते हैं, राष्ट्रकी बात सोचनेका उन्हें अवसर ही नहीं मिलता। युद्धमें नागरिकोंको राष्ट्रका ध्यान आता है और उन्हें पता चलता है कि भाग्य-सूत्रने उन्हें कहाँ लाकर बाँध दिया है। अतः मुलरके कथनानुसार समय-समयपर युद्धोंका होते रहना अच्छा है। अदम स्मिथकी विश्ववादिता और मुक्त-व्यापारकी नीति राष्ट्रके हितकी दृष्टिसे बहुत खतरनाक है। उसके कारण राज्यके प्रति लोगोंकी आस्था घटती है। सरकारी हस्तक्षेपसे राष्ट्रीयताकी वृद्धि होती है।[2]

२. सम्पत्ति और द्रव्य

मुलरने सम्पत्तिके ३ भाग किये हैं :

(१) शुद्ध व्यक्तिगत सम्पत्ति,
(२) सामाजिक सम्पत्ति और
(३) राजकीय सम्पत्ति।

मुलर व्यक्तिगत सम्पत्तिका विरोध करता है। कहता है कि व्यक्तिके पास वही सम्पत्ति रहनी चाहिए, जिसके उपभोगमें वह दूसरोंके साथ हाथ बँटानेके लिए सदा प्रस्तुत रहे और आवश्यकता पड़ते ही जिसे वह राज्यको समर्पित कर दे। सच्ची सम्पत्ति सार्वजनिक सम्पत्ति ही है। सारी व्यक्तिगत सम्पत्ति तो भोगबन्धकमात्र है।[3]

मुलर राज्यके हस्तक्षेपका, सरकारी संरक्षणका प्रबल समर्थक है। वह कहता है कि राष्ट्रीय शक्तिके सम्वर्द्धनके लिए गृह-उद्योगोंको संरक्षण देना चाहिए। इस दृष्टिसे आयात-निर्यातपर भी सरकारको कड़ा नियन्त्रण रखना चाहिए। मुलर मानता है कि राज्य ही सारी बातोंका केन्द्र है। अतः सारी सम्पत्ति, सारे उत्पादन, सारे उपभोगपर केवल इसी दृष्टिसे विचार करना चाहिए।[4]

---

१ ग्रे : वही, पृष्ठ २२०।
२ हेने : हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ ४०८।
३ ग्रे : डेवलपमेण्ट ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन, पृष्ठ २२०-२२१।
४ ग्रे : वही, पृष्ठ २२१।

धात्विक द्रव्यके सम्बन्धमें मुलरका कहना है कि 'धातुके कारण अन्य देश-वाले उसे स्वीकार करते हैं, अतः उससे अन्तर्राष्ट्रीय भावनाओंका प्रसार होता है। लोग सोचने लगते हैं कि जहाँ कहीं भी स्वर्णकी भाषा सुनी जाती है, वह अपना पितृदेश जैसा ही है। इससे राष्ट्र-प्रेम नहीं पनपता। उसके लिए कागजी मुद्राका ही प्रयोग होना चाहिए। यह मुद्रा अपने ही राष्ट्रमें चलती है। इससे राष्ट्रीय भावनाका प्रसार होता है।' मुलर इसी दृष्टिसे धात्विक मुद्राके बहिष्कारकी बात कहता है।

मुलर उसी वस्तुको मूल्यवान् मानता है, जो राष्ट्रीय हितमें हो। अन्य वस्तुओंका उसके लेखे कोई भी मूल्य नहीं है। राज्यको मुलर सबसे बड़ा धन मानता है। कहता है कि राज्य ही मनुष्यकी सबसे महान् आध्यात्मिक पूँजी है।

३. स्मिथकी आलोचना

मुलरने स्मिथके प्रति आदर व्यक्त करते हुए भी उसकी अनेक बातोंकी आलोचना की है। उसके श्रम-विभाजनके सिद्धान्तका उसने विरोध किया है। उसे उसने अधूरा बताया है। वह कहता है कि यदि सच्ची राष्ट्रीय पूँजी न हो, अतीतकी विरासत न हो, तो श्रम-विभाजन मनुष्यको गुलामों और मशीनोंके रूपमें ही परिवर्तित कर देगा।[१]

स्मिथकी विश्ववादिता और निर्हस्तक्षेपकी नीतिकी मुलरने कड़ी टीका की है। वह कहता है कि इससे राष्ट्रके हितोंको धक्का लगता है। मुलरने इस बातपर बड़ा जोर दिया है कि स्मिथका दृष्टिकोण एकाङ्गी रहा है। वह कहता है कि स्मिथकी धारणाओंकी उत्पत्ति ब्रिटेनमें वहाँकी विशिष्ट परिस्थितियोंमें हुई। जिन देशोंकी स्थिति ब्रिटेनसे भिन्न है, वहाँपर स्मिथकी बातें लागू नहीं हो सकतीं। मुलरको स्मिथकी धारणाओंमें सर्वत्र ही 'रूल ब्रिटानिया, रूल दि वेव्स !' (हे ब्रिटेन, तू जल-थल सबपर शासन कर !) कविताकी ध्वनि सुनाई पड़ती है।[२]

मूल्यांकन

मुलरने राज्यकी सर्वोपरि सत्ताका जोरदार समर्थन करते हुए सामन्तवादकी पीठ सहलायी है। सरकारी हस्तक्षेपको उसने राष्ट्र-हितके लिए परम आवश्यक माना है और राष्ट्रवादकी आड़में रोमानी विचारधाराको पनपनेका अच्छा अवसर प्रदान किया है। धात्विक मुद्राके बहिष्कारकी उसकी दलील असंगत भले ही लगे, पर उसपर मेटरनिखके नमकका असर था, जिसने आस्ट्रियामें अविनिमय-साध्य नोट चला रखे थे। मुलरने बड़ी सफाईसे उसका समर्थन कर जनताको बरगलानेकी चेष्टा की।

●●●

---

१ ग्रे : डेवलपमेण्ट ऑफ इकॉनोमिक डाक्ट्रिन, पृष्ठ २२५।

२ ग्रे : वही, पृष्ठ २२६।

लिस्ट

जर्मनीकी तत्कालीन आर्थिक स्थितिसे प्रभावित होकर जिस व्यक्तिने जोर-दार शब्दोंमें राष्ट्रवादका और संरक्षणका नारा बुलन्द किया, वह है फ्रेडरिख लिस्ट। उसने देखा कि अनेक प्रान्तोंमें विभाजित समूचे जर्मनीमें ३८ प्रकारकी और प्रशियामें ६७ प्रकारकी चुंगियाँ लागू हैं, जब कि इंग्लैण्डका पक्का माल बिना किसी रोक-टोकके, बिना किसी प्रकारके आयात-करके देशमें धड़ल्लेसे चला आता है। इसके फलस्वरूप न तो जर्मनीकी कृषि पनप पा रही है, न उद्योग-धंधे। इधर जर्मनीकी यह शोचनीय स्थिति थी, उधर अमरीका संरक्षणकी नीतिके फलस्वरूप क्रमशः समृद्ध और उन्नत होता जा रहा था। लिस्टपर इन सब बातोंका प्रभाव पड़ा और राष्ट्र-हितके लिए वह सक्रिय रूपसे कार्यमें सन्नद्ध हुआ।

जीवन-परिचय

फ्रेडरिख लिस्टका जन्म सन् १७८९ में जर्मनीके रिटलिंगेन स्थानमें हुआ। छोटी ही आयुमें उसने राजकीय नौकरी प्राप्त कर ली और शीघ्र ही उन्नति करते-करते उच्च पद प्राप्त कर लिया। सन् १८१८ में वह ट्यूबिंगेन विश्वविद्यालयमें प्राध्यापक नियुक्त हुआ। तभी वह स्वतंत्र रूपसे अपने विचार व्यक्त करने लगा। फलतः उसे प्राध्यापकी छोड़नी पड़ी। सन् १८१९ में उसने व्यापारियों और उद्योगपतियोंकी एक यूनियनका संघटन किया और उसके माध्यमसे चुंगी और घरेलू करोंके विरुद्ध आन्दोलन चालू किया। उसने विदेशसे आनेवाले मालपर आयात-कर लगानेकी भी माँग की। पर सरकारने लिस्टकी बातोंपर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। सन् १८२० में वह अपने प्रान्त वर्टेम्बर्गकी संसद्का सदस्य चुन लिया गया, पर सरकार-विरोधी भाषणके कारण सरकार उसपर क्रुद्ध हो गयी और फलस्वरूप वह संसद्से निष्कासित ही नहीं किया गया, १० मासके लिए जेलमें भी बन्द कर दिया गया। बादमें सरकारने उसे इस आश्वासनपर मुक्त किया कि वह राज्यसे बाहर चला जायगा।

लिस्ट अमरीका चला गया। पेंसिलवेनियामें उसने एक फार्म खरीद लिया। वहाँ उसने पत्रकारिता भी की। अनेक लेख लिखे। सन् १८२२ में उसके लेखोंका एक संग्रह 'दि आउटलाइन्स ऑफ अमेरिकन पोलिटिकल इकॉनॉमी' नामसे प्रकाशित हुआ। सन् १८३२ में लिस्ट अमरीकी राजदूत होकर लिपजिग

लौटा। सन् १८४१ में उसकी 'दि नेशनल सिस्टम ऑफ पोलिटिकल इकॉनॉमी' नामक प्रसिद्ध रचना प्रकाशित हुई। सन् १८४८ में उसका देहान्त हो गया।

प्रमुख आर्थिक विचार

लिस्टपर जर्मनीकी तत्कालीन शोचनीय आर्थिक स्थितिका प्रभाव तो था ही, अमरीका-प्रवासका भी बड़ा प्रभाव पड़ा। वहाँ उसने संरक्षण-नीतिके फल-स्वरूप उगते हुए राष्ट्रकी समृद्धि अपनी आँखों देखी। उसके विचारोंपर इतिहास और अर्थशास्त्रके अध्ययनका प्रत्यक्ष प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। उसके विचारोंको मुख्यतः दो भागोंमें विभाजित किया जा सकता है :

(१) राष्ट्रीयता और संरक्षण,
(२) उत्पादक शक्तिका सिद्धान्त।

१. राष्ट्रीयता और संरक्षण

अदम स्मिथने विश्वबन्धुत्वकी भावनासे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारपर बल दिया था। उसके मतसे आर्थिक नियम विश्वव्यापी हैं। एकका हित अन्यके हितमें है। व्यक्तिका हित विश्वके हितमें है, विश्वका हित व्यक्तिके हितमें है। सारे विश्वका एक विशाल कारखाना है, जिसे विभिन्न देशोंके श्रमिक मिलकर चलाते हैं। उनमें किसीका हित परस्पर-विरोधी नहीं है। स्मिथने इसी आधारपर प्रादेशिक श्रम-विभाजनकी भी बात कही थी और उसके लाभोंका वर्णन किया था।

लिस्टने जर्मनीकी तत्कालीन स्थितिसे दुःखित होकर और संरक्षणके कारण अमरीकाकी समृद्धि देखकर अदम स्मिथकी विश्वबन्धुत्वकी धारणाके विरुद्ध सबसे पहले जोरदार आवाज उठायी। उसने कहा कि स्मिथ व्यक्ति और विश्वके बीच-की महत्त्वपूर्ण कड़ी—राष्ट्रको भूल जाता है। उसे इस बातका पता नहीं है कि व्यक्तिकी समृद्धि विश्वकी समृद्धिपर नहीं, अपितु राष्ट्रकी समृद्धिपर निर्भर करती है। लिस्ट कहता है कि स्मिथके अनुयायी इस बातको भूल गये हैं कि उन्होंने जिस विश्वकी कल्पना कर रखी है, वह विश्व कहीं अस्तित्वमें है ही नहीं। वे ऐसा मानकर चलते हैं कि सारे विश्वमें शांति और सामंजस्य है। उन्होंने राष्ट्रीयताके भेदोंकी ओर ध्यान ही नहीं दिया है।[1]

लिस्टकी यह मान्यता है कि हमें कल्पना-लोकमें विचरण न करके वास्तविक स्थितिकी ओर ध्यान देना चाहिए। वह अर्थशास्त्रका वास्तववादी और ऐतिहासिक रूप लेकर आगे बढ़ता है।

लिस्ट कहता है कि विश्वके भिन्न-भिन्न राष्ट्र एक-सी आर्थिक स्थितिमें नहीं हैं। कुछ राष्ट्र तो पूर्णतः कृषिप्रधान हैं और कुछ राष्ट्र पूर्णतः उद्योगप्रधान।

---

१ लिस्ट : नेशनल सिस्टम ऑफ पोलिटिकल इकॉनॉमी, पृष्ठ १६३।

कुछ राष्ट्र इन दोनोंके बीचमें हैं। इन सभी राष्ट्रोंके हितोंमें भिन्नता है। अतः सबको एक ही डंडेसे हाँकना समीचीन नहीं कहा जा सकता। सबके लिए उनकी स्थिति देखकर ही नीतिका निर्धारण करना उचित होगा।

आर्थिक प्रगतिकी श्रेणियाँ

लिस्टने आर्थिक प्रगतिकी पाँच श्रेणियाँ की हैं :

(१) जङ्गली स्तर, मृगया या मत्स्यवेधन द्वारा जीवन-निर्वाह।

(२) चरागाह स्तर।

(३) कृषि स्तर, एक स्थानपर बसकर कृषिसे निर्वाह।

(४) कृषि और उद्योग स्तर।

(५) कृषि, उद्योग और व्यापार स्तर।

लिस्ट कहता है कि मानवकी आर्थिक प्रगतिके ये स्तर उत्तरोत्तर आगे बढ़ते हैं। इनमें मनुष्य ज्यों-ज्यों भौतिक प्रगति करता जाता है, त्यों-त्यों वह अगले स्तरकी ओर अग्रसर होता जाता है। न्याय-व्यवस्था इस प्रकारकी होनी चाहिए, जिससे कोई भी राष्ट्र निचले स्तरसे प्रगति करके अगले स्तरकी ओर बढ़ सके।[1]

लिस्ट ऐसा मानता है कि पहले स्तरमें मुक्त-व्यापारको प्रोत्साहन देना ठीक है। इससे जनताकी आवश्यकताओंकी वृद्धि हो सकेगी और वह उच्चस्तरकी ओर, कृषिके विकासकी ओर प्रगति करेगी। वह पक्का माल प्राप्त करनेके लिए कच्चे मालका उत्पादन बढ़ायेगी।

उसके बाद जनता सोचने लगेगी कि हम स्वयं ही पक्का माल तैयार करें। तब इस बातकी आवश्यकता होगी कि सरकार उसके संरक्षणके कानून बनाये। यदि उन्हें संरक्षण नहीं दिया जायगा, तो अधिक सम्पन्न और अधिक पूँजीवाले राष्ट्र नये राष्ट्रके उद्योगोंको शैशवावस्थामें ही कुचलकर समाप्त कर देंगे। जहाजरानी और उद्योगोंके उत्पादनको समुचित संरक्षण मिलना चाहिए। यह तबतक जारी रखना चाहिए, जबतक राष्ट्र पूर्णतः समर्थ न हो जाय और प्रतिस्पर्द्धाकी दौड़में बाजी न लगा सके।

उसके बाद मुक्त-व्यापारकी खुली छूट दी जा सकती है। जबतक राष्ट्र अपने उद्योगोंमें इतनी उन्नति न कर ले, तबतक संरक्षणकी नीति जारी रखनी चाहिए।

लिस्टने जर्मनीकी तत्कालीन स्थितिका विवेचन करते हुए राष्ट्रवाद और संरक्षणकी जोरदार माँग की। उसका कहना था कि इंग्लैण्ड आर्थिक प्रगतिकी पाँचवीं सीढ़ीपर है, जब कि जर्मनी अभी चौथी सीढ़ीपर ही है। इस स्थितिमें इंग्लैण्डके लिए मुक्त-व्यापारकी नीति लाभकर है, पर इस प्रतिस्पर्द्धामें जर्मनीका

---

१ हेने : हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ ४१५।

सर्वनाश हो रहा है। जर्मन राष्ट्रके विकासके लिए यह परम आवश्यक है कि जर्मन-उद्योगोंको भरपूर संरक्षण मिले और इंग्लैण्डके मालपर आयात-कर लगाया जाय।

संरक्षित व्यापारकी नीतिके सम्बन्धमें लिस्टने चार तर्क उपस्थित किये :

(१) संरक्षणकी पद्धति तभी उचित मानी जा सकती है, जब उसका लक्ष्य अपने राष्ट्रको औद्योगिक शिक्षण प्रदान करना हो। इंग्लैण्ड जैसे राष्ट्रोंका औद्योगिक विकास पञ्चम स्तरपर पहुँच गया है। उन्हें ऐसे शिक्षणकी आवश्यकता नहीं है। उनका शिक्षण समाप्त हो चुका है। जिन राष्ट्रोंमें इसके विकासके लिए रुचि या क्षमता नहीं है, उनमें भी संरक्षणकी पद्धति नहीं जारी की जानी चाहिए। जैसे, उष्ण कटिबन्धके प्रदेश।

(२) संरक्षणकी पद्धतिके औचित्यके लिए एक बात और भी आवश्यक है। वह यह कि यह बात पूर्णतः स्पष्ट हो कि कोई विकसित और सबल राष्ट्र प्रतिस्पर्द्धाके द्वारा कम विकसित राष्ट्रके उद्योगोंको चौपट करनेपर तुला है। कोई शिशु या बालक जिस प्रकार अपने बलसे किसी सशक्त व्यक्तिका सामना नहीं कर पाता, तो उसे संरक्षणकी आवश्यकता होती है, उसी प्रकार जिस राष्ट्रके उद्योग शिशुकालमें हों, उन्हें संरक्षण मिलना चाहिए और विदेशी प्रतिस्पर्द्धासे उनकी रक्षा की जानी चाहिए।

(३) संरक्षणकी पद्धति तभीतक जारी रहनी चाहिए, जबतक राष्ट्रके उद्योग और व्यापार सशक्त न बन जायँ। उसके बाद संरक्षणकी नीति समाप्त कर देनी चाहिए।

(४) कृषिपर कभी भी संरक्षणकी पद्धति लागू नहीं की जानी चाहिए। कारण, इससे गल्ला महँगा हो जायगा और मजूरीकी दर चढ़ जायगी, फलतः उद्योगोंको हानि पहुँचेगी। उद्योगोंके संरक्षणसे कच्चे मालकी माँग बढ़ेगी, जिससे कृषिको तैयार बाजार मिल जायगा। इससे प्रादेशिक श्रम-विभाजन समाप्त हो जायगा, जिसकी समाप्ति ठीक नहीं।[1] लिस्ट मानता है कि प्रकृतिने ऐसा विभाजन कर रखा है कि कृषि उष्णप्रदेशोंमें और उद्योग शीतोष्णप्रदेशोंमें ही पनप सकते हैं।

२. उत्पादक शक्तिका सिद्धान्त

लिस्टने स्मिथके मूल्य-सिद्धान्तको अधूरा बताते हुए कहा है कि सम्पत्ति और सम्पत्तिकी उत्पत्ति करनेके कारण भिन्न-भिन्न हैं। स्मिथकी यह मान्यता थी कि उपभोग्य पदार्थोंकी मात्रा अथवा विनिमय-मूल्यपर ही राष्ट्रकी सम्पत्ति

---

१ जीद और रिस्ट : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन्स, पृष्ठ २८४-२८५।

निर्भर करती है। यदि देशमें विनिमय-मूल्य अधिक होगा, तो जनता वस्तुओंका अधिक उपभोग कर सकेगी और वह अधिक सुखी हो सकेगी। लिस्टने इस मतका खण्डन करते हुए कहाकि राष्ट्रकी सम्पत्तिमें अभिवृद्धि करनेके लिए विनिमय-मूल्योंमें वृद्धि ही पर्याप्त नहीं है, उसके लिए उत्पादक शक्तियोंका विकास आवश्यक है, भले ही इसके कारण वर्तमान विनिमय-मूल्यका बलिदान कर देना पड़े। वर्तमानकी अपेक्षा भविष्यमें वस्तुओंके उत्पादनमें वृद्धि होना अधिक वांछनीय है।

लिस्टकी यह मान्यता थी कि उत्पादक शक्तियोंका विकास स्वयं सम्पत्तिसे अधिक आवश्यक है।[1] उदाहरणस्वरूप यदि तात्कालिक उपयोगिताकी वस्तुओं, जैसे—वस्त्र, चीनी, सीमेण्ट आदि और भविष्यमें उपभोगकी वस्तुओं, जैसे—मशीनके पुर्जे बनानेका कारखाने आदिके बीच कुछ चुनाव करना हो, तो लिस्ट तात्कालिक उपभोग्य वस्तुओंको छोड़कर भावी उपभोग्य वस्तुओंको उत्पादक शक्तियोंको चुनेगा। तात्कालिक उपभोगकी वस्तुओंसे तत्काल तो कुछ सुख प्राप्त होगा, पर उत्पादक-शक्तियोंके कारण तो भविष्यमें उसकी अपेक्षा कहीं अधिक सुख प्राप्त हो सकेगा।

उत्पादक शक्तियोंमें लिस्ट दो शक्तियोंका समर्थक है :

(१) उद्योग-धंधोंके विकासका और

(२) नैतिक और सामाजिक सुख-स्वातंत्र्य प्रदान करनेवाली संस्थाओंका।

लिस्टके अनुसार कृषिका परिणाम है—'मस्तिष्कका बोदापन, शरीरकी विकृति, रूढ़िवाद, संस्कृति और स्वतंत्रताका अभाव।' जब कि उद्योग-धन्धोंके विकाससे अत्यधिक सामाजिक शक्तिका स्फुरण होता है, जिसके कारण राष्ट्रके सामाजिक एवं नैतिक जीवनमें नये जीवनका संचार होने लगता है। उद्योगोंके कारण राष्ट्रकी आर्थिक सुविधाओंका विकास तो होता ही है, इसके अतिरिक्त नागरिकोंके स्वातंत्र्य और नैतिक एवं सांस्कृतिक मूल्योंमें भी अपार वृद्धि होती है।[2]

लिस्ट कहता है कि नैतिक तथा राजनीतिक स्वातंत्र्य, काम करनेका स्वातंत्र्य, सोचने और बोलनेका स्वातंत्र्य, प्रेसका स्वातंत्र्य, धर्मका स्वातंत्र्य, न्यायका स्वातंत्र्य, प्रजातंत्रीय सरकारकी स्थापनाका स्वातंत्र्य श्रमिकोंकी उत्पादन-शक्तिपर बड़ा प्रभाव डालता है। उत्पादनके ये साधन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।[3]

---

१ हेने : हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ ४२७।

२ ग्रे : डेवलपमेण्ट ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन, पृष्ठ २३२-२३३।

३ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ २८२।

लिस्टने इस बातपर जोर दिया है कि उत्पादक शक्तियोंके विकासकी विधिवत् योजना बनाकर राष्ट्रका औद्योगिक विस्तार करना चाहिए। उसे प्रकृतिपर नहीं छोड़ देना चाहिए। प्रकृतिपर छोड़नेसे उसमें अत्यधिक विलम्ब लग सकता है। लिस्ट इसके लिए यह आवश्यक मानता है कि उत्पादकोंको भरपूर प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए। कारण, उत्पादक-वर्ग ही ऐसा वर्ग है, जो देशमें सर्वांगीण समृद्धि लानेमें सहायक हो सकता है। वह देशके समस्त साधनोंका राष्ट्र-हितमें उपयोग करके कृषि और उद्योगोंका विस्तार कर सकता है तथा राष्ट्रकी समृद्धिमें योगदान कर सकता है। समाजको नवजीवन प्रदान कर सकता है।[1]

लिस्टकी यह मान्यता थी कि देश जब संरक्षणकी नीति लागू करे, तभी उत्पादक शक्तियोंका अधिकसे अधिक उपयोग हो सकता है और संरक्षणकी नीतिका अवलम्बन तभी किया जायगा, जब कि देश राष्ट्रीयताको अन्तर्राष्ट्रीयतापर महत्त्व प्रदान करे।

मूल्यांकन

लिस्ट मुख्यतः राष्ट्रवादी विचारक है। संरक्षणकी नीतिपर उसने अत्यधिक बल दिया। उसका चुंगी-विरोधी आन्दोलन तो आगे चलकर सन् १८२८ के बाद सफल हुआ, पर आयातपर नियंत्रणवाली उसकी माँग पूरी नहीं हो सकी। सन् १८४१ में उसकी एक राष्ट्रकी योजना सफल हुई और 'त्सलफराइन' (एक करके लिए संयुक्त जर्मन राज्यसंघ) की स्थापना हुई।

लिस्टने व्यक्ति और विश्वके बीच 'राष्ट्र' नामकी महत्त्वकी कड़ीपर जोर दिया। देशकी समृद्धिके लिए योजना बनानेपर जोर दिया, अर्थशास्त्रको राजनीतिका अंग बताया और राष्ट्रीय हितोंको आर्थिक हितोंसे ऊँचा स्थान दिया। उसने आर्थिक समस्याओंकी ओर ध्यान देने और उसमें इतिहासको भी दृष्टिमें रखनेपर जोर दिया। इन सब बातोंका आज भी प्रभाव दृष्टिगत होता है। विभिन्न राष्ट्र अपनी राष्ट्रीय योजनाओंपर बल देते हैं।

लिस्टने स्थिरताके स्थानपर गतिशीलताकी ओर, आजके स्थानपर कलकी ओर सबका ध्यान आकृष्ट किया। इस बातका भी आर्थिक विचारधारापर प्रभाव पड़ा है।

संरक्षणकी नीतिके लिए जलवायुपर जोर देनेकी लिस्टकी दलील असंगत है। औद्योगिक विकासके लिए शीतोष्ण प्रदेश ही अनुकूल हैं, कृषिके लिए उष्ण कटिबन्धवाले देश ही अनुकूल हैं—उसकी यह मान्यता विज्ञानने गलत सिद्ध कर दी है। उचित जलवायुके बिना भी दोनों प्रकारके देशोंमें कृषि और उद्योग

---

१ एरिक रोल : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ २२९।

पनप सकते हैं। इसके साथ ही लिस्टकी यह धारणा तो सर्वथा अन्यायपूर्ण है कि उष्ण प्रदेश शीतोष्ण प्रदेशोंके लिए उपनिवेशका कार्य करनेके लिए ही हैं। हालैण्ड और डेनमार्कको वह इसी आधारपर जर्मनीमें मिला देनेको उत्सुक था। हिटलरको लिस्टकी विचारधारासे अपनी फासिस्टी मनोवृत्तिको पनपानेका अच्छा अवसर मिला।

लिस्ट चाहता था कि संरक्षणकी नीति अपनायी जाय, जिससे राष्ट्र 'सामान्य राष्ट्र' बन सकें। पर 'सामान्य राष्ट्र' का उसका शब्द बड़ा भ्रामक है। यों तो लिस्टने व्यावहारिक राजनीतिपर अपनी कोई स्पष्ट छाप नहीं छोड़ी और न उसका संरक्षणका सिद्धान्त ही ज्योंका त्यों स्वीकार किया गया, पर इस बातसे इनकार नहीं किया जा सकता कि उसकी विचार-पद्धति मौलिक है। राजनीतिमें उसने ऐतिहासिक तुलनाका विधिवत् प्रयोग करके एक नयी दिशा प्रदान की। यद्यपि वह इतिहासवादी विचारधाराका जन्मदाता तो नहीं माना जाता, तथापि वह उन विचारकोंके समकक्ष तो है ही।[1]

● ● ●

शास्त्रीय धारा नये मोड़पर

जान स्टुअर्ट मिल : १ :

अदम स्मिथने शास्त्रीय विचारधाराको जन्म दिया। बेंथम, मैल्थस, रिकार्डो आदिने उसे परिपुष्ट किया। जेम्स मिल, मेक्कुलख, सीनियर जैसे आंग्ल विचारकोंने, से और बासत्या जैसे फरासीसी विचारकोंने, राउ, थूने, हर्मेन जैसे जर्मन विचारकोंने, कैरे जैसे अमरीकी विचारकोंने शास्त्रीय विचार-धाराको विभिन्न दिशाओंमें विकसित किया। इस विचारधाराको विकासकी चरम सीमापर पहुँचानेका श्रेय है जेम्स मिलके पुत्र जान स्टुअर्ट मिलको। उसने पिताकी विरासतको आगे तो बढ़ाया ही, तत्कालीन समाजवादी तथा अन्य विचारधाराओंको भी उसने समझनेकी चेष्टा की। उनसे वह कुछ प्रभावित भी हुआ।

उन्नीसवीं शताब्दीके मध्यकालमें स्टुअर्ट मिलके साथ शास्त्रीय विचारधारा

एक ओर जहाँ उत्कर्षकी चरम सीमापर पहुँची, दूसरी ओर उसकी नींवमें घुन भी लगने लगा। उसका विघटन भी आरम्भ हो गया।

जीवन-परिचय

जान स्टुअर्ट मिल (सन् १८०६–१८७३) प्रसिद्ध पिताका प्रसिद्ध पुत्र था। इंग्लैण्डमें उसका जन्म हुआ। कहते हैं कि तीन वर्षकी आयुमें ही उसने ग्रीक भाषा शुरू कर दी थी और ४ वर्षकी आयुमें लैटिन। १० वर्षकी आयुमें उसने विश्वका इतिहास पढ़ डाला था। १३ वर्षकी आयुमें उसने रोमका इतिहास लिख डाला था। १४ वर्षकी आयुमें उसने अपने समयका सारा अर्थशास्त्र छान डाला था और १५ वर्षकी आयुमें उसने सारे फरासीसी साहित्यका ज्ञान प्राप्त कर लिया था।

बालक मिल कुशाग्र बुद्धि था। उसके पिताका तत्कालीन विचारकोंके साथ अच्छा परिचय था। रिकार्डो, से और बैंथम, तीनोंसे जेम्स मिलकी अच्छी मैत्री थी। रिकार्डोकी रचना प्रकाशित करानेमें जेम्स मिलका बड़ा हाथ था। सन् १८१४ से १८१७ तक कानूनकी अच्छी शिक्षा देनेके लिए जेम्स मिलने अपने पुत्रको बैंथमके साथ कर दिया था। सन् १८२० में उसने स्टुअर्टको फ्रांस भेज दिया। पेरिसमें जे० बी० सेके साथ वह बहुत दिनों-तक रहा। स्टुअर्टपर इन सभी विचारकोंका गहरा प्रभाव पड़ा।

सन् १८२३ में स्टुअर्ट मिल ईस्ट इण्डिया कम्पनीमें नौकर हो गया। सन १८५८ तक वह कम्पनीमें काम करता रहा। सन् १८२० में उसने श्रीमती टेलर नामक विधवासे विवाह कर लिया। उसके विचारोंका भी उसपर प्रभाव पड़ा। मिलकी रचनाओंमें उसकी पत्नीने पूरा हाथ बँटाया।

सन् १८६५ से १८६८ तक मिल ब्रिटेनकी लोकसभाका स्वतन्त्र सदस्य रहा। उसकी प्रमुख रचनाएँ हैं—फर्स्ट एसेज ऑन पोलिटिकल इकॉनॉमी (सन् १८२९); सिस्टम ऑफ लॉजिक (सन् १८४३); प्रिंसिपल्स ऑफ पोलिटिकल इकॉनॉमी (सन् १८४८) और लिबर्टी (सन् १८५९)।

प्रमुख आर्थिक विचार

मिलपर अदम स्मिथ और शास्त्रीय पद्धतिके अन्य विचारकोंका, पिताका पत्नीका, ईस्ट इण्डिया कम्पनीमें नौकरी करनेके कारण तत्कालीन व्यापारि

जगत्‌का और समयकी गतिका संयुक्त प्रभाव था। एक ओर औद्योगिक विकास-का अभिशाप मूर्तिमान् हो रहा था, दूसरी ओर भूमिकी समस्या जनवृद्धिके कारण विषम होने लगी थी, उसकी उर्वराशक्तिकी ह्रासमान गति प्रकट होने लगी थी तथा 'मनुष्यको प्रकृतिपर विजय प्राप्त करनेकी चेष्टा करनी चाहिए', ऐसी धारणाका विस्तार होने लगा था। इन सब बातों और समाजवादकी विचार-धाराओंका प्रभाव मिलपर पड़ने लगा था। पहले वह शास्त्रीय पद्धतिकी ओर झुका, पर बादमें समाजवादकी ओर।

स्टुअर्ट मिल था तो बड़ा कुशाग्र बुद्धि, उसकी भाषा भी अत्यन्त प्रांजल थी, विचारोंको प्रकट करनेकी शैली भी प्रभावकर थी, परन्तु कठिनाई यही थी कि वह इतिहासके मोड़पर खड़ा था। वह ठीकसे निश्चय नहीं कर पा रहा था कि वह किस मार्गका अनुसरण करे। अतीत भी उसकी आँखोंके समक्ष था और भविष्य भी। कभी वह एककी ओर झुकता था, कभी दूसरेकी ओर। वह किंकर्तव्यविमूढ़ जैसी स्थितिमें था। उसकी रचनाओंमें इस उलझनकी सर्वत्र झाँकी मिलती है।[1]

सच पूछा जाय, तो जान स्टुअर्ट मिल शास्त्रीय विचारधारा और समाजवादी विचारधाराके बीचकी कड़ी है। इसी दृष्टिसे उसके विचारोंका अध्ययन किया जा सकता है। उसके विचारोंको ३ भागोंमें विभाजित कर सकते हैं :

(१) शास्त्रीय पद्धतिकी परिपुष्टि,
(२) शास्त्रीय पद्धतिसे मतभेद और
(३) आदर्शवादी समाजवाद।

शास्त्रीय पद्धतिकी परिपुष्टि

मिलने शास्त्रीय पद्धतिको परिपुष्ट करनेमें सबसे अधिक काम किया है। शास्त्रीय सिद्धान्तोंका उसने विधिवत् परिष्कार किया और उन्हें पूर्णत्वपर पहुँचाया। मिलने निम्नलिखित सात शास्त्रीय सिद्धान्तोंका भलीभाँति विवेचन किया :

(१) व्यक्तिगत स्वार्थका सिद्धान्त,
(२) मुक्त-प्रतिस्पर्द्धाका सिद्धान्त,
(३) जनसंख्याका सिद्धान्त,
(४) माँग और पूर्तिका सिद्धान्त,
(५) मजूरीका सिद्धान्त,
(६) भाटक-सिद्धान्त और
(७) अन्तर्राष्ट्रीय विनिमयका सिद्धान्त।

---

१ हेने : हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ ४७२-४७३।

व्यक्तिगत स्वार्थका सिद्धान्त : शास्त्रीय पद्धतिवाले इस सिद्धान्तपर बड़ा जोर देते थे। उनका कहना था कि व्यक्तिगत स्वार्थकी ही प्रेरणासे मनुष्य काम करता है। मिलके समयमें भी ऐसी मान्यता थी कि मनुष्य न्यूनतम त्याग करके अधिकतम स्वार्थ-साधन करना चाहता है। आत्मरक्षणके इस नियमको वे परम स्वाभाविक, प्राकृतिक और विश्वव्यापी मानते थे। वे समझते थे कि अपने भलेमें व्यक्तिका तो भला है, समाजका भी भला है।

शास्त्रीय पद्धतिके आलोचक इस सिद्धान्तको गलत मानते थे। उनका कहना था कि इस सिद्धान्तके कारण मनुष्य व्यक्तिगत स्वार्थकी ओर झुकता है और उसका हित समाजके हितसे टकराता है। समाजके कल्याणके लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति अपने व्यक्तिगत स्वार्थका बलिदान करके समाजके हितका ध्यान रखे।

मिलका कहना था कि विश्वकी व्यवस्थाकी यह अपूर्ण स्थिति ही माननी चाहिए कि मनुष्य जब अपना बलिदान करे, तभी वह दूसरोंको प्रसन्नता प्रदान कर सके। यदि कोई मनुष्य अपना भला चाहता है, तो उसका अर्थ यह नहीं है कि वह दूसरोंकी असफलता ही चाहता है।[1] देखा तो ऐसा जाता है कि जब कोई व्यक्ति अपनी कोई हानि किये बिना दूसरेका कुछ हित करता है, तो उसे हार्दिक प्रसन्नता होती है। इस प्रकार यदि एक सीमातक सभी अपने हितकी साधना करें, तो व्यक्ति भी प्रसन्न रह सकता है, समाज भी। यों रिकार्डोकी भाँति मिल भी मानता था कि भाटक, मजूरी और ब्याजके प्रश्नको लेकर हितोंमें संघर्ष होता है, परन्तु उसे यह आशा थी कि यदि व्यक्तिवाद और स्वातंत्र्यका उपयुक्त रीतिसे सामंजस्य किया जाय, तो ये संघर्ष टाले जा सकते हैं।

मुक्त-प्रतिस्पर्द्धाका सिद्धान्त : शास्त्रीय पद्धतिवाले विचारक व्यक्तिकी पूर्ण स्वतंत्रताके समर्थक थे। वे यह मानकर चलते थे कि व्यक्ति अपने हितका सर्वश्रेष्ठ निर्णायक है, अतः उसे अपनी इच्छाके अनुकूल सारा कार्य करनेकी स्वतंत्रता रहनी चाहिए। इसीलिए वे मुक्त-व्यापार, मुक्त-प्रतिस्पर्द्धा और व्यवसाय-स्वातंत्र्यका समर्थन करते थे। सरकारी हस्तक्षेपसे व्यक्तिके स्वातंत्र्यमें बाधा आती है, इसलिए वे न्यूनतम सरकारी हस्तक्षेप चाहते थे। मुक्त-प्रतिस्पर्द्धाके फल-स्वरूप वस्तुएँ सस्ती होती हैं और सबके प्रति न्याय होता है। सन् १८५२ के आर्थिक शब्दकोषमें कहा गया है कि औद्योगिक जगत्में प्रतिस्पर्द्धाका वही गौरव-पूर्ण स्थान है, जो भौतिक जगत्में सूर्यको प्राप्त है।[2]

समाजवादी और राष्ट्रवादी आलोचक शास्त्रीय पद्धतिकी इस धारणाका विरोध करते हुए कहते थे कि इसके कारण थोड़ेसे व्यक्तियोंको असंख्य श्रमिकों-

---

१ जीद और रिस्ट : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन्स, पृष्ठ ३६०-३६१।

२ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ ३६३।

का शोषण करनेका अवसर मिल जाता है। इतना ही नहीं, पूर्ण प्रतिस्पर्द्धाके फलस्वरूप औद्योगिक दृष्टिसे विकसित राष्ट्र अविकसित राष्ट्रोंका शोषण करते हैं। अतः पूर्ण प्रतिस्पर्द्धाका सिद्धान्त गलत है। आवश्यकतानुसार उसपर नियन्त्रण होना वांछनीय है।

मिल व्यक्तिगत स्वतन्त्रताका पक्षपाती था। उसका कहना था कि 'प्रतिस्पर्द्धापर लगाया जानेवाला प्रत्येक नियन्त्रण दोषपूर्ण है। प्रतिस्पर्द्धाके लिए खुली छूट रहनी चाहिए और वह समाजके लिए हितकर है।'

जनसंख्याका सिद्धान्त : शास्त्रीय पद्धतिवाले जनसंख्याकी वृद्धिको अत्यन्त हानिकर मानते थे और उसके नियमनपर बड़ा जोर देते थे। मैल्थसने जनवृद्धिके दुष्परिणामोंसे मानवताकी रक्षाके लिए इस बातकी आवश्यकतापर सबसे अधिक बल दिया था कि श्रमिकोंको विशेष रूपसे अपनी जनसंख्या मर्यादित करनी चाहिए और उसके लिए आत्मसंयमका मार्ग ग्रहण करना चाहिए।

समाजवादी आलोचक मैल्थसके सिद्धान्तको गलत मानते थे। वे कहते थे कि खाद्यान्नकी उत्पत्ति तेजीसे बढ़ाना सम्भव है। साथ ही मैल्थस जिस तीव्रतासे जनसंख्या-वृद्धिकी बात करता है, उस गतिसे वह बढ़ती नहीं। वे इस बातका भी विरोध करते थे कि श्रमिकोंको आत्मसंयमका उपदेश देना पूँजीपतिको शोषणका एक और अस्त्र दे देना है। नैतिक संयम समाजवादी विचारकोंकी दृष्टिमें अप्राकृतिक भी था।

मिल इस विषयमें मैल्थससे भी दो कदम आगे था। स्वतन्त्रताका अत्यधिक समर्थक होते हुए भी वह इस सम्बन्धमें स्वतन्त्रतापर अंकुश लगानेके लिए भी प्रस्तुत हो जाता है। इस बातके लिए वह सरकारी हस्तक्षेप भी स्वीकार करनेको तैयार है[1] कि लोगोंको केवल तभी विवाह करनेकी अनुमति प्रदान की जाय, जब वे इस बातका प्रमाण उपस्थित करें कि उनकी आय इतनी पर्याप्त है कि वे परिवारका पालन-पोषण सुविधापूर्वक कर सकते हैं। मिल यह भी कहता है कि स्त्रियोंको इस बातकी पूरी छूट रहनी चाहिए कि वे सन्तानोत्पादन करें, चाहे न करें। 'खानेवाले मुँह बढ़ते हैं, तो काम करनेवाले दोहरे हाथ भी तो बढ़ते हैं', इस तर्कको मिल यह कहकर असंगत बताता है कि नये मुँहोंको भोजन तो पुराने मुँहोंकी ही भाँति चाहिए, पर उनके नन्हे हाथोंमें पुराने हाथोंके समान उत्पादन करनेकी क्षमता रहती ही नहीं !

मिल जनसंख्याकी वृद्धिको उतनी ही हानिकर मानता है, जितनी श्रमिकोंमें मद्यपानकी कुटेव। उसकी यह स्पष्ट धारणा है कि जनसंख्या संयमित करनेसे

---

१ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ ३६४।

ही राष्ट्रका कल्याण सम्भव है। वह कहता है कि श्रमिकोंकी मजूरीकी दरमें तबतक कोई सुधार नहीं हो सकता, जबतक कि वे विवाहसे पराङ्मुख न हों और अपनी जनसंख्याको मर्यादित न रखें।[1]

माँग और पूर्तिका सिद्धान्त : शास्त्रीय पद्धतिवाले विचारक माँग और पूर्तिके सिद्धान्तको जिस स्तरतक ले आये थे, उसे मिल पूर्ण मानता है[2] उसने इसे इन तीन श्रेणियोंमें विभाजित कर वैज्ञानिक बनानेका प्रयत्न किया :

(१) सीमित पूर्तिवाली वस्तुएँ। जैसे, ख्यातनामा चित्रकारके चित्र।

(२) उत्पादनमें असीम वृद्धिकी शक्यतावाली वस्तुएँ, पर जिनमें उत्पादन-व्यय बढ़ता जाता है। जैसे, कृषिकी उत्पत्ति।

(३) श्रम तथा अन्य व्ययकी सहायतासे असीम मात्रामें बढ़ायी जा सकनेवाली वस्तुएँ।

मिलकी मान्यता थी कि इन तीनों श्रेणियोंकी वस्तुओंके मूल्यपर माँग और पूर्तिका प्रभाव पड़ता है। उसने तीसरी श्रेणीकी वस्तुओंको मूल्य-निर्धारणमें सबसे प्रमुख माना है। मूल्य-निर्धारणमें मिलने सीमान्तकी धारणाका प्रवेश किया। वह मानता था कि विनिमय, मजूरी, ब्याज और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार आदि सभी समस्याओंपर मूल्यका यह सिद्धान्त लागू होता है।

मिलने मूल्यके सिद्धान्तमें विषयगत तत्त्वका अनुभव नहीं किया। आगे चलकर आस्ट्रियन विचारकोंने इस धारणाका विशेष रूपसे विकास किया।

मजूरीका सिद्धान्त : शास्त्रीय पद्धतिवालोंकी मान्यता थी कि श्रमिकोंकी माँग और पूर्तिके सिद्धान्तपर ही उनकी मजूरी निर्भर करती है। श्रमिकोंकी कमी होगी, तो मजूरी बढ़ जायगी। श्रमिकोंकी संख्या अधिक होगी, तो मजूरी गिर जायगी। मजूरी-कोषको श्रमिकोंकी संख्यासे विभाजित कर देनेपर जो भजनफल होगा, वही मजूरी-दर होगी।

मजूरीके लौह-सिद्धान्तका समर्थन करता हुआ मिल कहता है कि मजूरीकी दर बढ़ानेके लिए यह आवश्यक है कि मजूरी-कोष बढ़े और यह मजूरी-कोष तभी बढ़ सकता है, जब उत्पादक उसे बढ़ानेकी इच्छा करे। उसका दूसरा उपाय है, श्रमिकोंकी संख्या कम कर देना। मिल मानता है कि ये दोनों श्रमिकोंके हाथमें हैं नहीं। श्रमिकोंको अपनी संख्या मर्यादित करनी चाहिए। इसके लिए वह उनके विवाहपर नियन्त्रण करनेपर जोर देता है।

---

१ हेने : हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ ४५५।

२ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ ३६४-३६५।

मिलकी धारणा है कि श्रमिकोंके जीवन-धारणके व्ययपर उनकी सामान्य मजूरीकी दर निर्भर करती है। यह जीवन-निर्वाहका सिद्धान्त सामान्य रूपसे व्यवहृत होता है और लौह-सिद्धान्त अल्पकालके लिए। मिलको लगता था कि इन दोनों सिद्धान्तोंकी छायामें रहते हुए श्रमिकोंकी दयनीय स्थिति सुधरनेवाली नहीं। तो क्या श्रमिक सदाके लिए अपने भाग्यको कोसते ही रहेंगे और इस दुष्ट चक्रसे कभी मुक्त न हो सकेंगे? उसने इसके लिए शास्त्रीय पद्धतिके विरुद्ध श्रम संगठनोंकी, ट्रेड यूनियनोंकी सिफारिश की, ताकि श्रमिक सङ्गठित होकर अपनी आवाज बुलन्द कर सकें,[1] यद्यपि मिलको इस बातका विश्वास नहीं था कि इससे श्रमिकोंकी स्थितिमें वांछनीय सुधार हो ही जायगा। पहले वह 'प्रिंसिपल्स' की पुस्तकमें मजूरी-कोषके सिद्धान्तका समर्थन करता रहा, पर बादमें उसने उसके साथ अपना मतभेद व्यक्त किया।

भाटक-सिद्धान्त : रिकार्डोके भाटक-सिद्धान्तको मिल उपयुक्त मानता था। इस सम्बन्धमें वह रिकार्डोसे भी एक कदम आगे है। वह कहता है कि कृषिके क्षेत्रमें ही नहीं, उद्योग और व्यक्तिगत योग्यताके क्षेत्रमें भी भाटक-सिद्धान्त लागू होना चाहिए।[2] वह कहता है कि वस्तुकी कीमत सीमान्त भूमिकी उत्पादन-लागतके बराबर होती है। अतः अधिक उर्वरा भूमियोंको भाटक प्राप्त होता है। कृषिकी ही भाँति उद्योगमें भी सभी व्यवस्थापक एक समान कुशल नहीं हुआ करते। वे जो माल तैयार करते हैं, उसकी कीमत न्यूनतम कुशल व्यवस्थापककी उत्पादन-लागतके बराबर होती है। अतः अधिक कुशल व्यवस्थापकोंको भाटक प्राप्त होता है। व्यापारमें अधिक दक्षता और अधिक कुशल व्यापारिक व्यवस्था भाटकका कारण होती है।

अन्तर्राष्ट्रीय विनिमयका सिद्धान्त : शास्त्रीय पद्धतिके विचारक अभीतक रिकार्डोके ही तुलनात्मक लागतके अन्तर्राष्ट्रीय विनिमयके सिद्धान्तको मानते आ रहे थे। मिलने उसका समर्थन तो किया ही, उसका परिष्कार भी किया।[3] रिकार्डोकी यह मान्यता थी कि विनिमित वस्तुकी कीमत निर्यात की हुई वस्तुकी उत्पत्तिकी वास्तविक लागत एवं आयात की हुई वस्तुकी उत्पत्तिके और यदि वह वस्तु देशमें ही प्रस्तुत करनी पड़ती, तो देशके देशीय परिव्ययके बीचमें स्थिर होती।

रिकार्डोके इस तुलनात्मक लागत-सिद्धान्तकी आलोचना की जाती थी। कहा जाता था कि उसने मूल्यको अधरमें छोड़ दिया है। रिकार्डोने यह नहीं बताया कि वस्तुका मूल्य क्या होगा? मिलने इसमें माँग और पूर्तिका सिद्धान्त

---

१ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ ३६६।

२ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ ३६७।

३ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ ३६७-३६९।

जोड़कर यह बतानेकी चेष्टा की कि किसी समय अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारके क्षेत्रमें किसी वस्तुका मूल्य क्या होगा। उसका कहना था कि आयात की हुई वस्तुका मूल्य उत्पादन-लागतके हिसाबसे न माना जाय, अपितु विनिमित वस्तुकी मूल्यकी लागतमें माना जाय। मिलने वैज्ञानिकताका पुट देकर इस सिद्धान्तको अधिक पुष्ट बनानेका प्रयत्न किया। उसके मतसे जिस देशमें दूसरे देशकी जिस वस्तुकी अधिक माँग होगी, उसीके हिसाबसे वस्तुका मूल्य निर्धारित होगा और इस प्रकारके विनिमयसे दोनों ही देश लाभान्वित होंगे।

मिलने रिकार्डोके समाजकी स्थिर गतिके निराशावादी दृष्टिकोणका समर्थन तो किया है, पर उसने आगे चलकर यह कल्पना की है कि मानव जब मुनाफेकी भागदौड़ बन्द कर देगा, तो मानवताका स्वर्णप्रभात होगा।[1]

मिलने इस प्रकार शास्त्रीय पद्धतिके सिद्धान्तोंकी परिपुष्टि की और उन्हें अधिक वैज्ञानिक दिशामें ले जानेका प्रयत्न किया। भले ही उसने शराबको नयी बोतलोंमें भरनेकी चेष्टा की, परन्तु इतना तो है ही कि उसने अपनी लेखनी द्वारा शास्त्रीय पद्धतिको विकासकी चरम सीमापर पहुँचा देनेका प्रयत्न किया। पर यहींसे मिलके साथ ही शास्त्रीय पद्धति पतनकी ओर भी अग्रसर होती है और नया मोड़ लेती है। मिलने शास्त्रीय पद्धतिसे कुछ बातोंमें मतभेद ही नहीं प्रकट किया, कुछ बातोंमें समाजवादी विचारधाराका समर्थन भी किया। मिलके जीवनका पहला पक्ष शास्त्रीय पद्धतिका समर्थक है, तो बादका परवर्ती पक्ष उससे भिन्न है और समाजवादका कुछ अंशोंमें समर्थक है।

शास्त्रीय पद्धतिसे मतभेद

मिलने निम्नलिखित बातोंमें शास्त्रीय पद्धतिका पूर्णतः विरोध तो नहीं किया, पर उससे अपना मतभेद व्यक्त किया है :

(१) प्राकृतिक नियम,
(२) अर्थशास्त्रका क्षेत्र,
(३) मजूरीका सिद्धान्त,
(४) आर्थिक गतिशीलता,
(५) संरक्षणवाद और
(६) सरकारी हस्तक्षेप।

प्राकृतिक नियम : शास्त्रीय पद्धतिके विचारक ऐसा मानते थे कि उनके उत्पादन एवं वितरण, दोनोंके ही सिद्धान्त प्राकृतिक नियमोंके अनुकूल हैं और वे विश्वव्यापी हैं। मिलने इस धारणासे अपना मतभेद प्रकट किया। वह कहता है

---

१ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ ३७७।

कि उत्पादनमें तो प्राकृतिक नियम लागू होते हैं, पर वितरणमें नहीं। उत्पादनमें मानवकी इच्छाके स्थानपर भौतिक सत्त्वका प्राबल्य रहता है। परन्तु वितरणका आधार है समाजकी रूढ़ियाँ, समाजके नियम। वितरण मनुष्यके हाथकी बात है, प्रकृतिके हाथकी नहीं। मिलने वितरणके सिद्धान्तको मानव-निर्मित बनाकर शास्त्रीय पद्धतिवालोंको करारा घूँसा लगाया।[1]

मिलने आगे चलकर जो समाजवादी कार्यक्रम उपस्थित किया, उसका आधार यह धारणा ही है कि मजूरी, भाटक, मुनाफा आदि वितरणके नियम मानव-निर्मित हैं, उनमें सुधार सम्भव है और अपेक्षित भी है। मिल मानता है कि यह मानकर बैठ जाना अनुचित एवं गलत है कि वितरणके सिद्धान्तोंमें परिवर्तन हो ही नहीं सकता।

अर्थशास्त्रका क्षेत्र : अभीतक शास्त्रीय पद्धतिके विचारक ऐसा मानते आये थे कि अर्थशास्त्र सम्पत्तिका विशुद्ध विज्ञानमात्र है। मानवके कल्याणसे उसका कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं। वह तो केवल कार्य और कारणका पारस्परिक सम्बन्ध व्यक्त करता है, सत्योंका अन्वेषण करता है। मिलने इस धारणाको अस्वीकार किया। उसने कहा कि अर्थशास्त्र केवल विशुद्ध विज्ञान ही नहीं, कला भी है। उत्पादनके क्षेत्रमें वह विज्ञान है, वितरणके क्षेत्रमें कला। उसने अर्थशास्त्रको सामाजिक प्रगतिका एक साधन माना। उसकी पुस्तकके नाम—'दि प्रिंसिपल्स ऑफ पोलिटिकल इकॉनॉमी विथ सम ऑफ देअर एप्लीकेशन्स टु सोशल फिलासॉफी' से ही मिलकी इस धारणाकी अभिव्यक्ति हो जाती है। मिलने शास्त्रीय पद्धतिकी अर्थशास्त्रकी क्षेत्रविषयक संकुचित परिधिको व्यापक बनाया, जिसका आगे चलकर मार्शलने अधिक विस्तार किया।

मजूरीका सिद्धान्त : मिल शास्त्रीय पद्धतिका ख्यातनामा विचारक माना जाता था। पर आगे चलकर उसके विचारोंमें परिवर्तन हुआ। 'प्रिंसिपल्स' में उसने मजूरी-कोषके सिद्धान्तका समर्थन किया था, पर सन् १८८० में जब लांज और थार्नटन नामक अर्थशास्त्रियोंने मजूरी-कोषके सिद्धान्तकी धज्जियाँ उड़ायीं, तो मिल भी उनके विचारोंका समर्थक बन गया। थार्नटनकी 'लेबर' नामक पुस्तक सन् १८६६ में प्रकाशित हुई थी। मिलने 'फोर्टनाइटली' पत्रमें उसकी आलोचना करते हुए शास्त्रीय पद्धतिके साथ अपना मतभेद प्रकट किया और इस बातका समर्थन किया कि 'श्रमिक संघोंको संगठित होकर अपनी मजूरी बढ़ानेका प्रयास करना चाहिए। उनका यह कार्य सर्वथा उचित होगा।'

---

१ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ ३७१।

आर्थिक गतिशीलता : मिलके पूर्ववर्ती शास्त्रीय विचारक ऐसा मानकर चलते थे कि आर्थिक स्थिति ज्योंकी त्यों स्थिर है। उसमें कोई गतिशीलता नहीं है। मिलने अपनी पुस्तकके एक खण्डमें इसी समस्यापर विचार प्रकट किया और बताया कि समाजकी प्रगतिका उत्पादन एवं वितरणपर कैसा क्या प्रभाव पड़ता है तथा आविष्कार, सुरक्षा, व्यापारिक क्षमता और योग्यता, संयुक्त प्रयत्न आदि बातें आर्थिक जगत्में कैसी गतिशीलता उत्पन्न करती हैं और उनके कारण मनुष्यको प्रकृतिपर अपना प्रभुत्व स्थापित करनेमें किस प्रकार सफलता प्राप्त होती है। मिलका यह अनुदान महत्त्वपूर्ण है।

संरक्षणवाद : स्वतंत्रताका समर्थन करते हुए भी मिलने शिशु-उद्योगोंके विकासके लिए संरक्षणको उचित ठहराया है। लिस्टकी भाँति मिल भी इस बात-पर जोर देता है कि जबतक राष्ट्रके शिशु-उद्योग ठीक ढंगसे न पनप जायँ, तब-तक उन्हें संरक्षण प्राप्त होना चाहिए।[1]

सरकारी हस्तक्षेप : शास्त्रीय पद्धतिके विचारक समाजकी आर्थिक प्रगति-के लिए न्यूनतम सरकारी हस्तक्षेप चाहते थे। मिल भी इसी नीतिका समर्थक था। वह कहता था कि सामान्य नीति तो यही रहनी चाहिए कि सरकार न्यून-तम हस्तक्षेप करे, परन्तु जहाँ 'अधिकतम व्यक्तियोंके अधिकतम हित' की बात आती हो, वहाँ सरकारको हस्तक्षेप करना ही चाहिए। यदि उपभोक्ताओंके अधिकतम हितकी दृष्टिसे सरकारी हस्तक्षेप आवश्यक प्रतीत हो, तो सरकारको ऐसा कदम अवश्य ही उठाना चाहिए। शिक्षा, धर्मादाकी व्यवस्था, सार्वजनिक निर्माण और कामके घण्टोंके नियमन आदिके लिए भी सरकारी हस्तक्षेप वांछ-नीय है। मिलने उपभोक्ताओंके हितमें सरकारी हस्तक्षेपकी जो माँग की है, वह शास्त्रीय पद्धतिवाले विचारकोंको अद्भुत लग सकती है, पर हमें यह न भूलना चाहिए कि मिलपर बेंथमका प्रभाव पर्याप्त था। सरकारी हस्तक्षेपको दोषपूर्ण मानते हुए भी समाज-कल्याणकी दृष्टिसे मिल उसे स्वीकार कर लेता है।

आदर्शवादी समाजवाद

श्रमिकोंकी दयनीय स्थिति, भाटककी अनर्जित आय और धनके असमान वितरणने व्यक्तिगत स्वतंत्रताके समर्थक मिलके भावनाशील हृदयको अत्यधिक प्रभावित किया। शास्त्रीय पद्धतिका वह सबसे महान व्याख्याता माना जाता था, फिर भी उस पद्धतिकी सीमाएँ मिलको अपने संकुचित दायरेमें आबद्ध रखनेमें असमर्थ रहीं। उसने आत्मकथामें अपने इन विचारोंका प्रतिपादन करते हुए एक कार्यक्रम प्रस्तुत किया है, जो पूर्णतः साम्यवादी या समाजवादी नहीं है; फिर भी

---

१ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ ३७०।

उसमें समाजवादके आदर्शवादकी झाँकी मिलती है। प्रोफेसर जीदने उसे 'व्यक्तिगत-समाजवादी कार्यक्रम' कहा है। इस कार्यक्रमके तीन अंग हैं :

(१) मजूरी-पद्धतिका उन्मूलन,
(२) भाटकका समाजीकरण और
(३) वंशानुगत सम्पत्तिपर प्रतिबन्ध।

मजूरी-पद्धतिका उन्मूलन : मिलकी मान्यता थी कि मजूरीकी सत्ताके चलते व्यक्तिका व्यक्तित्व कुंठित हो जाता है। कारण, उससे मनुष्यकी काम करनेकी सारी उत्प्रेरणा समाप्त हो जाती है। मजूरीकी पद्धतिके उन्मूलन तथा प्रेरणाको विकसित करनेकी दृष्टिसे मिलने उत्पादक सहकारी समितियोंकी योजनापर बल दिया है, जहाँ सभी श्रमिक समानताके स्तरपर संगठित होंगे, सारी पूँजीके स्वयं मालिक होंगे, मिलकर अपना सारा कार्य करेंगे और अपने व्यवस्थापकोंका चुनाव वे स्वयं करेंगे और आवश्यक होनेपर उन्हें स्वयं ही कार्यमुक्त भी कर सकेंगे।[1]

भाटकका समाजीकरण : रिकार्डोकी मान्यता थी कि भाटक प्राकृतिक तत्त्व है। मिलकी मान्यता थी कि वह प्राकृतिक और स्वाभाविक नहीं, अपितु अप्राकृतिक एवं अस्वाभाविक तत्त्व है। व्यक्तित्वके विकासमें जिस प्रकार मजूरी-पद्धतिके कारण बाधा उत्पन्न होती है, उसी प्रकार भाटकके कारण भी बाधा उत्पन्न होती है। व्यक्तित्वके प्रस्फुरणके लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य जो श्रम करे, उसका प्रतिफल उसीको मिले। भाटकमें मनुष्यको अनर्जित आयका लाभ प्राप्त होता है। अतः मिल इस दोषको दूर करनेके लिए भाटकके समाजीकरणपर बल देता है। मिल चाहता है कि सरकार कर लगाकर भाटकका समाजीकरण कर दे।[2] इस व्यवस्थामें विलम्बकी आशंका है, जिसके निवारणके लिए मिलने भूमिधारी-प्रथाकी सिफारिश की है।

वंशानुगत सम्पत्तिपर प्रतिबन्ध : मिल वंशानुगत सम्पत्तिको भी अनर्जित आय मानता है और कहता है कि यह भी व्यक्तिके व्यक्तित्वके विकासमें भारी बाधा है। इस दोषके निवारणके लिए मिलका सुझाव है कि यदि किसी सम्पन्न व्यक्तिकी मृत्यु हो जाय, तो उसकी सारीकी सारी सम्पत्ति उसके उत्तराधिकारियोंको न मिले। सरकार एक निश्चित मर्यादा बाँध दे कि उससे अधिक सम्पत्ति कोई व्यक्ति उत्तराधिकारमें नहीं प्राप्त कर सकेगा। उस मर्यादासे अधिक जितनी भी सम्पत्ति हो, उसका सरकार अपहरण कर ले। मिल कहता है कि मुझे यदि

---

१ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ ३७१।
२ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ ३७५-३७६।

कानून बनानेका अधिकार मिले, तो मैं ऐसी मर्यादा बाँधे बिना न रहूँ ।'[1] मिलकी इस माँगमें मृत्यु-करकी कल्पना है, जिसका महत्त्व आज किसीसे छिपा नहीं है।

मूल्यांकन

मिलकी आर्थिक धारणाओंमें यद्यपि कोई नवीनता नहीं है, तथापि आर्थिक विचारधाराके विकासमें उसका योगदान महत्त्वपूर्ण है। उसने उपयोगितावादको प्रतिष्ठा प्रदान की। वितरणको 'प्राकृतिक नियम' से मुक्त किया, अर्थशास्त्रका क्षेत्र व्यापक बनाया और शास्त्रीय पद्धतिको वैज्ञानिक साँचेमें ढालनेका उत्तम प्रयास किया। उसका उस दिशामें विशेष झुकाव न होता, तो वह पक्का समाजवादी बन गया होता। यह सही है कि उसकी विचारधारामें अनेक असङ्गतियाँ हैं, कहींपर वह समाजवादका विरोध करता दिखाई पड़ता है, कहींपर उसका समर्थन करता है, कहीं व्यक्ति-स्वातन्त्र्यका समर्थक दीखता है, तो कहीं सरकारी हस्तक्षेपका समर्थन करता दिखाई पड़ता है; पर इन सब बातोंका कोई विशेष अर्थ नहीं। मिलने शास्त्रीय पद्धतिको नया मोड़ दिया।

मिलकी समाजवादी धारणाएँ आगे चलकर विशेष रूपसे विकसित हुईं। भूमिके राष्ट्रीयकरणका आन्दोलन हो, चाहे भूमिधारी कानूनके निर्माणके लिए चलनेवाला आन्दोलन हो, चाहे फेबियनवाद हो, सबके मूलमें जान स्टुअर्ट मिलकी विचारधारा अपना कार्य करती हुई दिखाई देती है। उसकी रचना 'प्रिंसिपल्स' का महत्त्व इंग्लैण्डपर तबतक छाया रहा, जबतक मार्शलने अपनी रचना लाकर उपस्थित नहीं कर दी! ●●●

अन्य विचारक : २ :

मिलके अवसानके अनन्तर शास्त्रीय पद्धतिको भारी धक्का लगा। उसका महत्त्व उत्तरोत्तर गिरता ही गया। इस गिरते हुए खँडहरकी दीवालोंको थोड़ा-बहुत सहारा देनेका श्रेय कैरिन्स (सन् १८२४–१८७५), फासेट (सन् १८३३–१८८४), सिडविक (सन् १८३८–१९००) और निकलसन (सन् १८५०–१९२७) को है। उसके बाद मार्शलका उदय हुआ, जिसने शास्त्रीय पद्धतिको नव-शास्त्रीय पद्धतिके रूपमें परिवर्तित कर दिया।

कैरिन्स

जान इलियट कैरिन्स लन्दनके युनिवर्सिटी कॉलेजमें प्राध्यापक था। उसकी कोई विशिष्ट देन नहीं है। वह मिलका अनुयायी था, पर मजूरी-कोषके सिद्धान्तका समर्थक था और इस विषयमें मिलसे उसका मतभेद था।

कैरिन्सकी प्रमुख रचना है 'दि कैरेक्टर एण्ड लॉजिकल मेथड ऑफ पोलिटिकल इकॉनॉमी' (सन् १८५९)। उसकी स्पर्द्धाहीन दलोंकी धारणा विशेष रूपसे प्रख्यात है, जिसमें वह मानता है कि प्रतिस्पर्द्धाको जो व्यापक क्षेत्र प्रदान किया जाता है, वह वस्तुतः है नहीं। वह केवल उन व्यक्तियोंके बीच होती है, जो सर्वथा मिलती-जुलती स्थितिमें होते हैं।[१] कुलीकी मजूरीकी वृद्धिका अध्यापककी मजूरीके स्तरपर क्या प्रभाव पड़नेवाला है? ये दल परस्पर प्रतिस्पर्द्धा नहीं करते। कैरिन्स सीनियरकी भाँति उत्पादन-लागतको विषयगत मानता है। उसका मूल्य-सिद्धान्त इसी विषयगत दृष्टिकोणकी अभिव्यक्ति करता है।[२]

फासेट

हेनरी फासेट केम्ब्रिज विश्वविद्यालयमें प्राध्यापक था। उसकी 'मैनुएल ऑफ पोलिटिकल इकॉनॉमी' (सन् १८६३) नामक रचनाने ख्याति तो पर्याप्त अर्जित की, परन्तु उसमें किसी नवीन सिद्धान्तका प्रतिपादन नहीं, मिलका ही सर्वत्र पृष्ठपोषण दृष्टिगोचर होता है।[३]

---

१ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ ३७६।

२ ग्रे : डेवलपमेंट ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन, पृष्ठ २६०।

३ हेने : हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ ६८८।

फासेट इंग्लैण्डकी संसद्‌का उदार सदस्य था। उसने मिलके कार्यक्रमके अनुसार कुछ सुधारोंके लिए पूरी शक्ति लगायी।

सिडविक

शास्त्रीय पद्धति और नव-शास्त्रीय पद्धतिके सन्धिकालके दो विचारक महत्त्वपूर्ण हैं—सिडविक और निकलसन। सिडविककी 'प्रिंसिपल्स ऑफ पोलिटिकल इकॉनॉमी' पुस्तक सन् १८८३ में प्रकाशित हुई। इस रचनाने शास्त्रीय पद्धतिकी खोयी हुई प्रतिष्ठाको पुनः एक बार नवजीवन प्रदान किया। यह रचना मिलके विचारोंपर आधृत है और इसमें जेवन्स और वाकरके विचारोंका भी आश्रय लिया गया है।

यों सिडविकको अर्थशास्त्रीकी अपेक्षा नीतिशास्त्री कहना अधिक उपयुक्त होगा। वह 'नैतिक भावना' को ही 'सद्' की कसौटी मानता है। उसने मूल्य और विनिमयके सिद्धान्तपर विशेष जोर दिया।[१]

निकलसन

निकलसनकी प्रमुख रचना है—'प्रिंसिपल्स ऑफ पोलिटिकल इकॉनॉमी' (सन् १८९३–१९०१)। इसमें उसने मिलकी शास्त्रीय पद्धतिकी नये सिरेसे गवेषणा की और इतना ही नहीं, उसमें इतिहासवादी और गणितवादी विचारोंको भी प्रश्रय दिया।[१]

इन विचारकोंने मार्शलकी नव-शास्त्रीय पद्धतिका द्वार उन्मुक्त कर दिया।

● ● ●

इतिहासवादी विचारधारा

पूर्वपीठिका : १ :

आर्थिक जगत्में उन्नीसवीं शताब्दीके उत्तरार्द्धमें—मध्यभागसे लेकर अन्त-तक इतिहासवादी विचारधाराका प्राबल्य रहा। इस विचारधाराको कामेरलवादकी जननी जर्मन-भूमिमें पनपनेका विशेष अवसर मिला।

शास्त्रीय पद्धतिके विचारक क्रमशः संकीर्ण मनोवृत्तिवाले बनते गये। वे अपने ही भावना-जगत्में क्रीड़ा करने लगे। इधर दिन-दिन बाह्य जगत्में परिवर्तन होते जा रहे थे और आर्थिक समस्याएँ क्रमशः विषम बनती जा रही थीं। शास्त्रीय परम्पराके पास इन सब समस्याओंका कोई उपयुक्त उत्तर था नहीं। वे अपना विश्ववादिताका सिद्धान्त लेकर बैठे थे और उसीका राग अलापते जा रहे थे। उन्होंने रिकार्डो और से आदिकी जो निगमन-प्रणाली पकड़ रखी थी, उससे वे बुरी भाँति चिपटे थे। वैचारिक विकासकी दृष्टिसे अपने विचारोंमें वे कोई

उपयुक्त परिवर्तन कर नहीं रहे थे। सिद्धान्त और व्यवहारमें कोई मेल नहीं बैठ रहा था। इतिहासवादी विचारकोंने इन्हींके विरुद्ध आवाज उठायी। इसका सबसे तीव्र स्वर जर्मनीमें सुनाई पड़ा।

जर्मनीमें इतिहासवादी (Historical) विचारधारा दो पीढ़ियोंमें पनपी। एक पीढ़ी पुरानी थी, जिसके प्रमुख विचारक थे–रोशर, हिल्डेब्राण्ड और नीस। नयी पीढ़ीका सबसे प्रमुख विचारक था—श्मोलर। पुरानी पीढ़ीका सर्वाधिक जोर शास्त्रीय पद्धतिकी आलोचनापर रहा और नयी पीढ़ीका जोर इस विचारधाराको वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान करनेपर रहा।

सिसमाण्डीने अर्थशास्त्रकी समस्याओंपर ऐतिहासिक दृष्टिसे विचार करनेके लिए सबसे पहले ध्यान दिया था। आर्थिक वैषम्य उसके नेत्रोंके समक्ष था और तज्जनित समस्याएँ इतिहासज्ञ सिसमाण्डीको अर्थशास्त्रकी दिशामें खींच ले गयीं। स्वयं मैल्थस भी इतिहास-पद्धतिका अनुयायी था। उसके जनसंख्याके सिद्धान्तमें ऐतिहासिक दृष्टि प्रत्यक्ष है। सेंट साइमन और उनके अनुयायियोंने भी इतिहासका आश्रय लेकर अपनी आर्थिक धारणाएँ व्यक्त की थीं। राष्ट्रवादी विचारधारा और लिस्टका आर्थिक सिद्धान्तोंकी सापेक्षताका सिद्धान्त कामेरलवादकी भूमिमें इसी कारण पल्लवित हो सका कि वहाँ राष्ट्रीयताकी भावना विशेष रूपसे विकसित थी। जर्मनीके विचारक ऐसा मानते थे कि आर्थिक सिद्धान्तोंका राष्ट्रके आर्थिक जीवनके साथ सामंजस्य रहना चाहिए, अन्यथा उनसे कोई लाभ नहीं होगा।

इसी भावभूमिमें हेगेलके द्वंद्वात्मक भौतिकवादका जन्म हुआ। उसका न्यायशास्त्रमें तो उपयोग किया ही गया, स्टेन (सन् १८१५–१८९०) ने अर्थशास्त्रमें भी उसका उपयोग किया और इस सिद्धान्तका आविष्कार कर डाला कि आर्थिक घटनाओंका भी एक ऐतिहासिक क्रम हुआ करता है। यह सोचना गलत है कि वे अकस्मात् ही घटती रहती हैं।[1] मार्क्सने हेगेलके सिद्धान्तको अर्थशास्त्रीय विचारधारामें जो वैज्ञानिक रूप प्रदान किया, उससे कौन अपरिचित है ?

जर्मन-विचारकोंने इस पूर्वपीठिकाका सदुपयोग कर इतिहासवादकी विचारधाराको पुष्पित और पल्लवित कर अर्थशास्त्रकी विचारधाराके विकासमें महत्त्वपूर्ण योगदान किया।

अब हम इतिहासवादी विचारधाराके जन्मदाताओंकी चर्चा करते हुए उसके विकासपर दृष्टिपात करें। • • •

---

१ हेने : हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ ५३७।

रोशर

प्रोफेसर विल्हेल्म रोशर (सन् १८१७–१८९६) जर्मनीकी इतिहासवादी विचारधाराका सर्वप्रथम विचारक है। वह गोटिनगेन और लिपजिगमें प्राध्यापक रहा। उसने शास्त्रीय पद्धतिका विधिवत् अध्ययन किया। सन् १८४३ में अर्थ-शास्त्रपर उसकी जो व्याख्यानमाला प्रकाशित हुई, उसमें उसने इन चार तथ्योंपर विशेष जोर दिया[1] :

(१) अर्थशास्त्रका विवेचन न्यायशास्त्र, राजनीति और सभ्यताके इतिहासको दृष्टिमें रखकर ही किया जा सकता है।

(२) जनता मानवोंका वर्तमान समूहमात्र नहीं है। उसकी अर्थव्यवस्थाका अनुसंधान करनेके लिए इतना ही पर्याप्त नहीं है कि तात्कालिक आर्थिक समस्याओंपर ही विचार किया जाय।

(३) चारों ओर बिखरी ऐतिहासिक सामग्रीमेंसे, विभिन्न जनसमूहोंकी भूतकाल और वर्तमान कालकी आर्थिक स्थितियोंमेंसे उनका तुलनात्मक अध्ययन करनेके उपरान्त ही आर्थिक सिद्धान्तोंका निश्चय करना चाहिए।

(४) इतिहासवादी पद्धति किन्हीं आर्थिक संस्थाओंकी निन्दा या प्रशंसामें रस नहीं लेगी। कारण, ऐसी आर्थिक संस्थाएँ तो शायद ही कोई हों, जो पूर्णतः अच्छी हों अथवा पूर्णतः बुरी हों।

रोशरने इतिहासवादी पद्धतिका सबसे पहले वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया। यद्यपि उसका दृष्टिकोण कुछ संकुचित था, तथापि उसने सम्बद्ध समस्याओंपर व्यावहारिक दृष्टिसे विचार करनेपर विशेष जोर दिया। उसकी यह धारणा थी कि आर्थिक सिद्धान्तोंके निर्माणके लिए तो इतिहासका आश्रय लेना ही चाहिए, उसके आधारपर राजनीतिज्ञ अपनी नीतियोंकी आधारशिला भी स्थापित कर सकते हैं। श्मोलरकी धारणा है कि रोशरने अर्थशास्त्रको सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दीके कामेरलवादसे जोड़नेका प्रयत्न किया।[2]

---

१ हेने : वही, पृष्ठ ५४०।
२ जीद और रिस्ट : द हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन्स, पृष्ठ ३८३।

हिल्डेब्राण्ड

ब्रूनो हिल्डेब्राण्ड (सन् १८१२–१८७८) मारबर्ग, ज्यूरिख, बर्न और जेना-में प्राध्यापक था। उसने शास्त्रीय पद्धतिका अधिक व्यापक सैद्धान्तिक विरोध किया। उसकी मान्यता थी कि इतिहासके कारण अर्थशास्त्रका नये सिरेसे निर्माण हो सकता है। इतिहासका केवल दृष्टान्त रूपमें ही उपयोग नहीं करना चाहिए, अर्थशास्त्रकी नवरचनाके लिए भी उसका उपयोग करना चाहिए।

'वर्तमान और भविष्यकी अर्थव्यवस्था' (सन् १८४८) में हिल्डेब्राण्डने यह धारणा व्यक्त की है कि भविष्यमें अर्थशास्त्र राष्ट्रीय विकासका विज्ञान बनेगा। उसने विश्ववादिताका विरोध कर इस बातपर जोर दिया कि प्रत्येक राष्ट्रके आर्थिक विकासके नियम भिन्न-भिन्न होते हैं। उसने आर्थिक विकासके तीन विभाग कर दिये : प्राकृतिक अर्थव्यवस्था; द्रव्य-अर्थव्यवस्था और साख-अर्थ-व्यवस्था। शास्त्रीय पद्धतिके उत्पादन और वितरणके सिद्धान्त उसने प्रायः ज्योंके त्यों स्वीकार कर लिये।[1]

नीस

कार्ल नीस (सन् १८२१–१८९८) भी मारबर्ग, फ्रेबर्ग और हीडेलबर्गमें प्राध्यापक रहा। पुरानी पीढ़ीके इस अन्तिम विचारकने शास्त्रीय पद्धतिकी आलोचना तो की ही, अपने पूर्ववर्ती रोशर और हिल्डेब्राण्डकी भी आलोचना की।

नीसने 'ऐतिहासिक दृष्टिसे अर्थशास्त्र' (सन् १८५३) में इस बातपर जोर दिया है कि आर्थिक विचार समय एवं स्थान, दोनोंके प्रति सापेक्ष हैं। उन्हें सार्वभौम मानना गलत है। वह मानता है कि अर्थशास्त्र और कुछ नहीं, केवल किसी देशके आर्थिक विकासका इतिहासमात्र होता है।

नीसकी बातोंकी ओर समकालीन लोगोंने विशेष ध्यान नहीं दिया। सन् १८८३ में नयी पीढ़ीने उस ओर ध्यान दिया।[2]

• • •

---

१ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ ३८७।

२ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ ३८८।

नयी पीढ़ी : ३ :

पुरानी पीढ़ीके इतिहासवादी विचारक मुख्यतः शास्त्रीय पद्धतिकी आलोचनामें संलग्न रहे। वे अपनी पद्धतिको विशिष्ट वैज्ञानिक रूप प्रदान करनेमें समर्थ नहीं हो सके। उनके सिद्धान्तों और मतोंमें एकरूपता भी नहीं थी। नयी पीढ़ीने और मुख्यतः उसके नेता श्मोलरने इस कार्यको पूर्ण किया। उसने कुछ रचनात्मक सुझाव उपस्थित किये। इस नयी पीढ़ीने पुरानी पीढ़ीके आलोचनात्मक अंशको तो स्वीकार किया, पर राष्ट्रीय विकास-सम्बन्धी अर्थव्यवस्थाके उन अंशोंका त्याग कर दिया, जो भ्रामक एवं विवादास्पद थे। इस प्रकार उसने सारे विचारोंको विधिवत् काट-छाँटकर उसे वैज्ञानिक जामा पहना दिया। इसके लिए उसने अनेक आँकड़ों और ऐतिहासिक तथ्योंका आश्रय लिया।

नयी पीढ़ीमें श्मोलरके साथ-साथ ब्रेण्टानो, हेल्ड, बूचर और सोम्बार्टके नाम प्रमुख रूपमें आते हैं।

श्मोलर

गुस्टाव श्मोलर (सन् १८३८-१९१७) हल, स्ट्रासवर्ग और बर्लिन विश्वविद्यालयमें प्राध्यापक रहा। जर्मनीके महानतम अर्थशास्त्रियोंमें उसकी गणना की जाती है। उसकी 'आउटलाइन ऑफ जनरल इकॉनॉमिक थ्योरी' (दो खण्ड, सन् १९००-१९०४) नयी पीढ़ीकी प्रामाणिक रचना मानी जाती है।

सन् १८७२ में जर्मनीमें सामाजिक सुधारके लिए राजनीतिक कार्य करनेवाली Verein fur social politik संस्थाका जन्म हुआ। इस संस्थाने जर्मनीमें एक नये जीवनका संचार किया। इस संस्थाका प्रमुख आन्दोलन शास्त्रीय पद्धतिके विरुद्ध था। इस संस्थाके विकासमें श्मोलरका बड़ा हाथ था।

श्मोलरने निगमन-प्रणालीका परित्याग न करके अनुगमन-प्रणालीको भी स्वीकार किया। वह कहता है कि 'निगमन और अनुगमन, दोनों ही प्रणालियाँ विज्ञानके लिए उसी भाँति आवश्यक हैं, जिस प्रकार चलनेके लिए मनुष्यको दोनों टाँगोंकी आवश्यकता होती है।' उसकी धारणा थी कि ऐतिहासिक और सांख्यिकीय निरीक्षणसे अनुगमन और मानवीय प्रकृतिसे निगमन-पद्धतिका आश्रय लेकर विज्ञानका विकास करना उपयुक्त होगा। उसने प्राकृतिक वातावरण, नृवंशशास्त्र और मनोविज्ञान सबकी सहायता लेना आवश्यक माना।[1]

---

१ हेने : हिस्ट्री ऑफ इकॉनामिक थॉट, पृष्ठ ५४७।

प्रमुख आर्थिक विचार

इतिहासवादी विचारधाराके विचार दो भागोंमें विभाजित किये जा सकते हैं :

(१) आलोचनात्मक विचार और

(२) रचनात्मक विचार।

आलोचनात्मक विचार

इतिहासवादी विचारकोंके आलोचनात्मक विचारोंमें तीन बातें मुख्य हैं :

(१) विश्ववादिताके सिद्धान्तका विरोध,

(२) संकुचित मनोविज्ञानकी आलोचना और

(३) निगमन-प्रणालीका विरोध।

विश्ववादिताके सिद्धान्तका विरोध : शास्त्रीय पद्धतिके विचारकोंकी ऐसी धारणा थी कि उनके आर्थिक सिद्धान्त सार्वजनीन और विश्वव्यापी हैं और इन सिद्धान्तोंकी आधारशिलापर खड़ा किया गया अर्थशास्त्र भी विश्वव्यापी एवं सार्वकालिक है।

इतिहासवादी विचारकोंको यह विश्ववादिता अस्वीकार थी। वे कहते थे कि ये नियम सापेक्ष हैं। राष्ट्र एवं कालके हिसाबसे उनमें परिवर्तन होता है। सब देशोंकी आर्थिक स्थिति एक समान न होनेके कारण जो बात एक स्थानपर व्यवहृत होती है, वही बात अन्य स्थानपर भी व्यवहृत होगी, ऐसा मान बैठना गलत है। समयकी गतिके अनुकूल इन नियमोंमें परिवर्तन करना होता है, तभी वे समाजके लिए उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं।[1]

इतिहासवादी कहते थे कि मुक्त-व्यापारका प्रश्न हो चाहे अन्य किसी बातका, देश-कालकी स्थितिको और इतिहासको ध्यानमें रखना वांछनीय है। आर्थिक नियम *भौतिक अथवा रसायनशास्त्रके नियमोंकी भाँति नहीं हैं।* इतिहासके विकासके साथ नये-नये तथ्य प्रकाशमें आते रहते हैं, उनके अनुकूल परिवर्तन करना आवश्यक होता है। अतः आर्थिक नियम 'सशर्त' ही स्वीकार किये जा सकते हैं, बिना शर्त नहीं। स्थितिमें परिवर्तन होनेसे उनमें भी परिवर्तन होता है। इतिहासवादी मानते हैं कि स्मिथ और उसके अनुयायियोंने सबसे महान् पातक यह किया कि उन्होंने अपने सिद्धान्तोंको सार्वजनीन और विश्वव्यापी बतानेकी चेष्टा की।[2]

---

१ जीद और रिस्ट : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन्स, पृष्ठ ३६३।

२ एरिक रौल : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ ३०८।

संकुचित मनोविज्ञान : शास्त्रीय पद्धतिके विचारक मानवको स्वार्थका पुतला मात्र मानते थे। कहते थे कि व्यक्तिगत स्वार्थकी भावना ही आर्थिक प्रगतिकी जननी है।

इतिहासवादी कहते थे कि ऐसा सोचना गलत है कि मनुष्य जो कुछ करता है, उसके मूलमें स्वार्थकी ही एकमात्र प्रेरणा रहती है। ऐसा नहीं है। यह संकुचित मनोविज्ञान है। इसमें मानवकी रुचि; परिवार-प्रेम, जाति-प्रेम, स्वदेश-प्रेम, उदारता, त्याग, यशोलिप्सा, धर्म, आचार-विचार आदिकी सामान्य प्रवृत्तियोंकी ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया। मनुष्यके अनेक कार्य स्वार्थसे प्रेरित न होकर परार्थवादी अनेक प्रवृत्तियोंसे प्रेरित होकर होते हैं। शास्त्रीय पद्धतिवालोंने जिस स्वार्थी एवं 'अर्थपरायण पुरुष' की कल्पना की है, वह कहीं ढूँढ़नेपर भी न मिलेगा, वह अयथार्थ और मिथ्या है। हिल्डेब्राण्टका कहना है कि शास्त्रीय पद्धतिवालोंने 'आर्थिक इतिहासको केवल 'अहं' का स्वाभाविक इतिहास बना दिया है।'[1]

निगमन-प्रणाली : शास्त्रीय पद्धतिवाले विचारक स्मिथ, रिकार्डो आदि निगमन-प्रणालीके आधारपर ही अपना विवेचन करते थे। वे सार्वभौम रूपसे निगमन-प्रणालीका प्रयोग करते थे। इतिहासवादी कहते हैं कि शास्त्रीय पद्धतिवाले ऐसा सोचते थे कि किसी एक मूल सिद्धान्तके आधारपर तर्ककी सामान्य प्रणाली द्वारा सभी आर्थिक सिद्धान्तोंका प्रतिपादन किया जा सकता है। इतिहासवादी इसे असंगत बताते हैं। उनका कहना है कि निगमनके स्थानपर अनुगमन-प्रणाली द्वारा, निरीक्षित तथ्यों और आँकड़ों, ऐतिहासिक निष्कर्षों एवं प्रयोगोंके आधारपर स्थिर किये गये सिद्धान्त ही सच्चे आर्थिक सिद्धान्त हो सकते हैं।[2]

रचनात्मक विचार

शास्त्रीय पद्धतिने अपनी कुछ धारणाएँ निश्चित कर ली थीं। जैसे, व्यक्ति स्वार्थका पुतला है और स्वार्थकी वृत्तिसे प्रेरित होकर वह सारे कार्य करता है। मुक्त-प्रतिस्पर्द्धा और मुक्त-व्यापारमें उसकी इस वृत्तिको भलीभाँति खुल खेलनेका अवसर प्राप्त होता है। यही कारण है कि आर्थिक संस्थाएँ अपने कार्यमें सतत संलग्न रहती हैं और माँग और पूर्तिका चक्र निरन्तर चलता रहता है। प्रतिस्पर्द्धाकी इस कसौटीमें छनकर ही मजूरी, मुनाफा और भाटकका निर्णय होता है।

इस पद्धतिके आधारपर शास्त्रीय पद्धतिके विचारक अपना सारा चिन्तन चलाते रहते थे। इसके अतिरिक्त और कोई भी मार्ग सम्भव है, ऐसा वे प्रायः

---

१ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ ३६६-३६७।
२ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ ३६८।

नहीं मानते थे। उनकी सारी चिन्तन-प्रणाली इन धारणाओंके भीतर ही डूबती-उतराती रहती थी। आर्थिक जगत्‌में दिन-प्रतिदिन होनेवाली उथल-पुथलसे उन्हें कुछ लेना-देना नहीं था। वे निर्लिप्त भावसे अपनी ही विचारधारामें निमग्न रहते थे।

इतिहासवादी विचारकोंको यह स्थिर गति स्वीकार नहीं थी। वे आँख खोल-कर विश्वको देखना, समझना और उसका अध्ययन करना पसन्द करते थे। वे जागतिक समस्याओंका व्यापक रूपसे निरीक्षण और अन्वेषण करना चाहते थे। इतिहासकी दृष्टिसे, प्रयोगकी दृष्टिसे एवं मानवीय विज्ञान एवं मनो-विज्ञानकी दृष्टिसे सारी समस्याओंके निराकरणके लिए वे आतुर थे। उनकी दृष्टिमें अर्थशास्त्र और उसका क्षेत्र सीमित एवं संकुचित न होकर अत्यन्त व्यापक था। वे अर्थशास्त्रके सिद्धान्तों और उद्देश्योंमें आमूल परिवर्तनके पक्षपाती थे। वे उसे व्यावहारिक और जीवनस्पर्शी बनानेके लिए उत्सुक थे, पर नयी पीढ़ीने यह अनुभव किया कि इतनी व्यापक योजना कभी कृतकार्य नहीं हो सकेगी। अतः उन्होंने उसे अधिकतम व्यवहार्य रूप देनेकी बात सोची।[1]

इतिहासवादियोंकी मान्यता थी कि किसी भी देशकी भौगोलिक स्थिति, उसके प्राकृतिक साधन, उसकी धार्मिक परम्परा, उसकी राजनीतिक स्थिति, उसका इतिहास आदि अनेक बातें उसके आर्थिक जीवनपर प्रभाव डालती हैं। अतः यह आवश्यक है कि इन सब दृष्टियोंसे अध्ययन किया जाय और राजनीतिक संस्थाओं, सभ्यता, संस्कृति, कला, ज्ञान, विज्ञान आदि सभी क्षेत्रोंके अध्ययन द्वारा आर्थिक सिद्धान्तोंकी गवेषणा की जाय। सामाजिक समस्याओंके सर्वांगीण अध्ययन द्वारा ही आर्थिक समस्याओंका अध्ययन हो सकेगा।[2]

इतिहासवादी मानते थे कि आर्थिक सिद्धान्तोंके अध्ययनके साथ साथ किसी भी राष्ट्रकी आर्थिक जीवन-व्यवस्थाका विस्तृत ऐतिहासिक अध्ययन होना चाहिए। आर्थिक जीवनकी गतिशीलताकी ओर पूरा ध्यान देना चाहिए। ऐतिहासिक प्रगतिकी जानकारीके बिना आर्थिक विकासका अध्ययन अधूरा रहेगा। हिल्डेब्राण्डका कहना है कि 'सामाजिक प्राणीके रूपमें मनुष्य सभ्यताका शिशु है और इतिहासकी उपज। उसकी आवश्यकताएँ, उसका बौद्धिक दृष्टिकोण, भौतिक पदार्थोंसे उसका सम्बन्ध, अन्य मानव प्राणियोंसे उसका सम्पर्क सदैव ही एक समान नहीं रहता। भूगोल उसे प्रभावित करता है, इतिहास उसकी धारणाओंमें

संशोधन करता है और शैक्षणिक विकास उसमें आमूल परिवर्तन कर दे सकता है।'[1]

इस प्रकार इतिहासवादी विचारकोंने अपने रचनात्मक सुझावों द्वारा यह बताया कि इतिहासकी आधारशिलापर सारे आर्थिक सिद्धान्तोंका महल खड़ा करना चाहिए और इतिहासकी गतिको दृष्टिमें रखते हुए भूत और वर्तमानकी स्थितिपर विचार करना चाहिए और आर्थिक समस्याओंका निराकरण करना चाहिए।

जर्मनीके इन इतिहासवादी विचारकोंकी भाँति शास्त्रीय पद्धतिकी जन्मभूमि इंग्लैण्डमें भी इतिहासवादका झण्डा बुलन्द हुआ। आगस्ट कोमटे, रिचार्ड जोन्स, क्लिफ लेजली, इन्ग्राम, बेगहाट, टोइन्बी, ऐशले आदिने इतिहासवादियोंके स्वरमें स्वर मिलाकर शास्त्रीय विचारधाराके प्रति अपना असन्तोष व्यक्त किया।[2]

मूल्यांकन

शास्त्रीय पद्धतिवालोंने आर्थिक विचारधाराके विकासमें जो स्थैर्य ला दिया था, रूढ़ मान्यताओंके संकुचित घेरेमें अपने सारे चिन्तनको अवरुद्ध कर दिया था, उसे इतिहासवादियोंने काट फेंका और विचारधाराका मार्ग प्रशस्त किया। उन्होंने आर्थिक समस्याओंके निराकरणके लिए व्यावहारिक मार्ग दिखाकर अर्थ-शास्त्रमें नवजीवनका संचार किया।

इतिहासवादी विचारकोंका प्रत्यक्ष प्रभाव भले ही अधिक नहीं दीखता, पर इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने उन्नीसवीं शताब्दीकी आर्थिक विचारधारापर भीतर ही भीतर गहरा प्रभाव डाला और अर्थशास्त्रका क्षेत्र व्यापक बनाया। भले ही उनके कुछ निष्कर्ष अधूरे थे, उनमें एकांगिकता थी, पर उनका अनुदान महत्त्व-पूर्ण है। उन्होंने अर्थशास्त्रको संकीर्णताके कठघरेसे बाहर निकालकर उसमें नये प्राण फूँके।

इसमें सन्देह नहीं कि इतिहासवादी विचारधाराने अर्थशास्त्रको व्यापकत्वकी ओर मोड़नेमें प्रशंसनीय कार्य किया है। ● ● ●

---

१ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ ४०४।

२ हेने : हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ ५४९-५५१।

विषयगत विचारधारा

सुखवादी विचारधारा : १ :

उन्नीसवीं शताब्दीके अन्तिम चरणमें अर्थशास्त्रीय विचारधाराने एक नया मार्ग पकड़ा। कुछ लोग उसे 'सुखवादी (Hedonistic) विचारधारा' के नामसे पुकारते हैं, जब कि कुछ लोग उसे 'विषयगत (Subjective) विचारधारा' कहते हैं।

इस धाराके विचारक इस आधारको लेकर चलते थे कि मनुष्य सुखके पीछे दौड़ता है और दुःखसे कतराता है। वे विषयको, मनुष्यको, मनुष्यके हृद्गत या आन्तरिक भावोंको, उसके व्यक्तित्वको प्राधान्य देते थे, उसके मनोविज्ञानपर अधिक जोर देते थे, उसके व्यक्तित्वके बाहर सामाजिक और बाह्य वातावरण-पर कम।

यह सुखवादी या विषयगत विचारधारा एक साथ ही यूरोपके कई देशोंमें

पनपी। इसकी दो धाराएँ हो गयीं—एकने गणितपर जोर दिया, दूसरीने मनोविज्ञानपर।[1]

दो धाराएँ

१. गणितीय धारा (Mathematical School)

फ्रांस—कूर्नो (सन् १८०१–१८७७);

वालरस (सन् १८३४–१९१०)

जर्मनी—गोसेन (सन् १८१०–१८५८)

इंग्लैण्ड—जेवन्स (सन् १८३४–१९१०)

इटली—परेटो (सन् १८४८–१९२३)

स्वीडेन—कैसल (सन् १८६७–१९४५)

२. मनोवैज्ञानिक धारा (Psychological School)

आस्ट्रिया—मेंजर (सन् १८४०–१९२१)

वीजर (सन् १८५१–१९२६)

वम्-बवार्क (सन् १८५१–१९१४)
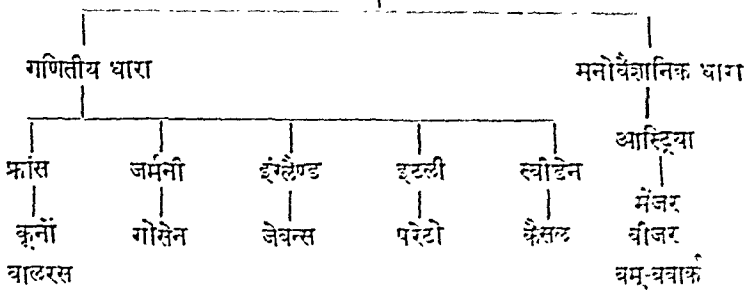
अभीतक चाहे शास्त्रीय पद्धतिवाले रिकार्डोके अनुयायी रहे हों, चाहे समाजवादी, सबका बल बाह्य वातावरणपर विशेष रूपसे रहता था। वस्तुके मूल्यका निश्चय या तो लागत दामसे होता था, अथवा श्रमके घंटोंसे। उसमें इस बातपर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता था कि वस्तुके मूल्यके साथ मानवके मनोविज्ञानका, वस्तुकी उपयोगिताका, मानवकी आवश्यकताकी तृप्तिका भी कोई सम्बन्ध है। विषयगत विचारधाराके विचारक इस उपयोगिता और मानवकी इच्छाओंकी संतुष्टिके प्रश्नको लेकर आगे बढ़े। उनका कहना था कि वस्तुका मूल्य वस्तुके

१ जीद और रिस्ट : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनोमिक डाक्ट्रिन्स, पृष्ठ ४८८–४९२।

आन्तरिक मूल्यपर निर्भर नहीं करता, वह निर्भर करता है इस बातपर कि उपभोक्तापर उसकी मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया कैसी होती है। उसे यदि वह वस्तु जँचती है, उसकी दृष्टिमें उसकी कोई उपयोगिता दिखाई पड़ती है, तब तो वह उसके लिए कोई कीमत चुकानेको तैयार होगा, अन्यथा वह उसके कौड़ी कामकी नहीं। उपभोक्ताकी इच्छाकी तीव्रताके साथ वस्तुके मूल्यका निकटतम और घनिष्ठ सम्बन्ध है। कौड़ी मोल ऊँट लगा हो, पर ग्राहकको ऊँटकी आवश्यकता ही प्रतीत न हो, तो वह उसपर एक कौड़ी भी क्यों खर्च करेगा?

पूर्वपीठिका

विषयगत विचारधाराकी उपयोगिता और मुख्यतः सीमान्त उपयोगिताकी धारणाको विकसित करनेमें फरासीसी विचारक कोण्डिलाक (सन् १७१४–१७८०) और डूपित, जर्मन विचारक टामस, अंग्रेज विचारक जरमी बेंथम, क्रेग (सन् १८२१), लांगफील्ड (सन् १८३३) और लायड आदिका विशेष हाथ रहा है।[1] मनोवैज्ञानिक विचारधारको ई० एच० वेबर (सन् १७९५–१८७८) के अनुसंधानोंसे बड़ी प्रेरणा मिली। उसने इस बातका विशेष रूपसे पता लगाया कि कुछ भावनाएँ कितनी देरतक तीव्रताके साथ ठहरती हैं। फेचनरने वेबरके सिद्धान्तको और अधिक विकसित किया, जिसके आधारपर आह्लादी उपयोगिता-सिद्धान्तको प्रस्फुटित होनेका अवसर मिला।[2]

शास्त्रीय विचारधाराकी इतिहासवादी आलोचनाने उसकी प्रतिष्ठाको बड़ी ठेस पहुँचायी थी। विषयगत विचारधाराके विचारकोंने उपयोगिता और मनोवैज्ञानिक तत्त्वोंका समावेश कर उसकी पुनः प्रतिष्ठाकी चेष्टा की और अर्थशास्त्रको विशुद्ध विज्ञान बनानेका प्रयत्न किया। निगमन और अनुगमन-पद्धतियोंको लेकर मेंजरका इतिहासवादी विचारकोंसे कोई बीस वर्षतक वाद-विवाद चलता रहा। मार्क्सवादियोंके श्रमके घण्टों द्वारा मूल्यके निर्धारणके तर्कका भी विषयगत विचारधारावाले विचारकोंने तीव्र विरोध किया और उसके प्रत्युत्तरमें सीमान्त उपयोगिताका सिद्धान्त ला खड़ा किया।

विचारधाराकी विशेषताएँ

विषयगत विचारधारा कुछ अंशोंमें शास्त्रीय विचारधाराका ही पृष्ठपोषण करती है। जैसे, अर्थशास्त्र विशुद्ध विज्ञान है; निगमन ही उसकी उपयुक्त पद्धति है और उसका आधार मनोवैज्ञानिक है। आर्थिक स्वातंत्र्य और प्रतिस्पर्द्धापर भी दोनों ही बल देते हैं।

परन्तु कुछ बातोंमें उसका मतभेद भी है। जैसे, विषयगत विचारधारावाले कहते हैं कि शास्त्रीय विचारकोंने कारण और परिणामके बीच भ्रम उत्पन्न कर दिया है। उनके माँग और पूर्ति, मूल्य और धनके वितरण आदिके अनेक सिद्धान्त चक्राकार घूमते हैं। विषयगत विचारधारावाले मानते थे कि माँग, पूर्ति और कीमत तीनों ही परस्परावलम्बी हैं और तीनों ही एक ही यंत्रके पुर्जे हैं। वस्तुकी कीमतके नि रिणमें शास्त्रीय परम्परावाले जहाँ बाह्य कारणोंपर बल देते हैं, वहाँ विषयगत विचारधारावाले कहते हैं कि उपयोगिता ही वह पैमाना है, जिसके आधारपर किसी भी वस्तुकी कीमत तय होती है। वितरणके सिद्धान्तमें भी दोनोंमें भेद है।

• • •

गणितीय विचारधारा : २ :

गणितीय विचारधाराके प्रमुख विचारक हैं—कूनों, गोसेन, जेवन्स, परेटो, वालरस और कैसल।

कूनों

फरासीसी विचारक एंटनी आगस्टिन कूनों (सन् १८०१–१८७७) ने यद्यपि सन् १८३८ में ही गणितीय विचारधारापर अपनी रचना 'एप्लिकेशन ऑफ मैथमैटिकल प्रिंसिपल्स टु थ्योरीज ऑफ वेल्थ' प्रकाशित कर दी थी, पर उसकी ओर किसीने ध्यान ही नहीं दिया, यहाँतक कि कई वर्षोंतक उसकी पुस्तककी एक प्रतितक नहीं बिकी![1] जेवन्सने कोई पचास वर्ष बाद उसे खोज निकाला और उसे गणितीय विचारधाराका जन्मदाता ठहराया।

कूनों पहला अर्थशास्त्री था, जिसने मूल्य-निर्धारणके लिए गणितीय सूत्रोंका प्रयोग किया और रेखाचित्रों (ग्राफ) के माध्यमसे माँग और पूर्तिको दर्शानेकी प्रक्रिया आरम्भ की। उसका मत था कि माँग, पूर्ति और मूल्य, तीनों ही एक-दूसरेपर आश्रित हैं। मूल्यके ही अंग हैं—माँग और पूर्ति।

यों जहाँतक आर्थिक स्वातंत्र्य और मुक्त-व्यापारकी बात थी, वहाँतक कूनों शास्त्रीय परम्पराके आदर्शोंको ही मानता था।

गोसेन

जर्मन विचारक हर्मन हेनरिख गोसेन (सन् १८१०–१८५८) के भाग्यने भी कूनोंकी ही भाँति उसका साथ नहीं दिया। उसने 'डेवलपमेंट ऑफ दि लाज ऑफ एक्सचेंज एमंग मैन' पुस्तक सन् १८५३ में ही प्रकाशित की थी, पर किसीने उसे पूछातक नहीं। उसे लगा कि उसका बीस वर्षोंका श्रम व्यर्थ ही गया, अतः उसने बाजारसे सारी पुस्तकें लौटाकर उन्हें नष्ट कर डाला। संयोगसे उसने ब्रिटिश म्यूजियमको एक प्रति भेंट की थी, वह बची रह गयी। प्रोफेसर एडमसन और जेवन्सने उसके आधारपर गोसेनके विचारोंका अध्ययन कर उसे समुचित ख्याति प्रदान की।

गोसेनने अपनी पुस्तकका श्रीगणेश ही इस वाक्यसे किया है—'मानव अपने जीवनके आनन्दका उपभोग करना चाहता है और वह अपना लक्ष्य बनाता है कि

---

१ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ ४९९।

उसे अधिकतम सुख किस प्रकार प्राप्त हो !"[1] इसके आधारपर उसने मानवीय आचरणके तीन सिद्धान्त निकाले :

(१) सीमान्त उपयोगिताका सिद्धान्त,

(२) सम-सीमान्त उपयोगिताका सिद्धान्त और

(३) इच्छाओंकी संतुष्टिका सिद्धान्त ।

गोसेनका कहना है कि गणितीय पद्धतिकी सहायताके बिना कुछ निष्कर्ष निकालना असम्भव है। अतः वह इस पद्धतिका आश्रय लेनेके लिए विवश है।

सीमान्त उपयोगिताका सिद्धान्त बताते हुए वह कहता है कि किसी भी वस्तुके उपभोगसे ज्यों-ज्यों मनुष्यकी संतुष्टि होती जाती है, त्यों-त्यों उसकी उपयोगिता घटती जाती है। उसकी मात्रा कम होती चलती है।

सम-सीमान्त उपयोगिताका भी सिद्धान्त गोसेनने निकाला।

गोसेनने मानवीय इच्छाओंकी संतुष्टिका सिद्धान्त बताते हुए कहा कि माँगकी तुलनामें जिन वस्तुओंकी पूर्ति कम होती है, उन्हींका मूल्य होता है। जिन मात्रामें वस्तुओंसे संतुष्टि प्राप्त होती है, उसी मात्राके अनुसार उनका मूल्य निर्धारित होता है।

गोसेनने रेखाचित्रोंकी सहायतासे इन सिद्धान्तोंका विश्लेषण किया। आज अर्थशास्त्रके प्रारम्भिक विद्यार्थी भी इन सिद्धान्तोंको जानते हैं, पर गोसेनके युगमें तो इन सिद्धान्तोंका आविष्कार एक महती घटना ही थी। उस समय गोसेनकी ये बातें लोगोंको कल्पना-लोककी प्रतीत होती थीं। बहुत बादमें लोगोंने यह स्वीकार किया कि इनमें यथार्थता है।

गोसेनने मानवीय आवश्यकताओंमें भेद भी किये थे। अनिवार्य आवश्यकताओं, सुविधाओं और विलासिताओंका पारस्परिक अन्तर भी बताया था। उसने यह भी कहा था कि मनुष्योंकी क्रयशक्तिमें अन्तर होता है। स्पष्ट है कि गोसेनने आधुनिक अर्थशास्त्रीय सिद्धान्तोंमेंसे अनेक सिद्धान्तोंकी पूर्वकल्पना की थी।[2]

जेवन्स

विलियम स्टेनले जेवन्स (सन् १८३५–१८८२) इंग्लैण्डका प्रसिद्ध अर्थशास्त्री, तर्कशास्त्री, अंकशास्त्री था। विषयगत विचारधाराका वह प्रमुख विचारक माना जाता है। यों उसकी गणना गणितीय विचारकोंमें की जाती है, पर वह मनोवैज्ञानिक धाराका भी विचारक माना जा सकता है और उसके सिद्धान्तोंका

---

१ एरिक रोल : ए हिस्ट्री ऑफ इकानॉमिक थॉट, पृष्ठ ३७५—३७६।

१ हेने : हिस्ट्री ऑफ इकानॉमिक थॉट, पृष्ठ ५६०—५६३।

आस्ट्रियन विचारकोंसे मेल बैठता है। सीमान्त उपयोगिताके जन्मदाताओंमेंसे वह भी एक है।[1]

जेवन्सका जन्म लिवरपूलमें और शिक्षा-दीक्षा लन्दनमें हुई। सन् १८५४ में उसने सिडनी (आस्ट्रेलिया) की टकसालमें नौकरी कर ली। लौटनेपर पहले वह मानचेस्टरमें और बादमें सन् १८७६ से १८८० तक वह लन्दन विश्वविद्यालयमें प्राध्यापक रहा। दो वर्ष बाद जलमें डूब जानेसे उसकी आकस्मिक मृत्यु हो गयी।

जेवन्सकी आर्थिक रचनाएँ हैं—'ए सीरियस फाल इन दि वैल्यू ऑफ गोल्ड' (सन् १८६३) और 'दि कोल क्वेश्चन' (सन् १८६५)। उसकी बादकी रचनाएँ हैं 'थ्योरी ऑफ पोलिटिकल इकॉनॉमी' (सन् १८७२) और 'दि स्टेट इन रिलेशन टु लेबर' (सन् १८८२)। मृत्युके उपरान्त प्रकाशित उसकी महत्त्वपूर्ण रचना है—'दि इनवेस्टीगेशन्स इन करेन्सी एण्ड फिनान्स' (सन् १८८४)।

प्रमुख आर्थिक विचार

गोसेनकी रचनाके प्रकाशनके कोई १७ वर्ष उपरान्त जेवन्सने ठीक वैसे ही आर्थिक विचार प्रकट किये, जैसे गोसेनने प्रकट किये थे, यद्यपि जेवन्सको गोसेनके विचारोंका कोई पता न था।[2]

जेवन्सके प्रमुख आर्थिक विचार दो भागोंमें विभाजित किये जा सकते हैं :

१. उपयोगिताका सिद्धान्त और
२. सूर्यके धब्बोंका सिद्धान्त।

उपयोगिताका सिद्धान्त

शास्त्रीय पद्धतिके विचारक जहाँ अभीतक उत्पादन एवं वितरणपर ही सर्वाधिक बल दिया करते थे, वहाँ जेवन्सने सबसे पहले उपभोगको अपना मूल आधार बनाया। उसने उपयोगिताको सर्वाधिक महत्त्व दिया। उसका कहना था कि उपयोगिता ही वह शक्ति है, जो मानवकी किसी इच्छाकी तृप्तिका साधन बनती है। सुख और दुःखकी भावनासे वह अपने इस सिद्धान्तका श्रीगणेश करता है। मानवको वह सुखका यंत्र मानता है, जो इस प्रयत्नमें रहता है कि उसे अधिकाधिक सुखकी प्राप्ति किस तरह हो सके। वह कहता है कि उपयोगिता किसी वस्तुका वह गुण है, जो सुख बढ़ाता है और दुःख कम करता है। उसे

---

१ ग्रे : डेवलपमेण्ट ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन, पृष्ठ ३४१।

२ हेने : हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ ५६३।

जेवन्स एक आन्तरिक गुण न मानकर किसी वस्तु और किसी विषयके पारस्परिक सम्बन्धको व्यक्त करनेवाली शक्ति मानता है।[1]

उपयोगिता-ह्रास-नियमका विवेचन करता हुआ जेवन्स सीमान्त उपयोगिता-पर आता है और कहता है कि समग्र उपयोगिता एवं सीमान्त उपयोगितामें अन्तर होता है। सीमान्त उपयोगिताको ही वह किसी वस्तुके मूल्य-निर्धारणका आधार मानता है। जेवन्सकी धारणा है कि 'मूल्य एकमात्र उपयोगितापर निर्भर करता है।' इस सम्बन्धमें उसका सूत्र इस प्रकार है[2] :

$$\frac{\phi_1 (अ-स)}{\psi_1 य} = \frac{य}{स} = \frac{\phi_2 स}{\psi_2 (ब-य)}$$

कल्पना कीजिये कि राम और गोपाल दो व्यक्ति आपसमें गेहूँ और चावल-का विनिमय करते हैं। (सी० उ० = सीमान्त उपयोगिता)

$$\frac{(\text{रामको गेहूँकी सी० उ०}) \times (\text{विनिमयके उपरान्त शेष गेहूँकी मात्रा})}{(\text{रामको चावलकी सी० उ०}) \times (\text{विनिमय किये गये चावलकी मात्रा})}$$

$$= \frac{\text{विनिमय किये गये चावलकी मात्रा}}{\text{विनिमय किये गये गेहूँकी मात्रा}}$$

$$= \frac{(\text{गोपालको गेहूँकी सी० उ०}) \times (\text{विनिमय किये गये गेहूँकी मात्रा})}{(\text{गोपालको चावलकी सी० उ०}) \times (\text{विनिमयके उपरान्त शेष चावलकी मात्रा})}$$

जेवन्सने मूल्यके श्रम-सिद्धान्तकी और यों सभी मूल्य-सिद्धान्तोंकी कड़ी आलोचना की। उसका कहना था कि अनेक बहुमूल्य वस्तुएँ तो किसी भी मूल्य-पर पुनः उत्पन्न की ही नहीं जा सकतीं। दूसरे, बाजारू मूल्य प्रायः घटता-बढ़ता रहता है, अतः वह उचित मूल्य होता नहीं। तीसरे, किसी वस्तुके उत्पादनमें व्यय होनेवाले श्रममें और उसकी कीमतमें बहुत कम सम्बन्ध रहता है। जैसे, ईस्टर्न स्टीमशिप, उसमें लागत तो बहुत लगी है, पर यदि उसका उपयोग न किया जा सके, तो उसका क्या मूल्य है? जेवन्सका मत है कि एक बार जो श्रम लग जाता है, भविष्यमें उसका किसी वस्तुके मूल्यपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता; उसकी उपयोगिताके अनुरूप उसकी कीमत चढ़ती-उतरती रहती है।[3]

सूर्यके धब्बोंका सिद्धान्त

जेवन्सने आर्थिक संकटोंका सूर्यके साथ सम्बन्ध जोड़ा। उसका कहना है कि

---

१ एरिक रौल : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ ३७६।

२ हेने : वही, पृष्ठ ५०७।

३ हेने : हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट पृ० ५०७।

आर्थिक संकटोंका और सूर्यपर पड़नेवाले धब्बोंका पारस्परिक सम्बन्ध है। आँकड़ों-की सहायता द्वारा उसने यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया कि सूर्यकी रश्मियोंका अयनवृत्त क्षेत्रोंमें की जानेवाली कृषिपर तथा इंग्लैण्डमें वस्तुओंकी माँगपर कुप्रभाव पड़ता है। आज इस सिद्धान्तको कोई महत्त्व नहीं दिया जाता।[1]

जेवन्सकी यह भी मान्यता थी कि यद्यपि श्रम-संघ श्रमिकोंकी मजूरी बढ़ानेमें विशेष सफलता प्राप्त नहीं कर सकते, तथापि श्रमिकोंकी ओरसे कारखाने खुलने चाहिए और उन्हें इसके लिए प्रोत्साहन मिलना चाहिए।

जेवन्स अर्थशास्त्रमें अंकशास्त्रको बहुत महत्त्व प्रदान करता था। सूचक अंकों-का उसे जन्मदाता ही माना जाता है। उपयोगिता-सिद्धान्तके विकासमें जेवन्सका नाम चिरस्मरणीय रहेगा। अर्थशास्त्री इस बातको मुक्तकण्ठसे स्वीकार करते हैं कि जेवन्स ही वह प्रथम विचारक है, जिसने उपयोगिता-सिद्धान्तके सम्बन्धमें पहलेसे यत्र-तत्र बिखरी सामग्रीको एकत्र किया और उसका विधिवत् विश्लेपण करके मूल्य, विनिमय एवं वितरणके विशद सिद्धान्तके रूपमें उसका विकास किया।[2]

वालरस

भूमिको प्रकृतिकी स्वतंत्र देन बतानेवाले और उसके राष्ट्रीयकरणकी माँग करनेवाले फरासीसी विचारक लियों वालरस (सन् १८३४–१९१०) ने शिक्षा तो इंजीनियरीकी प्राप्त की थी, पर बन गया वह अर्थशास्त्री। स्विट्जरलैण्डमें लासानके विश्वविद्यालयमें वह बहुत समयतक प्राध्यापक रहा। इससे कुछ लोग उसे स्विस मानते हैं।

वालरसकी प्रसिद्ध रचना है 'एलीमेण्ट्स ऑफ प्योर पोलिटिकल इकॉनॉमी'। सन् १८७४ में इस पुस्तकका प्रकाशन हुआ। इसमें गणितीय विश्लेषण अपनी चरम सीमापर पहुँचा। वालरसने जेवन्ससे सर्वथा स्वतंत्र रूपमें लिखा।

लियोंपर उसके पिता आगस्ट वालरस (सन् १८०१–१८६६) का विशेष प्रभाव था। धनके स्वरूप और मूल्यके मूलपर उसकी एक रचना सन् १८३१ में प्रकाशित हुई। उक्त पुस्तकमें वह कहता है कि किसी भी वस्तुका न्यूनत्व, उसका सीमित होना ही उस वस्तुको मूल्यवान् बनाता है। उत्पादनके साधनोंका मूल्य इसीलिए माना जाता है कि वे सीमित हैं, अल्प हैं, उनकी न्यूनता है। बाजारके समस्त व्यवहार इसी कारण चलते हैं कि कुछ वस्तुओंकी

---

१ एरिक रौल : वही, पृष्ठ ३७६।

२ एरिक रौल : वही, पृष्ठ ३५७।

सीमा निश्चित है। माँग उन आवश्यकताओंका समूह है, जो तृप्ति चाहती हैं। पूर्ति उन वस्तुओंका समूह है, जो तृप्ति दे सकती हैं। दोनोंके लिए वस्तुका सीमित होना आवश्यक है।[1]

प्रमुख आर्थिक विचार

लियों वालरसने पिताकी विचारधाराको और अधिक विकसित कर गणितीय पद्धतिको विशिष्टता प्रदान की। यहाँतक कि लोग ऐसा मानने लगे कि गणितीय पद्धतिका जन्मदाता वालरस ही है।

वालरसके विचारोंको दो भागोंमें विभाजित कर सकते हैं :

(१) न्यूनत्वका सिद्धान्त और

(२) भूमिके राष्ट्रीयकरणका सिद्धान्त।

१. न्यूनत्वका सिद्धान्त

जेवन्सने जहाँ 'उपयोगिता' को अपनी विचारधाराका केन्द्रबिन्दु बनाया था, वहाँ वालरसने 'न्यूनत्व' को। वह कहता है कि वस्तुका सीमित होना विषयगत है और न्यूनताके अनुपातसे ही विनिमय-मूल्यका निर्धारण होता है। उसने कई वस्तुओंके मूल्यका उदाहरण प्रस्तुत करते हुए बताया कि उपयोगिता-की तीव्रतापर वस्तुकी माँग-रेखा आश्रित रहती है और उसकी अन्तिम इकाईपर उसका मूल्य निर्भर करता है। इस सम्बन्धमें उसका सूत्र जेवन्सके सूत्रसे मिलता-जुलता हुआ ही है।[2]

बाजारमें संतुलन स्थापित करने और मूल्यके सिद्धान्तका प्रतिपादन करनेमें वालरसकी देन अमूल्य है। उसने अपने सूत्रके अन्तर्गत उन सभी बातोंका समावेश करनेका प्रयत्न किया है, जो बाजारमें माँग और पूर्तिके सम्बन्धमें आपसमें संघर्ष किया करती हैं।

कल्पना कीजिये कि लन्दनके स्टाक एक्सचेंजकी भाँति सारा समाज एक कमरेमें आकर एकत्र हो गया है। उसमें क्रेता और विक्रेता सभी आकर जुट गये हैं। चारों ओर सब अपनी-अपनी कीमतोंकी आवाज लगा रहे हैं। सबके मध्यमें बैठा है एक व्यापारी, साहसी, उत्पादक या किसान, जो दोहरा काम करता है—एक हाथसे खरीदता है, दूसरेसे बेचता है। उत्पादकोंसे वह वालरसके शब्दोंमें 'उत्पादक सेवाएँ' क्रय करता है—भू-स्वामीको भाटक, पूँजीपतिको ब्याज और श्रमिकको मजूरी देता है। उधर वे ही विक्रेता जब क्रेता बन जाते हैं, तो वह उन्हें अपने खेतकी, अपने कारखानेकी उत्पादित सामग्री बेचता है। पहले जो विभिन्न

---

१. ग्रे : डेवलपमेण्ट आफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन, पृष्ठ ३१६।

२. हेने : हिस्ट्री आफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ ६००-६०२।

रूपमें अपनी सेवाएँ बेचते थे, वे ही अब उपभोक्ताके रूपमें उत्पादित सामग्री क्रय करते हैं। इस आदान-प्रदानमें, इस क्रय-विक्रयमें माँग और पूर्तिके हिसाबसे मूल्यका निर्धारण होता है। वालरसने इसका उत्तम विवेचन कर मूल्यका सिद्धान्त स्थिर किया है।[1]

विनिमय-मूल्य ज्ञात करनेके लिए वालरस ऐसा मानता था कि बाजारमें पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा है और विनिमय करनेवाले दोनों पक्ष—क्रेता और विक्रेता—अधिकतम लाभ प्राप्त करनेके लिए इच्छुक हैं।

२. भूमिके राष्ट्रीयकरणका सिद्धान्त

वालरस पूर्ण प्रतिस्पर्द्धाका पक्षपाती है। उसका कहना है कि पूर्ण प्रतिस्पर्द्धासे प्रत्येक व्यक्तिको अधिकतम संतुष्टिकी प्राप्ति होती है। सन् १८६७ के पेरिसके अपने व्याख्यानोंमें उसने यह धारणा व्यक्त की थी कि सम्पत्ति दो विभागोंमें विभाजित की जानी चाहिए: (१) जिसपर व्यक्तिगत स्वामित्व हो और (२) जिसपर सामूहिक स्वामित्व हो। भूमिको वह प्रकृतिकी देन मानता है और इस बातकी माँग करता है कि भूमिपर किसी व्यक्तिका नहीं, अपितु सारे समाजका स्वामित्व होना चाहिए।[2] वालरसके इन विचारोंने हेनरी जार्जको भूमिके राष्ट्रीयकरणका आन्दोलन चलानेमें विशेष प्रेरणा दी।

परेटो

इटालियन विचारक विलफ्रेडो परेटो (सन् १८४८–१९२२) लासान विश्व-विद्यालयमें वालरसका उत्तराधिकारी था। उसने वहाँ विचारकोंकी एक गोष्ठी स्थापित की थी। उसकी प्रमुख रचना है—'ए कोर्स ऑफ प्योर पोलिटिकल इकॉनॉमी' (सन् १८९६–१८९७)।

परेटो आरम्भमें गणितज्ञ और इंजीनियर था, बादमें वह अर्थशास्त्री बना। परेटोके नामसे कई सिद्धान्त प्रचलित हैं। आर्थिक दृष्टिसे सुपरिणाम प्राप्त करनेके लिए उत्पादनके विभिन्न अंगोंमें एक निश्चित अनुपात आवश्यक है—यह उसका एक प्रसिद्ध सिद्धान्त है। सम्पत्तिके विषम वितरणके सम्बन्धमें भी परेटोका एक सिद्धान्त है, जिसमें आँकड़े देकर बताया गया है कि सम्पत्तिकी मात्रा जितनी ही अधिक होती है, सम्पत्तिके स्वामियोंकी संख्या उतनी ही कम होती है।[3]

सन् १९१६ में परेटोने समाज-विज्ञानपर एक पुस्तक लिखी—'ट्रीटाइज ऑफ जनरल सोशियालॉजी'।

---

१ जीद और रिस्ट: वही, पृष्ठ ५०३-५०४।

२ जीद और रिस्ट: वही, पृष्ठ ५६७।

३ हेने: हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ ६८१-६८२।

प्रमुख आर्थिक विचार

परेटोने मानव-धारणाओंके दो विभाग किये हैं—एक तर्कसंगत और दूसरा भावनात्मक। यों वह दोनोंमें सन्तुलनका पक्षपाती है। वह इच्छाओं और उनकी बाधाओंके बीच, अपनी इच्छाओं और दूसरोंकी इच्छाओंके बीच सामंजस्य स्थापित करनेपर जोर देता है। इसके लिए वह राज्यके नियंत्रणकी बात भी करता है। परेटोके विचारोंसे फासिस्टी आन्दोलनको बड़ी प्रेरणा मिली।

कैसल

स्वीडिश अर्थशास्त्री गुस्ताव कैसल (सन् १८६७–१९४५) भी पहले इंजीनियर था, बादमें अर्थशास्त्री बना। कैसलने वालरसके सिद्धान्तोंका विशेष रूपसे विकास किया और उन्हें वितरण एवं द्रव्यपर भी लागू किया।[1]

कैसलकी प्रमुख रचनाएँ हैं—'आउटलाइन ऑफ एन एलीमेण्टरी थ्योरी ऑफ प्राइसेज' (सन् १८९९); 'नेचर एण्ड नेसेसिटी ऑफ इण्टरेस्ट' (सन् १९०३) और 'थ्योरी ऑफ सोशल इकॉनॉमी' (सन् १९१८)।

प्रमुख आर्थिक विचार

कैसलके प्रमुख आर्थिक सिद्धान्त तीन हैं :

(१) मूल्य-सिद्धान्त,
(२) क्रयशक्ति-समता-सिद्धान्त और
(३) व्यापार-चक्र-सिद्धान्त।

कैसलके मूल्य-सिद्धान्तकी विशेषता यह है कि उसने पुरातन मूल्य-सिद्धान्तों एवं उपयोगिताके सिद्धान्तोंको समाप्त करनेका सुझाव दिया था। ऊपरसे कुछ भेद प्रतीत होनेपर भी उसका मूल्य-सिद्धान्त वालरस और जेवन्सकी ही भाँति था। उसने मूल्य और कीमतमें भेद किया और माँग तथा पूर्तिके कोष्ठक बनाकर अपने सिद्धान्तका प्रतिपादन करनेकी चेष्टा की।[2]

विदेशी विनिमय-दरका पता लगानेके लिए कैसलने क्रयशक्ति-समता-सिद्धान्तका प्रतिपादन किया। उसमें उसने पुरानी विनिमय-दर तथा सूचक अंकोंकी सहायतासे सामान्य दरका पता लगानेका प्रयत्न किया। कुछ असंगतियोंके बावजूद उसका यह सिद्धान्त उत्तम माना जाता है।

कैसलके अनुसार बचत ही कीमतोंके अचानक चढ़ने या गिरनेका कारण

---

१ हेने : वही, पृष्ठ ६०२।
२ हेने : वही, पृष्ठ ६०२।

होती है, वस्तुओंकी माँगमें कमी-वेशी उसका कारण नहीं। बचत अधिक होनेपर क़ीमतें बढ़ती हैं, कम होनेपर गिरती हैं।[1]

गणितीय पद्धतिका मूल्यांकन

मार्शल, एजवर्थ, फिशर, हिक्स, एलेन, राबर्टसन आदि अनेक आधुनिक अर्थशास्त्री लियों वालरसकी गणितीय पद्धतिसे प्रभावित हैं।

अर्थशास्त्रकी गणितीय शाखाने विनिमयपर अपना विशेष जोर दिया है और उसीपर वह सारी अर्थव्यवस्था केन्द्रित मानती है। वह मानती है कि प्रत्येक विनिमय 'क = ख' के रूपमें प्रदर्शित किया जा सकता है। उनके सारे विवेचनमें इस प्रकार आदिसे अन्ततक गणितका आश्रय लिया गया है।[2]

गणितीय पद्धतिने अर्थशास्त्रीय विश्लेषणको शुद्ध विज्ञानकी ओर बढ़ानेमें सहायता प्रदान की है। पर सभी सुखवादी गणितीय पद्धतिका समर्थन नहीं करते। आस्ट्रियाके विचारक मनोविज्ञानपर बड़ा जोर देते हैं। उनकी धारणा है कि प्रत्येक स्थानपर गणित लगानेका कोई अर्थ नहीं।

● ● ●

१ जीद और रिस्ट : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन्स, पृष्ठ ५२२।

२ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ ४६६।

मनोवैज्ञानिक विचारधारा : ३ :

मनोवैज्ञानिक विचारधारावाले अर्थशास्त्रियोंकी यह मान्यता थी कि मानवके आर्थिक कार्यकलापका मूल कारण मनोवैज्ञानिक होता है। मानवके मनोविज्ञान, उसकी आन्तरिक भावनाओंको वे अपने अध्ययनका केन्द्रबिन्दु मानकर चलते थे और उसी दृष्टिसे सारी समस्याओंका अध्ययन किया करते थे। उनके नामसे ऐसा कोई भ्रम नहीं होना चाहिए कि वे मनोविज्ञान या उसके किसी सिद्धान्तके आधारपर चलते थे। मुक्तवादी होनेके साथ-साथ वे गणितीय विचारधारासे भिन्न मत रखते थे, इसीसे उन्हें ऐसा नाम दिया गया था।

विचारधाराकी विशेषताएँ

यों इस विचारधारामें निगमन-प्रणालीका आश्रय, अर्थशास्त्रको विज्ञानका रूप देनेकी प्रवृत्ति, पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा एवं स्वातंत्र्यपर अत्यधिक बल एवं मानवके कार्योंके मूलमें व्यक्तिगत स्वार्थकी भावना आदिकी बातें शास्त्रीय पद्धतिके अनुकूल ही थीं; पर कुछ बातें भिन्न भी थीं। जैसे—बाह्य विषयोंके स्थानपर आन्तरिक विषयोंको महत्त्व देना, आर्थिक और नैसर्गिक वस्तुओंमें वस्तुओंका विभाजन करना, वस्तुओंके मूल्यमें उपयोगिताको विशेष महत्त्व देना, उपयोगको अध्ययन-का विशेष क्षेत्र बनाना आदि। 'सीमान्त उपयोगिता' को अन्तिम रूप देना इस विचारधाराकी विशिष्टता है।

प्रमुख विचारक

मनोवैज्ञानिक विचारधाराके विचारकोंमें ३ व्यक्ति प्रमुख हैं—मेंजर, वीजर और बम बवार्क। आस्ट्रियामें यह धारा विशेष रूपसे प्रवाहित हुई। इनके पूर्व-वर्तियोंमें जेवन्स और लियों वालरसकी और अनुयायियोंमें विशेष रूपसे मैकसकी गणना की जा सकती है।

मेंजर

कार्ल मेंजर (सन् १८४०–१९२१) मनोवैज्ञानिक विचारधाराका जन्म-दाता माना जाता है। आस्ट्रियाके गैलीशियामें उसका जन्म हुआ। प्राग, वियना और क्रैकोमें उसका शिक्षण हुआ। सन् १८७३ में वह वियनामें प्राध्या-पक नियुक्त हुआ। आस्ट्रियाके राजकुमार रुडोल्फका कुछ समयतक शिक्षक रहा। पुनः प्राध्यापकी करने लगा और सन् १९०३ तक वियना विश्वविद्यालयमें

रहा। सन् १९०० में वह आस्ट्रियाकी संसद्के उच्च सदनका आजीवन सदस्य बना लिया गया।

मेंजरकी सबसे प्रमुख रचना है—'फाउण्डेशन ऑफ इकॉनॉमिक थ्योरी' (सन् १८७१)। मेंजरकी शिष्यमण्डलीने इसी रचनाके आधारपर अपने सिद्धान्तोंका प्रतिपादन किया है। निगमन और अनुगमन-प्रणालियोंके प्रश्नको लेकर श्मोलरके साथ मेंजरका दीर्घकालीन विवाद चलता रहा। मेंजरके कारण वियनामें अर्थशास्त्रकी शास्त्रीय धाराका विशेष रूपसे अध्ययन एवं अनुशीलन होता रहा।

प्रमुख आर्थिक विचार

मेंजरके प्रमुख आर्थिक विचारोंको तीन भागोंमें विभाजित किया जा सकता है :

(१) मूल्य-सिद्धान्त,
(२) द्रव्य-सिद्धान्त और
(३) अध्ययनकी प्रणाली।

१. मूल्य-सिद्धान्त

कारण और परिणामको मेंजर अपने विवेचनका केन्द्रविन्दु मानकर चलता है। मानवकी इच्छाएँ ही उसके सारे कार्यकलापोंका कारण हैं। मानवीय आवश्यकताएँ ही मूल वस्तु हैं। आवश्यकताओंकी तृप्तिमें ही वस्तुओंकी उपयोगिता है। आवश्यकताकी तीव्रता एवं वस्तुकी पूर्तिमें कमीके अनुरूप ही मूल्यका निर्धारण होता है। मेंजरकी धारणा थी कि उपयोगिता ही मूल्यका वास्तविक आधार है, उसकी उत्पादन-लागत नहीं। दिनभर श्रम करके जंगलमें लकड़ी काटी जाय और वह यों ही पड़ी रहे, तो उसका क्या मूल्य? परन्तु यदि हीरा अचानक ही हाथ लग जाय, तो उसका अत्यधिक मूल्य हो सकता है। श्रमकी मात्राको अथवा पूँजीके विनियोगको मूल्यका निर्णायक मानना गलत है। उसकी उपयोगिता कितनी है, इसी दृष्टिसे मूल्यका निर्धारण होता है।

वस्तुओंको मेंजरने दो भागोंमें विभाजित किया : (१) आर्थिक वस्तुएँ और (२) नैसर्गिक वस्तुएँ। जिनकी पूर्ति सीमित है वे आर्थिक वस्तुएँ हैं, जिनकी असीमित है वे नैसर्गिक। पर किसी वस्तुको सदाके लिए किसी एक भागमें विभाजित नहीं किया जा सकता। कभी आर्थिक वस्तु नैसर्गिक बन सकती है और कभी नैसर्गिक वस्तु आर्थिक।

उपभोक्ताके नैकट्यके आधारपर भी मेंजरने आर्थिक वस्तुओंको तीन श्रेणियोंमें बाँटा है—प्रथम श्रेणीमें वे वस्तुएँ हैं, जिनसे आवश्यकताकी पूर्ति तत्काल होती है। जैसे, रोटी। द्वितीय श्रेणीवाली वस्तुओंसे तत्काल तो

आवश्यकताकी पूर्ति नहीं होती, पर वे उसका कारण बनती हैं। जैसे, रोटीके लिए आटा। तृतीय श्रेणीमें वे वस्तुएँ आती हैं, जिनके द्वारा द्वितीय श्रेणीकी वस्तुएँ तैयार होती हैं। जैसे, गेहूँ। गेहूँका मूल्य इसी कारण है कि उससे आटा बनता है और आटेसे रोटी, जो कि मानवके जीवन-धारणके लिए अनिवार्य है।[1]

मेंजरकी दृष्टिमें किसी पदार्थके लिए ४ शर्तें अनिवार्य हैं :

(१) उस पदार्थके लिए मानवीय आवश्यकता हो।

(२) आवश्यकताकी तृप्तिके लिए उस पदार्थमें आवश्यक गुण हों।

(३) मनुष्यको इस कारण-सम्बन्धका ज्ञान हो।

(४) आवश्यकताकी तृप्तिके लिए उस पदार्थको प्रयोगमें लानेवाली शक्ति हो।

इसी आधारपर मेंजरने अपने मूल्य-सिद्धान्तके सारे ढाँचेको खड़ा किया है।[2]

२. द्रव्य-सिद्धान्त

मेंजरने द्रव्य-सिद्धान्तके सम्बन्धमें जो विचार प्रकट किये हैं, वे मुख्यतः आस्ट्रियाकी तत्कालीन स्थितिकी दृष्टिसे हैं। द्रव्यपर उसने सर्वप्रथम आन्तरिक दृष्टिकोणसे विवेचन किया है, पर मर्यादित होनेके कारण उसका विशेष उपयोग नहीं है। शुद्ध द्रव्यके सिद्धान्तके सम्बन्धमें उसने सन् १८९२ में 'स्वर्ग' पर एक लम्बा लेख लिखा था, जो आधुनिक विचारकोंके लिए सिद्धान्त-निर्धारणमें बड़ा सहायक सिद्ध हुआ है।[3]

३. अध्ययनकी प्रणाली

शास्त्रीय विचारधाराके अध्ययनके लिए निगमन-प्रणालीका आश्रय लिया जाय या अनुगमन-प्रणालीका, इसपर मेंजरने लम्बा वाद-विवाद चलाया था। उसने स्वयं मुख्यतः निगमन-प्रणालीका आश्रय लिया, पर उसके लिए वह इस बातपर जोर देता है कि आर्थिक पद्धति वैयक्तिक बुनियादपर खड़ी होनी चाहिए। वह कहता है कि किसी समाजके आर्थिक तत्त्व किसी सामाजिक शक्तिकी प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति नहीं होते, प्रत्युत वे आर्थिक कार्योंमें संलग्न मनुष्योंके व्यवहारका परिणाममात्र होते हैं। उन्हें विधिवत् समझनेके लिए यह आवश्यक है कि उसके सभी तत्त्वोंका और व्यक्तियोंके आचरणका भरपूर विश्लेषण किया जाय।[4]

---

१ हेने : हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ ६०६।

२ ग्रे : डेवलपमेण्ट ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन, पृष्ठ ३४५।

३ एरिक रौल : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ ३८६।

४ एरिक रौल : वही, पृष्ठ ३८५-३८६।

वीजर

फ्रेडरिक फान वीजर (सन् १८५१–१९२६) वियना विश्वविद्यालयमें मेंजर-का उत्तराधिकारी था। वह उसका जामाता भी था। उसकी दो रचनाएँ विशेष प्रसिद्ध हैं—'नेचुरल वैल्यू' (सन् १८९१) और 'थ्योरी ऑफ सोशल इकॉनॉमिक्स' (सन् १९१४)।

प्रमुख आर्थिक विचार

वीजरने अपना सारा ध्यान मेंजरके सिद्धान्तोंके विश्लेषण और उनके विधिवत् परिष्कार और प्रकाशनमें ही केन्द्रित किया। उपयोगिताके सिद्धान्तका उसने विशेष रूपसे विकास किया। वीजरने कहा कि सीमान्त उपयोगितापर ही सभी पदार्थोंका मूल्य निर्भर करता है।

वीजरने मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे मूल्य-सिद्धान्तका विवेचन किया। उसका कहना है कि हमारा मुख्य उद्देश्य है अपनी आवश्यकताओंकी पूर्ति। मूल्य हमारी मानसिक रुचिका ही एक स्वरूप है। मूल्यका केन्द्र उपभोगमें है। पर जब आवश्यकताओंकी वस्तुओंमें न्यूनता आती हो, तो हमें अपना ध्यान उस ओर-से हटाकर उत्पादन-वस्तुओंकी ओर भी ले जाना पड़ता है। यह 'मूल्यारोपण' लागतका तत्त्व बन जाता है। प्रथम क्रमवाली वस्तुओंका मूल्य प्रकृत या प्राथमिक मूल्य रहता है, उच्चतर क्रमवाली वस्तुओंका मूल्य गौण मूल्य होता है। साहसी अपने काममें लागत और दाम दोनोंको सम-सीमान्त रखनेका प्रयत्न करता है। वीजरका यह मूल्यारोपणका सिद्धान्त उसका विशिष्ट सिद्धान्त माना जाता है।[1]

वीजरने मूल्यमें लागतको अप्रत्यक्ष रूपसे ही सही, स्थान देकर मनोवैज्ञानिक विचारधाराको विकसित करनेमें विशेष कार्य किया है।

बम बवार्क

यूगेन फान बम बवार्क (सन् १८५१–१९१४) भी वियना विश्वविद्यालयमें प्राध्यापक था। इस विचारक-त्रयीमें यह सर्वाधिक प्रसिद्ध एवं सबसे अधिक विश्लेषक एवं स्वतंत्र बुद्धिवाला है।

बम बवार्ककी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं—'कैपिटल एण्ड इण्टरेस्ट' (सन् १८८४), 'आउटलाइन्स ऑफ दि थ्योरी ऑफ कमोडिटी वैल्यू' (सन् १८८६) और 'पॉजिटिव थ्योरी ऑफ कैपिटल' (सन् १८८८)।

प्रमुख आर्थिक विचार

बम बवार्कके प्रमुख आर्थिक विचार दो भागोंमें विभाजित कर सकते हैं :

---

१ ग्रे : डेवलपमेण्ट ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन, पृष्ठ ३५४।

(१) सीमान्त युग्मोंका मूल्य-सिद्धान्त और
(२) ब्याजका विषयगत सिद्धान्त ।

१. सीमान्त युग्मोंका मूल्य-सिद्धान्त

बम बवार्कने मेंजरके मूल्य-सिद्धान्तपर विषयगत दृष्टिसे विचार तो किया, पर सीमान्त युग्मोंका अन्वेषण उसकी नयी शोध है ।[1]

वह कहता है कि कल्पना कीजिये कि एक स्थानपर एक ही विक्रेता है, एक ही ग्राहक । यहाँपर ग्राहक सोचेगा कि बिक्रीके पदार्थका जो उचित मूल्य है, उससे अधिक न दूँ । उधर विक्रेता सोचेगा कि पदार्थका मेरे निकट जितना मूल्य है, उससे कम न लूँ । इन दोनों सीमाओंके बीचमें उस पदार्थकी कीमत निश्चित होगी । इनमें जिस पक्षमें सौदेबाजीकी योग्यता अधिक होगी, वही लाभमें रहेगा ।

अब ग्राहकोंकी एकपक्षीय प्रतिस्पर्द्धाकी कल्पना कीजिये । यहाँ क्रेता अनेक हैं, विक्रेता एक है । सब अपना-अपना दाम लगा रहे हैं । जो व्यक्ति सबसे अधिक दाम देनेको तैयार होगा, जिसे उस वस्तुकी विषयगत उपयोगिता सबसे अधिक लगेगी, उसके दाममें और उससे कम देनेवाले ग्राहकके दामके आसपास उस वस्तुका मूल्य निश्चित हो जायगा ।

इसी प्रकारके बाजारकी कल्पना करके बम बवार्क यह निष्कर्ष निकालता है कि व्यावहारिक बाजारमें जहाँ एक ओर उपभोक्ताओंमें और दूसरी ओर उत्पादकोंमें प्रतिस्पर्द्धा चलती है, वहाँ सीमान्त युग्मोंकी सहायतासे वस्तुका मूल्य निश्चित होगा । एक सीमान्त युग्म वस्तुके मूल्यकी उच्चतम सीमा निश्चित कर देगा, दूसरा न्यूनतम । उसीके आधारपर मूल्यका निर्द्धारण हो सकेगा ।

२. ब्याजका विषयगत सिद्धान्त

बम बवार्कने 'पॉजिटिव थ्योरी ऑफ कैपिटल' में ब्याजके विषयगत सिद्धान्तका प्रतिपादन किया, जिसके उसने तीन मनोवैज्ञानिक तथा वैज्ञानिक कारण दिये हैं :

(१) मनुष्य यह सोचता है कि उसका भविष्य उसके वर्तमानकी अपेक्षा उज्ज्वल है । अतः आज उसे धनकी जो सीमान्त उपयोगिता है, वह कल नहीं रहेगी । आजका उपभोग यदि कम करके वह भविष्यके लिए बचाता है, तो उसके इस बचे हुए धनपर उसे ब्याज मिलना उचित है, अन्यथा उसमें बचतकी प्रेरणा नहीं रहेगी ।

(२) मनुष्य वर्तमान आवश्यकताओंकी तीव्रताका अनुभव तो करता है,

---

१ हेने : हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ ६१६-६१७ ।

भावी आवश्यकताओंका नहीं। व्याजका प्रलोभन न रहे, तो वह वर्तमान आवश्यकताओंमें कमी करना क्यों स्वीकार करेगा ?

(३) आजका उत्पादन वैज्ञानिक और चक्राकार हो गया है और उसके फलस्वरूप आजकी उत्पादन-लागत कल कम हो जायगी। समयके अनुसार वस्तुएँ खराब और नष्ट भी होती हैं। अतः मनुष्य वर्तमानमें उपभोग करना अच्छा मानता है। उससे विरत करनेके लिए व्याजका प्रलोभन आवश्यक है।[1]

इन तीन आधारोंपर बम बवार्क व्याजका औचित्य सिद्ध करता है और उसे अनर्जित आयके क्षेत्रसे हटाना चाहता है।

बम बवार्कके ये दोनों सिद्धान्त आजके अर्थशास्त्रियोंको स्वीकार नहीं हैं, फिर भी विचारधाराके विकासमें तो इनका महत्त्व है ही।

विचारधाराका प्रभाव

मनोवैज्ञानिक और गणितीय विचारधाराओंने आर्थिक विचारधाराके विकासमें अच्छा योगदान किया है, इस बातको अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

मनोवैज्ञानिक विचारधाराने समकालीन विचारकोंपर विशेष प्रभाव डाला। फिलिप्पोविच और एमिल सैक्सने इस शाखाको विकसित करनेमें सहायता की। प्रथम विश्वयुद्धके उपरान्त वियनासे यह विचारधारा समाप्त होकर यत्र-तत्र बिखर गयी। लुडविग फान मीजेज और हाईकने इंग्लैण्डमें इसका प्रचार किया। विकस्टीड, एजवर्थ जैसे ब्रिटिश और क्लार्क, पैटन, फैटर जैसे अमरीकी विचारकोंपर उसका प्रभाव विशेष रूपसे परिलक्षित होता है।

मार्शलपर और उसके नव-शास्त्रीय सिद्धान्तपर भी इस विचारधाराका स्पष्ट प्रभाव है।

● ● ●

---

१ ग्रे : डेवलपमेण्ट ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन, पृष्ठ ३५३-३६१।

समाजवादी विचारधारा : २

राज्य-समाजवाद : १ :

अर्थशास्त्रकी शास्त्रीय विचारधाराने जिन अनेक प्रतिक्रियाओंको जन्म दिया, उनमें समाजवादी प्रतिक्रियाका विशेष स्थान है। समाजवादकी धाराका उदय तो पहले ही हो चुका था, पर वैज्ञानिक समाजवादका विकास मार्क्स और उसके अनुयायियोंने किया। इस धाराके विकसित होनेमें राज्य-समाजवादी विचारधाराका भी एक विशिष्ट स्थान है। कल्पनाशील मस्तिष्ककी उड़ानसे आगे बढ़कर समाजवाद जब वैज्ञानिकताकी ओर अग्रसर हुआ, तो जर्मनीमें प्रिंस बिस्मार्ककी छत्र-छायामें उसने जो स्वरूप ग्रहण किया, उसे 'राज्य-समाजवाद' (State Socialism) कहते हैं।

एक ओर मार्क्स और एंजिल्सकी क्रान्तिकारी विचारधारा पनप रही थी, दूसरी ओर 'कुर्सीपर बैठकर समाजवादकी उड़ान भरनेवाले' राडबर्टस और

लासाल जैसे अर्थशास्त्री राज्य-समाजवादकी रागिनी अलाप रहे थे। इन अर्थ-शास्त्रियोंके नामके साथ 'समाजवाद' शब्द जोड़ना युक्तिसंगत तो नहीं है, पर इन्होंने भी समाजवादकी वकालत की है, इसलिए इन्हें भी इसी विचारधाराके अन्तर्गत स्थान दिया जाता है। ये लोग न तो व्यक्तिगत सम्पत्तिके निर्मूलनके पक्षमें थे और न अनर्जित आयकी समाप्तिके। इनका नारा यह था कि राज्य ही वह उपयुक्त माध्यम है, जिसके द्वारा आर्थिक वैषम्यका एवं आर्थिक संकटोंका निवारण किया जा सकता है।[1] अतः राज्यके हाथमें नियंत्रणकी सत्ता देकर तथा आर्थिक व्यवस्थामें शान्तिपूर्वक सुधार करके आर्थिक संकटोंसे मुक्त हुआ जा सकता है। राज्य इस प्रकारके कानून बनाये, जिनसे दरिद्र-वर्गकी स्थितिमें समुचित सुधार हो सके। उन्नीसवीं शताब्दीके मध्यमें यह विचारधारा जर्मनीमें विशेष रूपसे पुष्पित-पल्लवित हुई।

यों राज्य-समाजवादकी विचारधाराने संघटित आर्थिक या राजनीतिक आन्दोलनका रूप कभी नहीं लिया, उस समय उसका विस्तृत विकास भी नहीं हुआ, पर आगे चलकर उसके मूल सिद्धान्त व्यापक बने और आज भी कल्याणकारी राज्योंमें वे विभिन्न रूपोंमें पलते-पनपते रहते हैं।

राज्य-समाजवादी विचारकोंमें दो बातें मुख्य रूपसे दृष्टिगत होती हैं: (१) मुक्त-व्यापार एवं अहस्तक्षेपकी शास्त्रीय नीतिका विरोध और (२) नैतिक आधारपर समाजवादका समर्थन। ये लोग ऐसा मानते थे कि मुक्त व्यापार और खुली प्रतिस्पर्द्धाके कारण श्रमिकोंके प्रति अन्याय होता है। अतः श्रमिकोंके प्रति दयालुतापूर्ण व्यवहार होना चाहिए और ऐसा व्यवहार पूँजीपति करते नहीं, यद्यपि उन्हें ऐसा करना चाहिए। अतः राज्यको सरकारी हस्तक्षेप द्वारा इस कार्यको पूरा करना चाहिए। वे व्यक्तिगत सम्पत्ति, ब्याज, मुनाफा, भाटक आदिको समाप्त करनेके पक्षमें तो नहीं थे, पर शोषणको कम करना चाहते थे। वे व्यक्तिवाद और स्वातंत्र्यवादको अनर्थोंका कारण मानते थे और ऐसा कहते थे कि राज्यके नियंत्रण द्वारा इसपर अंकुश लगाया जा सकता है। इस व्यवस्थाको वे राष्ट्रीय सीमाके अन्तर्गत रखनेके ही पक्षमें थे।

पूर्वपीठिका

राज्य-समाजवादी विचारधारापर शास्त्रीय विचारधाराके दोषोंकी आलोचना करनेवाले कई विचारकोंका प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। जैसे, सिसमाण्डी, लिस्ट, जान स्टुअर्ट मिल, सेंट साइमनवादी, प्रोदों, ब्लाँ आदि।

---

१ हेने : हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ ४७६।

लिस्ट और मिल आदिने अहस्तक्षेपकी नीति और सरकारी हस्तक्षेपपर जो जोर दिया था, उससे राज्य-समाजवादियोंको प्रत्यक्ष रूपसे भले ही प्रेरणा न मिली हो, परोक्ष रूपसे तो मिली ही। उधर सेंट साइमनवादियों आदिने नैतिक दृष्टिसे समाजवादपर जो बल दिया था, उसका भी इन विचारकोंपर प्रभाव पड़ा।[1] इसके अतिरिक्त इतिहासवादकी विचारधारा भी इन्हें प्रभावित कर रही थी।

जर्मनीकी तत्कालीन स्थिति भी इस विचारधाराके उदयका कारण बनी। सन् १८४८ के बाद वहाँ श्रमिकोंकी संख्यामें वृद्धि हो जानेके कारण उनकी समस्याएँ विषम बनने लगीं और उनका निराकरण आवश्यक प्रतीत होने लगा। समाजवादकी ओर लोग आशाभरी दृष्टिसे देखने लगे थे। अतः समाजवादके नामपर इस धाराको पनपनेमें विशेष सुविधा हुई, यद्यपि बिस्मार्कके पर्देके पीछे अपना तंत्र चला रहा था। जर्मनीके प्रतिक्रियावादी लोग और उनके साथ रूढ़िवादी विचारक मिल-जुलकर इस विचारधाराके विकासमें संलग्न हुए।

राडबर्टस और लासालने आरम्भमें इस विचारधाराको विकसित किया। बादमें वेगनर, श्मोलर, शाफल, बूचर आदिने आइसेनाख कांग्रेस (सन् १८७२) में इसे परिपुष्ट कर व्यवस्थित रूप दिया। मजेकी बात यह है कि जिन लोगोंने इस विचारधाराको जन्म दिया, उन्हींने आगे चलकर इसे अस्वीकार कर इसका मजाक उड़ाया।

राडबर्टस

जान कार्ल राडबर्टस (सन् १८०५–१८७५) को वेगनरने 'समाजवादका रिकार्डो' कहकर पुकारा है। उसकी देन है भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण। मार्क्सके उपरान्त सम्भवतः राडबर्टस ही वह व्यक्ति है, जिसका समाजवादी विचारधारापर सबसे अधिक प्रभाव पड़ा है।

राडबर्टसके पिता न्यायके प्राध्यापक थे। वे चाहते थे कि पुत्र भी उनकी भाँति न्यायका शिक्षक बने। गोटिनगेन और बर्लिनमें शिक्षा ग्रहण कर उसने वकालत पास की और वकालत शुरू भी कर दी, पर उसमें उसका जी नहीं लगा। वह यूरोपकी यात्रापर निकल गया। सन् १८३४ में उसने एक बड़ी जमींदारी खरीद ली और उसीके निरीक्षणमें उसने अपना जीवन शान्तिपूर्वक बिताया। सन् १८४८ में वह प्रशाकी लोकसभाका सदस्य चुना गया। वह मंत्री भी नियुक्त किया गया था, पर सहयोगियोंसे पटरी न बैठनेके कारण उसने दो सप्ताहमें ही त्यागपत्र दे दिया।

---

[1] जीद और रिस्ट : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन्स, पृष्ठ ४१०-४१६।

राडबर्टसने अर्थशास्त्रका अच्छा अध्ययन किया था। उसके विचार व्यापक एवं तर्कपूर्ण थे। पूँजीवादके दोषोंका उसने विशेष रूपसे साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया है। उसकी प्रमुख रचनाएँ हैं—हमारी आर्थिक स्थिति (सन् १८४२); सामाजिक पत्र (सन् १८५०-१८५१); सामान्य श्रम-दिवस (सन् १८७१) और सामाजिक प्रश्नपर प्रकाश (सन् १८७५)।

राडबर्टसके विचारोंका जर्मनीके विचारकोंपर तो प्रभाव पड़ा ही, अमेरिका-के विचारक भी उससे कम प्रभावित नहीं हुए।[1]

प्रमुख आर्थिक विचार

रिकार्डोने जिस प्रकार अदम स्मिथ तथा अन्य शास्त्रीय पद्धतिके विचारकोंके विचारको विधिवत् सम्पादन कर उन्हें व्यवस्थित रूप प्रदान करनेकी चेष्टा की थी, वही काम जर्मन समाजवादियोंके लिए राडबर्टसने किया।

राडबर्टसने पूँजीवादी समाजका विश्लेषण विशेष रूपसे किया और उसने यह सिद्ध किया कि पूँजीवादी व्यवस्था भयंकर अशान्तिका कारण है। अतः उसकी समाप्ति होनी चाहिए। उसके अन्तके लिए उसने राज्य-समाजवादका शांतिपूर्ण साधन प्रस्तुत किया।

राडबर्टसके आर्थिक विचारोंको दो श्रेणियोंमें विभाजित कर सकते हैं :

(१) पूँजीवादका विश्लेषण और

(२) समस्याका निराकरण।

१. पूँजीवादका विश्लेषण

राडबर्टसने इन ४ सिद्धान्तोंके आधारपर पूँजीवादका विश्लेषण किया :

(१) श्रम-सिद्धान्त,

(२) मजूरीका लौह-सिद्धान्त,

(३) भाटक-सिद्धान्त और

(४) आर्थिक संकटका सिद्धान्त।

श्रम-सिद्धान्त : राडबर्टस यह मानता है कि श्रमके ही द्वारा वस्तुओंकी सर्जना होती है। किसी भी वस्तुके सृजनके लिए श्रमकी आवश्यकता पड़ती है। इस श्रमके दो भाग हैं—एक बौद्धिक और दूसरा शारीरिक। बौद्धिक श्रमसे कोई थकावट नहीं आती। वह मूल्यवान् तो है, परन्तु वह प्रकृतिदत्त है और प्रकृतिने मुक्तहस्त होकर लुटाया है। शारीरिक श्रम शरीरके द्वारा अथवा पूँजी और यंत्रके द्वारा वस्तुओंका सृजन करता है।

---

१ हेने : हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ ४८०।

राडबर्टस श्रमको वस्तुका उत्पादक मानता है, मार्क्सकी भाँति वस्तुके मूल्य-का निर्णायक नहीं मानता।[1]

मजूरीका लौह-सिद्धान्त : मजूरीके शास्त्रीय सिद्धान्तका विवेचन करते हुए राडबर्टस कहता है कि मजूरी जीवन-निर्वाहके स्तरसे ऊपर न उठेगी, इसका अर्थ यह है कि जबतक पूँजीवादी अर्थव्यवस्था चालू रहेगी, तबतक श्रमिकोंकी आर्थिक स्थितिमें कोई सुधार होनेकी आशा नहीं है। किन्तु ऐसा तो ठीक नहीं है। श्रम ही जब सभी वस्तुओंके उत्पादनका कारण है, तो उसके लाभसे श्रमिक क्या सदैव ही वंचित बने रहें? मजूरीका लौह-सिद्धान्त यदि श्रमिकोंको सदाके लिए जीवन-स्तरपर ही निर्वाह करनेके लिए विवश करता है और पूँजीवादी व्यवस्थामें उसके लिए कोई समाधान नहीं है, तो इस पूँजीवादी व्यवस्थाका ही अन्त कर देना चाहिए।

भाटक-सिद्धान्त : राडबर्टसने राष्ट्रीय आयके दो साधन माने हैं : मजूरी और भाटक—भूमिका और पूँजीका। श्रमिक अपने निर्वाहसे अतिरिक्त जितना पैदा करता है, वह अतिरिक्त आय भाटक है। पूँजीके कारण, व्यक्तिगत सम्पत्तिके कारण पूँजीपति लोग श्रमिकके अधिक उत्पादनका लाभ उठाकर उसे उसके अंशसे वंचित करते हैं। श्रमिककी साधनहीनताके कारण पूँजीपतिको उसका शोषण करनेमें सुभीता रहता है। अतः शोषणके इस साधनकी समाप्ति वांछनीय है।

आर्थिक संकटका सिद्धान्त : राडबर्टस मानता है कि राष्ट्रीय आयमें मजूरीका अंश दिन-प्रतिदिन घटता जाता है, उत्पादन बढ़ता जाता है, श्रमिकों-की क्रय-शक्तिका ह्रास होता चलता है, जिसका प्रत्यक्ष परिणाम यही है कि आर्थिक संकट उत्पन्न होते हैं। एक ओर अति-उत्पादन होता है, दूसरी ओर क्रय-शक्ति-का अभाव। अतः आर्थिक संकट चारों ओर घिरे रहते हैं।[2] पूँजीवादके इस अन्तर्विरोधको दूर करनेके लिए पूँजीवादका उन्मूलन आवश्यक है।

शास्त्रीय पद्धतिके विचारक ऐसा मानते थे कि प्राकृतिक नियमोंका पालन होता रहे, सबको आर्थिक स्वतंत्रता रहे और मुक्त प्रतिस्पर्द्धा चालू रहे, तो समाजकी सभी समस्याओंका स्वतः निराकरण हो जायगा, माँग और पूर्तिका संतुलन हो जायगा, साधनोंके अनुसार उत्पादन हो सकेगा और विभिन्न उत्पादक-वर्गोंमें उत्पत्तिके फलका न्यायपूर्ण रीतिसे वितरण हो सकेगा।

राडबर्टसने इन धारणाओंको गलत बताते हुए कहा कि अनुभवने यह बात सिद्ध कर दी है कि ये मान्यताएँ गलत हैं। जिस वर्गकी विनिमय-शक्ति दुर्बल है,

---

१ हेने : हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ ४८०-४८१।

२ हेने : वही, पृष्ठ ४८२।

वही सबसे अधिक शोषणका शिकार बनता है। मुक्त-प्रतिस्पर्द्धाका अर्थ यही है कि लूट और शोषणके लिए साधन-सम्पन्न व्यक्तिको खुली छूट मिल जाती है। माँग और पूर्तिका संतुलन होता नहीं। वस्तुओंका उत्पादन समाजकी आवश्यकताके अनुसार न होकर वास्तविक माँगके अनुकूल होता है। उसका परिणाम यही होता है कि जिनके पास पैसे हैं, उनके उपभोगकी वस्तुएँ तो तैयार हो जाती हैं, पर जिनके पास पैसोंका अभाव होता है, वे बेचारे आवश्यक वस्तुओंके अभावमें बिलखते रहते हैं। उत्पादक लोग साधनोंका सर्वोत्तम उपयोग नहीं करते। वितरण तो असमान और वैषम्यपूर्ण रहता ही है।[1]

२. समस्याका निराकरण

राडबर्टसकी दृष्टिमें इस आर्थिक वैषम्य एवं शोषणके निराकरणका मार्ग है भूमि और पूँजीका राष्ट्रीयकरण। पर वह ऐसा मानता है कि इस स्थितिको आनेमें कोई ५०० वर्ष लगेंगे। इस सम्बन्धमें उसने प्रगतिके तीन स्तर बताये हैं[2]:

(१) बर्बर स्तर : इस स्थितिमें मनुष्य मनुष्यको गुलाम बनाकर रखता है और उसका भरपूर शोषण करता है।

(२) वर्तमान स्तर : इस स्थितिमें श्रमिक पहलेकी भाँति गुलाम तो बनकर नहीं रहता, पर उसका शोषण फिर भी जारी रहता है। भू-स्वामी और पूँजीपति उसके उत्पादनमें हिस्सा बँटा लेते हैं। वे अनर्जित आय माँगते हैं।

(३) भावी स्तर : इस स्थितिमें भूमि और पूँजीके राष्ट्रीयकरण द्वारा शोषणकी पूर्णतः समाप्ति हो जायगी।

राडबर्टस शान्तिवादी विचारोंका समर्थक था। अतः वह यह अपेक्षा रखता है कि मानव भावी स्तरतक पहुँचनेमें पाँच शताब्दियाँ ले लेगा। तबतक इस दिशामें प्रगति होती रहनी चाहिए। जहाँतक सामाजिक माँग और पूर्तिके सन्तुलनका प्रश्न है, राडबर्टसका सुझाव है कि सामाजिक आवश्यकताके अनुसार वस्तुका उत्पादन होना चाहिए। वस्तुके मूल्यपर उसका आधार रखना गलत है। वह मानता है कि इस बातका पता सरलतासे लगाया जा सकता है कि मनुष्यको किन-किन वस्तुओंकी किस-किस मात्रामें आवश्यकता है। तदनुकूल ही उत्पादन होना चाहिए।

राडबर्टस व्यक्तिगत सम्पत्ति और अनर्जित आयका विरोधी है, पर वह कहता है कि उनका राष्ट्रीयकरण करना अभी समीचीन नहीं। इसके लिए

१ ए जीद और रिस्ट : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन्स, पृष्ठ ४२१-४२३।

२ हेने : हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ ४८२।

राज्यको हस्तक्षेपकी नीति काममें लानी चाहिए और ऐसे कानून बनाने चाहिए, जिनके द्वारा श्रमिकोंके कामके घण्टे कम हों, वस्तुओंकी कीमतें श्रमके आधारपर निश्चित कर दी जायँ और उनमें समयानुकूल परिवर्तन होता रहे, श्रमिकोंका वेतन भी निश्चित कर दिया जाय और ऐसी व्यवस्था कर दी जाय, जिससे श्रमिकोंको उत्पादनका अधिकसे अधिक लाभ प्राप्त हो सके। उत्पादनकी वृद्धिके साथ-साथ श्रमिकोंके लाभांशमें भी वृद्धि होती रहनी चाहिए। इसके लिए राडबर्टसने मजूरी-कूपनोंकी भी सिफारिश की है, जिनके विनिमयमें श्रमिकोंको उनकी आवश्यकताकी सभी वस्तुएँ सहज ही उपलब्ध हो सकें।[1]

राज्यके न्यायमें राडबर्टसको असीम श्रद्धा है और वह मानता है कि राज्यके हस्तक्षेपसे समाजवादकी स्थापना सम्भव है। वह नहीं चाहता कि श्रमिक इसके लिए राजनीतिक आन्दोलन करें।

लासाल

फर्डिनेण्ड लासाल (सन् १८२५–१८६४) 'जर्मन समाजवादका लुई ब्लाँ' कहलाता है। ब्रेसला और बर्लिनमें उसने शिक्षा प्राप्त की। वहीं विलक्षण प्रतिभाके फलस्वरूप उसे 'आश्चर्यजनक बालक' की उपाधि मिली।

कार्ल मार्क्ससे प्रभावित होकर लासालने सन् १८४८ की क्रान्तिमें योगदान किया। उसके बाद वह अध्ययनमें प्रवृत्त हुआ। सन् १८६२ में वह प्रत्यक्ष राजनीतिमें कूद पड़ा। श्रमिकोंका वह एक विश्वस्त नेता बन गया। सन् १८६३ में लिपजिगमें उसने जर्मन श्रमिक संघकी स्थापना की, जिसने आगे चलकर जर्मनीकी लोकतांत्रिक समाजवादी पार्टीको जन्म दिया।

लासाल प्रतिभाशाली और ओजस्वी वक्ता था, पर ३९ वर्षकी आयुमें जब वह अपनी कीर्तिके शिखरकी ओर अग्रसर हो रहा था, तभी प्रेयसीके लिए द्वंद्व-युद्धमें उसका बलिदान हो गया।

लासालपर राडबर्टस, लुई ब्लाँ और मार्क्स—इन तीन विचारकोंका अत्यधिक प्रभाव पड़ा था। उसे इन तीनोंका सम्मिश्रण कहना अनुचित न होगा। उसने अनेक भाषण किये, अनेक प्रचार-पुस्तिकाएँ लिखीं और राडबर्टस, एंजिल्स और मार्क्ससे विस्तृत पत्र-व्यवहार किया। उसकी सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण पुस्तक है—'दि सिस्टम ऑफ एक्वायर्ड राइट्स' (सन् १८६१)। इस रचनामें उसने व्यक्तिगत सम्पत्तिके सम्बन्धमें अपने क्रान्तिकारी विचारोंका प्रतिपादन किया है।

---

१ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ ४३०।

उसके समकालीन लोगोंका कहना है कि १६वीं शताब्दीके उपरान्त इतना प्रामाणिक विवेचन और किसीने नहीं किया।

प्रमुख आर्थिक विचार

राडबर्टसकी भाँति लासालके आर्थिक विचारोंको मुख्यतः दो भागोंमें विभाजित किया जा सकता है :

(१) पूँजीवादका विरोध और

(२) समस्याका निराकरण।

१. पूँजीवादका विरोध

लासालने दो आधारोंपर पूँजीवादका विरोध किया है। एक तो है मजूरीका जीवन-निर्वाह-सिद्धान्त, जिसे उसने 'लौह-नियम' की संज्ञा दी।[1] दूसरा उत्पादनके अनुमानका सिद्धान्त।

लासालने उत्पादनके अनुमान-सिद्धान्तका विवेचन करते हुए बताया कि पूँजीवादी उत्पादन मुख्यतः अनुमानके आधारपर परिचालित होता है। यह आवश्यक नहीं कि यह अनुमान ठीक ही हो। प्रायः ही यह अनुमान गलत होता है। इसके गलत होनेका परिणाम यह होता है कि अति-उत्पादन हो जाता है, माल पड़ा रहता है, खरीदनेवाले मिलते नहीं, मंदी आती है, बेकारी आती है। युद्ध, दुर्भिक्ष, आर्थिक संकट—सभी इसकी श्रृङ्खलामें बँधे चले आते हैं।

२. समस्याका निराकरण

लासाल इस भयंकर समस्याके निराकरणके लिए राज्यके हस्तक्षेपकी बात कहता है।[2] उसका कहना था कि पूँजीवादसे जो संकट उत्पन्न होते हैं, उनका नियंत्रण राज्यके हस्तक्षेप द्वारा हो सकता है। वह मानता था कि कोई सौ वर्षोंके भीतर राज्यके नियंत्रण द्वारा पूँजीवादका क्रमशः उन्मूलन हो सकता है। वह लुई ब्लाँकी भाँति राज्यकी सहायता द्वारा सहकारी उत्पादक संघोंकी कल्पना करता है और यह विश्वास करता है कि इस पद्धतिसे समस्याका निराकरण सम्भव है।

राडबर्टसने राज्य द्वारा समाजवादकी कल्पना की है और लासालने भी। पर दोनोंके दृष्टिकोणमें आकाश-पातालका अन्तर है। दोनों ही व्यक्ति राज्यको सर्वशक्तिमान् बनानेके पक्षमें हैं और उसमें असीम श्रद्धा व्यक्त करते हैं, परन्तु दोनोंकी राज्यकी धारणामें अन्तर है।

लासालने जिस राज्यके हाथमें सारी सत्ता देने और हस्तक्षेप करनेका अधिकार देनेकी बात कही है, वह राज्य पूँजीपतियोंका पक्षपाती नहीं, श्रमिकों-

---

१ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ ४३४-४३५।

२ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ ४३५।

का पक्षपाती होगा। वह श्रमिकोंका ही हितचिन्तन करेगा। उन्हींकी आवश्यकताओंको पूरा करनेके लिए सचेष्ट होगा। पूँजीपति लोग कृपापूर्वक ऐसी व्यवस्था कर देंगे, ऐसा लासाल नहीं मानता। वह कहता है कि इसके लिए श्रमिकोंका जोरदार संघटन करना पड़ेगा। बुर्जुआ लोग ऐसा मानते हैं कि राज्यका कर्तव्य केवल व्यक्तिगत सम्पत्ति और स्वातंत्र्यकी रक्षा करना है, पर इतना ही राज्यका सच्चा कर्तव्य नहीं।[1] लासाल मानता है कि राज्यका सच्चा कर्तव्य यह है कि वह सारी जनताके कल्याणके लिए समुचित व्यवस्था करे, जिससे केवल सशक्त ही नहीं, अपितु सभी नागरिक सच्ची स्वतंत्रता प्राप्त कर सकें और अपनी सर्वांगीण उन्नति कर सकें। इस आदर्श व्यवस्थाकी स्थापनाके लिए प्रारम्भिक शर्त यह है कि राज्य गरीबोंके हितकी ओर विशेष रूपसे ध्यान देते हुए आगे बढ़े। इसके लिए यदि अमीरोंके हितका बलिदान भी करना पड़े, तो भी बुरा नहीं। क्रमशः दोनोंमें साम्यकी स्थापना हो जायगी।

लासालने श्रमिकोंके समर्थनमें जो विचार व्यक्त किये, वे मुख्यतः मार्क्सके ही विचार थे। यों उसके विचारोंपर हेगेल और फिख्टके दार्शनिक विचारोंका भी प्रभाव था। फिख्टने कहा था कि 'राज्यका कर्तव्य नागरिकोंकी सम्पत्तिकी रक्षा करना मात्र नहीं है। उसका यह भी कर्तव्य है कि प्रत्येक नागरिकको जीविकोपार्जनका उपयुक्त साधन भी मिले। जबतक सबकी सामान्य आवश्यकताओंकी पूर्ति न हो जाय, तबतक किसीको विलासकी कोई वस्तु रखनेकी अनुमति न दी जाय। ऐसा नहीं होना चाहिए कि कोई व्यक्ति तो अपना मकान सजा रहा है और किसीके पास रहनेके लिए मकान भी नहीं है। फिख्टके ऐसे विचारोंसे लासालको राज्य-समाजवादकी भारी प्रेरणा मिली।[2] लुई ब्लाँकी भाँति लासाल भी सामाजिक प्रगतिके लिए राज्यको उत्तरदायी मानता था।

राज्य-समाजवादका विकास

जर्मनीमें पहलेसे ही राष्ट्रीयताकी भावना पनप रही थी, इधर राडबर्टस और लासाल सामाजिक प्रगतिका जिम्मा राज्यके ही मत्थे दे रहे थे, उधर बिस्मार्कने सन् १८६६ में अपनी सत्ताका नये सिरेसे संघटन किया और सुधारपूर्ण नीति लागू कर दी। श्रमिकोंकी समस्या तीव्र होती जा रही थी, लोकतांत्रिक समाजवादका स्वर ऊँचा उठता जा रहा था। लोग शांतिपूर्ण ढंगसे समस्याके निराकरणकी बात सोचने लगे थे। ऐसी स्थितिमें जर्मनीमें राज्य-समाजवादको विकसित होनेका अच्छा अवसर प्राप्त हुआ। सन् १८७२ में आइसेनाखमें अर्थशास्त्रियों, शासकों,

---

१ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ ४३६।
२ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ ४३६-४३७।

राजनीतिज्ञों और प्राध्यापकों आदिका जो सम्मेलन हुआ, उसमें राज्य-समाजवाद-ने विधिवत् जन्म ग्रहण किया। श्मोलर, शाफल, बूचर, वेगनर आदि विचारकों-ने इस आन्दोलनका नेतृत्व किया। वेगनर इस सम्मेलनका प्रमुख वक्ता था।

इस सम्मेलनमें राज्य-समाजवादके आदर्शों और सिद्धान्तोंकी विस्तारसे चर्चा की गयी। इसमें कहा गया कि राज्य मानवताके शिक्षणके लिए नैतिक संस्थान है। किसी भी राष्ट्रके नागरिक परस्पर आर्थिक सम्बन्धोंमें ही एक-दूसरेसे बँधे नहीं हैं, अपितु एक भाषा, एक संस्कृति एवं एक राजनीतिक संविधानने उन्हें आपसमें बाँध रखा है। राज्य राष्ट्रके ऐक्यका नैतिक प्रतीक है और उसका यह कर्तव्य है कि वह समाजके दरिद्र अंगके विकासकी ओर विशेष रूपसे ध्यान दे।[1]

दूपों ह्वाइटने सन् १८५६ में यह आवाज उठायी थी कि 'कुछ ऐसी महत्त्व-पूर्ण बातें हैं, जो व्यक्तियोंकी सामर्थ्यके बाहर हैं। इसके दो कारण हैं। एक तो यह कि उनसे समुचित लाभ नहीं होता। दूसरे, उनमें प्रत्येक व्यक्तिका सहयोग अपेक्षित है, सबकी संयुक्त सहमतिसे ही काम नहीं चलता। ऐसे कामोंको पूरा करनेके लिए सबसे उपयुक्त पात्र—राज्य ही हो सकता है।'

उस समय इस फरासीसी विचारकके ये शब्द अरण्यरोदन ही बनकर रह गये थे, पर आगे चलकर स्टुअर्ट मिलकी रचना 'लिबर्टी' के फरासीसी अनुवादकी प्रस्तावनामें इन्हें उद्धृत किया गया और वेगनरने इसी आशयके विचार व्यक्त करते हुए कहा कि राज्यके कर्तव्य समय-समयपर परिवर्तित होते रहे हैं। व्यक्तिगत स्वार्थ, व्यक्तिगत दाक्षिण्य एवं राज्य—तीनों मिल-जुलकर विभिन्न कार्योंको आपसमें विभाजित कर उन्हें करते रहे हैं। अतः राज्यके कर्तव्योंका निर्धारण होना उचित है। मानव-कल्याण और सभ्यताके विकासकी दृष्टिसे आवश्यक अनेक कार्य राज्यके हाथमें होने चाहिए।[2]

राज्य-समाजवादी व्यक्तिवाद और अहस्तक्षेप-नीतिके विरुद्ध तर्क उपस्थित करते हुए कहते हैं कि व्यक्तिगत रूपसे अनुमान करके उत्पादन करानेसे संकट उत्पन्न होते हैं और सामाजिक दारिद्र्यकी वृद्धि होती है। सामाजिक हितकी दृष्टिसे प्रतिस्पर्द्धाके कारण होनेवाली अनिश्चितता और असुविधा रोकी जानी चाहिए। श्रमिकोंकी विनिमय-क्षमता दुर्बल एवं क्षीण होती है। उसे ज्योंका त्यों जारी रखना अन्यायपूर्ण है। राज्यको जन-हितकी दृष्टिसे आर्थिक समस्याओंको अपने हाथमें लेकर श्रमिकोंकी शोषणसे रक्षा करनी चाहिए।

---

१ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ ४४०।

२ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ ४४१-४४२।

विचारधाराकी विशेषताएँ

राज्य-समाजवादी नैतिकताके दृष्टिकोणसे सरकारी हस्तक्षेपके समर्थक थे। उनका समाजवाद शुद्ध समाजवाद नहीं था। उसकी प्रमुख विशेषताएँ ये थीं :

(१) व्यक्तिवाद एवं स्वातंत्र्यवादका विरोध।

(२) राष्ट्र-हितकी दृष्टिसे सरकारी हस्तक्षेपका समर्थन।

(३) भाटक, ब्याज, मुनाफाकी अनर्जित आयकी सहमति।

(४) व्यक्तिगत सम्पत्तिकी सहमति।

(५) श्रमिकों और दरिद्रोंके लिए हितकारी कानूनोंपर जोर।

(६) समाजकी आर्थिक समस्याओंके शान्तिपूर्वक निराकरणपर जोर।

राज्य-समाजवादी परिवहनपर सरकारी नियंत्रण चाहते थे। रेलों, नहरों और सड़कोंके राष्ट्रीयकरण, जलकल, गैस और विद्युत्-व्यवस्थाके नागरीकरण और बंकोंपर सरकारी नियंत्रणके पक्षपाती थे। व्यक्तिगत सम्पत्ति और अनर्जित आयकी समाप्तिपर उनका जोर न रहनेसे उन्हें समाजवादी कहना ठीक नहीं। उनकी समाजवादी कल्पनाका मूल उद्देश्य था, सरकारी माध्यमसे शान्तिमय उपायों द्वारा जन-हितके ऐसे कार्य करना, जिनसे राष्ट्रकी समृद्धि हो और श्रमिकों तथा दरिद्रोंकी आर्थिक स्थितिमें सुधार हो। उनमें सामाजिक उदारता भी थी, संशोधित पुरातनवाद भी था, प्रगतिशील लोकतंत्र भी था और अवसरवादी समाजवाद भी।

विचारधाराका प्रभाव

उन्नीसवीं शताब्दीके अन्तिम चरणमें राज्य-समाजवादी विचारधाराका प्रभाव विशेष रूपसे दृष्टिगोचर होने लगा। सन् १८७२ में होनेवाले सम्मेलनके बाद उसका विस्तार प्रमुख रूपसे हुआ। बिस्मार्कने श्रमिकोंके लिए बीमारी, अपंगता और वृद्धावस्थाके लिए बीमेकी योजना करके श्रमिकोंमें लोकप्रियता प्राप्त कर ली और जर्मनीमें मार्क्सवादी विचारधाराको पल्लवित होनेसे रोक दिया।

फ्रांस और इंग्लैण्डमें भी यह विचारधारा क्रमशः विस्तृत होने लगी। आज तो विश्वके अनेक अंचलोंमें कल्याणकारी राज्यकी अनेक योजनाएँ चालू हैं, जिनपर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूपसे राज्य-समाजवादी विचारधाराका प्रभाव है। प्रोफेसर रिस्टका यह कहना ठीक ही है कि 'उन्नीसवीं शताब्दीका श्रीगणेश प्रत्येक प्रकारकी शासन-सत्ताके प्रतिकूल भावना लेकर हुआ, पर उसकी समाप्ति हुई राज्यके अधिकतम हस्तक्षेपकी वकालतसे। लोगोंकी यह माँग सर्वत्र सुनाई पड़ने लगी कि चाहे आर्थिक संगठन हो, चाहे सामाजिक, सबमें राज्यका अधिकाधिक हस्तक्षेप वांछनीय है।'[1]

● ● ●

---

१ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ ४१०।

समाजवादी विचारधारा
आरम्भिक विचारक
स्वातंत्र्यवादी
मार्क्सवादी
सहयोगी समाजवादी
राज्य समाजवादी
अन्य समाजवादी
सेंट साइमन
१८१८
सेंट साइमनवादी
१८३०
प्रोधों
१८४०
कार्ल मार्क्स
१८६७
ऐंजिल
१८८४
ओवेन
१८२५
फूर्ये
१८२८
थॉमसन
१८२७
ब्लां
१८४१
राडबर्टस
१८४२
लासाल
१८६१
संशोधनवादी
संघ समाजवादी
फेबियनवादी
ईसाई समाजवादी
बर्नस्टाइन
१८९९
बर्नोस्की
सोम्बार्ट
क्रोचे
१९०७
मॉरिस
किंग्सले
कार्लाइल
१८४३
रस्किन
१८६०
टॉलस्टॉय
१८७०
क्रोपाटकिन
सोरेल
१९०५
बर्नार्ड शॉ
१८८४
वेब दम्पति
एनी बेसेण्ट
एच. जी. वेल्स
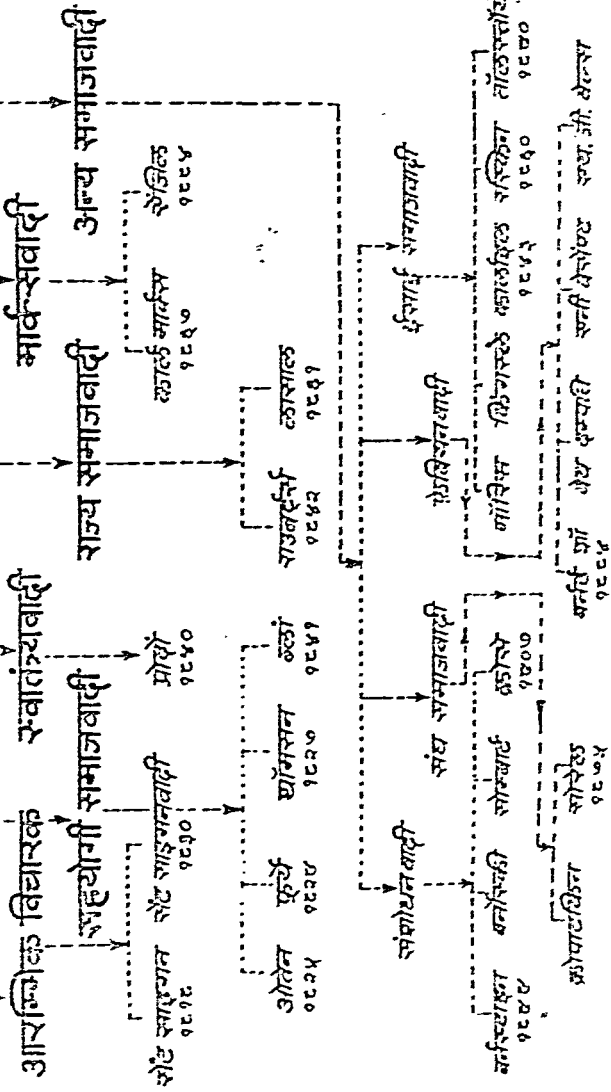
मार्क्सवाद : ३ :

'दुनियाके मजदूरो, एक हो !' इस नारेके जन्मदाता कार्ल मार्क्सने और उसके अभिन्न साथी एंजिल्सने समाजवादकी जिस विशिष्ट वैज्ञानिक धाराको जन्म दिया, उसका नाम है 'मार्क्सवाद' (Marxism)—साम्यवाद।

उन्नीसवीं शताब्दीके मध्यकालमें जर्मनीके इस निर्वासित यहूदीने सर्वहारा-वर्गके शोषण और उत्पीड़नके विरुद्ध जो तीव्र संवेदना प्रकट की, वह आज भी विश्वके विभिन्न अंचलोंमें सुनाई पड़ रही है। सामाजिक वैषम्यके निराकरणके लिए मार्क्सने जो आन्दोलन खड़ा किया, वह अपने युगमें तो जनताको अपनी ओर आकृष्ट करनेवाला था ही, आज भी अनेक व्यक्ति उसकी ओर बुरी तरह आकृष्ट हैं। जर्मनीमें कोटस्की और रोजा लक्सेमबर्गने तथा रूसमें लेनिन और स्तालिनने मार्क्सके विचारोंको अपने ढंगपर विकसित किया।

मार्क्सवादमें जिन समाजवादी विचारोंका प्रतिपादन है, उनमें दर्शन, इतिहास, राजनीति, अर्थशास्त्र—सभीका सम्मिश्रण है। पूँजीवादको जितना गहरा धक्का मार्क्सवादने लगाया, उतना अभीतक और किसी वादने नहीं लगाया था। श्रमिकोंको उसमें अपने त्राणका एकमात्र मार्ग दृष्टिगत हुआ और वे अपनी पूरी शक्तिसे उस ओर झुके। साम्यवादियोंपर तो उसकी छाप है ही, गैर-साम्यवादियोंपर भी उसका प्रभाव कम नहीं पड़ा।

यों मार्क्सने कोई सर्वथा नवीन आर्थिक सिद्धान्त नहीं निकाला, उसने अपने पूर्ववर्ती विचारकोंके विचारोंसे ही अपनी सारी सामग्री एकत्र की। उसकी विशेषता यही है कि उसने इन सभी विचारोंको पचाकर उन्हें इस रूपमें गूँथा कि उसकी विचारधाराके कारण पूँजीवादका वैषम्य अपने नग्न रूपमें प्रकट हो गया और उसकी नग्नताका मूर्तिमान् होना ही उसके विनाशका कारण बन गया।

मार्क्सवादका जन्मदाता है मार्क्स और उसका अभिन्न साथी—एंजिल्स।

मार्क्स

पश्चिमी जर्मनीके राइनलैण्डके वेल्फालिया क्षेत्रमें स्थित ट्रीर नामक नगरमें ५ मई सन् १८१८ को एक यहूदी परिवारमें कार्ल मार्क्सका जन्म हुआ। कार्लका दादा यहूदियोंका पुरोहित था, पिता वकील। पिताने सन् १८२४ में यहूदी-धर्म छोड़ ईसाई-धर्म स्वीकार कर लिया। सन् १८३५ में कार्लने

ट्रीर कॉलेजकी पढ़ाई समाप्त कर बोन और बर्लिनमें न्याय, दर्शन और इतिहासकी उच्च शिक्षा प्राप्त की। सन् १८४१ में उसने जेनासे डॉक्टरेट-की उपाधि ग्रहण की। मार्क्सके निबन्धका विषय था—'दैमोक्रितीय और एपीकुरीय स्वाभाविक दर्शन-के भेद'।

शिक्षण-कालमें मार्क्सने हेगेल (सन् १७७०–१८३१) के दार्शनिक विचारोंका गम्भीर अध्ययन किया और उससे अत्यधिक प्रभावित भी हुआ, यद्यपि उसका घोर आदर्शवाद मार्क्सको पसन्द नहीं था। तभीसे उसके विचारोंमें जो उग्रता उत्पन्न हुई, उसके कारण उसे लगा कि अध्यापकीका जीवन उसके लिए कठिन है। अतः वह पत्रकारिताकी ओर झुका। सन् १८४२ में मार्क्सको 'राइनिश जाइटुंग' नामक दैनिक पत्रकी सम्पादकी मिल गयी। अक्तूबर '४२ में जब मार्क्स सम्पादक बना, तब पत्रकी ग्राहक-संख्या ८८५ थी, जनवरी '४३ तक वह ३२०० तक पहुँच गयी। मार्क्सके सरकार-विरोधी उग्र लेखोंने सरकारको आतंकित कर दिया। उसने पत्रको बन्द करनेकी माँग की। पत्र-स्वामी लोग पत्रको नरम बनानेपर जोर देने लगे, इसपर १७ मार्चको मार्क्सने इस्तीफा दे दिया।

जून '४३ में जेनी फान वेस्टफालेन नामक कुलीन परिवारकी कन्यासे मार्क्सका विवाह हुआ, जो आयुमें मार्क्ससे ४ वर्ष बड़ी थी। जर्मनीमें टिकना अब मार्क्स-के लिए कठिन था। अतः वह पत्नीके साथ पेरिस चला गया और सन् '४५ तक वहाँ रहा। वहाँ उसने 'जर्मन-फ्रेंच वर्षपत्र' का सम्पादन किया। पर यहाँ भी उसे टिकने नहीं दिया गया। फ्रांस सरकारने भी मार्क्सको निष्कासित कर दिया। तब ब्रुसेल्स जाकर उसने शरण ली। वहाँसे सन् १८४८ की क्रान्तिमें योगदान करने वह जर्मनी पहुँचा, वहाँसे पुनः निर्वासित किया गया। अबकी बार सन् १८४९ में उसने लन्दनमें जाकर शरण ली और वहीं उसने जीवनके शेष वर्ष बिताये। १४ मार्च सन् १८८३ को उसकी मृत्यु हुई।

प्रो० जीदका कहना है कि यह भाग्यकी ही बात है कि एक आदरणीय

बुर्जुआ-परिवारमें जन्म लेकर और जर्मनीके राजवंशकी कन्यासे विवाह करके मार्क्सको एक जुझारू समाजवादीका जीवन बिताना पड़ा ![1]

शिक्षणके उपरान्तका मार्क्सका जीवन अत्यन्त संघर्षमय रहा। सम्पन्नताकी गोदमें खेलनेवाली उसकी पत्नी जेनी अत्यन्त कुशल, प्रेमिल एवं कर्तव्यपरायण गृहिणी थी। गरीबी और कष्टके थपेड़े प्रसन्नतापूर्वक झेलना उसका स्वभाव बन गया था। पतिके साथ दारिद्र्यका जीवन बितानेमें उसे रत्तीभर संकोच न होता। पलभरके लिए भी उसके मनमें यह विचार न आता कि वह राजवंशकी है और उसका भाई प्रशियाके राजाका राज्यमंत्री रहा है। जेनीका सौंदर्य मार्क्सके लिए आनन्द और गौरवकी वस्तु था। दोनों बड़े प्रेम और आनन्दसे संकटोंको झेलते हुए जीवन-यात्रा पूरी करते थे।

गरीबोंके इस मसीहाका जीवन कितना कष्टपूर्ण रहा था, उसके दो-एक चित्रोंमें उसका दर्शन हो सकेगा।

जेनी अपनी डायरीमें लिखती है : 'सन् १८५२ के ईस्टरमें हमारी छोटी-सी बेटी फ्रांजिस्का फेफड़ेकी सूजनसे जबरदस्त बीमार पड़ गयी। तीन दिनोंतक बेचारी बच्ची मृत्युसे लड़ते हुए अपार यंत्रणा सहती रही। उसका छोटा-सा निष्प्राण शरीर हमारे पीछेवाले छोटेसे कमरेमें रखा था, जब कि हम सब सामनेवाले कमरेमें चले गये। रात आयी, तो हमने धरतीपर अपना बिस्तर बिछाया। बची हुई तीनों बेटियाँ हमारे साथ लेटी थीं और हम उस फरिश्ते जैसी बेचारी छोटी-सी बच्चीके लिए रो रहे थे, जो दूसरे कमरेमें ठंडी और निर्जीव पड़ी थी। मैं पड़ोसी फरासीसी शरणार्थीके पास गयी, जो कुछ समय पहले हमारे घर आया था। उसने बड़े सौहार्द्र और सहानुभूतिके साथ बर्ताव किया और दो पौण्ड दिये। इस पैसेसे हमने शवाधानीका दाम चुकाया, जिसमें मेरी बच्ची शान्तिपूर्वक विश्राम करेगी। पैदा होनेपर उसे हिंडोला नहीं मिला और अन्तिम छोटी-सी सन्दूकची भी उसे बहुत दिनोंतक प्राप्त नहीं हो सकी। हमारे लिए वह भीषण घड़ी थी, जब कि छोटी-सी शवाधानी अपने अन्तिम विश्राम-स्थानपर ले जायी गयी !'[2]

२० जनवरी सन् १८५७ को मार्क्सने एंजिल्को लिखा : 'मुझे कुछ समझमें नहीं आता कि इसके बाद क्या करूँ ? वस्तुतः मेरी स्थिति उससे कहीं खराब है, जैसी कि आजसे पाँच वर्ष पहले थी !'[3]

---

१ जीद और रिस्ट : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन्स, पृष्ठ ४५०।

२ राहुल सांकृत्यायन : कार्ल मार्क्स, १९५३, पृष्ठ १५८।

३ राहुल : वही, पृष्ठ २००।

पाण्डुलिपि तैयार है, पर प्रकाशकके पास उसे भेजनेके लिए डाक-खर्चको भी पैसे नहीं हैं ! एंजिलको डाक-खर्चके पैसे भेजनेको लिखते हुए मार्क्स कहता है : "मैं नहीं समझता हूँ कि कभी भी किसी आदमीने 'पैसा' के बारेमें लिखा हो और उसे स्वयं उसके अभावमें इतना कष्ट उठाना पड़ा हो। अधिकांश लेखक, जिन्होंने इस विषयपर लिखा है, वे अपने शोधके लक्ष्य (पैसे) के साथ सबसे बढ़िया सम्बन्ध स्थापित कर सकते थे।"[1]

पत्रकारिताका आकाशवृत्ती जीवन, कर्जेकी मार, फाकेकशी, दैनिक आवश्यकताओंका अभाव मार्क्सके पल्ले पड़ा था। बच्चियोंके पास कपड़े नहीं, जूते नहीं, भरपेट खाना नहीं ! ऐसे दारिद्र्यके बीच मार्क्सने अपना अध्ययन, मनन और चिन्तन करके विश्वको अपनी मार्क्सवादी विचारधारा प्रदान की। एंजिल उसका 'एक प्राण दो शरीर' वाला साथी था। इच्छाके प्रतिकूल व्यापार करके वह निरन्तर मार्क्सकी आर्थिक सहायता करता रहा, ताकि मार्क्स अपने लक्ष्यमें सफल हो सके।

मार्क्सकी कई रचनाएँ हैं। प्रायः सबमें एंजिल उसका सह-लेखक रहा है। हेगेलके दार्शनिक विचारोंपर 'जर्मन-विचारधारा' (सन् १८४५-४८), प्रोदोंके विचारोंकी आलोचना 'दर्शनकी दरिद्रता' (सन् १८४७), साम्यवादके मौलिक सिद्धान्तोंका सार्वजनिक घोषणापत्र—'कम्युनिस्ट मैनीफेस्टो' (सन् १८४८) आरम्भिक रचनाएँ हैं। सन् १८४८ की क्रान्तिकी विफलताने मार्क्सके हृदयमें यह बात बैठा दी कि श्रमिकोंके आन्दोलनके लिए एक विस्तृत एवं वैज्ञानिक विचारधाराकी आवश्यकता है। उसके लिए वह अपनी पूरी शक्तिसे ब्रिटिश म्यूजियममें अध्ययनमें तत्पर हुआ। सन् १८५९ में उसकी 'राजनीतिक अर्थशास्त्र' की आलोचना प्रकाशित हुई। कोई अठारह वर्षके अनवरत अध्ययन, मनन एवं चिन्तनके उपरान्त मार्क्सकी सर्वश्रेष्ठ रचना—'पूँजी'—'डास कैपिटा' का प्रथम खण्ड सन् १८६७ में प्रकाशित हुआ। एंजिलने मार्क्सकी मृत्युके उपरान्त उक्त पुस्तकका द्वितीय खण्ड सन् १८८५ में और तृतीय खण्ड सन् १८९४ में प्रकाशित किया। उसका चतुर्थ खण्ड एंजिलकी मृत्युके उपरान्त कार्ल कोटस्कीने सन् १९०४–१० में 'थ्योरीज ऑफ सरप्लस वैल्यूज' के नामसे प्रकाशित किया। इस पुस्तककी पाण्डुलिपि पूरी होनेपर मार्क्सने सिगफ्रीड मेयरको एक पत्रमें लिखा था : 'तुम्हारे मैत्रीपूर्ण पत्र जिन कठिनाइयोंसे भरे दिनोंमें मुझे मिले, उनसे मेरे जैसे सरकारी दुनियाके कठोर संघर्षमें निरन्तर संलग्न व्यक्तिको बड़ी सांत्वना मिली। पर तुम पूछोगे कि

---

१ राहुल : वही, पृष्ठ २०४।

मैंने तुम्हें उत्तर क्यों नहीं दिया ? इसीलिए कि मैं सतत कब्रके आसपास मँडरा रहा था और अपनेमें काम करनेकी क्षमतावाले समयके एक-एक मिनटको मैं अपनी इस पुस्तकको समाप्त करनेमें लगानेके लिए विवश था। इसके लिए मैंने अपने स्वास्थ्य, अपने आनन्द और अपने परिवारको बलिदान कर दिया। ...'यदि अपनी पुस्तकको कमसे कम पाण्डुलिपिके रूपमें बिना पूरा किये मैं मर जाता, तो मैं अपनेको अव्यावहारिक मानता !''[1]

एंजिल

मार्क्सके अभिन्न साथी और मार्क्सके परिवारके 'जनरल' फ्रेडरिक एंजिलका जन्म जर्मनीके बर्मेन नगरमें २८ नवम्बर सन् १८२० को एक समृद्ध परिवारमें हुआ। पिता धनी कारखानेदार था। विचारों, भावों और पारस्परिक स्नेहमें मार्क्स और एंजिल सहोदर भाइयों जैसे थे। एंजिलको व्यापारमें रुचि नहीं थी, दर्शन और अर्थशास्त्र उसके प्रिय विषय थे। मार्क्सके सम्पर्कमें आनेके बाद दोनोंमें जो घनिष्ठता बढ़ी, वह कभी नहीं छूटी। मार्क्सको आर्थिक सहायता देनेके उद्देश्यसे एंजिल व्यापारके अरुचिकर कार्यमें लगा रहा। सन् १८७० में वह व्यापार छोड़कर मार्क्सके साथ रहने लगा। एंजिलकी स्वतंत्र पुस्तकें केवल दो हैं—'समाजवाद : काल्पनिक और वैज्ञानिक' और 'ओरिजिन ऑफ दि फैमिली' (सन् १८८४)। सन् १८९५ में एंजिलकी मृत्यु हो गयी।

पूर्वपीठिका

मार्क्सकी विचारधारापर तत्कालीन युगकी स्थितिका तो प्रभाव था ही, शिक्षा-कालमें हेगेलके दर्शन और उसकी क्रिया, प्रतिक्रिया एवं समन्वयकी प्रक्रियाने मार्क्सको अत्यधिक प्रभावित किया। शास्त्रीय परम्पराके विचारकोंका, मुख्यतः रिकार्डोके भाटक-सिद्धान्त और मूल्य-सिद्धान्तका मार्क्सपर गहरा प्रभाव था। भौतिकवादपर १८वीं शतीके फरासीसी विचारकों, विशेषतः लुडविग फारबेक आदिका भी उसपर विशेष प्रभाव पड़ा था। फ्रांस, जर्मनी और इंग्लैण्डके समाजवादी विचारकोंने भी मार्क्सपर अपनी छाप छोड़ी थी। मार्क्स व्यावहारिकताका अधिक पक्षपाती था, काल्पनिकताका कम। इन समाजवादी विचारकोंकी विचारधाराको उसने अपने ढंगका मोड़ दिया।

मार्क्सका जन्म उस युगमें हुआ, जिस समय पूँजीवाद अपने वीभत्स रूपमें प्रकट हो रहा था। उसका अभिशाप जनताको त्रस्त कर रहा था। धर्म और

---

१ राहुल : वही, पृष्ठ २५२-२५३।

भगवान्‌के प्रति जनताकी आस्था घट रही थी और भौतिकवादका महत्त्व बढ़ता जा रहा था।

ऐसे वातावरणमें मार्क्सने पूँजीवादी पद्धतिका वैज्ञानिक विश्लेषण कर सर्वहारा-वर्गका एक व्यापक आन्दोलन तैयार कर दिया। जर्मन दर्शन, फरासीसी भौतिकवाद और आंग्ल शास्त्रीय विचारधाराका सर्वोत्तम ईंटा, पत्थर और चूना जुटाकर मार्क्सने वैज्ञानिक समाजवाद या द्वंद्वात्मक भौतिकवादका महल खड़ा कर दिया।

मार्क्सके आर्थिक विचारोंको विशिष्ट स्वरूप देनेवाले ५ विचारक विशेष रूपसे उल्लेखनीय हैं: चार्ल्स हाल, विलियम थामसन, टामस हाजस्किन, फ्रांसिस ब्रे और जान ग्रे।

हाल (सन् १७४५-१८२५) ने 'यूरोपीय राज्योंकी जनतापर सभ्यताके प्रभाव' शीर्षक अपनी रचनामें इस तथ्यका विशद स्पष्टीकरण किया था कि आधुनिक सभ्यता स्वत्वप्राप्त-वर्गके लिए भले ही आनन्ददायक हो, अधिकांश साधनहीन व्यक्तियोंके लिए वह भयंकर अभिशाप है। इसके कारण समाजमें बीजगणितके 'धन' और 'ऋण' की भाँति दो विरोधी वर्ग उत्पन्न हो गये हैं, जो परस्पर विध्वंसक भी हैं।[1]

थामसन (सन् १७८५-१८५०) को मेंजर 'वैज्ञानिक समाजवादका परम यशस्वी प्रतिष्ठापक' कहता है। उसकी 'धनके वितरणके सिद्धान्तकी शोध' (सन् १८२४) में इस बातपर बड़ा जोर दिया गया है कि पूँजीपतिका मुनाफा न्यायतः समाप्त होना चाहिए। उसके लिए वह ओवेनकी भाँति सहकारितापर बल देता है।

हाजस्किन (सन् १७८७-१८६९) ने 'लेबर डिफेण्डेड अगेन्स्ट दि क्लेम्स ऑफ कैपिटल' (सन् १८२५) नामक रचनामें पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्थाकी कटु आलोचना करते हुए श्रमकी महत्तापर बल दिया है। वह कहता है कि पूँजी श्रमकी ही चोरी है। उत्पादनका एकमात्र कारण श्रम है। श्रमसे वंध्या और हरे-भरे मनोरम भू-खण्ड बन जाते हैं और सागरकी लहरोंपर भी अन्नका उत्पादन हो सकता है। वह पूँजीकी अनुत्पादकता बताते हुए भाटक, मुनाफा और ब्याजका अनौचित्य सिद्ध करता है। वह कहता है कि पूँजीपति नामक मध्यवर्ती पुरुष ही श्रम एवं श्रमजनित वस्तुके मध्यमें महान् बाधा है।

---

१ चार्ल्स हाल : एफेक्ट्स ऑफ सिविलिजेशन, पृष्ठ ४९।

ब्रेने 'लेबर्स रांग एण्ड लेबर्स रेमेडीज' और 'दि एज ऑफ माइट एण्ड दि एज ऑफ राइट' (सन् १८३९) में विनिमयकी अनुचित बुराइयोंपर विशेष रूपसे प्रकाश डाला। वह श्रमके समयको ही मूल्यका उचित मापदण्ड मानता है। श्रमिक अपना अत्यधिक समय पूँजीपतिको देता है और पूँजीपति विनिमयमें बहुत कम देता है, जो सर्वथा अनुचित है। वह मानता है कि 'सारी पूँजी श्रमिकोंकी मांसपेशियों और हड्डियोंसे खींचकर जुटायी जाती है! कई पीढ़ियोंसे चली आनेवाली विषम-विनिमयकी जालसाजी और दास-पद्धतिके द्वारा इस पूँजीका संचय होता है।'

जान ग्रे (सन् १७९९–१८५०) ने 'ए लेक्चर ऑन ह्यूमन हैपीनेस' (सन् १८२५) में तत्कालीन समाज-व्यवस्थाकी तीव्र आलोचना की। उसका कहना था कि जो लोग उत्पादन करते हैं, उन्हें उसका बहुत कम फल मिलता है, अनुत्पादक लोग मौज उड़ाते हैं। वे श्रमिकोंका श्रम क्रय करते हैं एक भावपर, विक्रय करते हैं दूसरेपर! वह मानता है कि सारे सामाजिक दोषोंका मूल कारण है—भाटक, ब्याज और मुनाफेके रूपमें शोषण।[1]

मार्क्सवादी दर्शन

इस पूर्वपीठिकाके आधारपर मार्क्सके विचारोंका विश्लेषण करना अच्छा होगा। मार्क्सका दर्शन है—द्वंद्वात्मक भौतिकवाद। इसमें विश्वकी प्रकृति एवं उसके अन्तर्गत मानवका स्थान क्या है, इसका विवेचन किया गया है।

मार्क्स यह मानकर चलता है कि प्रकृत्या विश्व भौतिक है। भौतिक कारणोंसे ही कोई भी वस्तु अस्तित्वमें आती है। भौतिक कारणोंसे ही, भौतिक नियमोंके अनुसार ही उसका उद्भव एवं विकास होता है। सारी चेतन सत्ता, मानसिक अथवा आध्यात्मिक सत्ता इस जड़ प्रकृतिकी ही उपज है। उसका अपना कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। इसके अतिरिक्त यह भी है विश्व एवं उसके नियम, प्रकृति एवं उसके सिद्धान्त ऐसे हैं, जिनका ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। वे अज्ञेय नहीं हैं।

मार्क्सवादी दर्शनके मूल सिद्धान्त इस प्रकार हैं :

(१) सारी सृष्टिका बीज एक ही तत्त्व है।

(२) वह एक तत्त्व परमात्मा या चेतन-तत्त्व नहीं, बल्कि जड़ प्रकृति ही है।

(३) जड़मेंसे ही चैतन्य उत्पन्न होता है। मनुष्य अथवा जन्तु जैसे चेतन-मय दिखनेवाले पदार्थ भी प्रकृतिके ही आविष्कार हैं।

---

१ एरिक रॉल : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ २४७-२४९।

(४) छोटेसे अणुकोषसे लेकर बड़ेसे बड़ा प्राणी और अत्यन्त बुद्धिमान् मनुष्यतक सभी प्राणी प्रकृतिके पुतले हैं। वे उसीमेंसे पैदा होते हैं, उसीमें रहते और उसीमें नष्ट हो जाते हैं।

(५) इन चेतन पदार्थोंके जन्म, मरण या जीवनके सम्बन्धमें पाप-पुण्य, सत्य-असत्य, हिंसा-अहिंसा आदिकी कल्पनाएँ व्यर्थ हैं।

(६) ऐसी सृष्टिमें जीवनका विकास होते-होते मानव-जाति उत्पन्न हुई। आज वही सबसे अधिक विकसित प्राणी-सृष्टि है।

(७) इस मानव-जातिका एक इतिहास है और उसके अनुकूल यह बात निश्चित है कि भविष्यमें क्या होगा।

(८) इस भावीको टाला नहीं जा सकता।

(९) बुद्धिमान् मनुष्यको ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि जिससे यथाशीघ्र यह भावी सिद्ध हो जाय।

(१०) इतिहासके विवेचनसे यह स्पष्ट है कि भविष्यमें जो युग आनेवाला है, उसमें पूँजीवाद समाप्त हो जायगा, व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं रहेगी, भूमिहीन श्रमिकोंका उदय होगा और सारी सत्ता उन्हींके हाथमें होगी।

(११) श्रमिकोंके स्वामित्वके इस युगको आनेसे रोका नहीं जा सकता; उसे रोकनेका प्रयत्न उसी तरह व्यर्थ है, जैसे गंगाकी बाढ़को हथेलीसे रोकनेका प्रयत्न।

(१२) उस युगकी स्थापनाके उपरान्त सारे संसारमें शान्ति और समताकी स्थापना हो जायगी; विषमता, वर्गभेद, मुनाफाखोरी—सब मिट जायगी। सब मनुष्य एक-से माने जायँगे। आदर्श अराजकताकी स्थिति उत्पन्न होगी। साम्यवादकी स्थापना होगी।

(१३) इस साम्यवादके लिए सशस्त्र क्रान्ति करनी होगी। इसके लिए हिंसा-अहिंसा, नीति-अनीतिका प्रश्न छोड़कर श्रमिकोंका संगठन करना होगा और जैसे भी हो, अपने लक्ष्यकी पूर्ति करनी होगी।

ऐतिहासिक भौतिकवाद

मार्क्सने 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' का विस्तृत विश्लेषण करते हुए इस बातपर सबसे अधिक बल दिया है कि इतिहासका सृजन भौतिकवादसे ही होता है।

एंजिल कहता है कि 'सन् १८४५ के वसन्तमें मैं जब ब्रुसेल्स गया, तो मार्क्सने ऐतिहासिक भौतिकवादके मूल विचार मेरे समक्ष प्रस्तुत करते हुए कहा कि 'प्रत्येक ऐतिहासिक युगमें आर्थिक उत्पादन और उसका अवश्य अनुगामी सामाजिक ढाँचा उस युगके राजनीतिक और बौद्धिक इतिहासका आधार होता है और इसीलिए सारा इतिहास वर्ग-संघर्षोंका इतिहास रहा है—सम-सामयिक

विकासकी भिन्न-भिन्न मंजिलोंमें शोषितों और शोषकोंके बीच, शासितों और शासक-वर्गोंके बीचका संघर्ष। ये संघर्ष अब ऐसे स्थानपर पहुँच गये हैं, जहाँपर शोषित और उत्पीड़ित-वर्ग—सर्वहारा, शोषक और उत्पीड़क-वर्ग—बुर्ज्वाजी (पूँजीपति) से अपनेको तबतक मुक्त नहीं कर सकता, जबतक कि साथ ही सारे समाजको सदाके लिए शोषण और उत्पीड़नसे मुक्त नहीं कर देता'।'[1]

मार्क्सने प्रगतिकी चार मंजिलें, चार स्थितियाँ बतायी हैं :

(१) बर्बर साम्यवाद,
(२) दास-समाज,
(३) सामन्तवादी समाज और
(४) वर्तमान पूँजीवादी समाज।

प्रथम स्थिति आरम्भिक थी। उत्पादन एवं वितरण व्यक्तिगत रूपमें न होकर सामाजिक रूपमें होता था। उस युगमें उत्पादनके प्रकार भी कम कुशल थे। द्वितीय स्थितिमें थोड़ेसे भू-स्वामी लोग दासोंके द्वारा कृषि कराने लगे। उत्पादनके प्रकार कुछ सुधरे। तृतीय स्थितिमें उत्पादनके प्रकार अधिक कुशल बने। इस समय दास नहीं थे, अर्द्धदास थे। चतुर्थ स्थितिमें वणिक् और श्रमिक, ऐसे दो वर्ग हैं और उत्पादनके प्रकारोंमें अत्यधिक कुशलता आ गयी है। इन सभी स्थितियोंमें वर्ग-संघर्ष, कहीं स्वतंत्र मानव और दासके बीच संघर्ष, कहीं अभिजात-वर्ग और साधारण प्रजाके बीच संघर्ष, कहीं सामन्त और अर्द्धदासके बीच संघर्ष, कहीं मालिक और मजदूरके बीच संघर्ष, यों शोषक और शोषितके बीच सदासे संघर्ष होता चला आया है। यह युद्ध अनवरत जारी है। इस सम्बन्धमें क्रिया, प्रतिक्रिया और समन्वयकी प्रक्रिया सतत चलती रही है। आजके पूँजीवादी समाजका भी इसी कारण विनाश निश्चित है।

मार्क्सकी धारणा है कि आज जो दयनीय स्थिति है, वह स्थायी रहनेवाली नहीं। इतिहास बताता है कि शीघ्र ही इसकी प्रतिक्रिया अनिवार्य है। भावी क्रान्ति न तो शासक-वर्ग करेगा, न कल्पनाशील आदर्शवादियोंके अनुसार जनता स्वयं आत्मप्रेरणासे करेगी; वरन वह करेगा आजका सर्वहारा-वर्ग, आजका श्रमिक-वर्ग। 'विजय या मृत्यु! रक्त-क्रान्ति या कुछ नहीं!' यही सर्वहारा-वर्गका नारा होगा। इस क्रान्तिके उपरान्त वर्ग-संघर्षका अन्त हो जायगा और उत्पादन एवं वितरण, दोनों ही समाजके हाथमें आ जायँगे। शोषक-वर्ग समाप्त हो जायगा। शोषणका कहीं नाम भी नहीं रहेगा। भावी समाजमें 'बुर्जुआजी' की समाप्ति हो

---

१ राहुल : कार्ल मार्क्स, पृष्ठ ६०।

जायगी और 'प्रोलितारित' का राज्य होगा। प्रत्येक व्यक्ति अपनी क्षमता और योग्यताके अनुकूल कार्य करेगा और उसकी आवश्यकताके अनुरूप सब कुछ उसे प्राप्त होगा।

प्रमुख आर्थिक विचार

मार्क्सवादके प्रमुख आर्थिक विचारोंको दो भागोंमें विभाजित किया जा सकता है :

(१) पूँजीवादी व्यवस्थाका अध्ययन और
(२) मार्क्सवादी समाज।

१. पूँजीवादी व्यवस्थाका अध्ययन

मार्क्सवादी अर्थव्यवस्थामें पूँजी और पूँजीवादका अध्ययन विशेष महत्त्व रखता है। उसमें पूँजीवादकी विशेषताएँ, मूल्यका श्रम-सिद्धान्त, श्रमका बचत-सिद्धान्त और पूँजीवादके विनाशके कारण आदि सभी बातें आ जाती हैं। मार्क्स ऐसा मानता है कि पूँजीवादी समाजमें संघर्ष जिस ढंगसे प्रस्फुटित एवं विकसित होता है, उसके फलस्वरूप पूँजीवाद स्वयं विनाशकी ओर अग्रसर होगा और तब समाजवाद उसका स्थान ग्रहण करेगा।

पूँजीवादकी विशेषताएँ

समाजवादके अर्थशास्त्रकी सारिणीमें अशोक मेहताने मार्क्सवादको आलोचनात्मक बताते हुए कहा है कि उसके दो भाग हैं : (१) विचारका ऐतिहासिक स्वरूप और (२) पूँजीवादकी गतिका सिद्धान्त। इस गतिके सिद्धान्तकी तीन शाखाएँ हैं :

(१) श्रमका मूल्य-सिद्धान्त,
(२) एकाधिकार और
(३) संकट।

इन तीनोंकी भी पृथक्-पृथक् शाखाएँ हैं :

श्रमका मूल्य-सिद्धान्त

- अतिरिक्त श्रम और शोषण
- आदिरूपमें पूँजीका अपसंचय
  - खेतिहरोंका असहाय होना
  - बेकारोंकी सेना
- पूँजीकी संघटनात्मक रचना
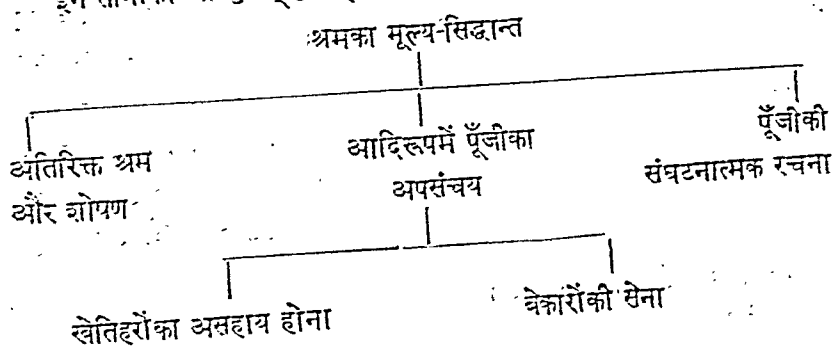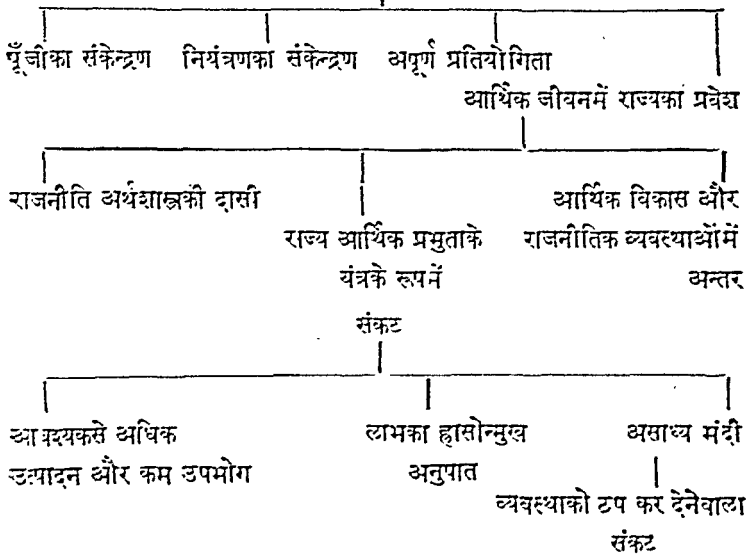
समाजके दो वर्ग

मार्क्स यह मानकर चलता है कि आजके पूँजीवादी समाजमें मुख्यतः दो वर्ग हैं—एक पूँजीपति, दूसरा श्रमिक; एक बुर्जुआजी, दूसरा प्रोलितारित। इनमें एक वर्गके हाथमें सारी पूँजी है और दूसरा वर्ग पूँजीसे सर्वथा वंचित है। श्रमिकको यह मानकर चलना पड़ता है कि मेरे पास श्रम ही वह वस्तु है, जिसका विक्रय किया जा सकता है। वह विवश होकर श्रम बेचता है, पर उसे उस श्रमका पूरा मूल्य नहीं मिलता।

समाजमें इन दो वर्गोंके अतिरिक्त कुछ अन्य वर्ग भी हैं। जैसे, भू-स्वामी, कृषि-खेतिहर, जमींदार, सहकारी स्वामी आदि; पर इनका अस्तित्व नगण्य-सा है। क्रमशः ये भी मिटते जा रहे हैं और अन्ततः पूँजीपति और श्रमिक, इन दो वर्गोंमें ही मिलते जा रहे हैं। इन दोनों वर्गोंमें संघर्ष जारी है।

मार्क्सकी धारणा है कि पूँजीवादमें मुख्यतः बड़े पैमानेपर उत्पादन होता है। बड़े-बड़े कारखानोंमें हजारों श्रमिकोंके द्वारा बृहद् उत्पादन किया जाता है। यों छोटे-छोटे कुटीर-उद्योग भी चलते हैं, पर अधिकतर उत्पादन बड़े पैमानेपर होता है, जिसमें आधुनिकतम मशीनें और भारी संख्यामें मजदूरोंका उपयोग किया जाता है।

और यह उत्पादन समाजकी आवश्यकताओंको ध्यानमें रखकर नहीं किया जाता, वह किया जाता है लाभकी दृष्टिसे। पूँजीपतिके उत्पादनका [illegible]

रहता है अधिकाधिक मुनाफा कमाना।प्रारम्भमें वस्तुके उत्पादनका लक्ष्य रहता था उसका उपयोगितागत मूल्य, आज उसका लक्ष्य रहता है विनिमयगत मूल्य।

पूँजीका सामान्य सूत्र

मार्क्सने पूँजीका एक सामान्य सूत्र निकाला है[1]

["मा" = माल, "मु" = मुद्रा]

'मा—मु—मा' : यह सूत्र मालोंके साधारण परिचलनका प्रतिनिधित्व करता है। इसमें मुद्रा परिचलनके साधनका, चलार्थका काम करती है। उसका भौतिक सार = 'मा—मा'। विनिमय-मूल्य हस्तांतरित हो जाता है और उपयोग-मूल्य हस्तगत कर लिया जाता है।

'मु—मा—मु' : यह सूत्र परिचलनके उस रूपका प्रतिनिधित्व करता है, जिसमें मुद्रा अपनेको पूँजीमें बदल डालती है। बेचनेके लिए खरीदनेकी क्रियाको, यानी 'मु—मा—मु' को 'मु—मु' में भी परिणत किया जा सकता है, क्योंकि अप्रत्यक्ष रूपमें यह मुद्राके साथ मुद्राका ही विनिमय है।

'मा—मु—मा' : इसमें मुद्रा केवल पूरी क्रियाके दोहराये जानेपर ही अपने प्रस्थान-बिन्दुपर लौट सकती है। यह केवल तभी हो सकता है, जब नये मालोंकी बिक्री की जाय। इसलिए मुद्राका लौटना यहाँ खुद क्रियासे स्वतंत्र है। दूसरी ओर, 'मु—मा—मु', में मुद्राका लौटना शुरूसे ही स्वयं क्रियाकी प्रणाली द्वारा निर्धारित होता है। यदि मुद्रा लौटती नहीं, तो क्रिया अपूर्ण रहती है।

'मा—मु—मा' : इसका अन्तिम लक्ष्य उपयोग-मूल्य होता है। 'मु—मा—मु' का अन्तिम लक्ष्य खुद विनिमय मूल्य होता है।

मार्क्स मानता है कि पूँजीवादसे पूर्व उपयोग-मूल्यकी दृष्टिसे सारा कार्य होता था, पूँजीवादी युगमें विनिमय-मूल्यकी दृष्टिसे होता है। उसमें पूँजीका उपयोग श्रमका शोषण करके अधिकाधिक पैसा जुटानेके लिए होता है।

मार्क्सकी निश्चित धारणा है कि पूँजीवादी पद्धति श्रमके शोषणपर आधृत है। श्रमिक केवल कहनेके लिए स्वतंत्र है, परन्तु बाजारके अप्रत्यक्ष विनिमयके सिद्धान्त द्वारा उसका शोषण किया जाता है।

श्रमका मूल्य-सिद्धान्त

मार्क्सके अनुसार उत्पादनका एकमात्र सृजनात्मक तत्त्व है—श्रम। पूँजी और भूमिके साथ सामंजस्य स्थापित करके ही उत्पादन सम्भव है। केवल श्रममें ही यह क्षमता है कि वह लागतसे अधिककी वस्तुका उत्पादन कर सकता है। श्रमकी लागत और श्रम द्वारा किये गये उत्पादनके मूल्यके बीच मूलभूत अन्तर होता

---

१ देखिए : मार्क्सकी 'पूँजी', १९५७, पृष्ठ १७, ७१, ८९–९२।

है। श्रमकी कीमत श्रमिकको अपनेको जीवित और सक्षम रखनेके लिए दी जानेवाली मजूरी होती है, जब कि श्रम द्वारा किये गये उत्पादनकी कीमत उसमें लगायी गयी श्रम-शक्तिका मूल्य या अर्घ होता है। श्रमिकको मिलनेवाली उसके श्रमकी कीमत और उसने जो श्रम किया है, उसकी कीमत पृथक् की जा सकती है। 'वस्तुस्थिति यह है कि मजूरी पानेवाला श्रमिक अपना श्रम पूँजीपतिके हाथ बेचता है और पूँजीपति उस श्रम-शक्तिको बेचता है, जो उस वस्तुमें निहित है।'[1] पूँजीपति जहाँ वस्तुकी, जिसमें श्रमिककी श्रम-शक्ति लगी रहती है, कीमत पाता है, वहाँ वह श्रमिकको केवल उसके जीवन-निर्वाहभरकी कीमत चुकाता है। यह अन्तर मूल्यके श्रम-सिद्धान्तको जन्म देता है।[2]

अतिरिक्त मूल्य

श्रम-क्रिया और अतिरिक्त मूल्य पैदा करनेकी क्रिया समझाता हुआ मार्क्स कहता है कि पूँजीवादी आधारपर जो श्रम-क्रिया चलती है, उसमें दो विशेषताएँ होती हैं : (१) मजदूर पूँजीपतिके नियंत्रणमें काम करता है; (२) पैदावार पूँजीपतिकी सम्पत्ति होती है, क्योंकि श्रम-क्रिया अब दो ऐसी वस्तुओंके बीच चलनेवाली क्रिया बन जाती है, जिन्हें पूँजीपतिने खरीद रखा है। वे वस्तुएँ हैं : श्रम-शक्ति और उत्पादनके साधन।

परन्तु पूँजीपति उपयोग-मूल्यका उत्पादन खुद उपयोग-मूल्यके लिए नहीं करता; वह केवल विनिमय-मूल्यके भंडारके रूपमें और खास तौरपर अतिरिक्त मूल्यके भंडारके रूपमें उसका उत्पादन करता है। इस स्थितिमें—जहाँ मालमें उपयोग-मूल्य और विनिमय-मूल्यकी एकता थी—श्रममें उत्पादन-क्रिया और मूल्य पैदा करनेकी क्रियाकी एकता हो जाती है।

श्रमिकको उसकी मजूरीके लिए ६ घण्टे श्रम करना आवश्यक हो और वह १० घण्टे श्रम करे, तो ४ घण्टेका श्रम 'अतिरिक्त मूल्य' पैदा करेगा।

मूल्य पैदा करनेवाली क्रियाके रूपमें श्रम-क्रिया जिस बिन्दुपर श्रम-शक्तिके पहलेसे अदा किये गये मूल्यका एक साधारण सममूल्य पैदा कर देती है, उस बिन्दुसे आगे जब यह क्रिया चलायी जाती है, तब वह तुरन्त ही 'अतिरिक्त मूल्य' पैदा करनेकी क्रिया बन जाती है।[3]

शोषणकी प्रक्रिया

मार्क्स कहता है कि 'पूँजीवादी उत्पादन केवल अतिरिक्त मूल्यके लिए किया जाता है। पूँजीपतिकी जिस उत्पादनमें सचमुच दिलचस्पी है, वह पार्थिव वस्तु

१ जान स्ट्रेची : दि नेचर आफ दि कैपिटलिस्ट क्राइसिस, पृष्ठ १७९।

२ अशोक मेहता : डेमाक्रेटिक सोशलिज्म, पृष्ठ ९३।

३ एंजिल्स : मार्क्सकी 'पूँजी', पृष्ठ १००–१०२।

नहीं, अपितु मालमें लगी हुई पूँजीके मूल्यसे 'अतिरिक्त मूल्य' है।'[1] यह अतिरिक्त मूल्य शोषणका प्रतीक है। पूँजीपति उत्तम यंत्र और पद्धतिका उपयोग करके श्रमिककी कार्यक्षमता बढ़ाकर, प्रायः उसपर अधिक भार लादकर, उसकी मजूरी-को पहले जैसी रखकर अथवा और भी घटाकर वह मजूरी और अपनी उपलब्धिके बीचके अन्तरको, अर्थात् अपने लाभको अधिकाधिक बढ़ाना चाहता है। यह शोषणकी प्रक्रिया है। इस प्रकार श्रमिकपर दोहरा भार पड़ता है। पूँजी-संचय शोषणकी प्रक्रियाका दूसरा पहलू मात्र है। आदिरूपमें पूँजी-संचयके मार्क्सने दो उपाय बताये हैं : (१) किसानको उसकी भूमिसे उजाड़ देना और (२) बेकारों-की एक सेना सदा खड़ी रखना।

पूँजीवादी प्रणालीके एक अन्य दोषकी ओर भी मार्क्सने ध्यान आकृष्ट किया है। वह है श्रमिक और उसके कामके बीच पृथक्करण। अशोक मेहताका कहना है कि यह दुःखकी बात है कि मार्क्सकी शिक्षाओंके इस पहलूकी चर्चा शायद ही थोड़ेसे मार्क्सवादी कभी करते हों। मार्क्सने इसे श्रमका स्वतः विलगाव कहा है। श्रमिक अपनेसे ही विलग हो जाता है। पूँजीवादी प्रणाली व्यक्तिको स्वयंसे, व्यक्तियोंको भूमि और प्रकृतिसे और व्यक्तिको व्यक्तिसे दूर कर देती है।[2]

स्थिर और अस्थिर पूँजी

मार्क्सने पूँजीके दो भेद किये हैं—स्थिर और अस्थिर। उसका कहना है कि श्रम-क्रिया श्रमकी विषयवस्तुमें नया मूल्य तो जोड़ती है, परन्तु साथ ही, वह श्रमकी विषयवस्तुके मूल्यको उत्पादनमें स्थानान्तरित कर देती है और इस प्रकार वह महज नया मूल्य जोड़कर उसे सुरक्षित रखती है। यह दोहरा परिणाम इस प्रकार प्राप्त होता है : श्रमका विशिष्टतया उपयोगी गुणात्मक स्वरूप एक उपयोग-मूल्यको दूसरे उपयोग-मूल्यमें बदल देता है और इस प्रकार मूल्यको सुरक्षित रखता है; किन्तु श्रमका मूल्य पैदा करनेवाला, अमूर्त ढंगसे सामान्य एवं परिमाणात्मक स्वरूप नया मूल्य जोड़ देता है।

जो पूँजी श्रमके औजारोंमें—मशीन, भवन, कारखाना आदि माल तैयार करनेके साधनोंमें—लगायी जाती है, उत्पादन-क्रियाके दौरानमें उसके मूल्यमें कोई परिवर्तन नहीं होता। उसे हम 'स्थिर पूँजी' कहते हैं।

पूँजीका जो भाग श्रम-शक्तिमें लगाया जाता है, उसका मूल्य उत्पादनकी क्रियाके दौरानमें अवश्य बदल जाता है। वह एक तो खुद अपना मूल्य पैदा

---

१ मार्क्स : कैपिटल, खण्ड ३, पृष्ठ ५४।

२ अशोक मेहता : डेमोक्रेटिक सोशलिज्म, पृष्ठ ९६।

करता है और दूसरे, अतिरिक्त मूल्य पैदा करता है। पूँजीके इस भागको हम 'अस्थिर पूँजी' कहते हैं।

हर हालतमें स्थिर पूँजी ("स्थि") सदा स्थिर रहती है और अस्थिर पूँजी ("अस्थि") सदा अस्थिर रहती है।[1]

अतिरिक्त मूल्यकी दर

स्थिर और अस्थिर पूँजी तथा अतिरिक्त मूल्य (अमू) के आधारपर मार्क्सने अतिरिक्त मूल्यकी दरका सूत्र निकाला है[2] :

पू = ५०० पौण्ड = ४१० स्थि + ९० अस्थि।

श्रम-क्रियाके अन्तमें हमें मिलते हैं—४१० स्थि + ९० अस्थि + ९० अमू।

४१० स्थि = मालके ३१२ + सहायक सामग्रीके ४४ + मशीनोंकी घिसाईके ५४ पौण्ड।

मान लीजिये कि सभी मशीनोंका मूल्य १०५४ पौण्ड है। यदि यह पूरा मूल्य हिसाबमें शामिल किया जाय, तो हमारे समीकरणके दोनों तरफ "स्थि" १४१० के बराबर हो जायगा, लेकिन अतिरिक्त मूल्य पहलेकी तरह ९० ही रहेगा।

"स्थि" का मूल्य चूँकि पैदावारमें केवल पुनः प्रकट होता है, इसलिए हमें जो पैदावार मिलती है, उसका मूल्य उस मूल्यसे भिन्न होता है, जो श्रम-क्रियाके दौरानमें पैदा हो गया है। अतः यह मूल्य, जो श्रम-क्रियाके दौरानमें नया पैदा हुआ है, वह स्थि + अस्थि + अमूके बराबर नहीं होता, बल्कि केवल अस्थि + अमूके बराबर होता है। इसलिए अतिरिक्त मूल्य पैदा करनेकी क्रियाके लिए 'स्थि' की मात्राका कोई महत्त्व नहीं होता; अर्थात् स्थि = ०।

व्यापारिक हिसाब-किताबमें व्यावहारिक ढंगसे यही किया जाता है। जैसे, इसका हिसाब लगाते समय कि किसी देशको उसके उद्योग-धंधोंसे कितना मुनाफा होता है, बाहरसे आये हुए कच्चे मालका मूल्य दोनों तरफ घटा दिया जाता है।

अतएव अतिरिक्त मूल्यकी दर "अमू : अस्थि" होती है। ऊपरके उदाहरणमें अतिरिक्त मूल्यकी दर है—

९० : ९० = १००%

सापेक्ष अतिरिक्त मूल्य

मार्क्सने अतिरिक्त मूल्यके दो भाग किये हैं—निरपेक्ष और सापेक्ष।

---

१ एंजिल : मार्क्सकी 'पूँजी', पृष्ठ १०३–१०५।

२ एंजिल : मार्क्सकी 'पूँजी', पृष्ठ १०६।

मार्क्स कहता है कि वह श्रम-काल, जिसमें श्रमिक अपनी श्रम-शक्तिके मूल्यका पुनरुत्पादन करता है, 'आवश्यक श्रम' कहलाता है। इसके आगेका श्रम-काल, जिसमें पूँजीपतिके लिए अतिरिक्त मूल्य पैदा होने लगता है, 'अतिरिक्त श्रम' कहलाता है। आवश्यक श्रम और अतिरिक्त श्रमका जोड़ कामके दिनके बराबर होता है।[1]

आवश्यक श्रम-काल पहलेसे निश्चित रहता है। अतिरिक्त श्रम घट-बढ़ सकता है। कामके दिनको लम्बा करके जो अतिरिक्त मूल्य पैदा होता है, वह 'निरपेक्ष अतिरिक्त मूल्य' कहलाता है। जो अतिरिक्त मूल्य आवश्यक श्रम-कालको कम करके पैदा किया जाता है, वह 'सापेक्ष अतिरिक्त मूल्य' कहलाता है।

मालोंका मूल्य श्रमकी उत्पादकताके प्रतिलोम अनुपातमें घटता-बढ़ता है। श्रम-शक्तिका मूल्य भी श्रमकी उत्पादकताके प्रतिलोम अनुपातमें घटता-बढ़ता है, क्योंकि वह मालोंके दामपर निर्भर करता है। इसके विपरीत, सापेक्ष अतिरिक्त मूल्य श्रमकी उत्पादकताके अनुलोम अनुपातमें घटता-बढ़ता है।

मालोंके निरपेक्ष मूल्यमें पूँजीपतिकी कोई दिलचस्पी नहीं होती। उसकी दिलचस्पी केवल उनमें निहित अतिरिक्त मूल्यमें होती है। अतिरिक्त मूल्य प्राप्त होनेके लिए यह भी आवश्यक है कि जो मूल्य पेशगी लगाया गया था, वह वापस मिल जाय। चूँकि उत्पादक शक्ति बढ़ानेकी क्रिया मालोंके मूल्यको गिरा देती है और साथ ही मालोंमें निहित अतिरिक्त मूल्यको बढ़ा देती है, इसलिए यह बात साफ है कि पूँजीपति, जिसे केवल विनिमय-मूल्यके ही उत्पादनकी चिन्ता होती है, लगातार मालोंके विनिमय-मूल्यको घटानेकी कोशिश क्यों किया करता है।[2]

मार्क्सका कहना है कि अन्तिम रूपसे स्थिर पूँजी और अस्थिर पूँजीके बीचका अनुपात ही पूँजीकी संघटनात्मक रचनाको निश्चित करता है। लाभकी दरमें अतिरिक्त मूल्यकी दर जुड़ी हुई है। अतिरिक्त मूल्य (या शोषण) की दर ऊँची न हो, तो लाभकी दर गिरेगी। लाभकी दरका अतिरिक्त मूल्यकी दरसे क्या सम्बन्ध है? पूरी पूँजीके साथ अस्थिर पूँजीका जो अनुपात है, उसे अतिरिक्त मूल्यसे गुणा किया जाय, तो वही लाभकी दर होगी :

$$\text{लाभ} = \text{अतिरिक्त मूल्य} \times \frac{\text{अस्थिर पूँजी}}{\text{कुल पूँजी}}$$

जब पूरी पूँजीके साथ अस्थिर पूँजीका अनुपात अधिक होगा, तो लाभकी दर ऊँची होगी।

---

१ एंजिल : मार्क्सकी 'पूँजी', पृष्ठ १०६-१०७।

२ एंजिल : मार्क्सकी 'पूँजी', पृष्ठ ११६-११७।

अशोक मेहताका कहना है कि यहाँ हम उस स्थानपर पहुँच जाते हैं, जिसे मार्क्सके आलोचकोंने मार्क्सवादी विचारमें 'भारी असंगति' कहा है। शोषणके नियमका तकाजा है कि यदि पर्याप्त अतिरिक्त मूल्य प्राप्त करना है, तो उत्तरोत्तर मानव-श्रम अधिक और स्थिर पूँजी कम होनी चाहिए; जब कि पूँजीके संघटनात्मक विकासके नियमका तकाजा है कि पूँजीवादी विस्तार तभी सम्भव है, जब स्थायी रूपसे अस्थिर पूँजी घट रही हो और स्थिर पूँजी बढ़ रही हो। ये दो नियम एक असन्तुलन उत्पन्न कर देते हैं। इसके समाधानके लिए मार्क्सने 'कैपिटल' का तीसरा खण्ड लिखा, जिसमें उसने यह घोषित किया कि लाभकी घटती हुई दर और लाभकी बढ़ती हुई रकम पूँजीवादी अर्थव्यवस्थाकी विशेषताएँ हैं। जबतक यह दोमुहाँ नियम काम कर रहा है, तभीतक पूँजीवाद संकटको टालनेमें समर्थ है।[1]

पूँजीवादके विनाशके कारण

मार्क्सकी मान्यता है कि पूँजीका संचयन और आर्थिक संकट ही पूँजीवादके विनाशके प्रधान कारण हैं।

मार्क्सकी धारणा है कि पूँजीवादका मूल आधार है पूँजीका संचयन, ठीक वैसे ही जैसे कोई अर्थपिपासु कंजूस करता है। पूँजीपतिको लगता है कि यदि पूँजीका संचय नहीं करूँगा, तो समाजमें मेरी प्रतिष्ठा नहीं रहेगी और दूसरे, उसके अभावमें मैं वह पूँजी भी खो बैठूँगा, जो अभी मेरे पास है। मार्क्स शास्त्रीय विचारकोंके इस तथ्यको अस्वीकार करता है कि पूँजीके संचयमें कष्ट उठाना पड़ता है, जिसके पुरस्कारार्थ पूँजीपतिको ब्याज मिलना उचित है।[2]

संचयनका अभिशाप

पूँजी-संचयनका अर्थ यह है कि उत्तरोत्तर अधिक पूँजी कम लोगोंके हाथमें एकत्र होती जाती है। ज्वाइण्ट स्टाक कम्पनियोंमें स्वामित्व अनेक व्यक्तियोंमें बिखरा रह सकता है, तथापि उसका नियंत्रण थोड़ेसे हाथोंमें रहता है। यह नियंत्रणका संकेन्द्रण है। आप एक मिलपर नियंत्रण रख सकते हैं, पर यह आवश्यक नहीं कि सारे 'शेयर' आपके ही हों। इसके साथ ही आती है अपूर्ण प्रतियोगिता। एकाधिकार रखनेवाला व्यक्ति खरीदका मूल्य या विक्रीका मूल्य अपनी मुट्ठीमें रखकर बाजारको प्रभावित करनेमें समर्थ होता है। उत्पादनके साधनोंका एकाधिकार पूँजीपतियोंके हाथमें होना श्रमको उसकी पूर्तिकी स्थितिस्थापकताके गुणसे वंचित कर देता है। वे तथा दूसरे तथ्य अपूर्ण प्रतियोगिताकी

---

१ अशोक मेहता : डेमोक्रेटिक सोशलिज्म, पृष्ठ १००–१०२।

२ एरिक रोल : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ २८२।

अवस्था लाते हैं। पूँजीवादी व्यवस्थामें उपक्रमीकी ओरसे एकाधिकार स्थापित करने, लाभमें वृद्धि करने और इस प्रकार प्रतियोगिताको अपूर्ण प्रतियोगिता बनानेके लिए सतत एवं अरोध्य प्रयास होते हैं।[1]

पूँजीके संचयनके दुश्चक्रमें आवश्यकतासे अधिक उत्पादन और कम उपभोग, लाभका ह्रासोन्मुख अनुपात, असाध्य मन्दी और अन्ततः सारी व्यवस्थाको ठप कर देनेवाला संकट भी जुड़ा हुआ है। मार्क्स कहता है कि एक ओर सम्पत्तिका संचयन होता है, उसीके साथ-साथ दूसरी ओर विपत्तिका संचयन होता है। पूँजीवादके विकासमें ही उसके विनाशके चिह्न छिपे रहते हैं।[2] एक ओर श्रमिकोंको बढ़ाकर बड़े पैमानेपर उत्पादन किया जाता है, दूसरी ओर छोटे पैमानेके उद्योगोंका नाश करके बेकारोंकी संख्या बढ़ायी जाती है। जिन श्रमिकोंके शोषणसे पूँजीपति पूँजीका संचयन करता है, वे श्रमिक ही उसकी कब्र खोदते हैं। एक ओर श्रमिकोंकी माँग बढ़ती है, उनकी मजूरी बढ़ती है। मजूरी बढ़ती है, तो पूँजीपतियोंका अतिरिक्त लाभ घटता है। लाभको बनाये रखनेको वह श्रमिक घटाता है, मजूरी घटाता है, अच्छीसे अच्छी मशीनें लगाता है, श्रमकी तीव्रता बढ़ाता है, इससे श्रमिकोंकी बेकारी बढ़ती है, उनकी क्रयशक्ति घटती है, अति-उत्पादन होता है, मन्दी आती है। आर्थिक संकट बढ़ते हैं, गरीबी बढ़ती है, असन्तोष बढ़ता है। मार्क्सकी मान्यता है कि ये सारे संकट पूँजीवादको ले डूबेंगे। मार्क्सकी दृष्टिमें इन संकटोंका अनिवार्य परिणाम है—क्रान्ति।

यंत्रका भयंकर अभिशाप

यंत्रोंके द्वारा शोषण किस प्रकार बढ़ता है, इसका वर्णन करते हुए मार्क्स कहता है कि मशीनें जिस शक्तिसे चलती हैं, वह शक्ति चूँकि खुद मशीनोंमें ही मौजूद होती है, इसलिए मांसपेशियोंकी शक्तिका मूल्य गिर जाता है। स्त्रियों और बच्चोंके श्रमसे काम लेनेका चलन बढ़ जाता है। पुरुषकी श्रम-शक्तिका मूल्य घट जाता है। अब परिवारको जीवित रखनेके लिए एक व्यक्तिके बजाय चार व्यक्तियोंको पूँजीके वास्ते न केवल श्रम करना पड़ता है, बल्कि अतिरिक्त श्रम भी करना पड़ता है। इस प्रकार शोषणकी सामग्री बढ़नेके साथ-साथ शोषणकी मात्रा भी बढ़ जाती है। अल्पवयस्क लड़के-लड़कियाँ या बच्चे खरीदे जाते हैं। मजदूर अपनी पत्नी और बच्चेको बेचने लगता है। वह दासोंका व्यापारी बन जाता है। मजदूरोंका शारीरिक पतन होने लगता है—उनके बच्चोंकी मृत्यु-संख्या बढ़ जाती है। उनका नैतिक पतन होता है। कामके दिनको लम्बा करके पूँजी बिना बढ़ाये ही पहलेसे अधिक मात्रामें श्रमका अवशोषण होने लगता है। श्रमकी

---

१ अशोक मेहता : डेमोक्रेटिक सोशलिज्म, पृष्ठ १०४–१०७।

२ एरिक रौल : वही, पृष्ठ २८४–२८५।

तीव्रता बढ़ानेके प्रयत्न आरम्भ होते हैं। मशीनोंकी प्रणालीमें मशीन सचमुच मजदूरका स्थान छीन लेती है।[1]

विकासमें विनाश

मार्क्स कहता है कि मशीनोंका पहला परिणाम यह होता है कि अतिरिक्त मूल्यमें तथा उत्पादनकी उस राशिमें वृद्धि हो जाती है, जिसमें यह अतिरिक्त मूल्य निहित होता है और जिसके सहारे पूँजीपति-वर्ग तथा उसके लगुवे-भगुवे जिन्दा रहते हैं। विलासकी वस्तुओंका उत्पादन बढ़ता है। संचारके साधन भी बढ़ते हैं। इन सबके फलस्वरूप घरेलू दासोंकी संख्या बढ़ती है। मशीनें सहकारिता और हस्त-निर्माणका अन्त कर देती हैं। कुछ विशेष मौसमोंमें काम बढ़नेके कारण घरेलू उद्योग और हस्त-निर्माणमें एक तरफ जहाँ लम्बे समयतक बहुतसे श्रमिक बेकार बैठे रहते हैं, वहाँ दूसरी तरफ कामका मौसम आनेपर उनसे अत्यधिक श्रम कराया जाता है। फैक्टरी कानूनोंका यह प्रभाव होता है कि उनसे पूँजीके केन्द्रीकरणमें तेजी आ जाती है। फैक्टरी-उत्पादन सारे समाजमें फैल जाता है। पूँजीवादी उत्पादनके अन्तर्निहित विरोध तेज हो जाते हैं। पुराने 'समाजका तख्ता पलटनेवाले तत्त्व और नये समाजका निर्माण करनेवाले तत्त्व परिपक्व होते जाते हैं। खेतीमें मशीनें और भी भयानक रूपमें मजदूरोंकी रोजी छीनती हैं। किसानका स्थान मजूरीपर काम करनेवाला मजदूर ले लेता है। देहातका घरेलू हस्त-निर्माण नष्ट कर दिया जाता है। शहर और देहातका विरोध उग्र हो उठता है। देहाती मजदूरोंमें बिखराव और कमजोरी आ जाती है, जब कि शहरी मजदूरोंका केन्द्रीकरण हो जाता है। चुनांचे खेतिहर मजदूरोंकी मजूरी गिरते-गिरते एक अल्पतम स्तरपर पहुँच जाती है। साथ ही धरतीकी लूट होती है। उत्पादनकी पूँजीवादी प्रणालीकी पराकाष्ठा यह होती है कि वह हर प्रकारके धनके मूल स्रोतोंकी—भूमिकी और मजदूरकी—जड़ खोदने लगती है।[2]

मार्क्सकी मान्यता है कि पूँजी-संचयनसे, यंत्रोंकी वृद्धि और तीव्रतासे एक ओर सम्पत्तिका अम्बार लगने लगता है, दूसरी ओर दरिद्रता बढ़ने लगती है। बेकारी बढ़ती है। 'श्रमिकोंकी रिजर्व सेना' तैयार होने लगती है। अतः आर्थिक संकट आते हैं। दैन्य, अत्याचार, दासता, पतन और शोषणमें वृद्धि होती है; एकाधिकारका अन्तिम परिणाम यह होगा कि पूँजीवादी खोलका विस्फोट होगा, पूँजीवादी व्यवस्थाकी अन्तिम घड़ी आ जायगी और दूसरोंको सम्पत्तिहीन बनानेवाले स्वयं सम्पत्तिहीन बन जायँगे। लुटेरोंको ही लूट लिया जायगा। पूँजीका संचयन स्वयं ही उसके विनाशका कारण बनेगा।

---

१ ऐंजिल : मार्क्सकी 'पूँजी', पृष्ठ १३३–१३६।
२ ऐंजिल : मार्क्सकी 'पूँजी', पृष्ठ १४१–१४५।

२. मार्क्सवादी समाज

मार्क्स ऐतिहासिक भौतिकवादका पुजारी है। वह मानता है कि नियतिका चक्र अविराम गतिसे चल रहा है। वर्ग-संघर्षके इतिहासके विश्लेषण द्वारा वह यह निष्कर्ष निकालता है कि आजके पूँजीवादी युगका भी अन्त आने ही वाला है। वह दिन दूर नहीं, जब सर्वहारा-वर्ग शोषक-वर्गको उखाड़ फेंकेगा और उत्पादनके साधनोंपर अपना आधिपत्य स्थापित कर लेगा

मार्क्सने कल्पना या आदर्शवादकी दुहाई न देकर वैज्ञानिक सत्योंके आधारपर ऐसा माना है कि पूँजीवाद अपने हाथों अपनी कब्र खोद रहा है। निकट भविष्यमें उसका विनाश अवश्यम्भावी है। मार्क्सकी धारणा है कि सर्वहारा-वर्ग संगठित होकर उत्पादनके साधनोंपर अपना अधिकार जमा लेगा और पूँजी तथा भूमिके क्षेत्रमें वह व्यक्तिगत सम्पत्तिको समाप्ति कर देगा। कारण, शोषणका मूलस्थान उत्पादनके साधन हैं।[1] पूँजीपतियोंकी व्यक्तिगत सम्पत्ति और भूमि छीनकर सर्वहारा-वर्ग उसका समाजीकरण कर देगा। समाजीकरणसे शोषण भी समाप्त हो जायगा और पूँजीके संचयनकी आशंकाका भी अन्त हो जायगा।

मार्क्सवादी समाजमें यद्यपि बड़े ही पैमानेपर, बड़ी मशीनोंकी सहायता द्वारा उत्पादन होगा, फिर भी उसमें शोषणके लिए स्थान नहीं रहेगा। प्रत्येक व्यक्तिको उसकी आवश्यकताके अनुरूप उपभोगकी सामग्री प्रदान की जायगी। हर आदमी अपनी क्षमताके अनुरूप काम करेगा। व्यक्तिगत सम्पत्तिके लिए उसमें न्यूनतम गुंजाइश रहेगी। राज्यका हस्तक्षेप विशेष रूपसे बढ़ जायगा।

मार्क्सवाद मानता है कि श्रमिकोंके इस राज्यकी स्थापना श्रमिक ही कर सकते हैं और करेंगे। पूँजीवादी सरकारें भला उनके हितोंकी ओर क्यों ध्यान देने लगीं? इसके लिए श्रमिकोंको संगठित होकर रक्त-क्रान्तिका आश्रय लेना होगा।

मार्क्सवादकी यह भी धारणा है कि श्रमिकोंका यह संघर्ष किसी देशविशेषके लिए लागू नहीं होता। यह अन्तर्राष्ट्रीय पैमानेपर चलना चाहिए। कारण, सभी देश परस्पर एक ही कड़ीमें बँधे हैं। किसी एक देशमें साम्यवादकी स्थापनासे काम नहीं चलेगा। सारे संसारमें साम्यवादकी स्थापना होनी चाहिए।

मार्क्सवादकी विशेषताएँ

मार्क्सवाद आज विश्वके अनेक वादोंमें विशिष्ट स्थान रखता है। अनेक असंगतियोंके बावजूद उसके प्रति लोगोंका आकर्षण है, इसके कुछ कारणोंपर प्रकाश डालते हुए प्रोफेसर हेने कहते हैं :

---

१ एरिक रॉल : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ २८७।

(१) मार्क्सका उदय ठीक उस अवसरपर हुआ, जब फैक्टरीके दोषोंके कारण श्रमिकोंमें असन्तोष तीव्र गतिसे बढ़ रहा था। इंग्लैण्डमें श्रमिक संगठित हो रहे थे, फ्रांसमें सन् १८४८ की क्रान्ति हो चुकी थी और जर्मनीमें स्थिति अत्यन्त असहनीय हो रही थी।

(२) उस समयकी तीव्र माँग थी कि 'करो या मरो'। पुराना ढाँचा तोड़नेको लोग उत्सुक थे। मार्क्सने सबके समक्ष क्रान्तिकारी विचार प्रस्तुत कर दिये।

(३) मार्क्सने अपने विचारोंको 'वैज्ञानिक' लबादा पहना दिया, जिससे अनुयायियोंको प्रोत्साहन मिला, आलोचकोंको सोचनेकी सामग्री। 'वैज्ञानिक' शब्दसे समाजवादियोंको एक नया दाँव मिला।

(४) मार्क्सने कई आकर्षक नारे दिये, जो खूब प्रचलित हो पड़े।

(५) मार्क्सने समाजवादका वह सब्ज बाग दिखाया कि लोग उसकी ओर मुँह बाकर दौड़े।[1]

मार्क्सवादी अपनी विचारधारामें निम्न विशेषताओंका दावा करते हैं :

(१) मार्क्सवादमें 'वैज्ञानिक' समाजवाद है।

(२) इसमें न्याय और भ्रातृत्वकी ओर पूरा ध्यान दिया गया है।

(३) श्रमिक-वर्गके लिए यह धर्मग्रन्थ है।

(४) इसका वर्ग-संघर्षका सिद्धान्त क्रान्तिकारी है।[2]

मार्क्सके अनुयायी मार्क्सको अपना मसीहा मानते हैं। उनके लेखे वह अत्यन्त मेधावी और मौलिक क्रान्तिकारी है, पर उसके आलोचक कहते हैं कि मार्क्सने शास्त्रीय परम्परामें ही नयी कलम लगायी।[3] उसका कोई नया अनुदान नहीं है। एरिक रौलका कहना है कि शास्त्रीय परम्परासे उसका इतना ही पार्थक्य है कि वह उसे अपूर्ण मानता है और उसी आधारपर उसने तर्कसंगत निष्कर्ष निकाले।[4]

मार्क्सका मूल्यांकन

मार्क्सके प्रशंसकोंकी और आलोचकोंकी कमी नहीं है। उसने जिस विचार-धाराका प्रतिपादन किया, उसमें मौलिकता भले ही कम हो, इतना तो निश्चित है कि उसने अपने गहन अध्ययन, चिन्तन और मनन द्वारा सारे विचारोंको ऐसी कड़ीमें पिरोया कि विश्वपर उसका महान् प्रभाव पड़ा। यह सत्य है कि पूँजी-

---

१ हेने : हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ ४६४-४६५।

२ जीद और रिस्ट : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन्स, पृष्ठ ४६७-४७४।

३ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ ४६६।

४ एरिक रौल : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ २६८।

वादके अभिशापसे संत्रस्त मानव-समाज उस समय ऐसे किसी समाधानके लिए व्यग्र एवं आतुर था, पर मार्क्सकी विचारधारा क्यों प्रख्यात हो सकी, इसका कारण है। और वह यही कि उसने गरीबोंकी भावनाकी तीव्रतासे अनुभूति की और उसे उग्रतम भाषामें व्यक्त करके उसे जनान्दोलनका स्वरूप प्रदान किया।

मार्क्सके सिद्धान्तोंमें अनेक असंगतियाँ हैं, उसके विचारोंमें अनेक दोष हैं, फिर भी इतना तो है ही कि उसनें सर्वहारा-वर्गकी छटपटाहट तीव्रतम रूपमें व्यक्त हुई है।

मार्क्स भौतिकवादी है, वर्ग-संघर्षका समर्थक है, हिंसाके बलपर समाजके शोषण और अन्यायकी समाप्ति करना चाहता है, केन्द्रीकरणका पक्षपाती है, चैतन्यकी सत्ता वह अस्वीकार करता है; प्रेम, सद्भाव, करुणा, सदाचार, नैतिकता आदिको वह कोई महत्त्व नहीं देता, विकेन्द्रीकरण उसकी दृष्टिसे गलत है—उसकी ये सारी बातें विवादास्पद हैं; इनमें संकीर्णता है, एकपक्षीयता है और मानवको भ्रामक मार्गपर ले जानेकी प्रवृत्ति है। रूस जैसे मार्क्सवादके पथपर चलने-वाले देशोंमें जो भयंकर तानाशाही चलती है, सामाजिक न्याय और समताका जिस प्रकार गला घोंटा जाता है, वह किससे छिपा है ?

फिर भी आर्थिक विचारधारामें मार्क्सका अनुदान नगण्य नहीं। शोषण और अन्यायका पर्दाफाश करनेमें, पूँजीवादकी कब्र खोदनेमें और सर्वहारा-वर्गको जाग्रत करनेमें मार्क्सने अतुलनीय काम किया है। विश्वके विभिन्न अंचलोंमें मार्क्सके विचारोंका भारी प्रभाव पड़ा है। रूसमें लेनिनने पूँजीवादको उखाड़ फेंका। चीनमें माओ त्से तुंगने मार्क्सका सिद्धान्त अपनाया। फ्रांसमें, जर्मनीमें, इंग्लैण्डमें, विश्वके अन्य अनेक देशोंमें मार्क्सवादी विचारधाराका पर्याप्त प्रभाव है। यह बात दूसरी है कि उसके कुपरिणाम देखकर बहुतसे व्यक्ति, जिन्होंने तीव्रतासे उसे ग्रहण किया था, अब तीव्रतासे उसका परित्याग कर रहे हैं! ● ● ●

अन्य समाजवादी विचारधाराएँ : ३ :

यूरोपमें इधर एक ओर वैज्ञानिक समाजवादका विकास हो रहा था, दूसरी ओर मार्क्सवादसे मतभेद रखनेवाली कुछ अन्य समाजवादी विचारधाराएँ पनप रही थीं। उन्नीसवीं शताब्दीके अन्तमें इस प्रकारकी ये चार विचारधाराएँ विकसित हुईं :

१. संशोधनवादी विचारधारा (Reformism),
२. संघ-समाजवादी विचारधारा (Syndacalism),
३. फेबियनवादी विचारधारा (Fabianism) और
४. ईसाई समाजवादी विचारधारा (Christian Socialism)

संशोधनवादी विचारधारा

जर्मन विचारक एडवर्ड बर्नस्टाइन (सन् १८५०–१९३२) के नेतृत्वमें संशोधनवादी विचारधाराका विकास हुआ। वह आरम्भिक जीवनमें क्रान्तिकारी रहा। एंजिल्का यह मित्र जर्मनीसे निर्वासित कर दिया गया था। इसने मार्क्स-वादका विरोध किया और सन् १८८८ से १९०० तक वह इंग्लैण्डमें निर्वासित जीवन बिताता रहा। उसने 'एवोल्यूशनरी सोशलिज्म' नामक रचना सन् १८९९ में लिखी।

सन् १९०० में बर्नस्टाइन जर्मनी लौट गया। वहाँ उसने जर्मनीकी सोशल डेमोक्रेटिक पार्टीके संगठनमें विशेष महत्त्वपूर्ण कार्य किया। तबसे लेकर १४ साल-तक उसके और रूढ़िवादी मार्क्सवादके महन्त कार्ल कोटस्कीके बीच मार्क्सवाद-पर खूब वाद-विवाद चलता रहा।

यों तो बर्नस्टाइनके पहले बवेरिया-निवासी वान वोल्मरने इस बातकी आवश्यकतापर जोर दिया था कि मार्क्सके कुछ मूलभूत विचारोंमें संशोधन करनेकी आवश्यकता है, पर इस कामको पूरा किया बर्नस्टाइनने।

बर्नस्टाइनका अपने गुरु मार्क्ससे अनेक प्रश्नोंपर मतभेद था। उसका झुकाव व्यावहारिक मार्गकी ओर, समस्याओंके शान्तिपूर्ण समाधानकी ओर था। राज्यके प्रति उसकी प्रवृत्ति अनुकूलतापूर्ण थी और वह प्रशासनिक सुधारों-में विश्वास करता था। उसका मार्ग वस्तुतः नैतिकताका मार्ग था। बर्नस्टाइनने मार्क्सके आर्थिक सिद्धान्तमें सुधार किया, जिसके फलस्वरूप राजनीतिक

व्याख्याओंमें भी संशोधन हुए और श्रमिक-आन्दोलनकी कार्यनीतिमें परिवर्तन किये गये।[1]

बर्नस्टाइनका सुधारवादी उदार दृष्टिकोण उन लोगोंके दृष्टिकोणके सर्वथा विपरीत था, जो विध्वंसात्मक परिवर्तन अथवा चमत्कारिक क्रान्तिमें विश्वास करते थे।

संशोधनवादी विचारधाराके अन्य प्रमुख विचारक थे—टुगन बर्नोस्की, जेनजार्स सोम्बार्ट और वेंडेटो क्रोसे।

मार्क्सवादकी आलोचना

संशोधनवादियोंको मार्क्सका मूल्यका श्रम-सिद्धान्त, अतिरिक्त मूल्यका सिद्धान्त और इतिहासकी भौतिकवादी व्याख्या अस्वीकार थी। पूँजीवादके तत्काल विनाशकी मार्क्सकी सम्भावनाको भी वे गलत मानते थे।

संशोधनवादियोंका कहना था कि मूल्यका श्रम-सिद्धान्त स्वयं मार्क्सने बहुत बादमें सोच निकाला। पहले सोचा होता, तो कम्युनिस्ट-घोषणापत्रमें उसकी चर्चा की ही जाती। पर ऐसा है नहीं। यह सिद्धान्त भ्रामक है। संशोधनवादी सीमान्त उपयोगिताके अथवा मूल्यके माँग और पूर्तिके सिद्धान्तकी ओर झुके हुए थे।

इसी प्रकार वे अतिरिक्त मूल्यके सिद्धान्तके औचित्यको भी नहीं मानते थे। बर्नस्टाइनका कहना था कि 'अतिरिक्त मूल्यकी धारणा सही भी हो सकती है, गलत भी; पर उससे अतिरिक्त श्रमके अनुभवपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अतिरिक्त श्रम तो हम रोज ही देखते हैं। हाथ कंगनको आरसी क्या!'[2]

भौतिकवादकी ऐतिहासिक व्याख्या भी संशोधनवादियोंको अस्वीकार है। वे कहते हैं कि इतिहासकी वास्तविक गतिकी व्याख्या करनेमें मार्क्सकी व्याख्या असफल सिद्ध होती है। यह कहना गलत है कि इतिहासपर केवल आर्थिक कारणोंका ही प्रभाव पड़ता है। नैतिकता, शिक्षा, राजनीति एवं सामाजिक स्थितियाँ भी देशोंके उत्थान-पतनकी प्रगतिको प्रभावित किया करती हैं। उन सबका परस्पर प्रभाव पड़ता रहता है। मार्क्सका दृष्टिकोण एकांगी और गलत है।[3]

संशोधनवादी विचारकोंने मार्क्सकी इस धारणाको भी स्वीकार करनेसे इनकार कर दिया कि पूँजीवादका विनाश होनेमें अब कोई विलम्ब नहीं है। मार्क्स समझता था कि भारी आर्थिक संकट तुरत आ रहे हैं और वे संकट श्रमिकोंको सामूहिक रूपसे सक्रिय बना देंगे। जनता भी कठिनाइयोंसे संत्रस्त

---

१ अशोक मेहता : डेमोक्रेटिक सोशलिज्म, पृष्ठ ३०-३१।

२ जीद और रिस्ट : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन्स, पृष्ठ ४७६।

३ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ ४८०।

होकर मैदानमें उतरनेको तैयार हो जायगी। अन्ततः श्रमिक विजय प्राप्त कर लेंगे। पूँजीवादी व्यवस्थाके विध्वंसका यह अवसर उस समय आवेगा, जब पूँजीवादरूपी जर्जर अण्डेमें समाजवादरूपी बच्चा तैयार हो जायगा। वह महान् परिवर्तनका क्षण होगा, जब मार्क्सके शब्दोंमें 'दूसरोंको सम्पत्तिहीन करनेवाले स्वयं सम्पत्तिसे हाथ धो बैठेंगे!' समाज निरन्तर विकसित होगा, सामाजिक शक्तियाँ उत्तरोत्तर सशक्त एवं परिपक्व होंगी और अन्ततः एक दिन जब यह संकट चरम सीमापर पहुँच जायगा, तब एक महान् विप्लवके द्वारा समाज छलाँग मारकर नयी व्यवस्थामें पहुँच जायगा!—मार्क्सकी आँखोंके सामने क्रान्तिका यही चित्र था।

मार्क्सका यह टाइम-टेबुल गलत हो गया, तो जर्मनीके सोशल डेमोक्रेटोंने उसमें संशोधन करना शुरू कर दिया।[1] उन्होंने कहा कि मार्क्सने पूँजीके संचयनकी जो पद्धति बतायी थी, वह पूरी नहीं पड़ी। उन्नीसवीं शताब्दीके उत्तरार्द्धमें बड़े उद्योगोंकी अपेक्षा छोटे उद्योग ही अधिक मात्रामें विकसित हुए। संयुक्त पूँजीवाली ज्वाइंट स्टाक कम्पनियोंने भारी संख्यामें लोगोंको सम्पत्तिमें भागीदार बनाया। सहकारिताने श्रमिकको छोटा-मोटा पूँजीपति बना दिया। ले-देकर यह हुआ कि मध्यम-वर्गके बीचसे ही छोटे उपक्रमी, भू-स्वामी और छोटे उद्योगपति उत्पन्न हो गये। श्रमिकोंका जीवन-स्तर ऊँचा उठा। इन सब बातोंके फलस्वरूप जो आर्थिक संकट आनेवाले थे, वे टल गये। इस प्रकार मार्क्सकी भविष्यवाणी गलत सिद्ध हुई कि पूँजीवादका विध्वंस होनेमें अब रत्तीभरकी देर नहीं है। अब लोग आर्थिक संकटोंको भूकम्प जैसा तीव्र नहीं मानते कि उनके आते ही तहलका मच जायगा। वे अब उनके लेखे समुद्रकी लहरोंकी भाँति होते हैं, जिनके उतार-चढ़ावकी, जिनके ज्वार-भाटेकी पहलेसे कल्पना की जा सकती है।[2]

मार्क्स जहाँ यह मानता था कि संघर्ष पूँजीपतियों और श्रमिकोंके बीचमें है, वहाँ संशोधनवादी मानते थे कि संघर्षकी नोकझोंक तो कई जगहोंपर होती रहती है। जैसे, बड़े और छोटे पूँजीपतिके बीच; एक उद्योग और दूसरे उद्योगके बीच, कुशल और अकुशल श्रमिकके बीच।

नीति और पद्धति

संशोधनवादी विचारकोंकी धारणा थी कि मार्क्सवाद जिस क्रान्तिका इतना डंका पीटता है, वह क्रान्ति तो असम्भव है, पर श्रमिकोंका आन्दोलन तो चलना ही चाहिए। शान्तिपूर्ण एवं वैध उपायोंसे श्रमिकोंको अपने लक्ष्यकी प्राप्तिके प्रयत्नमें जुटना चाहिए। पूँजीवादके अभिशापोंकी तीव्र प्रतिक्रिया हो रही है और

---

१ अशोक मेहता : डेमोक्रेटिक सोशलिज्म, पृष्ठ ३३।

२ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ ४८०।

तदनुकूल सर्वत्र कानून बनाये जा रहे हैं। श्रमिक-आन्दोलनको इस बातकी चेष्टा करनी चाहिए कि यह कार्य और अधिक तीव्रतासे सम्पन्न हो।

संशोधनवादियोंने जर्मन सोशल डेमोक्रेटिक पार्टीके माध्यमसे अपना यह आन्दोलन चलाया। उन्होंने हिंसाकी निन्दा करते हुए वैधानिक मार्गसे समाजमें अधिकाधिक लोकतंत्र एवं आर्थिक सुधार लानेका प्रयत्न किया। वे लोकतंत्रात्मक पद्धतिसे समाजको विकसित करनेमें और समाजवाद लानेमें विश्वास करते थे। वे विधान द्वारा भूमि-सुधार करनेके पक्षपाती थे, जिससे कृषक भू-स्वामी बन सकें, उद्योगोंपर जनताका सहकारी स्वामित्व स्थापित हो सके और राजनीतिक दृष्टिसे जागृत श्रमिक-वर्ग नागरिक शासनकी बागडोर अपने हाथमें ले सके।

बर्नस्टाइन आदि संशोधनवादियोंके प्रयत्नका परिणाम यह हुआ कि जर्मनीका श्रमिक-आन्दोलन दो पक्षोंमें विभाजित हो गया। एक पक्ष मार्क्सवादी था, जो क्रान्ति द्वारा समाजवादकी स्थापनाके लिए प्रयत्नशील रहा, अपर पक्ष मार्क्स-विरोधी था, जो लोकतंत्रात्मक एवं शान्तिपूर्ण वैध मार्ग द्वारा समाजवादकी स्थापना करना चाहता था।

संशोधनवादियोंने अत्यन्त ही वैज्ञानिक एवं तर्कसंगत युक्तियाँ देकर मार्क्सवादका खण्डन किया। बर्नस्टाइन इस कार्यके लिए सबसे अधिक प्रख्यात है।[1] कोटस्की उसके तर्कोंका निरन्तर १४ वर्षोंतक उत्तर देता रहा, पर उसकी दलीलें लचर थीं। वह कहता था कि बर्नस्टाइन आदि 'मुक्त द्वारको और अधिक मुक्त करना चाहते हैं' और 'मार्क्सका यह पर्यवेक्षण तो सही था कि घटनाएँ किस दिशामें मोड़ ले रही हैं, उसने गलती यही की कि वह घटनाओंकी गतिका ठीकसे निर्णय नहीं कर सका।'[2]

संघ-समाजवादी विचारधारा

उन्नीसवीं शताब्दीके अन्तिम चरणमें फ्रांसमें संघ-समाजवादी विचारधाराका विकास हुआ। श्रमिकोंका संघवादका यह आन्दोलन मार्क्सकी अपेक्षा प्रोदोंके स्वातंत्र्यवाद और अराजकतासे विशेष प्रभावित था।[3]

अराजकता तो फ्रांसकी परम्परा-सी ही रही है। बकुनिन, रेक्लस, जेनग्रेव जैसे प्रमुख अराजकतावादियोंने अराजकतावादी विचारधाराको पुष्पित-पल्लवित किया। बकुनिनसे प्रत्यक्ष भेंट न होनेपर भी रूसी राजकुमार क्रोपाटकिन बकुनिनका उत्तराधिकारी माना जाता है।[4]

---

१ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ ४७६–४८०।

२ अशोक मेहता : डेमोक्रेटिक सोशलिज्म, पृष्ठ ३१।

३ हेने : हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ ४९७।

४ जीद और रिस्ट : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन्स, पृष्ठ ६१६।

क्रोपाटकिन

प्रसिद्ध अराजकतावादी पीटर अलेक्सेविच क्रोपाटकिनका जन्म रूसके एक सरदार परिवारमें हुआ। अपने गुरु बकुनिनकी भाँति उसका आरम्भिक जीवन सेनामें बीता। भूगोल और प्राकृतिक विज्ञानमें उसकी विशेष रुचि थी। पहले वह डारविनके सिद्धान्तोंका पुजारी था। उसने कई ग्रन्थ लिखे। सन् १८७१ में उसपर हेगेलके विचारोंका प्रभाव पड़ा।
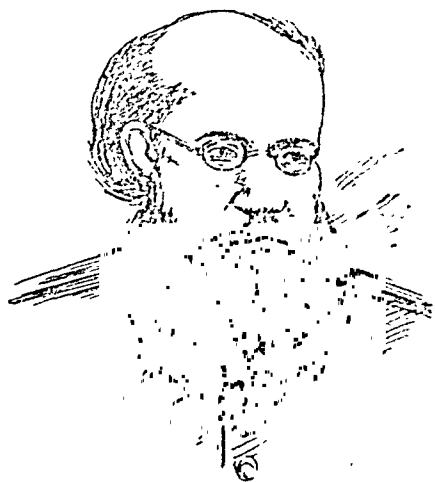
"जाओ, जनतामें बिखर जाओ, उसके भीतर जाकर रहो, उसे शिक्षित बनाओ और उसका विश्वास प्राप्त करो"—इस नारेसे क्रोपाटकिन इतना प्रभावित हुआ कि एक शामको भोजनके उपरान्त वह शीतमहलसे बाहर निकला, उसने अपने रेशमी कपड़े उतार फेंके, मोटे सूती कपड़े और किसानोंके-से जूते पहन लिये और चल दिया गरीब मजदूरोंके मुहल्लेकी ओर। वह उनके बीच बसकर उन्हें शिक्षित करनेमें लगा था कि अचानक एक दिन भूगोल सोसाइटीके दफ्तरसे लेख पढ़कर बाहर निकलते ही वह राजद्रोहके अपराधमें गिरफ्तार कर लिया गया। वह सेंट पीटर और सेंट पालके किलेमें बन्द रखा गया। सन् १८७६ में वह भागकर इंग्लैण्ड पहुँचा। सन् १८८४ में लियोन्सके अराजक विद्रोहमें शामिल होनेके सन्देहमें वह फिर पकड़कर क्लेयरवाक्समें ३ सालतक कैद रखा गया। बादमें वह इंग्लैण्डमें तबतक रहा, जबतक रूसमें बोल्शेविक क्रान्ति नहीं हो गयी। उसके उपरान्त वह अपने देश लौटा।

हाँ, था वह अपने ढंगका कैदी, जिसे रूसमें जेलमें रहते समय सेंट पीटर्सबर्गकी भूगोल सोसाइटीके पुस्तकालयका और फ्रांसमें अर्नेस्ट रेनन और पेरिसकी विज्ञान अकादमीके पुस्तकालयोंका भरपूर उपयोग करनेकी सुविधा प्राप्त थी।

प्रमुख रचनाएँ

क्रोपाटकिन रूसकी क्रान्तिके जन्मदाताओंमेंसे था। वह विश्वके सर्वश्रेष्ठ विचारकोंमें तो अपना स्थान रखता ही है, व्यावहारिक क्रान्तिकारियोंमें भी वह अग्रगण्य रहा। उसकी कितनी ही महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं, जिनसे आज भी लोगों-

को प्रेरणा मिलती है। उनमें प्रमुख हैं—पैरोल्स दाँ रिवोल्टे (सन् १८८४), इन रशन एण्ड फ्रेंच प्रिजन्स (सन् १८८७), ला कांक्वेट टू पेन (सन् १८८८), दि स्टेट, इट्स पार्ट इन हिस्ट्री (सन् १८९८), फील्ड्स, फैक्टरीज एण्ड वर्कशाप्स (सन् १८९९), मैमायर ऑफ ए रेवोल्यूशनिस्ट (सन् १९००), म्यूचुअल एड (सन् १९०२)।

प्रमुख आर्थिक विचार

क्रोपाटकिनने समाजकी स्थितिका गहरा अध्ययन किया था। आर्थिक वैषम्य और रोटीके सवालपर विचार करते हुए वह कहता है :

हमारा सभ्य समाज धनवान् है, फिर अधिकांश लोग गरीब क्यों हैं ? सर्वसाधारणके लिए वही असंख्य यंत्रणाएँ क्यों ? जब चारों ओर पूर्वजोंकी कमाई हुई सम्पत्तिके ढेर लगे हुए हैं, और जब उत्पत्तिके इतने जबरदस्त साधन मौजूद हैं कि कुछ घण्टे रोज मेहनत करनेसे ही सबको निश्चित रूपसे सुख-सुविधा प्राप्त हो सकती है, तो फिर अच्छीसे अच्छी मजूरी पानेवाले श्रमजीवीको भी कलकी चिन्ता क्यों बनी रहती है ?

समाजवादी कहते हैं कि यह दारिद्र्य और चिन्ता इस कारण है कि उत्पत्तिके सब साधन—जमीन, खानें, सड़कें, मशीनें, खाने-पीनेकी चीजें, मकान, शिक्षा और ज्ञान—थोड़ेसे आदमियोंने हस्तगत कर लिये हैं। इसकी बड़ी लम्बी दास्तान है। वह लूट, देश-निर्वासन, लड़ाई, अज्ञान और अत्याचारकी घटनाओंसे परिपूर्ण है। दूसरा कारण यह भी है कि प्राचीन स्वत्वोंकी दुहाई देकर ये थोड़ेसे लोग मानवीय परिश्रमके दो-तृतीयांश फलपर कब्जा जमाये बैठे हैं। तीसरा कारण यह है कि इन मुट्ठीभर लोगोंने सर्वसाधारणकी ऐसी दुर्दशा कर दी है कि उन बेचारोंके पास एक महीने क्या, एक सप्ताहभरके गुजारेका सामान भी नहीं रहता, इसलिए ये लोग उन्हें काम भी इसी शर्तपर दे सकते हैं कि जिससे आयका बड़ा हिस्सा इन्हींको मिले। चौथा कारण यह है कि ये थोड़ेसे लोग बाकी लोगोंको उनकी आवश्यकताके पदार्थ भी नहीं बनाने देते और उन्हें ऐसी चीजें तैयार करनेको विवश करते हैं, जो सबके जीवनके लिए जरूरी न हों, बल्कि जिनसे एकाधिकारधारियोंको अधिकसे अधिक लाभ हो।

एकाधिकारकी मौलिक दुहाईसे पैदा हुए परिणाम सारे सामाजिक जीवनमें व्याप्त हो जाते हैं। जब उत्पत्तिका साधन मनुष्योंका सम्मिलित परिश्रम है, तो पैदावार भी सबकी संयुक्त सम्पत्ति ही होनी चाहिए। व्यक्तिगत अधिकार न न्याय्य है, न उपयोगी। सब वस्तुएँ सबकी हैं। सब चीजें सब मनुष्योंके लिए हैं, क्योंकि सभीको उनकी जरूरत है, सभीने उन्हें बनानेमें अपनी शक्तिभर परिश्रम किया है। किसीको भी किसी भी चीजको अपने कब्जेमें करके यह कहनेका

अधिकार नहीं है कि "यह मेरी है, तुम्हें इससे काम लेना हो, तो तुम्हें अपनी पैदावारपर मुझे कर चुकाना होगा।" सारा धन सबका है। सुख पानेका सबको हक है और वह सबको मिलना चाहिए।[१]

निःसम्पत्तीकरण : क्यों और क्या ?

क्रोपाटकिन कहता है :

सबके सुखका उपाय है—निःसम्पत्तीकरण। विपुल धन, नगर, भवन, गोचर भूमि, खेतीकी जमीन, कारखाने, जल और स्थल-मार्ग तथा शिक्षा—व्यक्तिगत सम्पत्ति न रहें और एकाधिकारप्राप्त लोग इनका स्वेच्छापूर्वक उपयोग न कर सकें।

राथ्स चाइल्डके बारेमें कहा जाता है कि जब उसने सन् १८४८ की क्रान्तिके कारण अपनी धन-दौलतको खतरेमें देखा, तो उसे एक चाल सूझी। उसने कहा : "मैं मुक्तकण्ठसे स्वीकार करता हूँ कि मेरी सम्पत्ति दूसरोंको गरीब बनाकर इकट्ठी हुई है। यदि कल ही मैं उसे यूरोपके करोड़ों निवासियोंमें बाँट दूँ, तो हरएकके हिस्सेमें तीन रुपयोंसे अधिक नहीं आयेंगे। ठीक है, अब जो कोई मुझसे माँगने आयेगा, उसीको तीन रुपया दे दूँगा।" यह घोषणा करके वह पूँजीपति सदाकी भाँति चुपचाप बाजारमें घूमने निकल पड़ा। तीन-चार राहगीरोंने अपना-अपना हिस्सा माँगा। उसने उलाहनेकी हँसीके साथ रुपये दे दिये। उसकी युक्ति चल निकली और उस सेठका धन सेठके ही घरमें बना रहा।

ठीक यही दलील मध्यम श्रेणीके चंट लोग देते हैं। वे कहा करते हैं : "अच्छा, आप तो निःसम्पत्तीकरण चाहते हैं न? यानी, यह कि लोगोंके लबादे छीनकर एक जगह ढेर लगा दिया जाय और फिर हरएक आदमी अपनी मर्जीसे उठा ले जाय और अच्छे-बुरेके लिए लड़ता रहे?"

परन्तु ऐसे मजाक जितने असंगत होते हैं, उतने ही शरारतभरे भी होते हैं। हम नहीं चाहते कि लबादोंका नया बँटवारा किया जाय, वैसे सरदीमें ठिठुरनेवालोंका तो उसमें फायदा ही है। हम धनिकोंकी दौलत भी नहीं बाँट देना चाहते हैं। पर हम ऐसी व्यवस्था अवश्य कर देना चाहते हैं कि जिससे संसारमें जन्म लेनेवाले प्रत्येक मनुष्यको कमसे कम ये सुविधाएँ तो प्राप्त हो ही जायँ—पहली यह कि वह कोई उपयोगी धंधा सीखकर उसमें प्रवीण हो सके और दूसरी यह कि वह बिना किसी मालिककी आज्ञाके और बिना किसी भू-स्वामीको अपनी कमाईका अधिकांश भाग अर्पण

---

१ क्रोपाटकिन : रोटीका सवाल, पृष्ठ ५-१६।

किये स्वतंत्रतापूर्वक अपना रोजगार कर सके। रही बात उस सम्पत्तिकी, जो धनवानोंके कब्जेमें है, सो वह सम्मिलित उत्पादनके संगठनमें काम आयेगी।[1]

धनवानोंकी दौलत आती कहाँसे है? इस दौलतकी शुरुआत गरीबोंकी गरीबी-से ही होती है।...चाहे वर्तमान समयको लीजिये, चाहे मध्यकालको, कृषककी दरिद्रता भू-स्वामीके वैभवकी जननी रही है।...धनवान् होनेका रहस्य संक्षेपमें यह है कि भूखों और दरिद्रोंको तलाश करके उन्हें दो आने रोजकी मजदूरीपर रख लो और कमा लो उनके द्वारा तीन रुपया रोज! इस तरह जब धन इकट्ठा हो जाय, तो राज्यकी सहायतासे कोई अच्छा सट्टा करके पूँजी बढ़ा लो।...जबतक बचतके पैसे भूखोंका खून चूसनेके काममें न लगाये जायँ, तबतक खाली बचतसे दौलत जमा नहीं हो सकती।...छोटी-बड़ी किसी भी तरहकी दौलतका मूल ढूँढ़िये, भले ही उस धनकी उत्पत्ति व्यापारसे हुई हो, भले ही उद्योग-धन्धे या भूमिसे हुई हो, सर्वत्र आप यही देखेंगे कि धनवानोंका धन दरिद्रोंकी निर्धनतासे पैदा होता है।

निःसम्पत्तीकरणसे हम किसीसे उसका कोट नहीं छीनना चाहते, पर हम यह अवश्य चाहते हैं कि जिन चीजोंके न होनेसे मजदूर अपना रक्त-शोषण करनेवालोंके शिकार आसानीसे बन जाते हैं, वे चीजें उन्हें जरूर मिल जायँ। किसीको किसी चीजकी कमी न रहे और एक भी मनुष्यको अपनी और अपने बाल-बच्चोंकी आजीविका मात्रके लिए अपना बाहुबल बेचना न पड़े। निःसम्पत्तीकरणसे हमारा यही अर्थ है।[2]

कानूनकी व्यर्थता

क्रोपाटकिनके मतसे मानव-जातिपर शासन करनेवाले कानून इन तीन श्रेणियों-में आते हैं—सम्पत्तिकी रक्षाके कानून, सरकारकी रक्षाके कानून और व्यक्तिकी रक्षाके कानून। यदि हम तीनोंका पृथक्-पृथक् विश्लेषण करें, तो हम देखेंगे कि वे पूर्णतः व्यर्थ हैं और इतना ही नहीं, हानिकर भी हैं।[3]

संघ-समाजवाद

संघ-समाजवादी लोग किसी भी प्रकारकी सत्तामें विश्वास नहीं करते थे। सत्ताको, सरकारको वे अत्याचारका निकृष्टतम प्रतीक मानते थे। उनकी धारणा थी कि सत्ताका पूर्णतः मूलोच्छेदन होना चाहिए। वे व्यक्तिगत सम्पत्तिको समाप्त करना चाहते थे और व्यक्तिके पूर्ण स्वातंत्र्यपर सर्वाधिक बल देते थे। वे मानते

---

१ क्रोपाटकिन : रोटीका सवाल, पृष्ठ २२-४२।

२ क्रोपाटकिन : रोटीका सवाल, पृष्ठ ४३-४६।

३ क्रोपाटकिन : मेमायर्स ऑफ ए रेवोल्यूशनिस्ट, पृष्ठ २३६।

थे कि समाजका विकास स्वतः स्वाभाविक रीतिसे होता है, पर राज्यकी स्थापना कृत्रिम रूपसे होती है और वह वर्गहितोंकी ओर सतत ध्यान रखता है। अतः ये लोग इस पक्षके थे कि मुक्तरूपसे सब लोग मिलें और आर्थिक मालके उत्पादन एवं वितरणका विवरण प्रस्तुत करें। अराजकतावादी समाजमें सब लोग प्रेम, सद्भाव एवं पारस्परिक सहायताकी दृष्टिसे आपसमें अपना संघटन करेंगे। एक संघ उत्पादकोंका होगा, जो कृषि, उद्योग, शिल्प आदिका उत्पादन करेगा। दूसरा संघ खाद्य पदार्थ, मकान, स्वास्थ्य, सफाई, विद्युत् आदिकी व्यवस्था करेगा। दोनों संघ परस्पर विचार-विनिमय करके सारी समस्याओंका निराकरण करेंगे। इस समाजका संघटन क्रान्तिके उपरान्त होगा। इसमें पूँजीपति-वर्ग और राज्य-संस्थाकी समाप्ति करके नये सिरेसे समाजका नवसंघटन होगा।[1]

विचारधाराकी विशेषताएँ

अराजकताकी यह विचारधारा संघ-समाजवादका मूल आधार थी। राज्य-सत्ता और व्यक्तिगत सम्पत्तिके विरोध तथा व्यक्तिगत स्वातंत्र्यकी नींवपर खड़ी इस विचारधाराका उद्भव फ्रांसमें उस समय हुआ, जब फ्रांसके उद्योग अत्यन्त निर्बल स्थितिमें थे और आत्मावलम्बन श्रमिकोंके लिए अनिवार्य हो उठा था। क्रान्तिका इतिहास उसे क्रान्तिके लिए उकसा रहा था, वर्गहीन समाजका मार्क्स-वादका नारा उसे उस दिशामें ले जा रहा था, पर नैतिकता उसका सम्बल थी। राज्यकी समाप्ति उसे अभीष्ट थी, पर व्यक्ति-स्वातंत्र्यकी बलि देकर नहीं। अवसर-वादी राजनीतिज्ञोंने कितने ही श्रमिक-आन्दोलनोंके प्रति विश्वासघात किया था, अतः संघ-समाजवादी इस विषयमें राजनीतिज्ञोंसे बहुत चौकन्ने थे और अपने ही पैरोंपर खड़े होनेके पक्षपाती थे।

नीति और पद्धति

पूँजीवादके भयंकर अभिशापसे त्रस्त संघ-समाजवादी लोग राज्यको तिरस्कारकी वस्तु मानते थे, उसे उत्पीड़न करनेवाला यंत्र कहते थे, राजनीतिक दलोंको वर्ण-संकर बताते थे। उनकी मान्यता थी कि राजनीतिक दलोंमें सभी प्रकारके लोग रहते हैं। उनकी एकता केवल विचार एवं सिद्धान्तकी ऊपरी एकता होती है, भीतरी नहीं। पर श्रमिक-संघ वर्ग-संघटन होता है, अतः वह बुनियादी एकता-का आधार होता है। स्वेच्छामूलक साहचर्यपर आधृत राजनीतिक दल नाजुक संगठन होता है, जब कि श्रमिक-संघका निर्माण आवश्यकताके आधारपर होता है और उसके लिए आन्तरिक बाध्यता होती है। संघ-समाजवादी विचारकों-की धारणा थी कि वर्ग-संघर्षपर आधृत क्रान्तिकारी श्रमिक-आन्दोलन वर्गगत

---

१ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ ६१०–६३६।

आधारपर ही चलाया जा सकता है। वह न तो सुधारों और चुनावोंसे प्राप्त किया जा सकता है, न गैस और पानीके रास्तेसे। उसका एकमात्र मार्ग होगा—लड़ाकू वर्ग-संगठनों, ट्रेड यूनियनोंका संगठन और एकमात्र लक्ष्य होगा—आम हड़ताल। उन्होंने सबसे पहले आम हड़तालकी बात सोची, जो देशको सर्वथा पंगु बना देती है। यह आघात इतना तीव्र एवं शक्तिशाली होता है कि श्रमिकोंके शत्रु अस्त्र डालकर चिल्ला उठते हैं—'हम पराजित हो गये!' संघ-समाजवादी मानते हैं कि विचूर्णित एवं पराजित शत्रु छिन्न-भिन्न हो जायँगे और तब अर्थव्यवस्था एवं प्रशासनपर श्रमिकोंका नियंत्रण हो जायगा और राजनीतिज्ञोंको ठोकर मारकर निकाल दिया जायगा।[1]

वामपक्षी संशोधनवाद

संघ-समाजवादी विचारधाराका सबसे प्रमुख विचारक है जार्ज सोरेल (सन् १८४७–१९२२)। वह कहता है कि संघ-समाजवाद 'वामपक्षी संशोधनवाद' है। उसका दावा था कि वह मार्क्सवादको उसीकी पद्धतिसे अनावश्यक तत्त्वोंसे शुद्ध करके उसके सारतत्त्व वर्ग-संघर्षको खोज रहा है। सोरेलने संघ-समाजवादको वैचारिक ही नहीं, प्रत्यक्ष कार्रवाईका, व्यावहारिक दर्शन बना दिया। श्रमिकोंमें स्वतःस्फूर्ति लानेके लिए उसने उत्साहको, सहजोपलब्धिको आधार बनाकर आम हड़तालसे उसका सम्बन्ध जोड़ दिया। इस विचारधाराके दो विचारक और भी प्रख्यात हैं—फर्डिनैण्ड पोलेनशियर (सन् १८५६–१९०१) और गुस्ताव हार्वे (सन् १८७१–१९२२)।

संघ-समाजवादी विचारधाराने राज्य-समाजवादका और विधायक पद्धतिसे समाजवाद लानेके प्रयत्नका तीव्र विरोध करते हुए संघर्षपर सबसे अधिक बल दिया। सर्वहारा-वर्गमें ही आन्दोलनको सीमित करनेकी उसकी प्रवृत्ति, वर्ग-संघर्ष और हिंसाकी पद्धति, क्रान्तिमें विश्वास और राज्य-सत्ताका विरोध जहाँ मार्क्सवादसे मिलता-जुलता है, वहाँ उसका नैतिकतापर जोर, सामूहिकताके स्थानपर व्यक्तिवादका समर्थन, राजनीतिक कार्रवाईका और किसी भी प्रकारकी सत्ताका तीव्र विरोध और लक्ष्य-पूर्तिके लिए आम हड़तालका अस्त्र उसे मार्क्सवादसे पृथक् कर देता है। इसी दृष्टिसे प्रोफेसर जीदने संघ-समाजवादको 'नव-मार्क्सवाद' की संज्ञा दी है।[2]

संघ-समाजवादने श्रमिक संघोंके आन्दोलनको अत्यधिक प्रभावित किया है। श्रेणी समाजवादी आन्दोलनपर भी उसका प्रभाव पड़ा है। फ्रांसमें तो यह

---

१ अशोक मेहता : डेमोक्रेटिक सोशलिज्म, पृष्ठ ३६।
२ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ ४८०–४८४।

विचारधारा पल्लवित हुई हीः स्पेन, इटली और अमरीकापर भी इनका प्रभाव दृष्टिगत होता है।

फेबियनवादी विचारधारा

फेबियनवादकी विचारधाराका विकास इंग्लैण्डमें हुआ। गाडविन और हाल, थामसन और ओवेनके इंग्लैण्डने उनके बाद सत्तर सालके इतिहासमें समाजवादकी एक भी योजना प्रस्तुत नहीं की। केवल जान स्टुअर्ट मिलपर तो उसकी थोड़ीसी छाप पड़ी, पर यों इंग्लैण्ड इस विचारधारासे निर्लिप्त-सा ही रहा। मार्क्सकी 'दास कैपिटल' की रचना भी इंग्लैण्डमें हुई। उसके कारण विश्वके विभिन्न अंचलोंमें समाजवादी विचार फैलने और विकसित होने लगे, सक्रिय होने लगे, पर इंग्लैण्ड-पर उनका कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। सन् १८८१ में वहाँ सबसे पहले हिण्डमैनने 'सोशल डेमोक्रेटिक फेडरेशन' की स्थापना की। उसीके बाद सन् १८८३ में फेबियन समाजवादी विचारधाराका उदय हुआ।[1]

फेबियन समाजवाद उग्र नहीं, नरम था। फेबियन कछुआ मार्क्सवादी खरगोशको पछाड़ देनेकी आशा करता है। यह विचारधारा ऐतिहासिकसे अधिक विश्लेषणात्मक है। इसके संस्थापकोंमें हैं—जार्ज बर्नर्ड शा, वेब-दम्पति, ग्राहम वैलेस, ऐनी बेसेण्ट, एच० जी० वेल्स जैसे महान् बुद्धिवादी लोग। रैमजे मेकडानेल्ड, पैथिक लारेन्स, केर हार्डी, जी० डी० एच० कोल जैसे प्रख्यात व्यक्ति भी फेबियनवादके उन्नायकोंमें रहे हैं। यह संस्था सदासे अ-राजनीतिक और मुख्यतः बुद्धिवादी रही है। मध्यम-वर्गके लोग पुस्तकों और पत्रिकाओं द्वारा समाजवादका प्रचार करते रहे हैं।

नीति और पद्धति

फेबियनवादकी नीति नरम रही है, पद्धति सीधी-सादी, शान्तिपूर्ण और वैधानिक। ये विचारक लोक-शिक्षणके पक्षपाती हैं। इस विचारधाराका अपना कोई व्यापक दर्शन या विश्लेषण नहीं। इसके संस्थापकोंने आर्थिक जीवनपर लागू होनेवाला एक ढाँचा स्वीकार किया। शेष बातोंपर सब सदस्य स्वतंत्र हैं। मूलतः यह बौद्धिक संगठनमात्र है। ब्रिटेनके मजदूर दल और स्वतंत्र मजदूर दलपर इस विचारधाराका भारी प्रभाव पड़ा है।

फेबियनवादी मानते हैं कि राजनीतिक लोकतंत्रके विकासके द्वारा पूँजीवादकी स्वतः समाप्ति हो जायगी। वे प्रत्यक्ष संघर्ष पसन्द नहीं करते। उनकी मान्यता है कि यदि लोक-शिक्षणका कार्य विधिवत् जारी रहे और वैधानिक रीतिसे प्रयत्न चलता रहे, तो धीरे-धीरे समाजवाद आ ही जायगा।

---

1 जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ ६०३।

अर्थ-सिद्धान्त

जिस प्रकार मार्क्सवाद रिकार्डोके मूल्य-सिद्धान्तपर विकसित हुआ है, उसी प्रकार फेबियनवादका अर्थ-सिद्धान्त रिकार्डोके भाटक-सिद्धान्तपर विकसित हुआ है। प्रोफेसर रिस्टने उसे 'रिकार्डोके सिद्धान्तका नवीनतम अवतार' कहा है।[१] जान-स्टुअर्ट मिल और हेनरी जार्जने जिस प्रकार भाटकको अनुचित बताते हुए राज्यसे यह माँग की कि वह उसे करके रूपमें जब्त कर ले, उसी प्रकार फेबियन-वादी कहते हैं कि केवल भूमिके भाटकपर ही नहीं, वह व्यवस्था जीवनके अन्य क्षेत्रोंपर भी—व्याजपर भी, मजूरीपर भी लागू होनी चाहिए। भाटक जिस प्रकार भूमिपर अतिरिक्त आय है, उसी प्रकार व्याज सीमान्त पूँजीपर अतिरिक्त आय है और मजूरी सीमान्त मजदूरकी कार्य-कुशलतापर अधिक कुशल मजदूरकी योग्यताकी अतिरिक्त आय है। व्यक्तिको अच्छे वातावरणमें विकसित होनेका अवसर मिला, यह व्यक्तिगत सम्पत्तिका अप्रत्यक्ष परिणाम है। अतः शासनको भूमि, पूँजी और योग्यतासे होनेवाली सभी अतिरिक्त आयोंका अपहरण कर सरकारी कोषमें संचित कर लेना चाहिए। ऐसा करते रहनेसे अन्तमें व्यक्तिगत सम्पत्तिपर सामूहिक स्वामित्व हो जायगा।[२]

फेबियनवादकी धारणा है कि एकाधिकार रखनेवाले पूँजी-समूहोंपर राज्य अपना नियंत्रण करके उनके लाभको राष्ट्रकी वस्तु बना दे।

फेबियनवादकी विशेषताएँ

फेबियनवादकी प्रमुख विशेषताएँ ये हैं :

अनेक बातोंमें यह विचारधारा मार्क्सवादकी विरोधी है। जैसे—

(१) भौतिकके स्थानपर इसका आधार नैतिक है।

(२) यह वर्ग-संघर्षका विरोध करती है।

(३) मार्क्सवादकी पूँजीके संचयन और संकटकी धारणाके प्रतिकूल ऐसा मानती है कि अनेक वैधानिक मार्गोंसे समाजवादकी ओर प्रगति हो रही है और पूँजीवादपर नियंत्रण लग रहा है।

(४) इसके समाजवादके मुख्य आधार हैं :

१. सार्वजनिक उपयोगिताके कार्योंके लिए करारोपणमें उत्तरोत्तर वृद्धि,

२. राज्यके व्यापार-कार्यका विकास,

३. व्यक्तिगत पूँजीपतियोंपर नियंत्रण,

४. श्रमिकोंकी हित-रक्षाके लिए कानून,

५. व्यक्तिगत उपक्रमोंके स्थानपर राज्यका इस ओर बढ़ना, आदि।

---

१ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ ६१०।

२ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ ६०५।

वेबका कहना है कि 'आज प्रायः सारा व्यापार सरकार या म्युनिसिपैलिटी आदि सार्वजनिक संस्थाओंके हाथमें आ गया है और मध्यस्थकी, उपक्रमी या पूँजीपतिकी समाप्ति हो गयी है। यों बिना संघर्षके ही समाजवाद पनपता जा रहा है। जो उसके शिकार हैं, उनकी भी उसमें स्वीकृति रहती है।'[1]

(५) फेबियनवादियोंका कहना है कि हमारी विचारधारा आंग्ल मस्तिष्ककी उपज है एवं मार्क्सके क्रान्तिकारी मार्गसे विकासवादी मार्गकी उन्नायिका है।

(६) फेबियनवादका मार्ग है—श्रम-कानून, सहकारिता और श्रम-संघोंका विकास तथा उद्योगोंका राष्ट्रीयकरण। मार्क्स इन साधनोंको प्रगतिका चिह्न मानता था। उसकी दृष्टिमें यह समाजवाद नहीं है। फेबियनवादी कहते हैं कि हमारा यह मार्ग ही समाजवाद है।

(७) फेबियनवादने शास्त्रीय पद्धतिके 'उपयोगिता' के सिद्धान्तपर अपना समाजवादका महल खड़ा किया। उसे मार्क्सका केवल सर्वहारा-वर्गका एकांगी अर्थ-सिद्धान्त अस्वीकार है।

(८) फेबियनवाद लोकतंत्रका परिष्कृत रूप है :

एडम बी० उलामका कहना है कि 'बहुत अर्सेतक फेबियन आन्दोलनने ब्रिटिश समाजवादके सामान्य एवं गवेषणाके अधिकारी वर्गका काम किया। अच्छा हो या बुरा, इसने राष्ट्रके अधिकतर लोगोंको सहमत किया कि समाजवाद लोकतंत्रका परिष्कृत एवं तर्कसंगत रूप है।'[2] प्रोफेसर कोल अपनी आत्मकथामें लिखते हैं : 'सबके लिए समान अवसर और सबके लिए रहन-सहनके बुनियादी स्तरके आश्वासनने मुझे समाजवादकी ओर आकृष्ट किया। इसके अतिरिक्त लोकतांत्रिक स्वतंत्रताका एक विश्वास मेरे मस्तिष्कमें क्रमशः विकसित हुआ। मेरे लिए इसका अर्थ यह रहा कि समाजकी व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि मतभेद सहन ही न किया जाय, अपितु उसे प्रश्रय भी दिया जाय।'[3]

ईसाई समाजवादी विचारधारा

समाजवादी विचारधाराके विकासमें ईसाइयोंका भी विशेष स्थान है। मार्क्सके भौतिकवादी समाजवादको ये लोग गलत मानते थे। उसके स्थानपर ये नैतिक, धार्मिक और भावनात्मक विचारोंपर बल देते थे। इनकी धारणा थी कि ईसाई-धर्मके सिद्धान्त यदि समाजमें व्यवहृत होने लगें, तो पूँजीवादकी

---

१ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ ६०८।

२ उलाम : फिलासॉफिकल फाउण्डेशन्स ऑफ इंग्लिश सोशलिज्म, पृष्ठ ७३।

३ जी० डी० एच० कोल : फेबियन सोशलिज्म, पृष्ठ ३१-३२।

समस्याओंका निराकरण हो सकता है। ये लोग पूँजीवादका पूर्णतः विनाश तो नहीं चाहते थे, उसके संशोधनके विशेष इच्छुक थे। आरम्भिक विचारकोंका कोई सिद्धान्त स्पष्ट नहीं था। उत्पादकोंके सहकारी संघटनकी ओर उनका विशेष झुकाव था, श्रमिक संघोंके क्रान्तिकारी संघटनकी ओर नहीं।

इंग्लैण्डमें फ्रेडरिक मारिस और चार्ल्स किंग्सलेने, आस्ट्रियामें कार्ल ल्यूजरने और फ्रांसमें फ्रेडरिक ले प्ले और चार्ल्स जीदने इन विचारोंको विशेष प्रोत्साहन दिया। अमेरिका, स्विट्जरलैण्ड आदिमें भी इस विचारधाराका विकास हुआ।

इंग्लैण्डमें सन् १८५० में श्रमिकोंके हितार्थ एक संस्था खुली और 'क्रिश्चियन सोशलिस्ट' नामक एक पत्र निकला। किंग्सले और मारिसने, जो केम्ब्रिजमें इतिहास और दर्शनके प्राध्यापक थे, इस विचारधाराको विशेष बल दिया। किंग्सले उत्तम वक्ता था और उसने एक समाजवादी उपन्यास 'एण्टन लोक' भी लिखा था। एक दिन लन्दनमें उसने एक धर्मोपदेशमें कहा : 'ऐसी कोई भी समाज-व्यवस्था धर्म और प्रभु ईसाके स्वर्गके साम्राज्यके विरुद्ध है, जिसमें सम्पत्ति थोड़ेसे लोगोंके हाथमें केन्द्रित रहती है और जिसके कारण किसान उस भूमिसे वंचित होते हैं, जो उनके बाप-दादे शताब्दियोंसे जोतते आ रहे हैं!' इस धर्मोपदेशकी बड़ी आलोचना हुई। यों ही मारिसने यह घोषणा कर रखी थी कि हर ईसाईको समाजवादी होना ही चाहिए। पर उसके समाजवादका अर्थ था—सहयोग, सहकार; गैर-समाजवादका अर्थ था—प्रतिस्पर्द्धा।[1]

इन विचारकोंने धर्मके मूल तत्त्वोंका आधार लेकर समाजवादी विचारधाराका विकास किया। इनमें तीव्रता तो नहीं है, पर धर्मकी भावना ओतप्रोत रहनेसे इनकी विचारधारा सर्वसाधारणके निकटतक सरलतासे पहुँच सकी।

प्रो० जीदने कार्लाइल, रस्किन और तोल्स्तोय जैसे महान् विचारकोंकी भी गणना ईसाई समाजवादियोंमें की है। उनकी विचारधाराकी श्रेष्ठता किसीसे छिपी नहीं है।

कार्लाइल

आर्थिक विचारधारापर रस्किन और तोल्स्तोयकी अपेक्षा थामस कार्लाइलका प्रभाव अधिक है।[2] उसकी रचनाओंमें 'फ्रेंच रेवोल्यूशन' (सन् १८३७) और 'हीरोज एण्ड हीरो वर्शिप' विशेष रूपसे प्रख्यात हैं।

---

१ जीद और रिस्ट : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन्स, पृष्ठ ५३५।
२ जीद और रिस्ट : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन्स, पृष्ठ ५८१।

अर्थशास्त्रकी शास्त्रीय विचारधाराकी तीव्रतम आलोचना करनेवाला कार्लाइल राजनीतिक अर्थशास्त्रको 'दुःखद विज्ञान' कहकर पुकारता था। वह शास्त्रीय विचारधारावालोंके 'अर्थशास्त्रीय मानव' (Economic man) का खूब मजाक उड़ाता था और उनके 'आदर्श राज्य' को 'पुलिस सहित अराजकता' (Anarchy plus the police man) कहा करता था। मुक्त-व्यापारकी नीतिकी वह तीव्र शब्दोंमें भर्त्सना करता था।

कार्लाइल कहता है : राजनीतिक अर्थशास्त्र कष्टोंका गम्भीर कृष्णसागर है। वह हमसे सहानुभूति प्रकट करता हुआ कहता है कि मनुष्य इसमें कुछ नहीं कर सकता। उसे चुपचाप बैठकर 'समय और सर्वसाधारण नियम' देखते रहना चाहिए। उसके बाद हमें आत्महत्या कर लेनेकी सलाह न देकर चुपचाप हमसे विदा ले लेता है।[1]

कार्लाइल आलस्य और बेकारीकी कटु आलोचना करता हुआ कहता है कि आजके समाजमें हर आदमीको काम करनेकी जरूरत नहीं है और कुछ आदमी निकम्मे ही पड़े रहते हैं। यह कैसी बात है कि चौपायोंको वह सब उपलब्ध है, जिसके लिए दो हाथवाले तरस रहे हैं और तुम कहते हो कि यह असम्भव है![2]

'तब किया क्या जाय?' इस प्रश्नका उत्तर देते हुए कार्लाइल कहता है : क्षमा करिये, यदि मैं कहूँ कि तुमसे कुछ होनेवाला नहीं है! तुम जरा अपने भीतर देखो और आत्माको खोजो। उसके बिना कुछ नहीं किया जा सकता। आत्माको खोजनेके बाद असंख्य बातें की जा सकती हैं। इसलिए सबसे पहले आत्माको खोजो।[3]

कार्लाइलकी धारणा है कि समाजका सुधार करनेकी अनिवार्य शर्त है—व्यक्तिका सुधार।

रस्किन

जान रस्किनका जन्म ८ फरवरी १८१९ को लंदनमें हुआ। मध्यम श्रेणीके सुशिक्षित परिवारमें। माता-पिता दोनों धर्मात्मा। माँ बचपनसे ही बाइबिलका अमृत अपने दूधके साथ उसे पिलाती रही। रस्किनपर उसका आजीवन असर बना रहा। उसकी आरम्भिक शिक्षा-दीक्षा स्कूलमें नहीं हुई, माँके द्वारा घरपर ही हुई। सन् १८३७ में वह आक्सफोर्डमें भरती हुआ। वहाँसे सन् १८४२ में वह स्नातक बना।

---

१ कार्लाइल : चार्टिज्म।

२ कार्लाइल : पास्ट एण्ड प्रेजेण्ट, अध्याय ३।

३ कार्लाइल : पास्ट एण्ड प्रेजेण्ट, पुस्तक ३, भाग ४।

रस्किन बचपनसे ही था भावुक और कला-प्रेमी। १७ वर्षकी आयुमें एक फरासीसी महिलासे उसका प्रेम हुआ; पर उस महिलाने एक अमीरसे विवाह कर लिया, जिसके कारण रस्किनको बड़ी निराशा हुई। सन् १८४८ में उसने कुमारी ग्रेसे विवाह किया। पर वह फैशनपरस्तीकी कायल निकली, रस्किन एकांत-सेवनका। सन् १८५४ में तलाकमें इस विवाहका दुःखद अन्त हुआ।

सन् १८७० से १८७८ तक रस्किन आक्सफोर्डमें प्रोफेसर रहा। सन् १८८४ में उक्त विश्वविद्यालयने शोध-कार्यके लिए पशुओंकी चीरफाड़की अपनी स्वीकृति दी, इसके विरोधमें रस्किनने त्यागपत्र दे दिया। उसका कहना था कि यह कार्य अमानुषिक है।

रस्किनको विरासतमें अच्छी सम्पत्ति मिली थी, पर उसने उसे मुक्तहस्त होकर गरीबोंको लुटा दिया। विश्वविद्यालय छोड़नेके बाद पुस्तकोंकी रायल्टीकी ही एकमात्र उसकी आमदनी रह गयी थी। सन् १८७१ में माँके देहान्तपर वह लन्दन छोड़कर कोनिस्टनके देहातमें जा बसा और पुष्पोद्यानोंकी अपनी कल्पना साकार करने लगा। जनवरी १९०० में उसका देहान्त हो गया।

प्रमुख रचनाएँ

रस्किनने अनेक पुस्तकें लिखीं। कला, कविता, अर्थशास्त्र और राजनीति-विज्ञान उसके प्रिय विषय थे। उसकी प्रमुख रचनाएँ हैं—दि पोइट्री ऑफ आर्चीटेक्चर (सन् १८३७), माडर्न पेंटर्स (सन् १८४३–१८६०), दि किंग ऑफ दि गोल्डन रिवर (सन् १८५१), दि पोलिटिकल इकॉनॉमी ऑफ आर्ट (सन् १८५७), अनटू दिस लास्ट (सन् १८६०), मुनेरा पलवेरिस (सन् १८६२-६३), सिसेम एण्ड लिलीज (सन् १८६५), दि क्राउन ऑफ दि वाइल्ड ओलिव (सन् १८६६), फोर्स क्लेविजेरा (सन् १८७१–१८८४), प्रासरपिना (सन् १८७५–१८८६), दि आर्ट ऑफ इंग्लैण्ड (सन् १८८३), दि प्लेजर्स ऑफ इंग्लैण्ड (सन् १८८४-८५), प्रेटेरिटा (सन् १८८५) आदि।

रस्किनकी 'अनटू दिस लास्ट' का महात्मा गांधीपर जो आश्चर्यजनक प्रभाव पड़ा है, उसने 'सर्वोदय' के विकासमें अभूतपूर्व कार्य किया है।

प्रमुख आर्थिक विचार

कलाके पुजारी रस्किनने जीवनकी समस्याओंपर अत्यन्त गम्भीरतासे विचार किया है। वह शाश्वत मूल्योंपर ही सबसे अधिक बल देता है।

शिक्षाकी व्याख्या करते हुए रस्किन कहता है : मेरे पास रोज ही ऐसे अनेक पत्र आते हैं, जिनमें माता-पिता इस बातपर जोर देते हैं कि हमारा बेटा ऐसी शिक्षा प्राप्त करे, जिससे वह कोई 'ऊँचा पद' पा सके, शानदार कोट पहन सके, गौरवके साथ किसी भी बड़े आदमीसे मिलनेकी घण्टी बजा सके और अपने घरपर भी वैसी ही घण्टी लगा सके। पर इन माता-पिताओंके मस्तिष्कमें ऐसी कल्पना ही नहीं आती कि ऐसी शिक्षा भी हो सकती है, जिससे मनुष्य अपने जीवनमें वास्तविक प्रगति करता है।[1] जीवनमें सच्ची प्रगति तो उसकी ही मानी जायगी, जिसका हृदय दिन-दिन कोमल होता चलता है, जिसका रक्त दिन-दिन गरम होता चलता है, जिसका मस्तिष्क दिन-दिन प्रखर होता चलता है और जिसकी आत्मा दिन-दिन स्थायी शान्तिकी ओर अग्रसर होती चलती है।[2]

करुणाका विस्मरण

हमने करुणा भुला दी है, यह बताते हुए रस्किन सन् १८६४ के 'डेली टेलीग्राफ' पत्रकी एक 'कटिंग' का हवाला देता है। कहता है—'व्हाइट हार्स टेवर्न, चर्च गेट; स्पाइटलफील्ड्समें एक जाँच हुई कि ५८ वर्षीय माइकेल कालिन्सकी मृत्यु कैसे हुई। दुखिया मेरी कालिन्सने बताया कि वह अपने बेटेके साथ कोन्स-कोर्टमें रहती है। मृत व्यक्ति पुराने बूट खरीद लाता था और तीनों मिलकर उन्हें नया बनाकर बेच देते थे, जिससे थोड़ी-सी आमदनी होती थी। उसीसे वे किसी तरह रोटी, चाय पाते थे और कमरेका भाड़ा (२ शिलिंग सप्ताह) चुका पाते थे। गत सप्ताहांत मृत व्यक्ति अपनी बेंचपरसे उठा और बुरी तरह काँपने लगा। उसने बूट फेंक दिये और कहा : 'मेरे न रहनेपर इन्हें कोई दूसरा बनायेगा। मुझसे अब काम नहीं होता।' घरमें आग नहीं थी। वह बोला : 'मुझे तापनेको मिले, तो मुझे कुछ आराम होगा।' दो जोड़ी बूट लेकर मेरी दूकानपर बेचने गयी। बदलेमें उसे केवल १४ पेंस मिले। दूकानदारने कहा : 'हमें भी तो मुनाफा कमाना है!' वह थोड़ा कोयला, चाय और रोटी खरीद लायी। उसका बेटा सारी रात बैठकर जूते गाँठता रहा, जिससे कुछ पैसा मिल सके। पर शनिवारको सवेरे बूढ़ा चल बसा! इस परिवारको कभी भी खानेको भरपेट नहीं मिला।

'तुम लोग श्रमालय (Work house) में क्यों नहीं गये?'

'हम अपने ही घरमें रहना चाहते थे। अपने घरकी सुविधाओंसे वंचित नहीं होना चाहते थे!'

'क्या सुविधाएँ हैं तुम्हें घरपर?'—कोनेमें जरा-सा भूसा और एक टूटी खिड़की देखकर एक जूरीने पूछा।

---

१ रस्किन : सिसेम एण्ड लिलीज, पृष्ठ ४।

२ वही, पृष्ठ ४५।

गवाह रो पड़ी। बोली : 'एक छोटी-सी रजाई और कुछ छोटी-मोटी चीजें और। मृत व्यक्ति कहता था कि हम श्रमालयमें कभी न जायँगे। गर्मियोंमें हम कभी-कभी एक सप्ताहमें १० शिलिंग मुनाफा कर लेते। उसमेंसे अगले सप्ताहके लिए कुछ बचा लेते। पर सर्दियोंमें हमारी स्थिति बड़ी दयनीय हो जाती है।'

मृतकके पुत्र कोर्नेलियस कोलिन्सने अपनी गवाहीमें बताया कि मैं सन् १८४७ से पिताके काममें हाथ बँटाता हूँ। रातमें हम इतनी देरतक काम करते रहे कि हम अपनी दृष्टि-शक्ति खो बैठे। हमारी हालत दिन-दिन बिगड़ती गयी। पिछले सप्ताह हमारे पास मोमबत्ती खरीदनेको दो पैसे भी नहीं थे!'

मृतकके पास न बिस्तर था, न खानेको। चिकित्साकी भी उसे कोई सहायता न मिल सकी।

फिर भी ये लोग सरकारी श्रमालयमें नहीं गये। अमीरोंको वहाँ सुविधा रहती है, पर गरीबोंको नहीं। वे वहाँ जानेके बजाय बाहर मर जाना पसन्द करते हैं। सरकार उन्हें जो सहायता देती है, वह इतनी अपमानजनक लगती है कि वे उसे लेना पसन्द नहीं करते।

इसलिए मेरा (रस्किनका) कहना है कि हमने करुणा त्याग दी है। किसी भी धर्मांध देशके अखबारोंमें ऐसा हृदयविदारक विवरण छपना असम्भव होता।

जिनके श्रमसे, जिनकी मेहनतसे, जिनकी शक्तिसे, जिनके जीवनसे, जिनकी मृत्युसे तुम जीवित रहते हो, नाना प्रकारके सुख भोगते हो, उन्हें तुम कभी धन्यवादतक नहीं देते। तुम उन्हीं लोगोंका अपमान करते हो, उन्हींकी उपेक्षा करते हो, उन्हींको भूल जाते हो, जो तुम्हारी सारी सम्पत्ति, सारे मनोरंजन, सारी प्रतिष्ठाके मूल कारण हैं। पुलिसमैन, मल्लाह, साधारण मजदूर आदि तुम्हारे लिए कितना खटते हैं, पर तुम प्रशंसाके दो बोल भी उन्हें नहीं देते! कितने कृतघ्न हो तुम![1]

राष्ट्र-निर्माणका कार्यक्रम

रस्किनने 'फोर्स क्लेविजेरा' में राष्ट्र-निर्माणका यह कार्यक्रम दिया है :

१. हर आदमीके लिए शारीरिक श्रम करना अनिवार्य रहे। हमें सेंट पालका यह वचन स्मरण रखना चाहिए कि 'जो काम न करे, वह भोजन न करे।' बाप-दादोंकी कमाईपर गुलछर्रे उड़ाना, उससे दूसरोंकी मेहनत खरीदना और आलसियोंकी तरह पड़े रहना वाहियात तो है ही, अनैतिक भी है। श्रमके बदले में श्रम ही करना उचित है। मृत श्रमपर जीवित रहना वाहियात और परस्पर-विरोधी है। सब लोग सच्चा मानवीय श्रम करें। हवा-पानी जैसी प्राकृतिक

---

१ रस्किन : वही, पृष्ठ ३७-४२।

शक्तियों द्वारा चालित यंत्रोंके सिवा अन्य सभी प्रकारके यंत्रोंका बहिष्कार होना चाहिए। श्रम कलात्मक भी होना चाहिए।

२. हर आदमीके लिए काम रहे। न कोई आलसी रहे, न कोई बेकार। आजके समाजमें बहुत लोग श्रम करते रहते हैं और कुछ लोग काहिलोंकी तरह पड़े रहते हैं। यह विषमता मिटनी चाहिए।

३. श्रमकी मजूरीका आधार माँग और पूर्तिकी कमी-बेशी न रहे। उसके कारण शारीरिक श्रम क्रय-विक्रयकी वस्तु बन जाता है। मजूरी न्यायानुकूल मिलनी चाहिए। आदमी कोई भी काम करे—मजदूरका, सैनिकका, व्यापारीका—पर करे वह सामाजिक हितकी दृष्टिसे। मुनाफा कमाना उसका लक्ष्य न हो। वह यदि अच्छे ढंगसे अपना काम करता है, तो उसे उसका समुचित पुरस्कार मिलना चाहिए। मुनाफाके साध्य और श्रमके साधन रहनेपर ऐसा सम्भव नहीं है।

४. सम्पत्तिके प्राकृतिक साधनों—भूमि, खान और प्रपात—का और यातायातके साधनोंका राष्ट्रीयकरण होना चाहिए।

५. सेवाओंके क्रमानुकूल सामाजिक शासन-तंत्र लागू हो। उसके प्रति कोई भी असन्तोषका भाव न रखे। सब उसका आदर करें।

६. शिक्षणको सर्वोच्च स्थान दिया जाय। शिक्षणका अर्थ केवल पढ़ना-लिखना नहीं है। शिक्षामें इन सद्गुणोंके अधिकतम विकासका प्रयत्न किया जाय—महानताकी भावना, सौंदर्यका प्रेम, अधिकारीके लिए आदर और आत्मत्यागकी उत्कट लालसा।

छलना द्वारा सम्पत्तिका संचय

रस्किनका कहना है कि पुराने जमानेमें लोग डरा-धमकाकर पैसा वसूल करते थे, आज छलना द्वारा करते हैं। पूँजीपति छलना द्वारा ही पूँजी एकत्र करता है। लोगोंके मनमें यह झूठा भ्रम भी जड़ जमाकर बैठा है कि गरीबोंके पैसेका पूँजीपतियोंके यहाँ इकठा हो जाना कोई बुरी बात नहीं। कारण, वह चाहे जिसके हाथमें हो, खर्च होगा ही और फिर वह गरीबोंके हाथमें पहुँच जायगा। डाकू और बदमाशोंकी तरफसे भी यही बात कही जा सकती है। यह तर्क सर्वथा असंगत है।

यदि मैं अपने दरवाजेपर काँटेदार फाटक लगा लूँ और वहाँसे निकलनेवाले हर यात्रीसे एक शिलिंग वसूल करूँ, तो जनता शीघ्र ही वहाँसे निकलना बन्द कर देगी, भले ही मैं कितनी ही दलीलें देता रहूँ कि 'जनताके लिए यह बहुत सुविधाजनक है और मैं जनताके पैसेको उसी तरह खर्च करूँगा, जिस तरह वह खर्च करती!' पर इसके बजाय यदि मैं लोगोंको किसी प्रकार अपने घरके भीतर बुलाऊँ और अपने यहाँ पड़े पत्थर, पुराने लोहे अथवा ऐसे ही किसी व्यर्थके

पदार्थको खरीदनेको फ़सला हूँ, तो मुझे धन्यवाद दिया जायगा कि मैं लोक-कल्याणका कार्य कर रहा हूँ और व्यापारिक समृद्धिमें योगदान करता हूँ। यह समस्या जो इंग्लैण्डके गरीबोंके लिए—सारे संसारके गरीबोंके लिए—इतनी महत्त्वपूर्ण है, सम्पत्ति-शास्त्रके किसी ग्रन्थमें स्पर्शतक नहीं की जाती ![1]

पैसा : सारे अनर्थोंकी जड़

रस्किन मानता है कि जब किसी व्यक्ति अथवा राष्ट्रका लक्ष्य पैसा जुटाना हो जाता है, तो पैसा गलत तरीकेसे जुटाया भी जाता है और गलत तरीकेसे खर्च भी किया जाता है। उसका उपार्जन और भोग—दोनों ही हानिकर होते हैं। वह सारे अनर्थोंकी जड़ बनता है।[2]

पैसा जीवनका लक्ष्य बनाना मूर्खता है। वह पापपूर्ण भी है। सोनेका अम्बार लगानेसे क्या फायदा होनेवाला है ?[3]

तोल्सतोय

'बुराईके साथ सहयोग मत करो'—इस सिद्धान्तके प्रतिपादक काउण्ट ल्येव तोल्सतोयका जन्म रूसके यासनाया पोल्याना नामक छोटे गाँवमें २८ अगस्त १८२८ को हुआ। शाही परिवार। २ वर्षकी आयुमें माँ मर गयी, ९ वर्षकी आयुमें पिता।

प्रारम्भिक और माध्यमिक शिक्षा समाप्त कर तोल्सतोयने सन् १८४३ में कज़ानके विश्वविद्यालयमें प्रवेश किया। पढ़ाईमें मन नहीं लगा। तब वह गाँव लौट गया और अमीरीके जीवनमें डूब गया। सेनामें काम करनेवाला उसका बड़ा भाई निकोलस अप्रैल १८५१ में छुट्टीपर घर आया। उसने देखा कि तोल्सतोयका जीवन भोग-विलासमें बर्बाद हो रहा है। वह उसे अपने साथ काकेशस ले गया। वहाँ सैनिक शिक्षण लेनेके बाद वह सेनाके तोपखानेमें काम करने लगा। क्रीमियाका युद्ध छिड़नेपर वह सिवास्तोपोलके किलेमें अफ़सर बनाकर भेजा गया।

---

१ रस्किन : दि क्राउन ऑफ वाइल्ड ओलिव, भूमिका, पृष्ठ ६६-६८।

२ रस्किन : वही, पृष्ठ १२६-१२७।

३ रस्किन : वही, पृष्ठ १७१-१७२।

हजारों आदमियोंको आँखोंके सामने मरते देख भावुक तोल्सतोयपर युद्धका बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। सन् १८५५ में सिवास्टोपोलके पतनपर रूसी सेना तितर-बितर हो गयी। उसके बाद तोल्सतोयने सेनासे सदाके लिए बिदाई ले ली।

उसके बाद तोल्सतोयने विदेश-यात्रा की। पेरिसमें एक व्यक्तिको उसने गिलोटिनसे कटते देखा, जिसका उसपर बहुत भारी प्रभाव पड़ा। फिर वह गाँवपर अपनी जमींदारीकी देखभाल करने लगा। सन् १८६२ में उसने विवाह किया।

बचपनसे ही तोल्सतोयमें साहित्यिक प्रतिभा चमकने लगी थी। सबसे पहले उसने 'एक जमींदारका सबेरा' लिखा। युद्धके भयंकर अनुभवोंपर उसने 'वार एण्ड पीस' (युद्ध और शांति) नामक उपन्यास लिखा। बादमें उसने 'एना कोरनिन' नामक विश्वविख्यात उपन्यास लिखा।

रूसमें जारकी निरंकुशताके कारण इतिहासने नयी करवट ली। सन् १८८१ में जार अलेक्जेण्डर द्वितीयकी हत्या कर दी गयी। तोल्सतोयको लगा कि जारकी हत्या करके लोगोंने प्रभु ईसाके उपदेशोंको पैरोंतले रौंदा है। नये जार अलेक्जेंडर तृतीय भी हत्यारोंका वध करके उसीकी पुनरावृत्ति कर रहे हैं। तोल्सतोयने उनसे प्रार्थना की कि वे अपराधियोंको क्षमा कर 'अक्रोधेन जयेत् क्रोधम्' का आचरण करें। पर उनके पत्रका कोई उत्तर न मिला। अपराधी फाँसीपर लटका दिये गये!

तभी तोल्सतोयने मास्को जाकर अगल-बगलमें गरीबी और अमीरीका प्रत्यक्ष दर्शन किया। उसने देखा कि एक ओर मजदूर काममें पिसे जा रहे हैं, दूसरी ओर अमीर लोग गरीब किसानोंकी कमाईपर गुलछर्रे उड़ा रहे हैं और उनपर मनमाने अत्याचार कर रहे हैं। उसने मास्कोके दरिद्रतम मुहल्लेकी जनगणनाका काम अपने हाथमें लेकर दरिद्रोंकी दयनीय स्थितिका अध्ययन किया। इस तीव्र अनुभूतिको उसने अपनी 'ह्वाट इज टू बी डन?' (क्या करें?) पुस्तकमें व्यक्त किया। काका कालेलकरने ठीक ही कहा है कि 'यह बहुत ही खराब पुस्तक है। यह हमें जाग्रत करती है, अस्वस्थ करती है, धर्मभीरु बनाती है। यह पुस्तक पढ़नेके बाद भोग-विलास तथा आनन्दोल्लासमें पश्चात्तापका कड़वा कंकड़ पड़ जाता है। अपना जीवन सुधारनेपर ही यह मनोव्यथा कुछ कम होती है। और जो इन्सानियतका ही गला घोंट दिया जाय, तब तो कोई बात ही नहीं।'[1]

तोल्सतोयने समाजकी दयनीय स्थितिपर गम्भीरतासे विचार करना आरम्भ

---

१ काका कालेलकर : 'क्या करें?' की गुजराती भूमिका।

कर दिया। वह इस निष्कर्षपर पहुँचा कि समाजकी तमाम बुराइयोंका मूल कारण है—पैसा। पैसेका दबाव सरलतासे दूसरोंपर डाला जा सकता है। सामाजिक बुराइयोंके निराकरणके लिए मनुष्यको आत्मविश्लेषण करना चाहिए, अपने विलासमय जीवनपर पश्चात्ताप करना चाहिए तथा उसे कष्टमय और परिश्रमी जीवन-पद्धति अपनानी चाहिए।

तोल्सतोयने अपने विचारोंको कार्यरूपमें परिणत करनेका संकल्प किया। दरिद्रनारायणसे एकाकार होनेके लिए वह गरीबोंके साथ लकड़ी काटने लगा, पानी खींचने लगा, अपना जूता खुद तैयार करने लगा, पीठपर झोला लादकर पदयात्रा करने लगा और अपने श्रमकी कमाई दीनोंमें वितरित करने लगा।

तोल्सतोयकी साहित्य-सेवा चालू रही। उसने अनेक छोटी-छोटी कहानियाँ और पुस्तकें लिखीं, जो युग-युगतक जनताको प्रेरणा देती रहेंगी। दिन-दिन उसका प्रभाव बढ़ने लगा। तोल्सतोयकी खरी बातें न सरकारको रुचीं, न धर्माध्यक्षोंको। पादरियोंने धर्मके मूल तत्त्वको समझनेवाले इस मनीषीको धर्मच्युत कर दिया। पर इससे तोल्सतोयके आदरमें कोई कमी नहीं आयी।

जीवनके अन्तिम दिनोंमें तोल्सतोयके मनमें वानप्रस्थ-जीवन बितानेकी तीव्र आकांक्षा उत्पन्न हुई। १० नवम्बर १९१० को वह घरसे निकल पड़ा। १० दिन बाद विश्वके इस महान् विचारकका आस्टायोवो नामके एक छोटेसे स्टेशनपर सर्दी लग जानेके कारण देहान्त हो गया।

प्रमुख रचनाएँ

तोल्सतोयकी प्रमुख रचनाएँ हैं—'वार एण्ड पीस', 'एना कोरनिन', 'ह्वाट इज टू बी डन ?', 'दि किंगडम ऑफ गाड इज विदिन यू', 'रिजरेक्शन', 'दि स्लेवरी ऑफ अवर टाइम्स', 'सोशल ईविल्स एण्ड देअर रेमेडी'।

प्रमुख आर्थिक विचार

तोल्सतोयने व्यापक अध्ययन करके देखा कि पश्चिमी अर्थशास्त्रकी धारणाएँ गलत हैं। जमानेकी गुलामीके कारणोंका उसने विस्तृत विवेचन किया और वह इस निष्कर्षपर पहुँचा कि रुपया सारे अनर्थोंकी जड़ है। सरकारका निर्मूलन होना चाहिए और मनुष्यको आत्म-विश्लेषण करके सन्मार्गपर चलना चाहिए। दरिद्रता और अन्याय-अत्याचारको मिटानेका एक ही उपाय है। और वह है—अपना सारा काम अपने हाथसे करना और दूसरेके श्रमसे लाभ न उठाना।

गुलामी और उसके कारण

तोल्सतोय कहता है :

किसान और मजदूर अपने जीवनकी आवश्यकताओंको पूरी करनेके लिए और अपने बाल-बच्चोंको पालनेके लिए अपनी मेहनतसे जो कुछ पैदा

करते हैं, उससे वे सब लोग फायदा उठाते हैं, जो हाथसे बिलकुल श्रम नहीं करते और दूसरोंके पैदा किये हुए धनपर गुलछर्रे उड़ाते हैं। इन निकम्मे लोगोंने किसानों और मजदूरोंको गुलाम बना रखा है। इस गुलामीसे छुटकारा पानेके लिए ४ बातें जरूरी हैं :

(१) जमीनपर किसानोंका स्वतंत्र अधिकार रहे। कोई उसमें हस्तक्षेप न करे, ताकि किसान लोग स्वतंत्रतासे रहकर अपना जीवन-यापन कर सकें।

(२) किसान लोग जमीनपर अधिकार न तो हिंसासे पा सकते हैं, न हड़तालसे और न संसदीय मार्गसे। उसके लिए एक ही उपाय है कि पाप, बुराई या अन्यायके साथ लेशमात्र भी सहयोग न किया जाय। इसके लिए किसान लोग न तो सेनामें भरती हों, न जमींदारोंके लिए उनका खेत जोतें-बोयें और न उनसे लगानपर खेत लें।

(३) किसान यह समझ लें कि जस तरह सूर्यका प्रकाश और हवा किसी एक मनुष्यकी सम्पत्ति नहीं, सबकी समान सम्पत्ति है, उसी प्रकार जमीन भी किसी एक आदमीकी सम्पत्ति नहीं होनी चाहिए। वह सबकी समान सम्पत्ति होनी चाहिए। इस सिद्धान्तको मानकर चलनेसे ही जमीनका ठीक ढंगसे बँटवारा हो सकेगा।

(४) इस उद्देश्यकी पूर्तिके लिए सरकार, सरकारी कर्मचारी अथवा जमींदार—किसीके प्रति भी उद्दण्डताका व्यवहार न किया जाय। इन लोगोंको मारकाट, उपद्रव और हिंसासे नहीं जीता जा सकता। उसका उपाय है—सत्याग्रह, असहयोग और अहिंसा।

मनुष्य स्वयं अपना उद्धारक है। वह यदि अपने विश्वासपर दृढ़ है, वह यदि किसी भी बुराई, अत्याचार या अन्यायमें शरीक होनेके लिए तैयार नहीं है, तो किसी भी मनुष्यकी यह शक्ति नहीं कि वह उससे उसकी मर्जीके खिलाफ कोई काम करा सके। यह दृढ़ता और सत्य तथा न्यायके लिए आग्रह जब किसानों और मजदूरोंमें आ जायगा, तो उनका उद्धार होनेमें तनिक भी देर नहीं लगेगी।'[1]

भूमि, कर और आवश्यकताएँ

इस युगकी गुलामीके प्रधान कारण तीन हैं : (१) जमीनका अभाव या आवश्यकता; (२) लगान और कर और (३) बढ़ी हुई आवश्यकताएँ और कामनाएँ। हमारे मजदूर और किसान भाई हमेशा किसी-न-किसी शक्लमें उन लोगोंके गुलाम बने रहेंगे, जिनके पास जमीन है, जो रुपयेवाले हैं, कल-कारखानोंके मालिक हैं और जिनके कब्जेमें वे सब चीजें हैं, जिनसे मजदूरों और किसानोंकी आवश्यकताएँ पूरी हो सकती हैं।

---

१ जनार्दन भट्ट : तोल्सतोयके सिद्धान्त, पृष्ठ २१-५३।

कानूनकी खुराफात

हमारे जमानेकी गुलामी जमीन, जायदाद और करसम्बन्धी तीन प्रकारके कानूनोंका परिणाम है।

कानून है कि अगर किसीके पास रुपया है, तो वह चाहे जितनी जमीन खरीदकर अपने कब्जेमें रख सकता है, उसे बेच सकता है, पुश्त-दर-पुश्त उसे काममें ला सकता है। कानून है कि हर मनुष्यको 'कर' देना पड़ेगा, फिर उसे उसके लिए कितना ही कष्ट क्यों न उठाना पड़े! कानून है कि मनुष्य चाहे जितनी जायदाद अपने कब्जेमें रख सकता है, फिर वह जायदाद कैसे ही खराब तरीकेसे क्यों न हासिल की गयी हो। इन्हीं कानूनोंकी बदौलत मजदूरों और किसानोंकी गुलामी दुनियामें फैली है।

गुलामीका कारण है—कानून। गुलामी इसलिए है कि दुनियामें कुछ ऐसे लोग हैं, जो अपने स्वार्थके लिए कानून बनाते हैं। जबतक कानून बनानेका हक कुछ थोड़े-से लोगोंके हाथमें रहेगा, तबतक संसारसे गुलामी मिट नहीं सकती।

सरकार : साधन-सम्पन्न डाकू

कानून न्यायके आधारपर या सर्वसम्मतिसे नहीं बनाये जाते। कुछ जबरदस्त लोग, जिनके हाथोंमें राज्यकी कुल शक्ति होती है, अपनी इच्छाके अनुसार लोगों-को चलानेके लिए कानून बनाते हैं।

डाकुओं-लुटेरों और सरकारमें केवल यही फर्क है कि लुटेरोंके कब्जेमें रेल-तार आदि नहीं होते। सरकार रेल, तार आदि वैज्ञानिक आविष्कारोंकी सहायतासे लूटपाटके अपने कामको बखूबी जारी रखती है। रेल, तार, अदालत, जेलखाना, सेना आदिकी बदौलत सरकार जनताको अच्छी तरह गुलाम बनाकर मनमाना अत्याचार कर सकती है।

गुलामीको मिटानेके लिए सरकारको मिटाना जरूरी है। पर सरकारको मिटानेका केवल एक उपाय है। और वह यह कि लोग सरकारके कामोंमें न तो सहयोग करें और न उससे कोई वास्ता रखें।[१]

अमेरिकाके प्रसिद्ध लेखक थोरोने लिखा है कि जो सरकार अन्याय करती हो, जो अत्याचारका साथ देती हो, उसकी आज्ञाओंका पालन करना या उसके साथ सहयोग करना अपराध ही नहीं, बड़ा भारी पाप भी है। मैंने (थोरोने) अमे-रिकाकी सरकारको कर देना इसलिए बन्द कर दिया कि मैं उस सरकारकी कोई भी सहायता नहीं करना चाहता, जो हब्शियोंकी गुलामीको कानूनन जायज सम-झती है! क्या यही बर्ताव संसारकी हर सरकारके साथ नहीं होना चाहिए? सभी

---

१ जनार्दन भट्ट : तोल्सतोयके सिद्धान्त, पृष्ठ ५८–१०२।

सरकारें तो एक न एक प्रकारका अत्याचार और अन्याय अपनी प्रजाके साथ करती हैं। इसलिए कोई भी सच्चा आदमी, जो अपने भाइयोंकी सेवा करना चाहता है और जिसे सरकारकी सच्ची स्थिति मालूम हो गयी है, सरकारके साथ कभी भी सहयोग नहीं कर सकता।

सरकार तमाम बुराइयोंकी जड़ है। उससे मनुष्यको भयंकरसे भयंकर हानियाँ उठानी पड़ रही हैं। इसलिए सरकारको उठा देना चाहिए।

प्रजाके दो वर्ग : गरीब और अमीर

प्रत्येक मनुष्य मानता है कि एक ही परम पिताके पुत्र होनेकी हैसियतसे हम सब भाई-भाई हैं। हम सबके अधिकार समान होने चाहिए। संसारके सुख भोगने और विकासके साधन और अवसर सबको एक समान मिलने चाहिए। फिर भी मनुष्य देखता है कि कुल मनुष्य-जाति दो भागोंमें विभाजित है—एक ओर हैं वे मनुष्य, जो 'मजदूर' कहलाते हैं, जो हाथसे काम करते हैं, हमारे लिए अन्न पैदा करते हैं, जो हृदयवेधक कष्टों और अत्याचारोंके शिकार बन रहे हैं, खानेभरको भी नहीं पाते। दूसरी ओर हैं वे मनुष्य, जो आलसी और निकम्मे हैं, जो गरीब किसानों और मजदूरोंके पैदा किये हुए धनपर गुलछर्रे उड़ाते हैं, दूसरोंका धन चूसकर अपनी कोठियाँ खड़ी करते हैं और गरीबोंपर, कमजोरोंपर अत्याचार करना अपना स्वाभाविक अधिकार मानते हैं।

किसान अनाज पैदा करता है, पर आप भूखा रहता है। जुलाहा कपड़ा बुनता है, पर आप सर्दीमें ठिठुरता है। राज और मजदूर दूसरोंके महल खड़े करते हैं, पर उन्हें खुद टूटे-फूटे झोपड़ोंमें रहना ही नसीब है। उधर जो हाथसे काम नहीं करता, वह रुपयेके जोरसे इन गरीबोंकी कमाईका भोग करता है। किसान और मजदूर राजाओं और अमीरोंके लिए भोग-विलासकी सामग्री तैयार करते हैं, सरकारी कर्मचारियोंको मोटी तनखाह देते हैं, जमींदारों और महाजनोंके थैले भरते हैं, पर आप रह जाते हैं—कोरेके कोरे।[1]

कितने बड़े आश्चर्यकी बात है कि जो व्यक्ति अन्न पैदा करता है, कपड़ा बुनता है, नगरकी सफाई करता है, अपने करके रुपयेसे स्कूल-कॉलेज खोलता है, वह हमारे समाजमें नीचसे नीच माना जाता है! किन्तु ऊँची जातिवालेको, चाहे वह कितना ही निकम्मा और दुश्चरित्र क्यों न हो, हम बड़े आदरकी दृष्टिसे देखते हैं![2]

---

१ जनार्दन भट्ट : तॉलस्तॉयके सिद्धान्त, पृष्ठ १०५-१६०।
२ वही, पृष्ठ १६०-१६१।

युद्ध और शांति

युद्धका पहला कारण यह है कि धन या सम्पत्तिका बँटवारा सब लोगोंमें समान रूपसे नहीं है। मनुष्य-जातिका एक भाग दूसरे भागको मनमाना लूट रहा है। दूसरा कारण यह है कि समाजमें सरकारकी ओरसे कुछ लोग युद्धके लिए और दूसरोंको मारने-काटनेके लिए सिखा-पढ़ाकर तैयार रखे जाते हैं। तीसरा कारण यह है कि लोगोंको झूठे धर्मकी शिक्षा दी जाती है। इसलिए यह कहना गलत है कि युद्धका कारण यह या वह बादशाह, जार, कैसर, मंत्री या राजनीतिक नेता है। युद्धके असली कारण हम हैं, क्योंकि हमीं सम्पत्तिके अनुचित बँटवारेमें, एक-दूसरेकी लूटपाटमें शरीक होते हैं। हमीं सेनामें भरती होकर मार-काटका काम जारी रखते हैं और हमीं झूठे धार्मिक उपदेशोंके अनुसार आचरण करते हैं।

जो लोग सर्वत्र शांति स्थापित करना चाहते हैं, उन्हें चाहिए कि वे सम्पत्तिके अनुचित बँटवारेमें भाग न लें, किसानों और मजदूरोंपर होनेवाले अत्याचारोंमें शरीक न हों, सेनामें भरती होनेसे इनकार करें और उन झूठे धार्मिक उपदेशोंका तिरस्कार करें, जिनके द्वारा युद्ध होनेमें सहायता मिलती है।

तुम ज्यों ही बुराई और अन्यायके साथ सहयोग करना बन्द कर दोगे, त्यों ही सब सरकारें और उनके कर्मचारी उसी तरह लुप्त हो जायँगे, जिस तरहसे सूर्यके प्रकाशमें उल्लू लुप्त हो जाते हैं। तभी संसारमें मानव-प्रेम और भ्रातृभावका आदर्श दृढ़ताके साथ स्थापित होगा।[1]

बुराइयोंका मूल कारण : रुपया

मैं देखता हूँ कि दूसरोंकी मेहनतके फलसे लाभ उठानेका ऐसा प्रबन्ध किया गया है कि जो मनुष्य जितना अधिक चालाक है और उसके द्वारा अथवा उसके उन पूर्वजोंके द्वारा कि जिनसे विरासतमें उसे जायदाद मिली है, जितने ही अधिक छल-प्रपंच रचे जायँ, उतना ही अधिक वह दूसरोंके श्रमका उपयोग करके लाभ उठा सकता है और उसी परिमाणमें वह खुद मेहनत करनेसे बच जाता है।

मजदूरोंकी मेहनतका फल उनके हाथसे निकलकर रोज-रोज अधिकाधिक परिमाणमें मेहनत न करनेवाले लोगोंके हाथमें चला जा रहा है।

मैं एक आदमीकी पीठपर सवार हो गया हूँ और उसे असहाय तथा निर्बल बनाकर मजबूर करता हूँ कि वह मुझे आगे ले चले। मैं उसके कन्धोंपर बराबर सवार हूँ, फिर भी मैं अपनेको तथा दूसरोंको यह विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि इस आदमीकी दुर्दशासे मैं बहुत दुःखी हूँ और इसका दुःख दूर करनेमें मैं भरसक कुछ उठा न रखूँगा, किन्तु इसकी पीठपरसे मैं उतरूँगा नहीं !

---

१ जनार्दन भट्ट : तोल्सतोयके सिद्धान्त, पृष्ठ २२५-२४८।

मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि रुपयेमें अथवा रुपयेके मूल्यमें और उसके इकट्ठा करनेमें ही दोष है, बुराई है और मैंने समझा कि मैंने जो बुराइयाँ देखी हैं, उनका मूल कारण यह रुपया ही है।

तब मेरे मनमें प्रश्न उठा—यह रुपया है क्या ?

कहा जाता है कि रुपया परिश्रमका पारितोषिक है।

अर्थशास्त्र कहता है कि पैसेमें ऐसी कोई बात नहीं है, जो अन्याययुक्त और दोषपूर्ण हो। सामाजिक जीवनका यह एक स्वाभाविक परिणाम है। एक तो विनिमयकी सुगमताके लिए, दूसरे, चीजोंका मूल्य निश्चित करनेवाले साधनके रूपमें, तीसरे, संचयके लिए और चौथे, लेन-देनके लिए अनिवार्य रूपसे रुपया आवश्यक है।

यदि मेरी जेबमें मेरी आवश्यकतासे अधिक तीन रूबल पड़े हों, तो किसी भी सभ्य नगरमें जाकर जरा-सा इशारा करते ही ऐसे सैकड़ों आदमी मुझे मिल जायँगे, जो उन तीन रूबलोंके बदलेमें मैं चाहूँ जैसा भद्देसे भद्दा, महाघृणित और अपमानजनक कृत्य करनेको तैयार हो जायँगे। पर कहा जाता है कि इस विचित्र स्थितिका कारण रुपया नहीं। विभिन्न जातियोंके आर्थिक जीवनकी विषम व्यवस्थामें इसका कारण मिलेगा।[1]

एक आदमीका दूसरे आदमीपर शासनाधिकार हो, यह बात रुपयेसे पैदा नहीं होती। बल्कि इसका कारण यह है कि काम करनेवालेको अपनी मेहनतका पूरा प्रतिफल नहीं मिलता। पूँजी, सूद, किराया, मजदूरी और धनकी उत्पत्ति तथा खपतकी जो बड़ी ही टेढ़ी और गूढ़ व्यवस्था है, उसमें इसका कारण समाया हुआ है।

सीधी भाषामें कहा जा सकता है कि पैसा बिना-पैसेवालोंको अपनी उँगलीपर नचा सकता है, किन्तु अर्थशास्त्र कहता है कि यह भ्रम है। वह कहता है कि इसका कारण उत्पत्तिके साधनों—भूमि, संचित श्रम (पूँजी) और श्रमके विभागमें तथा उनसे होनेवाले विभिन्न योगोंमें ही है और उन्हींकी वजहसे मजदूरोंपर जुल्म होता है।

यहाँ इसपर विचार ही नहीं किया गया कि परिस्थितिपर पैसेका कैसा और कितना प्रभाव पड़ता है। उत्पत्तिके साधनोंका विभाग भी कृत्रिम और वास्तविकतासे असम्बद्ध है।

यदि अन्य कानूनी विज्ञानोंकी तरह अर्थशास्त्रका भी यह उद्देश्य न होता कि समाजमें होनेवाले अन्याय-अत्याचारका समर्थन किया जाय, तो अर्थशास्त्र

---

१ तॉल्स्तॉय : क्या करें ? प्रथम भाग, पृष्ठ १३८-१४८।

यह देखे बिना न रहता कि द्रव्यका वितरण, कुछ लोगोंको भूमि और पूँजीसे वंचित कर देना और कुछ लोगोंका दूसरोंको अपना गुलाम बना लेना—ये सब विचित्र बातें पैसेकी ही वजहसे होती हैं और पैसेके ही द्वारा कुछ लोग दूसरे लोगोंकी मेहनतका उपयोग करते हैं—उन्हें गुलाम बनाते हैं।[1]

धन एक नये प्रकारकी गुलामी है। प्राचीन और इस नवीन गुलामीमें भेद सिर्फ इतना ही है कि यह अव्यक्त दासता है। इस गुलामीमें गुलामके साथके सब मानवीय सम्बन्ध छूट जाते हैं।

रुपया गुलामीका नया और भयंकर स्वरूप है और पुरानी व्यक्तिगत दासताकी भाँति यह गुलाम और मालिक दोनोंको पतित और भ्रष्ट बना देता है। इतना ही क्यों, यह उससे अधिक बुरा है, क्योंकि गुलामीमें दास और स्वामीके बीच मानव-सम्बन्धकी स्निग्धता रहती है, रुपया उसे भी एकदम ही नष्ट कर देता है।[2]

तब हम करें क्या ?

मैंने देखा कि मनुष्योंके दुःख और पतनका कारण यही है कि कुछ लोग दूसरे लोगोंको गुलाम बनाकर रखते हैं। अतः मैं इस सीधे और सरल निर्णयपर पहुँचा कि यदि मुझे दूसरोंकी मदद करना अभीष्ट है, तो जिन दुःखोंको मैं दूर करनेका विचार करता हूँ, सबसे पहले मुझे उन दुःखोंकी उत्पत्तिका कारण नहीं बनना चाहिए, अर्थात् दूसरे मनुष्योंको गुलाम बनानेमें मुझे भाग नहीं लेना चाहिए।

मनुष्योंको गुलाम बनानेकी मुझे जो आवश्यकता प्रतीत होती है, वह इसलिए कि बचपनसे ही स्वयं अपने हाथसे काम न करनेकी और दूसरोंके श्रमपर जीवित रहनेकी मुझे आदत पड़ गयी है। मैं ऐसे समाजमें रहता हूँ, जहाँ लोग दूसरोंसे अपनी गुलामी करानेके अभ्यस्त ही नहीं हैं, बल्कि अनेक प्रकारके चतुरतापूर्ण और कुतर्कयुक्त वाक्छलसे दासताको न्याय्य और उचित भी सिद्ध करते हैं।

मैं इस सीधे सरल परिणामपर पहुँचा हूँ कि लोगोंको दुःख और पापमें न डालना हो, तो दूसरोंकी मजदूरीका हमसे हो सके जितना कम प्रयोग करना चाहिए और स्वयं अपने ही हाथों यथासम्भव अधिकसे अधिक काम करना चाहिए। यों देरतक घूम-फिरकर मैं उसी अनिवार्य निर्णयपर पहुँचा कि जिसको चीनके एक महात्माने आजसे ५००० वर्ष पूर्व इस प्रकार व्यक्त किया था—

---

१ तोल्सतोय : क्या करें ? प्रथम भाग, पृष्ठ १४८–१८५।

२ तोल्सतोय : क्या करें ? प्रथम भाग, पृष्ठ २३८–२४१।

'यदि संसारमें कोई एक आलसी मनुष्य है, तो अवश्य ही दूसरा कोई भूखा मरता होगा।'

जिसे अपने पड़ोसियोंको दुःखी देखकर सचमुच ही दुःख होता है, उसके लिए इस रोगको दूर करनेका और अपने जीवनको नीतिमय बनानेका एक ही सीधा और सरल उपाय है। और यह उपाय वही है, जो 'हम क्या करें ?' प्रश्न किये जानेपर जान बेपटिस्टने बताया था और ईसाने भी जिसका समर्थन किया था :

एकसे अधिक कोट अपने पास नहीं रखना और न अपने पास पैसा रखना। अर्थात् दूसरे मनुष्यके श्रमसे लाभ नहीं उठाना।

दूसरोंके श्रमसे लाभ न उठानेके लिए यह आवश्यक है कि हम अपना काम अपने हाथसे करें।

इस संसारमें फैले दुःख-दारिद्र्य और अनाचारको दूर करनेका एकमात्र सरल और अचूक साधन यही है।[1]

● ● ●

---

१ तोल्सतोय : क्या करें ? द्वितीय भाग, पृष्ठ १—६।

भाटक-सिद्धान्तका विकास

रिकार्डोका मत

रिकार्डोने सबसे पहले भूमिके भाटक-सिद्धान्तका वैज्ञानिक अनुसन्धान किया और यह कहा कि भाटक भूमिसे होनेवाली उत्पत्तिका वह अंश है, जो कि भू-स्वामीको भूमिकी मौलिक एवं अविनाशी शक्तियोंके उपयोगके लिए दिया जाता है।

रिकार्डो यह मानकर चलता है कि विभिन्न भूमिखण्डोंकी उर्वरा-शक्तिमें भिन्नता होती है और भूमिमें उत्पादन-ह्रास-नियम लागू होता है। पूर्ण प्रति-स्पर्द्धाके कारण सीमान्तके अतिरिक्त अन्य भूमिखण्डोंपर भाटककी प्राप्ति होती है।

रिकार्डोने भाटकको 'अनर्जित आय' बताया और कहा कि भाटककी प्राप्तिके लिए भू-स्वामीको कुछ भी नहीं करना पड़ता।

अन्य आलोचक

रिकार्डोके भाटक-सिद्धान्तने परवर्ती विचारकोंको सोचनेकी पर्याप्त सामग्री

प्रदान की। फलतः उसपर उन्नीसवीं शताब्दीमें खूब ही आलोचना हुई। विभिन्न आलोचकोंने भिन्न-भिन्न प्रकारसे आलोचना की और भाटक-सिद्धान्तका विकास किया।

रिचर्ड जोन्स

रिचर्ड जोन्स (सन् १७९०-१८५५) ने अपनी 'एसे ऑन दि डिस्ट्रीब्यूशन ऑफ वेल्थ एण्ड ऑन दि सोर्सेज ऑफ टैक्सेशन' (सन् १८३१) में रिकार्डोके सिद्धान्तकी तीव्र आलोचना की। उसका कहना था कि अनेक स्थानोंपर तथा अनेक अवसरोंपर रिकार्डोका भाटक-सिद्धान्त लागू नहीं होता। भाटकपर प्रथा, रीति-रिवाज और परम्पराका भी प्रभाव पड़ता है। इस कारण प्रतिस्पर्द्धापर नियंत्रण लगता है। अतः वास्तविकताकी कसौटीपर रिकार्डोका सिद्धान्त सही नहीं उतरता। वह उत्पादन-ह्रास-नियमको भी स्वीकार नहीं करता। उसकी धारणा है कि उत्पादनकी कलामें सुधार होनेके कारण अब यह बात सत्य नहीं ठहरती।[1]

रौजर्स

प्रोफेसर जेम्स ई० थोरोल्ड रौजर्स (सन् १८२३–१८९०) ने अपनी रचना 'दि इकॉनॉमिक इण्टरप्रिटेशन ऑफ हिस्ट्री' (सन् १८८८) की भूमिकामें रिकार्डोके सिद्धान्तकी कटु आलोचना की है और भूमिकी स्थितिपर बड़ा जोर दिया है। उसका यह भी कहना है कि इतिहासने यह बात असत्य सिद्ध कर दी है कि मनुष्य पहले अधिक उपजाऊ भूमि जोतता है, फिर उससे कम उपजाऊ। वह कहता है कि 'अपने ऐतिहासिक अध्ययनसे मैं इस निष्कर्षपर पहुँचा हूँ कि प्रसिद्ध अर्थशास्त्री जिन बहुतसी बातोंको स्वाभाविक या प्राकृतिक मानते हैं, उनमें अधिकांश कृत्रिम हैं, और जिन्हें वे सिद्धान्त कहकर पुकारते हैं, वे प्रायः उतावलीमें, बिना भलीभाँति सोचे हुए गलत निष्कर्ष होते हैं और जिसे वे अतर्क्य सत्य मानते हैं, वह अत्यन्त मिथ्या निकलता है।'[2]

रौजर्सने अपनी 'हिस्ट्री ऑफ एग्रीकल्चर एण्ड प्राइसेज ऑफ इंग्लैण्ड' में कहा है कि रिकार्डोकी यह धारणा गलत है कि श्रम और पूँजीकी पूर्ण गतिशीलता रहती है। ऐसा कहीं नहीं होता। वस्तुतः जमींदार और किसानका सम्बन्ध अत्यन्त कठोर होता है। जमींदार निस्संदेह बिना किसी आर्थिक कारणके भाटकमें वृद्धि कर सकते हैं और किसानोंको विवश होकर उसे स्वीकार किये बिना चारा नहीं। रिकार्डोने पूर्ण प्रतिस्पर्द्धाकी बात कहकर इस कठोर सत्यकी उपेक्षा कर दी है।

---

१ हेने : हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ २६८, ५२६।

२ हेने : वही, पृष्ठ ५२४-५२५।

भूमिके मूल्यमें भारी वृद्धि

क्रमशः भाटकके सिद्धान्तका विकास होने लगा। पहले यह माना जाता था कि प्रकृतिकी सभी निःशुल्क देन, चाहे वह मिट्टी, पानी या प्रकाशके रूपमें हो, 'भूमि' कहलाती है। बादमें कुछ लोग यह भी कहने लगे कि भूमिमें उत्पादनके सभी मानवीय साधन सम्मिलित किये जाने चाहिए। डब्ल्यू० एन० सीनियर, एफ० ए० वाकर जैसे विचारक कहने लगे कि भाटकका सिद्धान्त भूमिके अतिरिक्त श्रम और पूँजी जैसे उत्पादनके अन्य साधनोंपर भी लागू होना चाहिए। जे० बी० क्लार्कने पूँजीपर और विकस्टीडने श्रमपर भाटकके सिद्धान्तको व्यवहृत करनेपर जोर दिया।

भूमिकी उर्वरता भाटकका कारण है, अथवा उसकी दुर्लभता, यह प्रश्न पहलेसे चलता आ रहा था और क्रमशः विचारक इस बातपर एकमत होने लगे थे कि प्रकारान्तरसे दोनों ही वस्तुएँ भाटकका कारण हैं। अतः दोनोंको ही भाटकका कारण मानना उचित होगा।

इधर भूमिकी दुर्लभताके कारण भूमिके मूल्यमें अत्यधिक वृद्धि होने लगी थी। इंग्लैण्ड, अमरीका, जर्मनी, फ्रांस आदि देशोंमें बड़े-बड़े शहरोंकी संख्या तेजीसे बढ़ रही थी। जनता भारी संख्यामें शहरोंमें एकत्र होने लगी थी। उसका परिणाम यह होने लगा कि शहरोंके निकटकी भूमिका मूल्य आकाश छूने लगा। इसका एकाध उदाहरण ही स्थितिकी विषमताका ज्ञान प्राप्त करानेके लिए पर्याप्त होगा।[1]

शिकागो नगरमें एक-चौथाई एकड़का एक भूमिखण्ड सन् १८३० में बीस डालरमें खरीदा गया, सन् १८३६ में वह पचीस हजार डालरमें बेचा गया और सन् १८९४ में जब अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शनी हुई, तो उसका मूल्य आँका गया साढ़े बारह लाख डालर!

लन्दनका हाइड पार्क सन् १६५२ में नगरपालिकाने १७ हजार पौण्डमें खरीदा था, सन् १९०० में उसका मूल्य आँका गया ८० लाख पौण्ड!

पेरिसमें होटल ड्यूके एक भूमिखण्डका मूल्य सन् १७७५ में ६ फ्रांक ४० सेण्ट वर्गमीटर था। सन् १९०० में उसका मूल्य आँका गया १००० फ्रांक वर्गमीटर!

भूमिके मूल्यमें इस आकाशचुम्बी वृद्धिके कारण एक ओर होती है सम्पन्नताकी चरम सीमा, दूसरी ओर होती है दरिद्रताकी चरम सीमा। यह भयंकर स्थिति

---

१. जीद और रिस्ट : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन्स, पृष्ठ ५७१-५७२।

देखकर हेनरी जार्ज (सन् १८३९–९७) बुरी तरह रो पड़ा। दस वर्ष लगा दिये उसने इसका हल खोजनेमें ![1]

जार्ज कहता है : कल्पना कीजिये कि सभ्यताके विकासके साथ एक छोटासा ग्राम दस सालमें एक बड़े नगरके रूपमें परिवर्तित हो जाता है। वहाँ घुड़बग्घीके स्थानपर रेल आ जाती है, मोमबत्तीकी जगह बिजली। आधुनिकतम मशीनें वहाँ लग जाती हैं, जिनसे श्रमकी शक्तिमें अत्यधिक वृद्धि हो जाती है। अब किसी स्वर्मभक्त व्यापारीसे पूछिये कि 'क्या इन दस वर्षोंमें ब्याजकी दरमें वृद्धि होगी ?'

वह कहेगा : 'नहीं!'

'साधारण श्रमिककी मजूरी बढ़ेगी ?'

'नहीं। वह उलटे घट सकती है!'

'तब किस वस्तुका मूल्य बढ़ेगा!'

'मूल्य बढ़ेगा भूमिके भाटकका। जाओ, वहाँ एक भूमिखण्ड ले लो।'

जार्ज कहता है : 'अब आप उस व्यापारीकी बात मान लें', तो आपको कुछ नहीं करना पड़ेगा। आप मौजसे पड़े रहिये, सिगार फूँकिये, आकाशमें उड़िये, समुद्रमें गोते लगाइये, रत्तीभर हाथ डुलाये बिना, समाजकी सम्पत्तिमें एक कौड़ीकी भी वृद्धि किये बिना, आप दस वर्षके भीतर समृद्धिशाली बन जायँगे! नये नगरमें आपका महल खड़ा होगा और उसके सार्वजनिक स्थानोंमें होगा एक भिक्षागार!'[2]

भाटकका विरोध

इस अनर्जित आय भाटकके अनौचित्यकी भावना विचारकोंको बुरी भाँति खटकने लगी। इसके विरोधमें उन्होंने भूमिके राष्ट्रीयकरणका, उसपर कर लगानेका आन्दोलन चलाया। इस दिशामें हर्बर्ट स्पेंसर, जान स्टुअर्ट मिल, वालेस, हेनरी जार्ज, वालरस आदिके नाम विशेष रूपसे उल्लेखनीय हैं।

भाटकके विरोधकी भावनाका सूत्रपात अठारहवीं शताब्दीके अन्तमें ही हो चुका था। सन् १७७५ में थामस स्पेन्स नामक न्यू कासलके एक अध्यापकने यह आवाज उठायी थी कि जनतासे जो भी भूमिखण्ड अनैतिक रूपसे छीन लिये गये हैं, वे उसे वापस कर देने चाहिए। सन् १७८१ में ओग्लवी नामक एबर्डीन विश्वविद्यालयके प्राध्यापकने यह माँग प्रस्तुत की थी कि भाटककी सारी आय कर लगाकर जब्त कर लेनी चाहिए। सन् १७९७ में टाम पेनने इसी प्रकारके विचार प्रकट किये थे।[3] पर, इन विचारोंका कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा।

---

१ हेनरी जार्ज : प्रोग्रेस एण्ड पावर्टी, १९५६; पुस्तककी कहानी, पृष्ठ ७-८।

२ हेनरी जार्ज : प्रोग्रेस एण्ड पावर्टी, पृष्ठ २९४।

३ जीद और रिस्ट : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन्स, पृष्ठ ५८४-५८५।

स्पेन्सर

हर्बर्ट स्पेन्सरने 'सोशल स्टेटिक्स' (सन् १८५०) में समाजके उद्भवकी चर्चा करते हुए यह दावा किया है कि राज्य यदि भूमिपर अपना आधिपत्य स्थापित कर लेगा, तो वह सभ्यताके सर्वोच्च हितकी दृष्टिसे काम करेगा। ऐसा करना नैतिक नियमके अनुकूल होगा।[1]

स्पेन्सर इस तर्कको अग्राह्य मानता है कि भू-स्वामियोंने चूँकि पहले भूमिपर अपना अधिकार कर लिया, अतः वे भाटक प्राप्त करनेके अधिकारी हैं। वह कहता है कि भूमि सभी मानवोंके लिए विशेष महत्त्वकी वस्तु है। अतः उसपर किसीका व्यक्तिगत स्वामित्व रहना नैतिक दृष्टिसे भी गलत है, आर्थिक दृष्टिसे भी।[2]

स्पेन्सरने भूमिके समाजीकरणका आन्दोलन चलाया। उसके अनुयायियोंकी संख्या पर्याप्त थी। उसके विचारोंने तोल्सतोय जैसे महान् विचारकको भी प्रभावित किया था।

स्टुअर्ट मिल

जान स्टुअर्ट मिल भाटकको अनुचित मानता था। उसकी दृष्टिसे भाटक दो कारणोंसे अन्यायपूर्ण है :

(१) वह बिना श्रमके प्राप्त होता है और

(२) रिकार्डोकी यह धारणा सत्य सिद्ध हुई है कि सभ्यताके विकासके साथ-साथ भाटकमें तो वृद्धि होती है, पर मुनाफा घटता है और मजूरी ज्योंकी त्यों बनी रहती है। भू-स्वामीका हित उत्पादक एवं श्रमिकके हितोंके विरुद्ध पड़ता है। अतः भूमिपर होनेवाली 'सारी अनर्जित आय' कर लगाकर समाप्त कर देनी चाहिए। उसका कहना है कि बिना काम किये, बिना कोई खतरा उठाये भू-स्वामियोंको सभ्यताके विकासके साथ-साथ जो 'अनर्जित आय' प्राप्त होती है, उसे पानेका उन्हें अधिकार ही क्या है ?[3]

मिलने सन् १८७० में इस अनर्जित आयको कर लगाकर समाप्त करनेके लिए 'भूमि सुधार संघ' की स्थापना की और इसके माध्यमसे अपना आन्दोलन चलाया। पर मिलका कहना था कि भू-स्वामियोंकी वर्तमान भूमिका बाजार-दरसे मूल्यांकन करके उसपर होनेवाली अतिरिक्त आय, उसका भाटक जब्त कर लेना चाहिए। वह भूमिके तत्काल समाजीकरणके पक्षमें नहीं था।[4]

---

१ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ ५८५।

२ हेनरी जार्ज : प्रोग्रेस एण्ड पावर्टी, पृष्ठ ३५६-३६०, ३६४।

३ हेनरी जार्ज : वही, पृष्ठ ४२२।

४ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ ५८७।

मिलके भूमि-सुधार संघमें थोरोल्ड रौजर्स, जान मोर्ले, हेनरी फासेट, कैरन्स और रसेल वालेस जैसे प्रसिद्ध व्यक्ति भी सम्मिलित थे। इस आन्दोलनने इंग्लैण्डकी फेबियन सोसाइटीपर अपना अच्छा प्रभाव डाला था।

वालेस

एल्फ्रेड रसेल वालेसने सन् १८८२ में भूमिके समाजीकरणका आन्दोलन चलाया। उसकी पुस्तक 'लैण्ड नेशनलाइजेशन : इट्स नेसेसिटी एण्ड इट्स एम्स' में इस बातपर जोर दिया गया है कि श्रमिकको यदि भूमि-सेवाकी स्वतंत्रता उपलब्ध होगी, तो पूँजीपतिपर उसकी निर्भरता तो समाप्त होगी ही, दरिद्रता एवं अभावोंकी समस्याका भी निराकरण हो जायगा। अतः प्रत्येक श्रमिकको यह अधिकार रहना चाहिए कि भूमिकी सेवाके लिए भूमि प्राप्त कर वह उसपर खेती कर सके। भूमिके समाजीकरणके उपरान्त प्रत्येक व्यक्तिको जीवनमें कमसे कम एक बार १ से लेकर ५ एकड़तकका भूमिखण्ड चुनकर उसपर कृषि करनेका अवसर प्राप्त होना ही चाहिए।[1]

हेनरी जार्ज

'प्रोग्रेस एण्ड पावर्टी' (सन् १८७९) के करणार्द्र लेखक हेनरी जार्जने अमेरिकामें भूमिके समाजीकरणका आन्दोलन चलाया। उसकी धारणा थी कि भूमिका मूल्य अत्यधिक बढ़ रहा है, जिसके फलस्वरूप एक ओर थोड़ेसे व्यक्ति सम्पन्नसे सम्पन्न होते जा रहे हैं और असंख्य व्यक्ति दरिद्रसे दरिद्र होते जा रहे हैं। इधर सम्पन्नता अपनी चरम सीमापर पहुँच रही है, उधर उसीके बगलमें विपन्नता अपनी चरम सीमापर जा रही है। जार्जकी मान्यता थी कि रिकार्डो और मिलकी भविष्यवाणियाँ सार्थक हो रही हैं।

जार्जने दस वर्षतक, सन् १८६९ से १८७९ तक, सम्पन्नता और विपन्नताकी समस्याका गहन अध्ययन किया और उसपर गम्भीर चिन्तनके उपरान्त अपनी अमर रचना 'प्रोग्रेस एण्ड पावर्टी'

---

१ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ ६०१।

लिखी, जिसमें उसने समस्याका निदान यही बताया कि इस अनर्जित आयकी समाप्तिके लिए एक-कर-प्रणाली द्वारा भाटककी जब्ती कर ली जाय।

हेनरी जार्ज कहता है कि 'समस्याके निदानका एक ही उपाय है। सम्पत्तिकी वृद्धिके साथ-साथ दारिद्र्यकी भी वृद्धि हो रही है। उत्पादन-क्षमता बढ़ रही है, पर मजूरी घट रही है। उसका कारण यही है कि भूमिपर, जो कि सारी सम्पत्तिका कारण है और सारे श्रमका क्षेत्र है, व्यक्तियोंका एकाधिकार है। यदि हम यह चाहते हैं कि दरिद्रताका अन्त हो और श्रमिकको उसके श्रमकी भरपूर मजूरी प्राप्त हो सके, तो उसका एकमात्र उपाय यही है कि भूमिपर व्यक्तिगत स्वामित्व समाप्त कर भूमि सार्वजनिक सम्पत्ति बना दी जाय। सम्पत्तिके असम और विषम वितरण-को दूर करनेका एक यही उपाय है कि भूमिका समाजीकरण कर दिया जाय।'[1]

जार्जका कहना था कि 'भूमिका व्यक्तिगत स्वामित्व न्यायकी कसौटीपर कभी भी खरा नहीं उतर सकता। मनुष्यको जिस प्रकार हवामें साँस लेनेका जन्मजात अधिकार है, उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्यको भूमिके उपभोग करनेका समान अधि-कार है। मनुष्यका अस्तित्व ही इस बातकी घोषणा करता है। हम ऐसी कल्पना भी नहीं कर सकते कि कुछ व्यक्तियोंको इस पृथ्वीपर जीवित रहनेका अधिकार है और कुछको ऐसा अधिकार है ही नहीं।'[2]

सन् १८८० के लगभग इंग्लैण्ड, अमेरिका और आस्ट्रेलियामें मिल और हेनरी जार्जके विचारोंको मूर्तरूप देनेके लिए कई संस्थाओंकी स्थापना की गयी।

हेनरी जार्जके भूमिसम्बन्धी विचारोंका विनोबाके भूदान-आन्दोलनपर भी प्रभाव पड़ा है, इस बातको अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

वालरस

फ्रांसीसी विचारक लियों वालरस (सन् १८३४–१९१०) ने भी भूमिके समाजीकरणपर बड़ा जोर दिया और कहा कि प्राकृतिक नियमके अनुसार भूमिपर राज्यका ही स्वामित्व होना चाहिए। वह प्रकृतिकी स्वतंत्र देन है। उसपर किसी भी व्यक्तिकी व्यक्तिगत मालकियत होनी ही नहीं चाहिए।[3]

फेबियन समाजवादी विचारधाराने भी व्यक्तिगत सम्पत्तिकी समाप्ति एवं भूमिके समाजीकरणकी भावनाको बल दिया है और भाटक-सिद्धान्तके विकासमें हाथ बँटाया है।

●●●

---

१ हेनरी जार्ज : प्रोग्रेस एण्ड पावर्टी, पृष्ठ ३२८।

२ हेनरी जार्ज : वही, पृष्ठ ३३८।

३ जीद और रिस्ट : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन्स, पृष्ठ ५८६।

उन्नीसवीं शताब्दी

एक सिंहावलोकन

अठारहवीं शताब्दीके अन्तमें स्मिथने जिस शास्त्रीय पद्धतिको जन्म दिया, बेंथमके उपयोगितावाद, मैल्थसके जनसंख्याके सिद्धान्त एवं रिकार्डोके भाटक-सिद्धान्तसे जो परिपुष्ट हुई, वह आगे चलकर अत्यन्त विकसित हो गयी।

लाडरडेल, रे और सिसमाण्डीने सबसे पहले इस विचारधाराकी आलोचना की। लाडरडेल और रेने स्मिथके सम्पत्तिसम्बन्धी विचारोंको भ्रामक बताया। रे और सिसमाण्डीने स्मिथके मुक्त-व्यापारके विचारोंको अमान्य ठहराया। सिसमाण्डीकी आलोचना समाजवादी ढंगकी है। इन आलोचकोंने शास्त्रीय पद्धतिका मार्ग प्रशस्त करनेमें प्रकारान्तरसे योगदान ही किया।

शास्त्रीय पद्धति क्रमशः विकासकी ओर अग्रसर होने लगी। उसने आगे चलकर चार धाराएँ ग्रहण कीं। जेम्स मिल, मैक्कुलक और सीनियरने अंग्रे

विचारधाराको; से और बासत्याने फरासीसी विचारधाराको; राउ, थूने और हर्मनने जर्मन-विचारधाराको तथा कैरेने अमरीकी विचारधाराको परिपुष्ट किया।

सिसमाण्डीकी आलोचनाने जो पृष्ठभूमि खड़ी की, उसे सेण्ट साइमनने और अधिक विकसित किया। साइमनके अनुयायियोंने तो उसके आधारपर समाजवादी विचारधाराको जन्म ही दे डाला। इस विचारधाराने ओवेन, फूर्ये, थामसन और ब्लाँकी कल्पनाओंके सहारे सहयोगी समाजवादको आगे बढ़ाया। प्रोदोंने स्वातंत्र्यवादकी नींव डाली, अराजकताका मंत्र पढ़ा और इस प्रकार समाजवादी विचारधाराको पुष्पित-पल्लवित करनेमें योगदान किया।

आगे आयी मुलर और लिस्टकी राष्ट्रवादी विचारधारा, जिसने राष्ट्रकी भावनापर अत्यधिक बल देकर संरक्षणवादके सिद्धान्तको महत्त्वशाली सिद्धान्त बना डाला।

अबतक शास्त्रीय विचारधारा विभिन्न शाखाओंमें प्रस्फुटित होकर विश्वके विभिन्न अंचलोंमें नाना प्रकारसे विकसित हो रही थी। जान स्टुअर्ट मिलने उसे नया मोड़ दिया। उसने उसे उन्नतिके सर्वोच्च शिखरपर पहुँचाया तो अवश्य, पर वहींसे उसके पतनका मार्ग भी प्रशस्त कर दिया। कैरिन्स, फासेट, सिडविक और निकल्सनने हाथ रोपकर शास्त्रीय पद्धतिके धँसते हुए भवनको थामनेकी चेष्टा की, परन्तु उन बेचारोंके निर्बल हाथ अपने उद्देश्यमें सफलता प्राप्त करनेमें असमर्थ रहे।

इसी समय दो पीढ़ियोंमें अर्थशास्त्रकी एक नयी विचारधाराका उदय हुआ। रोशर, हिल्डेब्राण्ड और नीस पुरानी पीढ़ीके सदस्य थे, श्मोलर नयी पीढ़ीके। इन विचारकोंने इतिहासवादी विचारधाराको पुष्पित-पल्लवित किया।

अर्थशास्त्र अब समुचित रूपसे परिपुष्ट होने लगा था। सुखवादी विचारकोंने उसके विषयगत स्वरूपपर जोर दिया। उसकी दो शाखाएँ फूटीं। कूर्नो, गोसेन, जेवन्स, वालरस, परेटो और कैसलने गणितीय शाखाका विकास किया। मेंजर, वीजर और बमबवार्कने मनोवैज्ञानिक शाखाका। एक शाखावालोंने बीजगणित और रेखागणितके सहारे आर्थिक बातोंको व्यक्त करनेपर जोर दिया। दूसरी शाखावाले कहते थे कि मनुष्य केवल 'आर्थिक पुरुष' नहीं है, उसमें भावनाएँ हैं, विचार हैं, संवेदनाएँ हैं और उनसे प्रेरित होकर ही वह विभिन्न कार्य करता है।

विषयगत विचारधाराने शास्त्रीय पद्धतिके लड़खड़ाते पैर थामनेका कुछ काम किया, परन्तु समाजवादी विचारधारा तीव्रतासे विकसित होने लगी। राडबर्टस और लसालने राज्य-समाजवादकी रागिनी छेड़ी। उन्होंने आरामकुर्सीके समाजवादको आगे बढ़ाया। मार्क्स और एंजिल्सने वैज्ञानिक समाजवादको पुष्ट रूप दिया, सर्वहारा-वर्गको जाग्रत किया और रक्त और हिंसाके माध्यमसे क्रान्तिकी

रणभेरी फूँकी। संशोधनवादी, संघवादी, फेबियनवादी और ईसाई समाजवादी विचारधाराएँ भी इसके साथ-साथ पनपीं। क्रोपाटकिन और तोल्सतोय जैसे विचारकोंने सरकारको उखाड़ फेंकने और दरिद्रनारायणसे एकाकार होनेके लिए श्रमाधारित जीवन बितानेपर जोर दिया। हिंसात्मक मार्ग द्वारा क्रान्ति करनेका भी अनेक विचारकों द्वारा तीव्र विरोध किया गया। रस्किन और तोल्सतोयने सर्वोदय-विचारधाराका प्रतिपादन किया।

इस बीच रिकार्डोके भाटक-सिद्धान्तका विशेष रूपसे विकास हुआ और इस अनर्जित आयकी समाप्ति तथा भूमिके समाजीकरणके लिए स्पेंसर, मिल और हेनरी जार्जके आन्दोलनोंने दरिद्रताके उन्मूलनकी ओर समाजका ध्यान विशेष रूपसे आकृष्ट किया।

यों हम देखते हैं कि उन्नीसवीं शताब्दीका श्रीगणेश जहाँ पूँजीवादके विकास-से होता है, वहाँ उसकी समाप्ति होती है पूँजीवादके अभिशाप—दरिद्रताके उन्मूलनके चतुर्मुखी प्रयाससे !

● ● ●

सर्वोदय विचारधारा

सर्वोदय

- नैतिक पक्ष
  - साध्य
    - सत्य
  - साधन
    - अहिंसा
    - अस्तेय
    - ब्रह्मचर्य
    - अपरिग्रह
    - श्रम
    - अस्वाद
    - अभय
    - स्वदेशी
    - आदि
- व्यावहारिक पक्ष
  - रचनात्मक कार्यक्रम
    - खादी
    - ग्रामोद्योग
    - मद्यनिषेध
    - आर्थिक समानता
    - साम्प्रदायिक एकता
    - अस्पृश्यता-निवारण
    - बुनियादी तालीम
    - किसानोंकी सेवा
    - मजदूरोंकी सेवा
    - स्त्रियों-की सेवा आदि
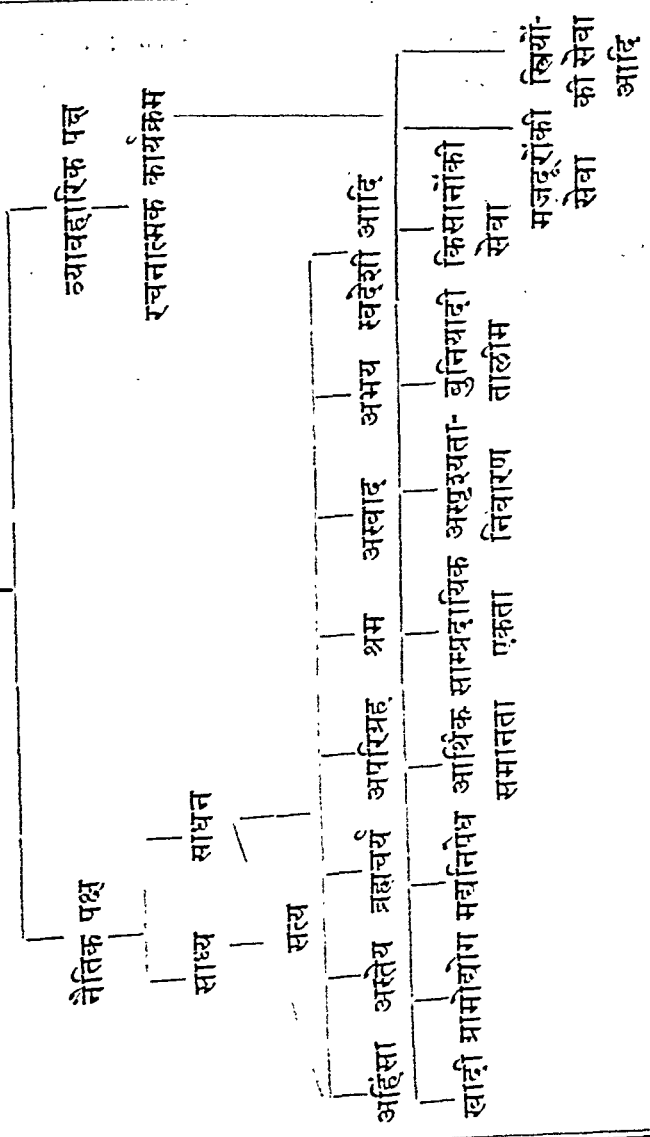
आर्थिक विचारधारा

उदयसे सर्वोदयतक

तृतीय खण्ड

बीसवीं शताब्दी

नवपरम्परावादी विचारधारा

मार्शल

बीसवीं शताब्दीका उदय होता है मार्शल (सन् १८४२–१९२४) की नव-परम्परावादी (Neo-Classicism) विचारधारासे । अर्थशास्त्रके इस महान् विचारकने मौलिक अनुदान तो कम दिया, पर इसने सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य यह किया कि शास्त्रीय पद्धतिकी मुरझाती हुई विचारधारामें नवजीवनका संचार कर दिया ।

स्टुअर्ट मिलके उपरान्त शास्त्रीय पद्धतिकी विचारधाराका बुरा हाल था, समाजवादियोंने उसकी पूँजीवादी धारणाओंकी छीछालेदर कर रखी थी, इतिहासवादियोंने उसकी पद्धतिके प्रश्नको लेकर, सुखवादी लोगोंने उसकी अन्य कमियोंको लेकर, रस्किन और कार्लाइल जैसे मानवतावादियोंने लोक-कल्याणके प्रश्नको लेकर इस विचारधाराकी मिट्टी पलीद कर रखी थी । उधर कालका चक्र भी बड़ी तीव्र गतिसे घूम रहा था । इंग्लैण्डमें औद्योगिक विकास चरम

सीमापर पहुँच रहा था, रिकार्डो और मिलके जमानेकी व्यापारिक स्थिति सर्वथा पलट गयी थी, व्यापारिक उत्थान-पतनका चक्र चालू हो गया था, व्यापारपर सरकारी नियंत्रण तेजीसे बढ़ने लगा था, आर्थिक जगत्में मुद्राके स्थानपर साखका महत्त्व बढ़ रहा था। फलतः ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गयी थी कि इन सब बातोंको ध्यानमें रखते हुए अर्थशास्त्रका नये सिरेसे संगठन किया जाय तथा देश, काल और युगकी माँगके अनुकूल आर्थिक धारणाओंको व्यवस्थित रूप प्रदान किया जाय। साथ ही इन परस्पर-विरोधी दीखनेवाली विचारधाराओंमें सामंजस्य स्थापित किया जाय।

पुरानी शराबको नयी बोतलमें भरनेका यह काम किया मार्शलने।

जीवन-परिचय

नवपरम्परावादके जन्मदाता अल्फ्रेड मार्शलका जन्म सन् १८४२ में लन्दनके एक मध्यवर्गीय परिवारमें हुआ। शिक्षा हुई मर्चेण्ट टेलरकी पाठशालामें और बादमें केम्ब्रिज विश्वविद्यालयमें। गया था गणित और भौतिकशास्त्र पढ़ने, मित्रोंने छात्र-वृत्ति दिलाकर भरती करवा दिया नैतिक शास्त्रमें। ग्रीन, मारिस और सिडविकके पास उसने हेगेल और काण्टका दर्शन पढ़ा। श्मोलर और टानवी, हर्बर्ट स्पेन्सर, बेंथम और मिल, जेवन्स, वाकर, कूर्नो, थूने जैसे विचारकोंका भी उसने गहरा अध्ययन किया। शास्त्रीय पद्धतिके ही नहीं, राष्ट्रवादी, इतिहासवादी, गणितीय, मनोवैज्ञानिक, समाजवादी आदि विभिन्न धाराओंके विचारकोंके विचारोंका उसने गूढ़ एवं गम्भीर अध्ययन करके अपनी ज्ञान-राशि बढ़ायी।

मार्शलकी कल्पना पादरी बननेकी थी, पर बन गया वह अर्थशास्त्री। सन् १८७७ से १८८१ तक वह ब्रिस्टलके यूनिवर्सिटी कॉलेजका प्रधानाध्यापक रहा। सन् १८८३ से '८५ तक आक्सफोर्डमें और उसके बाद सन् १९०८ तक केम्ब्रिज विश्वविद्यालयमें अर्थशास्त्रका प्राध्यापक रहा। तबसे वह जीवनके अन्ततक केम्ब्रिजमें ही शोध-प्राध्यापकके रूपमें काम करता रहा। सन् १९२४ में उसका देहान्त हो गया।

मार्शलने अर्थशास्त्रके अध्ययन-अध्यापनमें अमूल्य योगदान किया। उसीके तत्त्वावधानमें 'केम्ब्रिज स्कूल ऑफ इकॉनॉमिक्स' विश्वके अर्थशास्त्रीय अनुसंधानका एक प्रसिद्ध केन्द्र बन सका। 'रायल इकॉनॉमिक सोसाइटी' और 'इकॉनॉमिक जर्नल' की भी उसने स्थापना की। अपने युगके महान् अर्थशास्त्रियोंमें उनकी गणना होती थी। वह कई शाही कमीशनोंका सदस्य रहा।

मार्शलकी प्रमुख रचनाएँ हैं—'इकॉनॉमिक्स ऑफ इण्डस्ट्री' (सन् १८७९), 'प्रिंसिपल्स ऑफ इकॉनॉमिक्स' (सन् १८९०), 'इण्डस्ट्री एण्ड ट्रेड' (सन् १९१९) और 'मनी, क्रेडिट एण्ड कामर्स' (सन् १९२३)।

प्रमुख आर्थिक विचार

मार्शलके प्रमुख आर्थिक विचारोंको मुख्यतः तीन भागोंमें विभाजित किया जा सकता है :

(१) अर्थशास्त्रकी परिभाषा,
(२) अर्थशास्त्रीय अध्ययनकी पद्धति और
(३) अर्थशास्त्रके सिद्धान्त।

१. अर्थशास्त्रकी परिभाषा

मार्शलने अर्थशास्त्रकी परिभाषा इन शब्दोंमें दी है :

'अर्थशास्त्र जीवनके सामान्य व्यापारमें मानवमात्रका अध्ययन है। वह व्यक्तिगत एवं सामाजिक कार्यके उस अंशका परीक्षण करता है, जो कल्याणकी भौतिक आवश्यकताओंकी प्राप्ति तथा उपयोगसे घनिष्ठ रूपसे सम्बद्ध है।'[1]

अदम स्मिथने अर्थशास्त्रको 'सम्पत्तिका विज्ञान' बताया था। रस्किन और कार्लाइल जैसे विचारकोंने नैतिकतापर जोर देते हुए कहा था कि अर्थशास्त्र मानव-मस्तिष्कमें गन्दी मनोवृत्ति भरनेवाला 'काला शास्त्र' है; 'कुबेरका विज्ञान' है। मार्शलने इन दोनों परस्पर-विरोधी धारणाओंके बीच सामंजस्य स्थापित करनेकी चेष्टा की। मार्शलके अनुसार अर्थशास्त्रका क्षेत्र है—व्यक्तियोंके सामाजिक कार्योंका अध्ययन। पर सभी कार्योंका अध्ययन नहीं; केवल उन कार्योंका अध्ययन, जो जीवनकी भौतिक वस्तुओंके साथ सम्बद्ध हैं।

मार्शलकी धारणा है कि अर्थशास्त्रका लक्ष्य है मानवके उस सामाजिक व्यवहारका अध्ययन, जिसका मापदण्ड है पैसा। मानवके आर्थिक क्रिया-कलापोंका, पैसेके उपार्जन एवं पैसेके व्ययका, अध्ययन अर्थशास्त्रके क्षेत्रमें आता है।

मार्शलके अध्ययनके मानव 'काल्पनिक मानव' नहीं हैं। वे जीते-जागते मानव हैं, जो विभिन्न इच्छाओं, भावनाओं और वासनाओंसे प्रेरित होते हैं, जिनमें सब

---

१ मार्शल : प्रिंसिपल्स ऑफ इकॉनॉमिक्स, पृ० १।

बातें सदा एक-सी ही नहीं रहतीं। पहलेके अर्थशास्त्री जहाँ अपने आर्थिक सिद्धान्तोंको प्राकृतिक नियमोंकी भाँति, भौतिकशास्त्र और रसायनशास्त्रके नियमोंकी भाँति, निश्चित और अटल मानते थे, वह बात मार्शलमें नहीं है। वह कहता है कि अर्थशास्त्रमें गुरुत्वाकर्षणके सिद्धान्त जैसे सदा स्थिर रहनेवाले कोई सिद्धान्त नहीं हैं। इसके नियम प्राणिशास्त्रकी भाँति हैं, लहरोंके नियमकी भाँति उनमें परिवर्तन होता रहता है।

मार्शल मानवतावादका भी समर्थक है। कहता है कि अर्थशास्त्रीको मानवतावादी पहले होना चाहिए, वैज्ञानिक उसके बाद। उसे यह बात कभी विस्मरण नहीं करनी चाहिए कि उसका लक्ष्य है, अपने युगकी सामाजिक समस्याओंके निराकरणमें योगदान करना।[१]

स्पष्ट है कि मार्शल विवेकको विशिष्ट स्थान देते हुए मानवके आर्थिक क्रिया-कलापोंके अध्ययनका पक्षपाती है।

२. अध्ययनकी पद्धति

मार्शलके पहलेतक अर्थशास्त्रके अध्ययनकी पद्धतिका विवाद विशेष रूपसे चलता रहा। स्मिथ और रिकार्डो निगमन-पद्धतिके समर्थक थे। सिसमाण्डीने अनुभव, इतिहास एवं परीक्षणको महत्त्व दिया। इतिहासवादी विचारकोंने अनुगमन-पद्धतिपर जोर दिया। गणितीय शाखावाले गणितकी ओर झुके। आस्ट्रियन शाखाके मनोवैज्ञानिक विचारकोंने दोनोंका समर्थन किया।

मार्शलने निगमन एवं अनुगमन दोनों ही पद्धतियोंको अर्थशास्त्रके विकासके लिए आवश्यक माना। कहा : जिस प्रकार चलनेके लिए बायें पैरकी भी आवश्यकता है, दाहिने पैरकी भी; इसी प्रकार अर्थशास्त्रके अध्ययनके लिए दोनों ही पद्धतियोंका समयानुसार उपयोग करना चाहिए।

मार्शल कहता है कि आवश्यकतानुसार दोनों पद्धतियोंका उपयोग करनेसे ही शास्त्रीय विज्ञानका विकास सम्भव है। जहाँ पर्याप्त सामग्री, आँकड़े सहज उपलब्ध हों, प्रकृतिका प्रभाव अधिक हो, घटनाओंमें यथारुचि परिवर्तन करके परिणामोंका परीक्षण सम्भव हो, वहाँ अनुगमन-पद्धति ठीक होगी; जहाँ अवलोकन एवं परीक्षणकी सम्भावना कम हो, वहाँ निगमन-पद्धति। इसके साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि निगमन-पद्धतिके निष्कर्षोंकी परीक्षा अनुगमन-पद्धति द्वारा की जाय और अनुगमन-पद्धतिके निष्कर्षोंकी परीक्षा निगमन-पद्धतिसे। दोनोंको परस्पर पूरक बनाकर अर्थशास्त्रका विकास करना ही सर्वथा उचित है।

मार्शलपर एक ओर दर्शनका प्रभाव था, दूसरी ओर भौतिकताका। उसके दर्शनमें द्वंद्वकी छाप है। उसकी समस्त विचारधारामें दो सत्य सदैव उसके नेत्रोंके

---

१. मार्शल : वही, पृष्ठ ४२।

समक्ष हैं—एक है मनुष्य और दूसरा है भौतिक सम्पत्ति । वह दार्शनिक भी है, अर्थशास्त्री भी । आदर्शवादकी ओर भी उसका झुकाव है, वास्तविकताकी ओर भी । गणित भी उसका प्रिय विषय है और इतिहास भी । अतः उसकी विवेचनात्मक पद्धतिमें इन सभी भावोंकी झाँकी दिखाई पड़ती है ।[1]

३. अर्थशास्त्रके सिद्धान्त

मार्शलने अर्थशास्त्रके सिद्धान्तोंका अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टिसे अध्ययन करके उन्हें व्यवस्थित रूप प्रदान करनेका प्रयत्न किया। उसने शास्त्रीय पद्धतिके सभी सिद्धान्तोंको संशोधित एवं विकसित कर उन्हें उत्तम रूप दिया। उसकी 'प्रिंसिपल्स ऑफ इकॉनॉमिक्स' ऐसी रचना है, जो अर्थशास्त्रकी प्रामाणिक कृति मानी जाती है। इसमें अर्थशास्त्रके आधुनिक सिद्धान्तोंका विस्तृत विवेचन है।

मार्शलने अपनी यह रचना ६ खण्डोंमें विभाजित की है। प्रथम दो खण्डोंमें आरम्भिक सामग्री है। तृतीय खण्डमें उसने उपभोगका सिद्धान्त दिया है। चतुर्थ खण्डमें उसने उत्पादनकी समस्यापर विचार किया है, पंचममें मूल्य सिद्धान्तपर। अन्तिम खण्डमें उसने राष्ट्रीय आयके वितरणपर अपने विचार प्रकट किये हैं।

उपभोग

शास्त्रीय पद्धतिके विचारकोंका अधिकतर ध्यान उत्पादन या वितरणकी समस्याओंतक सीमित था। गणितीय शाखाके विचारक जेवन्सने उपभोगको अपने क्षेत्रका प्रमुख विषय बनाया। मार्शलने जेवन्सकी भाँति इस बातपर जोर दिया कि उपभोगकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। उसकी दृष्टिमें उपभोग ही सारे आर्थिक क्रिया-कलापका केन्द्रबिन्दु है, अतः अर्थशास्त्रमें सबसे पहले उपभोगके अध्ययनपर ध्यान देना चाहिए।

मार्शलने इच्छाओंकी विशेषताएँ बतायीं, उनका वर्गीकरण किया और एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त दिया—उपभोक्ताके अतिरेकका।

उपभोक्ताका अतिरेक वह अन्तर है, जो किसी वस्तुसे उपलब्ध समग्र उपयोगिता एवं उसपर व्यय किये गये द्रव्यकी कुल उपयोगिताके बीच होता है। पैसेकी भाषामें कहें, तो हम कह सकते हैं कि किसी वस्तुकी प्राप्तिके लिए उपभोक्ता जितना पैसा खर्च नेको प्रस्तुत हो और वस्तुतः उसे जितना पैसा उसपर खर्च करना पड़े, दोनोंका अन्तर ही उपभोक्ताका अतिरेक है।

इसका सूत्र है : उपभोक्ताका अतिरेक = वस्तुकी कुल उपयोगिता—उसपर व्यय किये गये द्रव्यकी कुल उपयोगिता।

---

१ हेने : हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ ६४८–६५१।

क − की × मा = उपभोक्ताका अतिरेक।

क = द्रव्यकी वह मात्रा, जो उपभोक्ता वस्तुको न खरीदनेकी अपेक्षा उसपर व्यय करनेको प्रस्तुत रहता है।

की = वस्तुकी कीमत।

मा = वस्तुकी खरीदी हुई मात्रा।

मुझे घर पत्र भेजना आवश्यक है, उसे भेजे बिना मैं रह नहीं सकता। उसके लिए पन्द्रह नये पैसेका लिफाफा लेना पड़े, तो भी मैं पत्र भेजूँगा, पर दस नये पैसेका अन्तर्देशीय पत्र भेजनेसे मेरा काम चल जाता है। तो, इन दोनों लिफाफोंके बीचका अन्तर (१५ − १० =) ५ नये पैसे उपभोक्ताका अतिरेक है।

समाजके विकासके फलस्वरूप समाचारपत्र, दियासलाई, वस्त्र तथा अनेक वस्तुएँ हमें अत्यधिक कम मूल्यपर उपलब्ध हो जाती हैं। उनसे प्राप्त होनेवाली संतुष्टि उनपर व्यय किये गये पैसेसे कहीं अधिक होती है।

प्रोफेसर निकलसन तथा अन्य आलोचकोंने मार्शलके इस सिद्धान्तकी कड़ी आलोचना की। उन्होंने इसे काल्पनिक एवं अवास्तविक माना। कुछने कहा कि जैसे-जैसे कोई व्यक्ति अधिक व्यय करता जाता है, द्रव्यकी उपयोगितामें वृद्धि होती जाती है। उपभोक्ताका अतिरेक मापते समय मार्शलने इसपर नहीं सोचा। उपभोक्ताके अतिरेकका सही अनुमान लगानेके लिए वस्तुकी माँग-सारिणी चाहिए, पर पूरी सारिणी तो काल्पनिक ही होगी। साथ ही विभिन्न व्यक्तियोंके लिए उपयोगिता भिन्न-भिन्न होगी। अतः एक उपभोक्ताके अतिरेककी तुलना दूसरेसे करना ठीक नहीं। आलोचकोंका मुख्य जोर इस बातपर था कि उपभोक्ताका अतिरेक सही-सही नहीं मापा जा सकता।

ऐसी आलोचनाओंमें कुछ सार तो है ही, फिर भी इस सिद्धान्तके कुछ लाभ स्पष्ट हैं। जैसे, इसके आधारपर अर्थशास्त्री विभिन्न समयोंपर विभिन्न देशोंके विभिन्न वर्गोंकी आर्थिक स्थितिकी तुलना कर सकते हैं और पता लगा सकते हैं कि उनके रहन-सहनका स्तर उठ रहा है या गिर रहा है। सरकार इसके आधारपर अपनी कर-व्यवस्थाकी ऐसी पुनर्योजना कर सकती है कि उपभोक्ताओंके अतिरेकमें न्यूनतम कमी हो। एकाधिकारी इसके आधारपर अधिकतम एकाधिकार आय प्राप्त कर सकते हैं।[1]

उत्पादन

मिलकी भाँति मार्शल उत्पादनके तीन साधन मानता है—श्रम, भूमि और

---

१ दयाशंकर दुबे : अर्थशास्त्रके मूलाधार, पृष्ठ ५८।

पूँजी। संघटन और उपक्रमका भी महत्त्व वह स्वीकार करता है। उसकी धारणा है कि भूमिमें सदा उत्पादन-ह्रास-नियम ही नहीं, उत्पादन-वृद्धि-नियम भी लागू हो सकता है। इस सम्बन्धमें उसने उत्पादन-समता-सिद्धान्त भी खोज निकाला है।

मार्शल मैल्थसके जनसंख्याके सिद्धान्तको ग्राह्य नहीं मानता। उसका कहना है कि सभ्य देशोंमें जनसंख्या जिस गतिसे बढ़ती है, उसकी अपेक्षा उत्पादन अधिक तीव्रतासे बढ़ता है।

उत्पादनकी समस्याओंपर विचार करते हुए मार्शलने प्रतिनिधि संस्थाकी कल्पना की। यह संस्था सामान्य संस्था है और अन्य संस्थाओंके उतार-चढ़ावके मध्य इसकी स्थिति सामान्य ही बनी रहती है। वह कहता है कि इस संस्थाका जीवन सुदीर्घ होता है, इसे समुचित सफलता प्राप्त होती है, इसके व्यवस्थापकोंमें सामान्य योग्यता रहती है। इसकी उत्पादन, विक्रय और आर्थिक वातावरणकी स्थितियाँ सामान्य रहती हैं। हेनेके कथनानुसार मार्शलकी यह युक्ति दीर्घकाल और अल्पकालके बीच सामंजस्य स्थापित करनेके लिए जान पड़ती है।[1] मार्शल-की यह युक्ति उतनी सफल नहीं है, जितनी उसने कल्पना कर रखी थी।[2]

मूल्य और विनिमय

मार्शलके अर्थशास्त्रका मूलाधार है उसका मूल्यका सिद्धान्त। वह यह मानकर चलता है कि मानवके आर्थिक कार्य-कलापका केन्द्रबिन्दु है बाजार। उसने बाजार और कालका अध्ययन करके माँग और पूर्तिके आधारपर वस्तुओंके मूल्यका सिद्धान्त निकाला।

मार्शलके समक्ष एक ओर थी शास्त्रीय पद्धतिकी बाह्य मान्यता और दूसरी ओर थी आस्ट्रियन विचारकोंकी आन्तरिक मान्यता। एक मूल्यके श्रम-सिद्धान्तपर जोर देती थी, दूसरी उपयोगितापर। मार्शलने इनमें कालका तत्त्व जोड़कर मूल्यका वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया।

मार्शलकी धारणा है कि कालकी दृष्टिसे बाजारके चार भेद किये जा सकते हैं :

(१) दैनिक बाजार,
(२) अल्पकालीन बाजार,
(३) दीर्घकालीन बाजार और
(४) अति-दीर्घकालीन बाजार।

मार्शल मानता है कि दैनिक बाजारमें पूर्ति पूर्णतः स्थिर रहती है। अल्प-कालीन बाजारमें स्थानान्तरित करके उसमें किंचित् वृद्धि की जा सकती है। दीर्घ-

---

१ हेने : हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ ६५४।
२ एरिक रौल : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ ४००।

कालीन बाजारमें पूर्तिमें पर्याप्त वृद्धि हो सकती है। अति-दीर्घकालीन बाजारमें नवीन आविष्कारोंका भरपूर प्रयोग करके पूर्तिको जितना चाहें, उतना बढ़ा सकते हैं।

मार्शलकी धारणा है कि वस्तुकी उत्पादन-लागत एवं उपयोगिता दोनोंका ही महत्त्व है। दोनों ही मिलकर मूल्यका निर्द्धारण करती हैं। दोनों ही कैंचीके दोनों फल हैं, जो मिलकर ही कपड़ेको काटते हैं। उनमेंसे किसी एकपर ही बल देनेका कोई अर्थ नहीं होता। वह मानता है कि अल्पकालीन बाजारमें अधिकतर माँग ही मूल्यकी निर्णायिका होती है। जैसे, छोटे स्थानमें सेनाकी टुकड़ी आ जाय, तो दूधकी माँग—उसकी उपयोगिता बढ़नेसे ग्वाले दूधके मनमाने दाम वसूल करेंगे, पर जैसे ही यह पता चले कि यह दस्ता कुछ अधिक समयतक यहाँ टिकेगा, तो दूधकी पूर्ति बढ़ानेके और प्रयत्न होंगे। फलतः पूर्ति बढ़नेसे दूधके दाम गिरने लगेंगे। ऐसा भी समय आ सकता है कि माँगकी अपेक्षा पूर्ति बढ़ जाय, तब ग्वाले इस बातकी चेष्टा करेंगे कि इस दूधको तो सस्ते मद्धे खपाना ही है, अन्यथा खराब हो जायगा। यहाँ पूर्ति ही मूल्यकी निर्णायिका हो जाती है। तो, कभी माँग और कभी पूर्ति; कभी उपयोगिता और कभी उत्पादन-लागत वस्तुके मूल्यका निर्द्धारण करती है।

मार्शल 'माँगके मूल्यों' और 'पूर्तिके मूल्यों' के बीच सन्तुलनको ही मूल्य-निर्द्धारणकी कसौटी मानता है। दोनोंकी वक्र रेखाएँ जहाँ मिलती हैं, वही मूल्य होता है।[१]

मार्शलकी धारणा है कि मूल्यके उतार-चढ़ावकी दो सीमाएँ होती हैं : एक निम्न सीमा, दूसरी उच्च सीमा। इन दोनोंके बीच ही कहींपर मूल्य स्थिर होगा। इन सीमाओंका अतिक्रमण नहीं होता। कारण, अतिक्रमणका अर्थ है, एक पक्षकी हानि। मार्शलने अनेक कोष्ठकों द्वारा अपने मूल्य-सिद्धान्तका प्रतिपादन किया। उसने माँग और पूर्तिकी लोच तथा उसके नियमका विवेचन करते हुए शास्त्रीय पद्धति और जेवन्स आदिके उपयोगिताके सिद्धान्तके बीच सामंजस्य स्थापित किया।

वितरण

मार्शलने राष्ट्रीय लाभांशके सिद्धान्तका प्रतिपादन करते हुए बताया कि वितरण और कुछ नहीं, मूल्य-सिद्धान्तका ही विस्तार है। वह मानता है कि उत्पादनके विभिन्न साधन मिलकर राष्ट्रीय लाभांशकी सृष्टि करते हैं और उस लाभांशमेंसे ही प्रत्येक साधनको एक-एक अंशकी प्राप्ति होती है।

१ हेने : हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ ६४२-६४३।

मार्शलने भाटक, मजूरी, सूदकी दर एवं मुनाफेके कई नियम बनाये हैं।

भाटकके सम्बन्धमें रिकार्डोकी ही भाँति मार्शलकी भी धारणा है कि उत्पत्तिका वह भाग, जिसपर भूमि-पति दावा करता है, 'भाटक' है। मार्शलने भाटकके सिद्धान्तका विकास करते हुए सुविधा-भेद या प्रत्यायान्तरकी धारणाका अधिक व्यापक उपयोग किया है। रिकार्डोने जहाँ इसका उपयोग केवल भूमिके सम्बन्धमें किया है, मार्शलने अन्य क्षेत्रोंमें भी इसका प्रयोग किया है।

मार्शलने 'आभास भाटक' की नयी धारणा प्रस्तुत की है। उसके मतमें 'आभास भाटक' वह अतिरिक्त आय है, जो कि भूमिके अतिरिक्त उत्पादनके अन्य साधनों द्वारा उपलब्ध होती है। यह मानवके प्रयत्नोंसे निर्मित मशीनों तथा अन्य यंत्रोंसे होती है। माँग बढ़ जानेसे जब पूर्ति माँगके अनुरूप बढ़ायी नहीं जा सकती है, तब यह अतिरिक्त आय प्राप्त होती है।

उदाहरणस्वरूप, युद्धकालमें बाहरसे वस्त्रका आयात बन्द हो जानेपर व्यापारी वस्त्रका दाम बढ़ा देते हैं और उसपर अतिरिक्त लाभ उठाते हैं। मकानोंकी कमी होनेसे किराया बढ़ जाता है। यह अतिरिक्त आय 'आभास भाटक' है। या जब कोई नया आविष्कार होता है, तो व्यापारी उससे अतिरिक्त लाभ उठाते हैं। कुछ समय बाद स्थिति सुधरनेपर यह लाभ कम हो जाता है।

मार्शल कहता है कि चल पूँजीपर प्राप्त होनेवाला ब्याज भी आभास भाटक ही है, वह पूँजीके पुराने विनियोजनोंपर प्राप्त होता है।[1] वह विशेष योग्यताके कारण होनेवाली अतिरिक्त आयको भी 'आभास भाटक' मानता है।

मजूरीके सम्बन्धमें मार्शलने कई सिद्धान्तोंका प्रतिपादन किया, परन्तु वह इस विषयमें पूर्णतः स्पष्ट नहीं है। अन्तमें वह माँग और पूर्तिको ही मजूरी-निर्धारणका मापदण्ड मानता है।

मार्शलने माँग और पूर्तिका सिद्धान्त ब्याजकी दरपर भी लागू करके पूँजीकी उत्पादनशीलता एवं आत्मत्यागके सिद्धान्तके बीच सामंजस्य लानेकी चेष्टा की।

यही पद्धति मुनाफा या लाभके क्षेत्रमें भी मार्शलने व्यवहृत की। वह कहता है कि व्यवस्थापकोंकी माँग और पूर्तिके अनुसार ही मुनाफेकी दर निश्चित होगी। उसने जोखिमके सिद्धान्तको अस्वीकार किया।

मूल्यांकन

मार्शलने यद्यपि विभिन्न विरोधी विचारधाराओंमें सामंजस्य स्थापित करनेका प्रयत्न किया, परन्तु वह ऐसा मानता नहीं। कहता है कि 'मेरा लक्ष्य सामंजस्य स्थापित करना नहीं, मेरा लक्ष्य है—सत्यका शोधन।' चैपमैन कहता

---

१ मार्शल : प्रिंसिपल्स ऑफ इकॉनॉमिक्स, १९३६, पृष्ठ ४१२।

है कि 'मार्शल पहला अर्थशास्त्री है, जिसने अर्थशास्त्रकी उपयोगिता स्थापित की।' हेने कहता है कि 'रिकार्डोके बाद महानतम अर्थशास्त्री है मार्शल।'[1]

मार्शलने शास्त्रीय पद्धतिको आधार मानकर अपनी सारी विचारधाराका महल खड़ा किया। इसलिए उसकी विचारधाराको 'नवपरम्परावाद' का नाम प्राप्त हुआ है। इच्छाओंका वर्गीकरण, उपभोक्ताका अतिरेक, उत्पादन-समता-नियम, प्रतिनिधि संस्था, मूल्य-निर्धारणमें काल-तत्त्वका प्रवेश, सीमान्त उपभोगी सीमान्त उत्पादककी धारणा, माँग और पूर्तिकी लोच, संयुक्त माँग और संयुक्त पूर्ति आदिके सम्बन्धमें मार्शलके विचार नवपरम्परावादकी विशेषताएँ हैं।

सातत्यका सिद्धान्त मार्शलकी विशिष्टता है। वह मानता है कि अर्थशास्त्र सतत विकासशील है। पुराने विचारोंकी आधारशिलापर ही आधुनिक विचारोंका विकास होता है। अर्थशास्त्रमें कालतत्त्वका प्रवेश मार्शलकी अनूठी देन है।

'केम्ब्रिज स्कूल ऑफ इकॉनॉमिक्स' की स्थापना द्वारा मार्शलने अर्थशास्त्रके विकासमें जो कल्पनातीत योगदान किया है, उसे कौन अस्वीकार कर सकता है?

परवर्ती विचारक

फ्रांसिस वाइ० एजवर्थ (सन् १८४५–१९२६), आर्थर सेसिल पिगू (सन् १८७७), पी० एच० विकस्टीड (सन् १८४४–१९२७), ए० डब्लू० फ्लक्स (सन् १८६७–१९३८), एस० जे० चैपमैन, श्रीमती राबिनसन, पी० श्राफा, डी० एच० राबर्टसन, जे० एम० केन्स, हैरोड आदि अनेक शिष्य मार्शलकी छत्रछायामें विकसित हुए हैं। इन्होंने मार्शलके सिद्धान्तोंको परिष्कृत किया है।

मार्शल पूर्ण प्रतिस्पर्द्धाका पक्षपाती था। सन् १९२० की आर्थिक दुरवस्थाने मार्शलके कुछ अनुयायियोंको यह विचारधारा त्यागनेके लिए विवश किया। श्राफा, श्रीमती राबिनसन, ई० एच० चेम्बरलेन आदिने अपूर्ण प्रतिस्पर्द्धाकी धारणा दी।

पिगू, हाब्सन आदिने मार्शलकी कल्याणवादी दृष्टिका विशेष रूपसे विकास किया। क्ले, हौट्रे आदिने आर्थिक प्रवृत्तिके नैतिक पक्षपर जोर दिया। मार्शलके प्रिय शिष्य पिगूकी 'इकॉनॉमिक्स ऑफ वेल्फेयर' (सन् १९२०) मार्शलकी 'प्रिंसिपल्स' के बाद नवपरम्परावादकी सबसे प्रमुख रचना मानी जाती है। राबर्टसन, केन्स, हैरोड आदिने द्राव्यिक अर्थशास्त्रके सिद्धान्तका विकास किया। ● ● ●

---

१ हेने : *हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट,* पृष्ठ ६५३।

सन्तुलनात्मक विचारधारा

विक्सेल

अर्थशास्त्रमें इधर थोड़े दिनोंसे एक नयी विचारधाराका उदय हुआ है। उसका नाम है—सन्तुलनात्मक विचारधारा (General Equilibrium Economics)।

इस विचारधाराका मूल आधार है यह भावना कि किसी एक वस्तुका मूल्य अथवा उसकी कीमतका, जबतक कि वह एक या अकेली है तबतक, निर्धारण नहीं हो सकता। मूल्य अन्य वस्तुपर निर्भर करता है। वह पारस्परिकतापर आश्रित है। एक वस्तुसे अन्य वस्तुकी माँग होती है। एककी स्वीकृतिका अर्थ है अन्यकी अस्वीकृति। दोनों बातें साथ-साथ चलती हैं, समानान्तरसे चलती हैं।

अभीतकके अर्थशास्त्री वैयक्तिक मूल्य-प्रणालीको आधार मानकर चलते थे। संतुलनात्मक विचारधारावालोंने कहा कि वैयक्तिक मूल्योंका निर्धारण सम्भव

नहीं। कारण, सीमान्त उपयोगिताकी माप असम्भव है। वे मानते हैं कि वैयक्तिकके स्थानपर आर्थिक समूहोंका ही अध्ययन सम्भव है।

इन विचारकोंने बुद्धिसम्मत चुनाव, वस्तुओंकी सजातिता, द्रव्यके मूल्यमें स्थिरता एवं बाजारकी अन्य स्थिरताओंके आधारपर अपना वैचारिक महल खड़ा किया। समीकरणोंके द्वारा अपनी तर्कावली उपस्थित की और इस बातपर जोर दिया कि सरकारी व्यय अथवा अधिकोष दरके नियंत्रण द्वारा वस्तुओंके मूल्यपर सफलतापूर्वक नियंत्रण स्थापित किया जा सकता है।

इस विचारधाराका जन्मदाता है—विक्सेल। कुछ लोग इसे स्वीडेनकी विचारधारा कहते हैं, कुछ लोग स्टाकहोमकी। विक्सेलके अनुयायी हैं—ओहलिन, लिंडहल और मिर्डाल। इन्होंने सन् १९२० से सन् १९४० तक अनेक महत्त्वपूर्ण शोधें कीं। इंग्लैण्डमें रावर्टसन और हिक्स जैसे विचारकोंने विक्सेलके विचारोंसे प्रेरणा ली।

विक्सेलने जिस विचारधाराका प्रतिपादन किया, उसके द्वारा आर्थिक संकट और मूल्योंके भारी उतार-चढ़ावपर अच्छा प्रकाश पड़ता है। दो महायुद्धोंके बीच वस्तुओंके मूल्योंके भयंकर उतार-चढ़ावको लेकर जो वाद-विवाद चला, उसमें विक्सेलके विचारोंका स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। द्रव्यकी बचत और पूँजीके विनियोगके सम्बन्धमें उसकी विचारधाराका विशेष महत्त्व है।[1]

जीवन-परिचय

नट विक्सेल (सन् १८५१–१९२६) का जन्म स्वीडेनमें और शिक्षण जर्मनी, आस्ट्रिया और इंग्लैण्डमें हुआ। उसने दर्शन और गणितका विशेष रूपसे अध्ययन किया। सन् १९०० से १९१६ तक वह स्वीडेनके लन्दन विश्व-विद्यालयमें अध्यापक रहा। वहीं रहकर उसने अपनी महत्त्वपूर्ण शोधें कीं।

विक्सेलकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं—'वैल्यू, कैपिटल एण्ड रेण्ट' (सन् १८९३), 'स्टडीज इन फिनान्स थ्योरी' (सन् १८९८) और 'लेक्चर्स ऑन पोलिटिकल इकॉनॉमी (दो खण्ड सन् १९०१–१९०६)।

विक्सेलपर अर्थशास्त्रकी शास्त्रीय विचारधाराका प्रभाव तो था ही, आस्ट्रियाके बम-बवार्क तथा अन्य विचारकोंका भी विशेष प्रभाव था। सीमान्त उपयोगिताके सिद्धान्तका उसने वालरसके विचारोंसे मेल बैठाकर अपने सिद्धान्तका प्रतिपादन करनेकी चेष्टा की। मार्शल, विकस्टेड, एजवर्थ आदि विचारकोंने भी उसे प्रभावित किया था।

---

१ जीद और रिस्ट : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनोमिक डाक्ट्रिन्स, पृष्ठ ७२४।

प्रमुख आर्थिक विचार

विक्सेलके प्रमुख आर्थिक विचारोंको तीन भागोंमें विभाजित किया जा सकता है :

(१) पूँजी और व्याजका सिद्धान्त,
(२) व्याज और कीमतोंका सिद्धान्त और
(३) बचत और विनियोगका सिद्धान्त।

१. पूँजी और व्याज

विक्सेल यह मानता है कि गत वर्षका बचाया हुआ श्रम और बचायी हुई भूमि मिलकर 'पूँजी' बनती है। उसके मतसे चालू वर्षके साधनोंमेंसे कुछ बचत करनी आवश्यक है। वही आगामी वर्षके लिए पूँजीका काम करेगी।

सीमान्त उत्पत्तिकी सहायतासे विक्सेल मूल्य एवं वितरणका सामंजस्य स्थापित करना चाहता है।[1] वह कहता है कि प्रतीक्षाकी सीमान्त उत्पत्ति ही व्याज है। *संचित श्रम एवं भूमिकी उत्पत्ति और चालू श्रम एवं भूमिके उत्पत्तिके* बीच जो अन्तर होता है, वही 'व्याज' है। वह यह मानकर चलता है कि ये दोनों कभी बराबर नहीं होंगे, इसलिए व्याजकी दर कभी भी शून्य नहीं हो सकती।

२. व्याज और कीमतें

विक्सेलकी दृष्टिसे व्याजकी दो दरें होती हैं :

(१) प्राकृतिक दर और
(२) बाजार-दर।

प्राकृतिक दर वह दर है, जो बचत और विनियोगको समान करती है। वह पूँजीकी सीमान्त उत्पत्तिके बराबर रहती है। यह दर स्थिर रहती है।

बाजार-दर वह दर है, जो बाजारमें चालू रहती है। द्रव्यकी माँग और पूर्तिके हिसाबसे इसका निर्णय होता है।

विक्सेल इन दोनों दरोंका पारस्परिक सम्बन्ध बताते हुए अपना कीमतोंका सिद्धान्त उपस्थित करता है। उसका कहना है कि प्राकृतिक दर और बाजार-दर का परस्पर सम्बन्ध होता है। बाजार-दर यदि प्राकृतिक दरसे नीची हो, तो कम बचत की जायगी और उपभोगपर अधिक व्यय होगा। इसके कारण विनियोगकी माँग बढ़ेगी और वस्तुओंकी कीमत चढ़ने लगेगी। इसके विरुद्ध यदि बाजार-दर

---

१ हेने : हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ ६६४।

प्राकृतिक दरसे ऊँची होगी, तो उसके फलस्वरूप उत्पादकोंको घाटा होगा और वस्तुओंकी कीमतें गिर जायँगी ।

विक्सेल कहता है कि यह आवश्यक नहीं कि समृद्ध देशमें ऊँची कीमतें हों ही ।[1]

विक्सेलका कहना है कि अधिकोष दरपर नियंत्रण करके वस्तुओंकी कीमतोंपर नियंत्रण स्थापित किया जा सकता है ।

३. बचत और विनियोग

विक्सेलकी धारणा है कि कीमतें गिरनेपर लोग कम खर्चमें ही पहलेके समान उपभोग कर सकते हैं । इससे ऐसा प्रतीत होता है कि वस्तुओंकी माँग शायद बढ़ेगी, पर ऐसा होता नहीं । कीमतें गिरनेसे कुछ लोग पैसा बचा पाते हैं, कुछ लोग नहीं । कुछ की आय कम हो जाती है । वे कम उपभोग कर पाते हैं । फलतः वस्तुओंकी कुल माँग ले-देकर स्थिर ही रह जाती है । उसमें कोई विशेष वृद्धि नहीं हो पाती ।

बचत करनेवाले और विनियोग करनेवाले लोग भिन्न-भिन्न होते हैं । अतः यह आवश्यक नहीं कि सारी बचतका विनियोग हो ही । एकका व्यय दूसरेकी आय होता है । यदि विनियोग न हो, तो वस्तुओंकी माँग कम होगी और माँग कम होनेका प्रभाव यह होगा कि वस्तुओंकी कीमत गिर जायगी ।

विक्सेलने यह माना है कि बैंक-दरपर नियंत्रण करके, उसे घटा-बढ़ाकर विनियोगको घटाया-बढ़ाया जा सकता है, वस्तुओंका उत्पादन घटाया-बढ़ाया जा सकता है और वस्तुओंकी कीमतें भी घटायी-बढ़ायी जा सकती हैं ।

बैंक-दरकी महत्ता बताकर विक्सेलने सबसे पहले अर्थशास्त्रियोंका ध्यान इस ओर आकृष्ट किया । आज केन्द्रीय बैंक इस साधनके सहारे मूल्य-नियंत्रण करनेका प्रयत्न करते हैं ।

शिष्य-परम्परा

विक्सेलके विचारोंको उसकी शिष्य-मण्डलीने आगे बढ़ाया । गुन्नर मिर्डालने अपनी पुस्तक 'प्राइसिस एण्ड दि चेंज फैक्टर' (सन् १९२७) में इस बातपर जोर दिया है कि वस्तुओंकी कीमत निश्चित करनेमें अनिश्चितताका कितना हाथ रहता है । ई० लिंडहालने 'दि मेथड्स ऑफ मोनेटरी पालिसी' (सन् १९३०) और बी० ओहलिनने 'रेमेडीज ऑफ अन-एम्प्लायमेण्ट' (सन् १९३५) पुस्तकोंमें विक्सेलके विचारोंको प्रशस्त किया । इन शिष्योंकी विशेषता यह है कि

---

१ जीद और रिस्ट : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन्स, पृष्ठ ६८४-६८५ ।

इन लोगोंने गुरुके कुछ मूलभूत सिद्धान्तोंसे अपना मतभेद प्रदर्शित किया है।[1] ह्विबेरियर और लियोनटिफने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारपर अपने विचार प्रकट किये हैं।

सन्तुलनात्मक विचारधाराके कालतत्त्वका केम्ब्रिज विश्वविद्यालयके प्राध्यापक डी० एच० राबर्टसनपर विशेष प्रभाव पड़ा। पर विक्सेल जहाँ संतुलनात्मक स्थितिको स्थिर मानता है, राबर्टसन उसे अस्थिर मानता है। उसकी रचना 'बैंकिंग पालिसी एण्ड दि प्राइस लेवेल' (सन् १९३२) अपने विषयकी प्रामाणिक रचना मानी जाती है।[2] लंदनके स्कूल ऑफ इकॉनॉमिक्सके जे० आर० हिक्सने 'वैल्यू एण्ड कैपिटल' (सन् १९३९) में सन्तुलनात्मक सिद्धान्तका विशद वर्णन किया है।[3]

---

१ जीद और रिस्ट : वही, पृष्ठ ७२५।

२ एरिक रौल : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ ४५८।

३ एरिक रौल : वही, पृष्ठ ४६४।

अमरीकी विचारधारा

तीन धाराएँ

अमेरिका अत्यन्त समृद्धिशाली देश है। उसकी समृद्धि आधुनिक जगत्की दृष्टि चकमका देती है। नया देश, साधनोंका बाहुल्य और आधुनिक आविष्कार—तीनोंने मिलकर उसकी समृद्धिमें चार चाँद लगा दिये हैं। यह बात दूसरी है कि वैभवकी बगलमें ही दारिद्र्य भी वहाँ पनप रहा है।

पूर्वपीठिका

अमेरिकामें शास्त्रीय पद्धतिका जिस प्रकार विकास हुआ, उसकी चर्चा की जा चुकी है। यों वहाँ अर्थशास्त्रका विकास मुख्यतः बीसवीं शताब्दीमें ही हुआ।

उसके पूर्व अमेरिकाके आर्थिक विकासके तीन काल माने जाते हैं :

आरम्भिक कालमें हेनरी कैरे ही वहाँका प्रमुख विचारक था। उस समय संरक्षण एवं आशावादपर ही वहाँ सबसे अधिक जोर था।

मध्यवर्ती कालमें आर्थिक समस्याओंकी ओर लोगोंका ध्यान विशेष रूपसे आकृष्ट हुआ। शास्त्रीय पद्धतिका ही प्राधान्य रहा। इस कालके प्रमुख विचारक थे—आमसा वाकर, जान बैस्कम और ए० एल० पेरी।

तीसरा काल है सन् १८८५ के लगभगका। इसमें उद्योगोंका विस्तार, रेलों, कारपोरेशनोंकी समस्याएँ—हड़ताल और श्रम-आन्दोलनोंकी भरमार रही। सम्पन्नता और दरिद्रता, दोनोंकी साथ-साथ वृद्धिने हेनरी जार्जका ध्यान इस ओर आकृष्ट किया और उसने दरिद्रताकी समस्याके समाधानके लिए भूमिके समाजीकरण और एक-कर-प्रणालीका जो तीव्र आन्दोलन छेड़ा, उसकी प्रतिध्वनि आज भी सुनाई पड़ती है।[1]

तीन आर्थिक धाराएँ

शीघ्र ही अमेरिकामें जर्मनीकी इतिहासवादी विचारधारा और आस्ट्रियाकी मनोवैज्ञानिक विचारधारा पनपने लगी। प्रोफेसर क्लार्क भी लगभग ऐसे ही विचारोंका प्रतिपादन कर रहे थे। तभी वहाँ 'अमेरिकन इकॉनॉमिक असोसियेशन' की स्थापना हुई। एले, अदम्म, जेम्स, सैलिगमैन जैसे विचारकोंने इस संस्थाको परिपुष्ट किया। इस संस्थाने अर्थशास्त्रीय विचारधाराके अध्ययन, मनन, चिन्तनका मार्ग प्रशस्त किया। आगे चलकर अमरीकी विचारधाराने तीन धाराएँ पकड़ीं :

(१) परम्परावादी धारा (Traditional Economics),

(२) संस्थावादी धारा (Institutionalism) और

(३) समाज-कल्याणवादी धारा (New Welfare School)।

परम्परावादी धाराके दो भाग हैं—एक विषयगत, दूसरा बाह्य। क्लार्क, पैटन, फिशर और फैटर पहले भागमें आते हैं। उनपर आस्ट्रियन विचारकोंका विशेष प्रभाव है। दूसरे भागमें आते हैं टासिग और कारवर। उनपर मिल और मार्शलका प्रभाव है। प्रोफेसर एले पुरानी इतिहासवादी विचारधाराके विचारक माने जा सकते हैं। सैलिगमैन और डेवनपोर्टके विचार भी इनसे मिलते-जुलते हैं।

संस्थावादी धाराके विचारकोंमें भी दो भाग हैं—एक पुरानी पीढ़ीवाले, दूसरे नयी पीढ़ीवाले। वेब्लेन और मिचेल पुरानी पीढ़ीवाले हैं; हैमिल्टन, टगवैल, एटकिन्स, वोल्फ आदि नयी पीढ़ीवाले।

समाज-कल्याणवादी धाराके विचारकोंमें अग्रगण्य हैं—टर्नर, लांज, शुंपटर, बर्गसन आदि।

---

१ हेने : हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ ७१६-७१९।

इनके अतिरिक्त नाइट, वीनर, हैनसन, डगलस, गुल्ज फेल्नर, सैमुअलसन आदि अनेक विचारक स्वतंत्र रूपसे अपने विचारोंका प्रतिपादन कर रहे हैं।

यहाँ हम कुछ प्रमुख विचारकोंपर संक्षेपमें विचार करेंगे।

परम्परावादी धारा

क्लार्क

परम्परावादी धाराका सबसे प्रभावशाली व्यक्ति है—जोनबेट्स क्लार्क (सन् १८४७–१९३८)। वह सन् १८९५ से १९२३ तक कोलम्बिया विश्वविद्यालयमें प्राध्यापक रहा। इसकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं—'दि फिलासॉफी ऑफ वेल्थ' (सन् १८८५), 'दि डिस्ट्रीब्यूशन ऑफ वेल्थ' (सन् १८९९) और 'एसेन्शल्स ऑफ इकॉनॉमिक थ्योरी' (सन् १९०७)। क्लार्कपर नीस, वालरा और हेनरी जार्जका प्रभाव था।

क्लार्कने अर्थव्यवस्थाके स्थिर और अस्थिर दो स्वरूप बताये। वह मानता है कि जनसंख्या, पूँजी, उत्पादनके प्रकार, उद्योगोंका स्वरूप और उपभोक्ताओंकी आवश्यकताएँ जब ज्योंकी त्यों रहती हैं, तो आर्थिक स्थिति स्थिर रहती है। इस स्थैतिक समाजमें निश्चिन्तता रहती है, उत्पादनके साधनोंको समुचित अंश प्राप्त होता है और लाभ शून्य रहता है। पर जब आर्थिक स्थिति अस्थिर रहती है, तो लाभका जन्म होता है। स्थितिकी गतिशीलतासे श्रमिकोंको लाभ होता है।

क्लार्क सीमान्त उत्पादकताके अपने सिद्धान्तके लिए प्रख्यात है।

क्लार्क पूर्ण प्रतिस्पर्द्धाका समर्थक था। वह मानता था कि पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा होनेपर ही उत्पादनके सभी साधनोंको समुचित अंश प्राप्त होता है और किसीका शोषण नहीं होता।

अमरीकाके प्रमुख अर्थशास्त्रियोंमें क्लार्ककी गणना की जाती है। यद्यपि उसके स्थिर स्थितिके सिद्धान्त आदिकी तीव्र आलोचना हुई है, फिर भी अमरीकी विचारधारापर उसका प्रभाव अत्यधिक है।[1]

पैटन

साइमन एन० पैटन (सन् १८५२–१९२२) अमरीकाका अत्यन्त मौलिक अर्थशास्त्री माना जाता है। उसकी प्रमुख रचनाएँ हैं—'प्रिमिसेज ऑफ पोलिटिकल इकॉनॉमी' (सन् १८८५), 'दि कन्जम्पशन ऑफ वेल्थ' (सन् १८८९), 'डिनैमिक इकॉनॉमिक्स' (सन् १८९२) और 'दि थ्योरी ऑफ प्रासपैरिटी' (सन् १९०२)।

---

१. हेने : वही, पृष्ठ ७२४–७२७।

पैटनने क्लार्कका स्थैतिक सिद्धान्त अस्वीकार करते हुए उसे 'कल्पनाकी उड़ान' बताया। वह परम आशावादी था। उसने उपभोगके महत्त्वका विकास किया। समाज-हितके लिए उसने सरकारी हस्तक्षेपका विशेष रूपसे समर्थन किया।[1]

फिशर

इर्विंग फिशर (सन् १८६७–१९४७) प्रसिद्ध गणितज्ञ हैं और बमवबार्कका शिष्य। उसकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं—'दि नेचर ऑफ कैपिटल एण्ड इनकम' (सन् १९०६), 'दि रेट ऑफ इण्टरेस्ट' (१९०७) और 'दि थ्योरी ऑफ इण्टरेस्ट' (सन् १९३०)।

फिशरके दो सिद्धान्त विशेष रूपसे प्रख्यात हैं—समयका अभिमान-सिद्धान्त और द्रव्यका परिमाण-सिद्धान्त।

फिशरका कहना है कि प्रत्येक व्यक्ति भविष्यके उपभोगपर वर्तमानके उपभोगको प्राधान्य देता है। यदि उसे इससे विरत करना है, तो उसे कुछ लोभ देना आवश्यक है। वर्तमानमें उपभोगके लिए मानवका अधैर्य कई बातोंपर निर्भर करता है। जैसे, आयकी मात्रा, आयका समयानुसार वितरण, भविष्यमें आयकी निश्चितता, मनुष्यका स्वभाव, उसकी दूरदर्शिता, उसका आत्मनियंत्रण आदि। मनुष्यकी आय कम होती है, तो भविष्यके लिए बचानेको वह लेशमात्र भी उत्सुक नहीं रहता। अधिक रहती है, तो वह कुछ बचाता है और वर्तमानमें ही उसका उपभोग करनेको वह उतावला नहीं रहता। समयके साथ-साथ आय बढ़ती है, तो बचानेकी प्रवृत्ति होती है, अन्यथा नहीं। उसके स्वभाव आदिपर भी बहुत कुछ निर्भर करता है। फिशर कहता है कि ब्याजकी दर उधार देनेवालोंके समय-अभिधानपर निर्भर करती है।[2]

फिशरके द्रव्यके परिमाण-सिद्धान्तमें मुख्य बात यह है कि द्रव्यकी मात्रामें और द्रव्यके मूल्यमें प्रतिकूल सम्बन्ध रहता है। जब परिचलनमें द्रव्यकी मात्रा बढ़ जाती है, तो द्रव्यका मूल्य घट जाता है, पर जब द्रव्यकी मात्रा घट जाती है, तो द्रव्यका मूल्य बढ़ जाता है। यह नियम लागू होनेकी अनिवार्य शर्त है—'अन्य बातें समान रहने पर'! फिशरका परिमाण-सूत्र यों है—

$$प = \frac{म क + म' व'}{८}$$

$$प = \text{कीमतोंका स्तर या } \frac{१}{प} = \text{द्रव्यका मूल्य}$$

---

१ हेने : वही, पृष्ठ ७२७-७२८।

२ एरिक रोल : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन्स, पृष्ठ ४३५।

ट = द्रव्य द्वारा होनेवाले सौदे

म = धातुका द्रव्य म' = साख द्रव्य

व = द्रव्यका चलनवेग व' = साख द्रव्यका चलनवेग

फिशरने द्रव्य और साखकी प्रवहमानताका सिद्धान्त भी दिया है। इसमें उसने कहा है कि कीमतके स्तरोंमें परिवर्तन होनेसे मंदी आती है। उत्पादन निरन्तर बढ़ता रहे और द्रव्यकी राशि स्थिर रहे, तो कीमतें गिर जायँगी और आर्थिक संकट उत्पन्न हो जायगा।

फिशरकी धारणा थी कि आयमें केवल उन मौतिक पदार्थोंकी ही गणना नहीं करनी चाहिए, जिनका उत्पादन होता है, प्रत्युत उन सेवाओंकी भी गणना करनी चाहिए, जो उन पदार्थोंसे प्राप्त होती हैं।

फिशरने गणितीय सूत्रोंसे अपने सिद्धान्तोंका प्रतिपादन किया है। अमेरिकामें मन्दी रोकनेके लिए फिशरके विचारोंको व्यवहारमें लानेकी चेष्टा की गयी।

फैटर

फ्रैंक ए० फैटर (सन् १८६३–१९४९) इस बातमें विश्वास करता था कि समाज-कल्याणको अर्थशास्त्रमें ऊँचा स्थान मिलना चाहिए। अर्थशास्त्रका कर्तव्य है कि वह मानवको उसके लक्ष्यकी पूर्तिमें सहायक बने।[1] उसकी प्रमुख रचना है–'इकॉनॉमिक प्रिंसिपल्स' (सन् १९१५)। फैटरने फिशरके ब्याजके सिद्धान्तकी यह कहकर टीका की कि उसने उसमें 'उत्पत्ति' का सिद्धान्त जोड़ दिया है। फैटरकी दृष्टिमें ब्याज और कुछ नहीं, वह है मौजूदा माल और आगामी मालके वर्तमान मूल्यांकनका अन्तर।

फैटर पहले आस्ट्रियन विचारधारासे प्रभावित था, पर बादमें वह यह मानने लगा कि मूल्य सीमान्त उपयोगिताकी अपेक्षा स्वतंत्र रुचिपर अधिक निर्भर करता है।

टासिग

हार्वर्ड विश्वविद्यालयके प्राध्यापक एफ० डब्लू० टासिग (सन् १८५९–१९४०) की रचना 'प्रिंसिपल्स ऑफ इकॉनॉमिक्स' (सन् १९११) अर्थशास्त्र की परम प्रख्यात रचना मानी जाती है। टासिगकी गणना विश्वके प्रमुख अर्थशास्त्रियोंमें की जाती है।

टासिगने शास्त्रीय पद्धति, नवपरम्परावाद और आस्ट्रियन विचारोंका सामंजस्य स्थापित करनेकी चेष्टा की है। वह फिशर, मार्शल, मिल, बमबावर्कसे विशेष रूपसे प्रभावित था।

---

१ हेने : हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ ७२०।

टासिगका लाभका मजूरी सिद्धान्त और सीमान्त उत्पत्तिकी छूटका मजूरी सिद्धान्त प्रसिद्ध है। टासिग मानता है कि लाभ एक प्रकारसे साहसोद्यमीकी मजूरी है, जो उसे उसकी विशेष योग्यता एवं बुद्धिमत्ताके फलस्वरूप प्राप्त होती है। उसकी दृष्टिसे स्वतंत्र व्यवस्थापक और वेतनभोगी व्यवस्थापकमें कोई अन्तर नहीं होता।[1] मजूरीके सम्बन्धमें टासिगकी धारणा है कि चूँकि उत्पादित वस्तुकी बिक्रीके पहले ही मजदूरको मजूरी दे दी जाती है, इसलिए उत्पादक सीमान्त उत्पत्तिसे कुछ कम मजूरी देता है। वह उसमें थोड़ासा बट्टा काट लेता है।

कारवर

टी० एन० कारवरकी रचना 'डिस्ट्रीब्यूशन ऑफ वेल्थ' (सन् १९०४) विशेष रूपसे प्रख्यात है। केवल मनोवैज्ञानिक प्रतिपादनका उसने विरोध किया। उसका कहना था कि आर्थिक वातावरणके महत्त्वको भुलाकर एकमात्र मनोवैज्ञानिक पक्षपर जोर देना ठीक नहीं।

आस्ट्रियन विचारधाराके आलोचन एवं ह्रासी प्रत्याय नियमके पुनर्व्यंजनके कारण कारवरकी प्रसिद्धि है। वह भूमि, श्रम और पूँजीके क्षेत्रमें ह्रासमान उत्पत्ति नियम लागू करनेके पक्षमें है, उपक्रमीके पक्षमें नहीं।[2]

एले

रिचर्ड टी० एले (सन् १८५४–१९४३) का अमेरिकाके अर्थशास्त्रियोंपर विशेष प्रभाव है और उसने अमरीकी विचारधाराको मोड़नेमें महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

एलेकी आर्थिक धारणाओंकी परिभाषाएँ और उसका क्षेत्र-निर्धारण प्रसिद्ध है। यों उसकी आर्थिक धारणाएँ टासिग और कारवरसे मिलती-जुलती-सी हैं, परन्तु उसका दर्शन उनसे सर्वथा भिन्न है।[3]

एलेने सामाजिक संस्थाओंके उद्भवके महत्त्वपर विशेष जोर दिया और उसी दृष्टिसे उसने व्यक्तिगत सम्पत्ति आदिकी समस्याओंपर विचार किया। उसके समकालीन विचारक ऐसा मानने लगे थे कि एले समाजवादी हो गया था, परन्तु बादमें उनकी यह धारणा भ्रामक सिद्ध हुई।

---

१ जीद और रिस्ट : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन्स, पृष्ठ ६८१।

२ हेने : हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ ७३१।

३ हेने : वही, पृष्ठ ७३२।

सेलिगमैन

प्रोफेसर एडविन आर० ए० सेलिगमैन (सन् १८६१–१९३९) की गणना विश्वके प्रख्यात अर्थशास्त्रियोंमें की जाती है। कर-प्रणालीके सम्बन्धमें सेलिगमैनका अनुदान विशेष उल्लेखनीय है। उसकी रचना 'प्रिंसिपल्स ऑफ इकॉनॉमिक्स' (सन् १९०५) अत्यन्त प्रसिद्ध है।

सेलिगमैनने शास्त्रीय परम्पराकी विभिन्न धारणाओंका नवपरम्परावाद और आस्ट्रियन धारा तथा इतिहासवादके साथ सामंजस्य स्थापित करनेका प्रयत्न किया है।

'अमेरिकन इकॉनॉमिक असोसियेशन' के विकासमें सेलिगमैनने सक्रिय भाग लिया। सामाजिक विज्ञानके विश्वकोषका वह प्रधान सम्पादक भी रहा था।

डेवनपोर्ट

प्रोफेसर एच० जे० डेवनपोर्ट (सन् १८६१–१९३१) का विशेष अनुदान है 'उपक्रमीका दृष्टिकोण' और उससे सम्बद्ध 'अवसरजनित लागत'। उसके सिद्धान्तमें कीमतोंकी कल्पना की गयी है और सीमान्त उपयोगिताओं और अनुपयोगिताओंको उसीपर आश्रित किया गया है। प्रमुख बातोंमें उसका यह सिद्धान्त कैसलकी 'मूल्य-व्यवस्था' से सम्बद्ध है, पर गणितज्ञ न होनेसे उसने अन्य मार्ग ग्रहण किया है।[1]

संस्थावादी धारा

सन् १८०९ में वेबलेनकी एक पुस्तक प्रकाशित हुई—'थ्योरी ऑफ दी लेजर क्लास'। इस रचनाने अमरीकी विचारधाराकी एक नयी धाराको जन्म दिया। संस्थावादी धाराने क्रमशः इतना प्रभाव बढ़ा लिया कि रूजवेल्टने शासन-सूत्र हाथमें लेते ही कई संस्थावादियोंको अपने शासनके परामर्शदाताओंमें स्थान दिया।

संस्थावादी विचारकोंमें यों तो अनेक बातोंमें परस्पर मतभेद है, पर निम्नलिखित ५ बातोंमें वे एकमत हैं[2] :

(१) उनका विश्वास है कि अर्थशास्त्रके अध्ययनका केन्द्रबिन्दु होना चाहिए समुदायका व्यवहार, न कि वस्तुओंकी कीमत।

---

१ हेने : वही, पृष्ठ ७३२।
२ हेने : वही, पृष्ठ ७४१।

(२) वे यह मानते हैं कि मानव-व्यवहार सतत परिवर्तनशील है और आर्थिक सिद्धान्त काल और देशके सापेक्ष होने चाहिए।

(३) वे इस बातपर जोर देते हैं कि रीति-रिवाज, आदत और कानून आर्थिक जीवनको विशेष रूपसे प्रभावित करते हैं।

(४) उनकी मान्यता है कि व्यक्तियोंको प्रभावित करनेवाली आवश्यक मनोवृत्तियोंको मापना सम्भव नहीं।

(५) उनकी यह धारणा है कि आर्थिक जीवनमें जो कुव्यवस्थाएँ दीख पड़ती हैं, उन्हें सामान्य सन्तुलित अवस्थासे बहुत दूर नहीं मानना चाहिए। वे सामान्य ही हैं—कम-से-कम वर्तमान संस्थाओंमें।

संस्थावादी विचारकोंकी अनेक धारणाएँ इतिहासवादियोंसे साम्य रखती हैं। जैसे :[1]

(१) दोनों ही संस्थाओंको महत्त्व देते हैं।

(२) दोनों ही सापेक्षिकताके सिद्धान्तपर बल देते हैं।

(३) दोनों परिवर्तनपर और किसी प्रकारके उद्भवपर जोर देते हैं।

(४) दोनों ही शास्त्रीय विचारधाराका इस आधारपर तीव्र विरोध करते हैं कि वह व्यक्तिवाद और स्वार्थकी भावनाको ही आर्थिक कार्योंकी प्रेरिका मानती है।

(५) दोनों ही मानवीय व्यवहारके वास्तविक अध्ययनपर जोर देते हैं, काल्पनिक सिद्धान्तोंपर विश्वास नहीं करते।

मजेकी बात है कि आस्ट्रियन विचारकोंने इतिहासवादी विचारकोंपर प्रहार किया और संस्थावादियोंने आस्ट्रियनोंपर !

संस्थावादी विचारकोंकी यह मान्यता है कि आर्थिक संस्थाएँ ही सारे आर्थिक कार्यकलापकी निर्णायिका शक्ति हैं और इन आर्थिक संस्थाओंका उद्भव होता है मनोवैज्ञानिक आदतोंसे, रीति-रिवाजोंसे और वर्तमान सामाजिक और आर्थिक व्यवस्थासे। सामूहिक आदतोंसे ही संस्थाओंका निर्माण होता है और सामूहिक आदतें बनती हैं वंश-परम्परासे, संस्कृतिसे और वातावरणसे। संस्थावादी मानते हैं कि संस्थाओंके अध्ययनसे हमें आर्थिक व्यवहारकी कुंजी प्राप्त हो सकती है।

वेबलेन

वेबलेन संस्थावादका जन्मदाता है। वह पूँजीवादका घोर विरोधी है, पर मार्क्सवादी नहीं। समाज-परिवर्तन और प्रगतिमें मार्क्सकी भाँति उसकी भी

---

१ हेने : वही, पृष्ठ ७४३-७४४।

आस्था है, वर्ग-संघर्षका वह भी पक्षपाती है, शास्त्रीय विचारधाराका वह भी आलोचक है, पर मार्क्स एक छोरपर है, वेब्लेन दूसरे छोरपर। ऊपरसे दोनोंमें साम्य दीखता है, पर वस्तुतः दोनोंमें साम्य है नहीं।[1] मार्क्स जहाँ उत्पादनके साधनों और सामाजिक संस्थाओंके विकासका अध्ययन करता है, वेब्लेन वहाँ इनसे उत्पन्न और प्रतिकृत भावनाका अध्ययन करता है। एक जहाँ वस्तुस्थिति और वास्तविकता-प्रधान है, दूसरा वहाँ भावना-प्रधान।

वेब्लेनपर चार्ल्स पीयर्सकी वैज्ञानिक पद्धति, दार्शनिकता और रूढ़िहीनताका, विलियम जेम्स और जान डेवीकी व्यापक दृष्टिका, डारविनके विकासवादका, मार्गनके प्राचीन समाजका तथा मार्क्सका सिद्धान्तोंको वस्तुस्थितिकी दृष्टिसे देखनेका प्रभाव था। इतना ही नहीं, तत्कालीन समाजकी स्थितिका, पूँजीवादके विकास एवं उसके अभिशापका भी उसपर प्रभाव पड़ा था। रौलके कथनानुसार वह अपने युगकी उपज था। उसपर उसके जीवन, कार्य और वातावरणका स्पष्ट प्रभाव था।[2]

थोर्स्टीन वेब्लेन (सन् १८५७–१९२९) अत्यन्त साधारण परिवारमें जनमा, पला, पनपा; पर बुद्धि बचपनसे तीक्ष्ण थी। क्लार्कके चरणोंमें बैठकर उसने विभिन्न विषयोंका अध्ययन किया। बादमें शिकागोमें अर्थशास्त्र-विभागका अध्यक्ष बन गया। वह 'जर्नल ऑफ पोलिटिकल इकॉनॉमी' का सम्पादक भी रहा। उसकी प्रमुख रचनाएँ हैं—'दि थ्योरी ऑफ लेजर क्लास' (सन् १८८९), 'दि थ्योरी आफ बिजिनेस एण्टरप्राइज' (सन् १९०४), 'दि इन्सटिन्क्ट ऑफ वर्कमैनशिप' (सन् १९१४) और 'इञ्जीनियर्स एण्ड दि प्राइज सिस्टम' (सन् १९२१)।

प्रमुख आर्थिक विचार

वेब्लेनकी मान्यता थी कि शास्त्रीय विचारधाराका आधार व्यक्तिवाद और स्वार्थकी भावना है, जो कि गलत है। उसके मतसे अर्थशास्त्र ऐसा विज्ञान है, जो क्रमशः विकसित होता चल रहा है। भौतिक वातावरणका मानवपर बहुत कम प्रभाव पड़ता है। मानवकी अन्तःप्रेरणा और संस्थाएँ ही उसे प्रभावित करती हैं। वेब्लेनकी धारणा थी कि जब किसी समस्याका अध्ययन करना हो, तो अन्तःप्रेरणा और संस्थाओंका तो आश्रय लेना ही चाहिए, उसके साथ-साथ विभिन्न विज्ञानोंकी भी सहायता लेनी चाहिए। वेब्लेन मानता है कि अन्तःप्रेरणाको

---

१ एरिक रौल : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ ४४८।

२ एरिक रौल : वही, पृष्ठ ४४०–४४२।

कार्यान्वित करनेके लिए जो कार्य किये जाते हैं, वे ही आगे चलकर आदतका रूप धारण कर लेते हैं और उन्हींके द्वारा संस्थाओंका उदय एवं विकास होता है। ये संस्थाएँ ही वेबलेनके अध्ययनका मूल आधार हैं।

वेबलेनकी दृष्टिसे मुख्य संस्थाएँ केवल दो हैं : सम्पत्ति और उत्पादनके प्रौद्योगिक प्रकार। वह मानता है कि वैज्ञानिक पद्धतिपर ज्यों-ज्यों उत्पादनका विकास होने लगा, त्यों-त्यों सम्पत्ति-स्वामी अधिकाधिक मुनाफा कमाने लगे और मुफ्तकी कमाईपर गुलछर्रे उड़ाने लगे। इसके अतिरिक्त वे वैज्ञानिक और प्रौद्योगिक ज्ञानपर भी अपना स्वामित्व स्थापित करने लगे। यहींतक बस नहीं, उन्होंने उत्पादनपर नियंत्रण कर, कीमतोंको चढ़ाकर अति-उत्पादनको, वर्ग-संघर्षको और आर्थिक संकटको जन्म दिया।[1]

वेबलेनकी लेखनी बड़ी जोरदार थी। उसकी भाषामें व्यंग्य भी है, भावना भी; प्रवाह भी है, तीव्रता भी। यही कारण है कि उसके विचारोंका अमरीकी विद्वानोंपर अच्छा प्रभाव पड़ा।

मिचेल

वेसेल सी० मिचेल (सन् १८७४–१९४८) कोलम्बिया विश्वविद्यालयमें प्राध्यापक था। उसने आँकड़ोंपर बड़ा जोर दिया। व्यापारचक्रोंपर उसकी रचना 'मेजरिंग बिजनेस साइकिल्स' (सन् १९४६) बड़ी महत्त्वपूर्ण है।

मिचेलने व्यापार-चक्रके चार रूप बताये हैं :

१. विस्तार (ऊपरकी ओर गति),
२. अवरोध,
३. संकुचन (नीचेकी ओर गति) और
४. पुनर्लाभ।
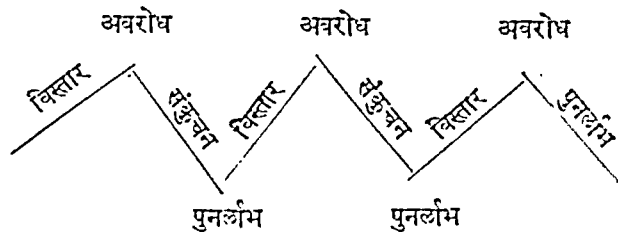
मिचेलकी धारणा है कि अन्तःप्रेरणा ही वह मूलशक्ति है, जो मानवीय व्यवहारको प्रेरित करती है। वह मानता है कि अर्थशास्त्रमें मानवीय व्यवहारका

---

१ हेने : हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट पृष्ठ ७५४-७५६।

ही अध्ययन होना चाहिए। उसमें ऐतिहासिक शोध भी हो और सैद्धान्तिक भी। संस्थाओं और संस्कृतिके विकासके अध्ययनपर मिचेल विशेष जोर देता है।[1]

आँकड़ोंके माध्यमसे अर्थशास्त्रीय शोध करनेके क्षेत्रमें मिचेलका अनुदान अत्यधिक प्रशंसनीय माना जाता है।[2]

नयी पीढ़ी

पुरानी पीढ़ीने जहाँ संस्थाओंके विश्लेषणमें अपनेको सीमित रखा, वहाँ नयी पीढ़ीके संस्थावादियोंने यह सोचा कि आदतों, कानूनों और आर्थिक संस्थाओंने एक सरीखी बातोंको लेकर आर्थिक सिद्धान्तोंकी रचना की जा सकती है। सामाजिक नियंत्रण द्वारा संस्थाओंकी दिशा मोड़ी जा सकती है। आत्मचेतना और आत्मनियंत्रण उसका मार्ग हो सकता है। पर ये विचारक अपनी कल्पनाके अनुकूल आर्थिक सिद्धान्तोंका प्रतिपादन करनेमें समर्थ नहीं हो सके। यों समाज-विज्ञान, इतिहास और अंकशास्त्रकी दृष्टिसे उनका अनुदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

संस्थावादका प्रभाव अमेरिकापर सबसे अधिक पड़ा। यूरोपमें सिमाक और सोम्बार्ट जैसे विचारक उससे प्रभावित हुए हैं। भारतमें राधाकमल मुकर्जी और विनय सरकार जैसे अर्थशास्त्री इस ओर झुके हैं।[3]

समाज-कल्याणवादी धारा

संस्थावादी विचारधाराके विचारक जहाँ इस बातपर जोर देते हैं कि अर्थ-शास्त्रको चाहिए कि वह कीमतोंको कसौटी बनाना छोड़कर मानवीय व्यवहारको अपनी आधारशिला बनाये, वहाँ हिक्स, केन्स और मार्क्ससे प्रभावित लोककल्याण-वादी विचारक कहते हैं कि अब यह मान्यता उठा देनी चाहिए कि सीमान्त उपयोगिता और प्रतिस्पर्द्धा ही आर्थिक जीवनका मूलाधार है। इनका कहना है कि पूँजीवादी समाजका समाजवादी नियंत्रण होना चाहिए। केन्द्रीय संयोजन बोर्ड राष्ट्रकी सारी योजनाओंपर अपना नियंत्रण रखे।

इस प्रकार अमरीकी विचारधारा पूँजीवादसे समाजवादकी दिशामें अग्रसर होती चल रही है। ● ● ●

---

१ हेने : वही, पृष्ठ ७४६-७४७।

२ एरिक रॉल : वही, पृष्ठ ५१०।

३ भटनागर और सतीशबहादुर : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ ३६६-३७०।

सम्पूर्णदर्शी विचारधारा

केन्स

अर्थशास्त्रकी आधुनिकतम विचारधारा है—सम्पूर्णदर्शी विचारधारा। अभी-तकके अर्थशास्त्री समस्याओंके अध्ययनका केन्द्रबिन्दु बनाते थे व्यक्ति; उनका अर्थशास्त्र था सूक्ष्मदर्शी अर्थशास्त्र। केन्सने इस धाराको उलट दिया। उसकी विचारधाराका नाम है—सम्पूर्णदर्शी विचारधारा (Macro-Economics)। इसमें व्यक्तियों और वर्गोंका अन्तर भुलाकर सभी व्यक्तियोंके सम्पूर्ण कार्यों—सम्पूर्ण आय, सम्पूर्ण उपभोग, सम्पूर्ण विनियोग, सम्पूर्ण रोजगार—के अध्ययनपर बल दिया जाता है। सम्पूर्णदर्शी विचारक द्रव्यके सभी पक्षोंको एकमें मिलाकर अध्ययन करते हैं। पहलेके अर्थशास्त्री जहाँ वास्तविक आय, वास्तविक मजूरी, वास्तविक लागत आदिका अध्ययन करते थे, वहाँ ये आधुनिक अर्थशास्त्री सम्पूर्ण आय, सम्पूर्ण उपभोग, सम्पूर्ण विनियोगके सम्पूर्ण रूपका अध्ययन करते हैं।

जीवन-परिचय

जान मेनार्ड केन्स (सन् १८८३–१९४६) का जन्म केम्ब्रिजमें हुआ। पिता प्रसिद्ध अर्थशास्त्री थे, माँ नगरकी मेयर। एटन और केम्ब्रिजमें शिक्षण हुआ। बाल्यावस्थासे ही वह कुशाग्रबुद्धि था। गणित, दर्शन और अर्थशास्त्र उसके प्रिय विषय थे। मार्शल उसका गुरु था।

केन्स अपना शिक्षण समाप्त कर भारत सरकारके दफ्तरमें उच्च पदपर काम करता रहा। सन् १९१९ तक वित्त मंत्रणालयमें रहा। फिर सन् १९२९ तक केम्ब्रिज विश्वविद्यालयमें। कई शाही कमीशनोंका सदस्य भी रहा। सन् १९४० में वित्तमंत्रीका परामर्श-दाता रहा। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोषमें ब्रिटिश सरकारका प्रतिनिधित्व किया। सन् १९४२ में 'लार्ड' बना। सन् १९४४ के ब्रेटन वुड्स सम्मेलनमें उसने प्रमुख रूपसे भाग लिया। रौलके कथनानुसार केन्स आदिसे अन्ततक अर्थशास्त्री रहा—कभी विचारक, कभी लेखक, कभी अध्यापक, कभी सरकारी कर्मचारी और कभी राजनीतिज्ञ।[1]

केन्स उच्चकोटिका विचारक था। सन् १९१९ में उसने 'दि इकॉनॉमिक कान्सीक्वेन्सेज ऑफ दि पीस' पुस्तकमें सरकारी नीतिकी कटु आलोचना की। यों वह भारतीय मुद्रा और अर्थव्यवस्थापर सन् १९१३ में ही एक पुस्तक लिख रहा था, पर उसे ख्याति मिली शांतिके आर्थिक प्रभाव बतानेवाली उक्त पुस्तकसे।[2] केन्सकी कई रचनाएँ हैं, जिनमें 'ए ट्रीटाइज ऑन मनी' (सन् १९३०) और 'हाउ टु पे फार दि वार' (सन् १९४०) प्रसिद्ध हैं, पर उसकी सर्वोत्तम रचना है 'दि जनरल थ्योरी ऑफ एम्प्लायमेण्ट, इण्टरेस्ट एण्ड मनी' (सन् १९३६)।

प्रमुख आर्थिक विचार

केन्सने अर्थशास्त्रका गम्भीर अध्ययन किया था। वाणिज्यवाद, प्रकृतिवाद,

---

१ एरिक रौल : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ ४८०।
२ जीद और रिस्ट : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन्स, पृष्ठ ६६७।

शास्त्रीय परम्परा और नवपरम्परावादके दोष-गुण उसके समक्ष थे। सिसमाण्डी, प्रोदों, मार्क्सकी आलोचनाएँ उसे प्रभावित कर रही थीं। उसने अर्थशास्त्रकी विभिन्न समस्याओंपर चिन्तन, मनन आरम्भ कर दिया था, पर उसे सबसे अधिक प्रभावित किया दो बातोंने। एक तो व्यक्तिको केन्द्र बनाकर सोचनेकी प्रवृत्तिने और दूसरे, प्रथम महायुद्धकी भयंकर प्रतिक्रियाने। उस महासंहारने जिस मंदी, बेकारी और अर्थ-संकटको जन्म दिया, उसने केन्सको संकटजनित समस्याओंपर विचार करनेके लिए विवश कर दिया।

केन्सके आर्थिक विचार तीन भागोंमें विभाजित किये जा सकते हैं :

(१) पूर्ण रोजगार,

(२) ब्याजकी दर और

(३) गुणक-सिद्धान्त।

१. पूर्ण रोजगार

केन्स कहता है कि अर्थव्यवस्थाका लक्ष्य होना चाहिए कि प्रत्येक व्यक्तिको काम मिले। पूर्ण रोजगार, पूर्ण वृत्ति देनेके उद्देश्यसे ही सारा आर्थिक संयोजन होना चाहिए। सौ प्रतिशत लोगोंको काम देना व्यवहार्यतः कठिन हो सकता है। तीनसे लेकर पाँच प्रतिशत लोग सदा ही बेकार रहेंगे। कारण, या तो वे एक कार्यसे दूसरे कार्यकी ओर जा रहे होंगे या किसी विशेष कार्यकी शिक्षा ग्रहण कर रहे होंगे अथवा उन्हें जो काम मिल रहा होगा, उसे वे पसन्द नहीं करते होंगे। शेष ९५ से ९७ प्रतिशत लोगोंको भरपूर काम देनेकी स्थिति होनी चाहिए। युद्ध-कालमें ही नहीं, शान्ति-कालमें भी ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए।

केन्स यह मानकर चलता है कि पूर्ण रोजगारीकी स्थिति उत्पन्न करना सरकारका आवश्यक कर्तव्य है। वह कहता है कि सरकार सबसे पहले तो यह काम करे कि वह आर्थिक संकटको टालनेके लिए उपयुक्त व्यवस्था करे। यदि मंदीकी स्थिति हो, तो वह विनियोगके नये क्षेत्र खोलनेकी योजना बनाये। नये-नये उत्पादक कार्य आरम्भ कर बेकारोंको रोजी दे। इस संचरक आचा (पम्प प्राइमिंग) द्वारा; बाँध, सड़कें, बिजलीघर, विद्यालय आदिके निर्माण द्वारा ही स्थिति सुधर सकेगी। लोगोंको काम मिलेगा। उनकी क्रयशक्तिमें वृद्धि होगी। उपभोग बढ़ेगा, जिससे वस्तुओंकी माँग बढ़ेगी। स्थिति सुधर जानेपर सरकार इस बातका ध्यान रखे कि सट्टेबाज कहीं सट्टेके फेरमें उसे बिगाड़ न दें। सरकारको बैंक दरपर नियंत्रण करके उनके कुचक्रको विफल कर देना चाहिए। पूर्ण रोजगारके लिए केन्स प्रादेशिक उत्पादन बढ़ाने, जिन क्षेत्रोंमें बेकारी अधिक हो, वहाँ नये कारखाने खोलने और गृह-उद्योगोंको प्रोत्साहन देनेका भी पक्षपाती है।

उसका विश्वास है कि सरकार यदि समुचित नियंत्रण रखे, तो पूर्ण रोजगारकी स्थिति सदा ही बनी रह सकती है।

केन्स कहता है कि राष्ट्रीय आयके तीन साधन हैं : (१) राष्ट्रीय उपभोग, (२) राष्ट्रीय विनियोग और (३) सरकारी व्यय।

तीनोंमेंसे एकाधको अथवा तीनोंको बढ़ाकर राष्ट्रीय आयमें वृद्धि की जा सकती है। राष्ट्रीय आय जितनी अधिक होगी, राष्ट्रीय उपभोग भी उतना ही अधिक होगा।

उपभोग-प्रवृत्ति

केन्सके मतसे जब किसीकी आय कम रहती है, तो उसका उपभोग उतना ही रहता है। पर जब उसकी आयमें वृद्धि होती है, तो आयके समान ही व्यय न होकर कुछ बचत होने लगती है। ५०) की आमदनीमें ५०) खर्च था, तो १००) की आमदनीमें ७०) ही रहता है। ३०) की यह जो बचत होती है, वही सारे आर्थिक अनर्थोंकी जड़ है। समाजमें आज धनका जो असमान वितरण है, उसका कारण यही है कि निर्धन व्यक्तियोंकी उपभोग-प्रवृत्ति इकाई है, धनिकोंकी उपभोग-प्रवृत्ति इकाईसे कम।

बचत : एक अभिशाप

केन्सकी दृष्टिमें बचत वरदान नहीं, अभिशाप है।[1] केलोंका प्रसिद्ध उदाहरण देते हुए वह कहता है कि बचतका परिणाम यह होता है कि उपभोग कम होता है और उपभोग कम होनेसे माँग घटती है, उत्पादन कम किया जाने लगता है और श्रमिकोंको कामपरसे हटा दिया जाता है, जिससे बेकारी बढ़ती है। जैसे, कोई समाज ऐसा है, जो केलेके उत्पादन और उपभोगपर निर्भर रहता है, पर उसके लिए वह पैसेका उपयोग करता है। मान लें कि उस समाजमेंसे कुछ व्यक्ति बचत करनेकी सनकमें आकर ऐसा निश्चय करते हैं कि हम अभीतक जितने केलोंका उपभोग करते थे, अब नहीं करेंगे। अपनी इस बचतका विनियोग वे केलोंका उत्पादन बढ़ानेमें नहीं करते। तो इसका परिणाम क्या होगा ?

यही कि केलोंका दाम गिर जायगा। उपभोक्ताओंको उससे प्रसन्नता होगी। पर साथ ही उत्पादकोंके लाभमें कमी होनेसे उन्हें दुःख होगा। वे उत्पादन कम करेंगे या अपने नौकरोंको कामसे हटा देंगे। उत्पत्ति भी कम होगी, बेकारी भी बढ़ेगी। इस प्रकार बचत गुण सिद्ध न होकर सर्वनाशका एक कारण बन जायगी !

केन्सकी यह धारणा शास्त्रीय विचारधाराके प्रतिकूल है। नेसोर्डने एक शताब्दी पहले इसी तरहके विचार व्यक्त करते हुए कहा था कि बचत करने-

---

१. केन्स : ए ट्रीटाइज ऑन मनी, खण्ड १, पृष्ठ १७६।

वाले लोग अपनी बचत द्वारा अपना ही विनाश करते हैं, पर वे इस तत्त्वको नहीं जानते। केन्सने नेमोर्सका अध्ययन नहीं किया था। फिर भी वह युद्धोपरांत ब्रिटेनकी बेकारी और मंदी देखकर इसी निश्चयपर पहुँचा था।[1]

केन्स जनताकी उपभोग-प्रवृत्तिकी चर्चा करते हुए कहता है कि वह उपभोक्ताके मनोविज्ञान और उसकी आदतपर निर्भर करती है। उसे बदलना सरल नहीं। आयकी मात्रापर भी उपभोग-प्रवृत्ति निर्भर करती है। निर्धन व्यक्ति अधिक उपभोग करते हैं। पर आय बढ़ाने और बेकारोंको काम देनेकी दृष्टिसे इस क्षेत्रसे विशेष आशा नहीं रखी जा सकती।

२. ब्याजकी दर

विनियोग दो बातोंपर निर्भर करता है—पूँजीकी सीमान्त कुशलतापर और ब्याजकी दरपर।

पूँजीकी सीमान्त कुशलताके क्षेत्रमें भी सरकारको विनियोगकी प्रेरणाके लिए कम ही गुंजाइश है। उसमें वर्तमानको छोड़कर भविष्यके आश्रयकी बात है। वह स्वयं दो बातोंपर आश्रित है—(१) पूँजीका पूर्ति-मूल्य और (२) सम्भावित प्राप्ति। पूँजीका पूर्ति-मूल्य उत्पादनके बाह्य कारणोंपर तथा यंत्र-विज्ञानके स्तरपर निर्भर करता है। सम्भावित प्राप्ति मनोवैज्ञानिक तत्त्व है। अतः इसमें विनियोगके लिए कम ही सम्भावना है।

तरलता-अधिमान

अब रहती है ब्याजकी दर। केन्सने इसके लिए तरलता-अधिमानका सिद्धान्त प्रस्तुत किया है।[2] वह कहता है कि 'ब्याज एक निश्चित अवधिके लिए तरलताके त्यागका पुरस्कार है।' तरलता-अधिमान द्वारा ब्याजका निर्णय होता है। आय होते ही मनुष्यके समक्ष यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वह उसमेंसे कितना व्यय करे। कल्पना कीजिये कि एक व्यक्तिकी आय १०० रुपया है। वह यह निर्णय करता है कि इसमेंसे मैं ७० रुपया उपभोगपर व्यय करूँगा, ३० रुपया बचाऊँगा। अब प्रश्न है कि ये ३० रुपये वह किस रूपमें रखे? इन्हें वह तरल द्रव्यके रूपमें रखे अथवा किसीको उधार दे दे? तरल द्रव्यके रूपमें रखनेसे वह इसका उपयोग किसी भी समय अपनी इच्छाओंकी संतुष्टिके लिए कर सकता है। उसे दोमेंसे एक बात चुननी पड़ेगी। या तो वह यह बचत तरल द्रव्यके रूपमें रखे या वह उधार दे। तरल द्रव्यके रूपमें उसे रखनेका अर्थ यह है कि उसके लिए तरल द्रव्य अधिमान है। उधार देनेका अर्थ यह है कि वह जिस आयको

---

१ जीद और रिस्ट : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन्स, पृष्ठ ७१६।

२ केन्स : जनरल थ्योरी ऑफ एम्प्लायमेण्ट, इण्टरेस्ट एण्ड मनी, पृष्ठ १६७।

तरल द्रव्यके रूपमें रख सकता था, उसे वह दे देनेके लिए, कुछ अवधिके लिए उसका त्याग कर देनेके लिए प्रस्तुत है।

केन्सकी यह धारणा है कि मानव-स्वभाव ऐसा है कि वह वस्तुओं एवं सेवाओंपर अधिकार प्राप्त करनेके लिए उत्सुक रहता है। अतः वह उधार देनेके स्थानपर तरल द्रव्यको हाथमें ही रखना पसन्द करता है। मनुष्यके लिए द्रव्यकी तरलता अधिमान्य रहती है। इस तरलता-अधिमानका वह त्याग करे, इस इच्छाको जान-बूझकर दबाये, इसके लिए वह कुछ पुरस्कार चाहेगा। यह पुरस्कार, यह प्रतिफल ही ब्याज है। तरल द्रव्यको हाथमें रखनेकी मनुष्यकी तीव्रता जितनी रहेगी, उसी हिसाबसे ब्याजकी दर निश्चित होगी।

मनुष्य द्रव्यको तरल रूपमें रखनेके लिए क्यों उत्सुक रहता है, इसके केन्सने तीन कारण बताये हैं :

(१) लेन-देनका या व्यापारिक हेतु—व्यक्तिगत या व्यापारिक भुगतानके लिए, वस्तुएँ खरीदने-बेचनेके लिए मनुष्य पैसा रखना चाहता है।

(२) सावधानीका या पूर्वोपाय हेतु—शायद कल आवश्यकता पड़ जाय इस दृष्टिसे, वस्तुएँ महँगी हो जायँ, तो उन्हें खरीदनेके लिए भी मनुष्य पैसा रखना चाहता है। सावधानीकी दृष्टिसे वह ऐसा करता है।

(३) सट्टेका या पूर्वकल्पी हेतु—आजके बजाय कल ब्याजकी दर बढ़नेकी कल्पना करके, भविष्यमें अधिक लाभ उठानेकी दृष्टिसे भी मनुष्य तरल द्रव्यको हाथमें रखना चाहता है।

केन्स मानता है कि सट्टेके हेतुको द्रव्यकी मात्रासे विभाजित कर दें, तो ब्याजकी दर निकल आयेगी। तरलताका त्याग करने या त्याग न करने, उधार देने या उधार न देनेपर द्रव्यकी वर्तमान मात्राका घटना-बढ़ना निर्भर करता है।

केन्सकी मान्यता है कि द्रव्यकी माँग और पूर्ति द्वारा ही ब्याजका निर्धारण होता है। ब्याजकी दर बढ़ जाय, तो यह निश्चित नहीं है कि दी हुई आयका बचाया हुआ अंश भी बढ़ ही जायगा। ब्याजकी दर और बचत करनेमें होनेवाले त्यागमें केन्सकी दृष्टिसे कोई सम्बन्ध नहीं। ब्याजकी दर शून्य हो, तो भी यह सम्भव है कि कुछ आय खर्च न होनेके फलस्वरूप कुछ बचत हो जाय।

शास्त्रीय विचारधारासे मतभेद

यों केन्सकी उधार दी हुई तरलता और शास्त्रीय विचारकोंकी 'बचत' एक ही बात है। ब्याजका निर्धारण तरलतासे होता है या बचतसे, दोनों बातोंमें कोई विशेष अन्तर नहीं, पर कुछ बातोंमें दोनोंमें महत्त्वपूर्ण अन्तर है।[१] जैसे :

---

१. मेहता : अर्थशास्त्रके मूलाधार, पृष्ठ २५०।

केन्सकी मान्यता	शास्त्रीय विचारकोंकी मान्यता
१. ब्याजका सिद्धान्त द्राव्यिक बचत या पूँजीपर ही लागू होता है।	१. ब्याजका सिद्धान्त अद्राव्यिक पूँजीपर भी लागू होता है।
२. ब्याज केवल द्राव्यिक पूँजीके त्यागका प्रतिफल है।	२. ब्याज किसी भी प्रकारकी पूँजीके त्यागका प्रतिफल है।
३. ब्याजका सिद्धान्त द्रव्यके प्रयोगवाले समाजपर लागू होगा।	३. ब्याजका सिद्धान्त ऐसे समाजपर भी लागू होगा, जहाँ द्रव्यका प्रयोग नहीं होता।
४. व्यक्ति अपनेसे भिन्न व्यक्तिको उधार देनेके लिए ही तरलताका त्याग करेगा।	४. व्यक्ति दूसरोंको न देकर स्वयं भी उत्पादक कार्योंमें बचत लगाकर ब्याज पा सकेगा।

ब्याजकी दर द्रव्यकी माँग और पूर्तिपर निर्भर करती है। द्रव्यकी पूर्ति जितनी अधिक होगी, ब्याजकी दर उतनी ही कम होगी। द्रव्यकी पूर्ति जितनी कम होगी, ब्याजकी दर उतनी ही अधिक होगी। केन्स कहता है कि उपभोग-प्रवृत्तिके कारण मनुष्य तरल द्रव्यको अपने पास रखना चाहेगा। यह मनुष्यकी मानसिक प्रवृत्ति है। इसे बदलना सरल नहीं। अतः केन्द्रीय बैंककी दरमें परिवर्तन करके सरकार पूर्तिमें वृद्धि कर सकती है। राष्ट्रीय आय बढ़ाने और जनताको काम देनेकी दृष्टिसे सरकारको चाहिए कि वह इस साधनका उपयोग करे।

केन्स शास्त्रीय पद्धतिवालोंकी इस धारणाको अस्वीकार करता है कि ब्याज-की दर कम होनेसे स्वतः ही विनियोगमें वृद्धि हो जायगी और उसके फलस्वरूप लोगोंको अधिक काम मिल सकेगा। साहसोद्यमीको यदि यह विश्वास हो जाय कि भविष्य उज्ज्वल दीखता है, तो वह ब्याजकी दर अधिक देनेके लिए भी प्रस्तुत हो जायगा। यदि भविष्य उज्ज्वल न प्रतीत हो, तो ब्याजकी दर कम होनेपर भी वह विनियोगके लिए प्रस्तुत न होगा।

केन्स यह मानता है कि ब्याजकी दर पूँजीसे भविष्यमें मिलनेवाले लाभकी सीमान्त दरके बराबर होनी चाहिए। इस सम्बन्धमें उसके सूत्र इस प्रकार हैं :

आय = उपभोग + विनियोग।

विनियोग = बचत।

बचत = आय — उपभोग।

विनियोगको बचतके समान माननेके केन्सके सूत्रकी बड़ी आलोचना हुई है।[1]

---

१. एरिक रौल : ए हिस्ट्री ऑफ इकोनॉमिक थॉट, पृष्ठ ४९२।

विनियोगके साधन

केन्स यह मानता है कि बचतका विनियोग करनेके लिए समुचित साधन होने चाहिए, तभी लोगोंको भरपूर काम मिल सकेगा। इसके लिए नये-नये साधन भी खोजे जा सकते हैं। नये भवनोंका निर्माण आदि उसके उत्तम साधन हैं। और कुछ न हो, तो सरकारको चाहिए कि नगरके मैले-कूड़ेसे भरी कोयलेकी खानोंमें वह पुरानी बोतलोंमें बैंक-नोट भर-भरकर खूब गहरे गाड़ दे। लोग यथासमय खोद-खोदकर उन्हें निकालेंगे। इस प्रकारका काम देनेसे बेकारी-की समस्या सरलतासे हल हो जायगी।[1] केन्सका कहना है कि सोनेकी खानोंके उत्खननसे वस्तुओंका मूल्य इसीलिए चढ़ता है कि श्रमिकोंको अधिक काम मिलता है। गड्ढे खोदने औरउन्हें भरानेका यह अनुत्पादक श्रमका कार्य केन्सके मस्तिष्ककी अनोखी सूझ है।[2]

३. गुणक-सिद्धान्त

केन्सकी धारणा है कि सौ रुपया घूम-फिरकर हजार रुपयेका काम करता है। कारण, एक व्यक्तिका व्यय दूसरेकी आय बन जाता है। श्रमिककी आय मजूरीसे होती है। मजूरीके पैसोंसे ही वह अपनी आवश्यकताकी वस्तुएँ खरीदता है। उसका व्यय दूकानदारकी आय बन जाता है। दूकानदार अपनी दूकान चलानेके लिए बड़े दूकानदारोंसे माल खरीदता है। यों आयका हस्तांतरण होता रहता है। मनुष्य पूरी आय नहीं खर्च कर देता, कुछ पैसा बचाता है। अतः यह चक्र एकदम सीधा न घूमकर थोड़े फेरसे घूमता है।

केन्सके गुणक-सिद्धान्तको इस प्रकार समझ सकते हैं :

	आय		बचत		उपभोग	
क	१००	कमाता है	१०	बचाता है	९०	खर्च करता है
ख	९०	,,	९	,,	८१	,,
ग	८१	,,	८.१	,,	७२.९	,,
घ	७२.९	,,	७.२९	,,	६४.६१	,,
च	६४.६१	,,	६.४६	,,	५८.१५	,,
छ	५८.१५	,,	५.८१	,,	५२.३४	,,
ज	५२.३४	,,	५.२३	,,	४७.११	,,
	५११९.०		५१.८९		४६६.११	

---

१ केन्स : जनरल थ्योरी, पृष्ठ १२९-१३०।

२ जीद और रिस्ट : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन्स, पृष्ठ ७४३।

केन्स यह मानता है कि यदि दो-तिहाई आयका उपभोगमें व्यय हो जाता है, तो गुणक होगा ३। अर्थात् विनियोगमें प्रत्येक वृद्धिसे आय (अथवा रोजी) में तिगुनी वृद्धि होगी। ऊपरके उदाहरणमें गुणक होगा १०।

केन्सके रोजगारका कोष्टक यों होगा :
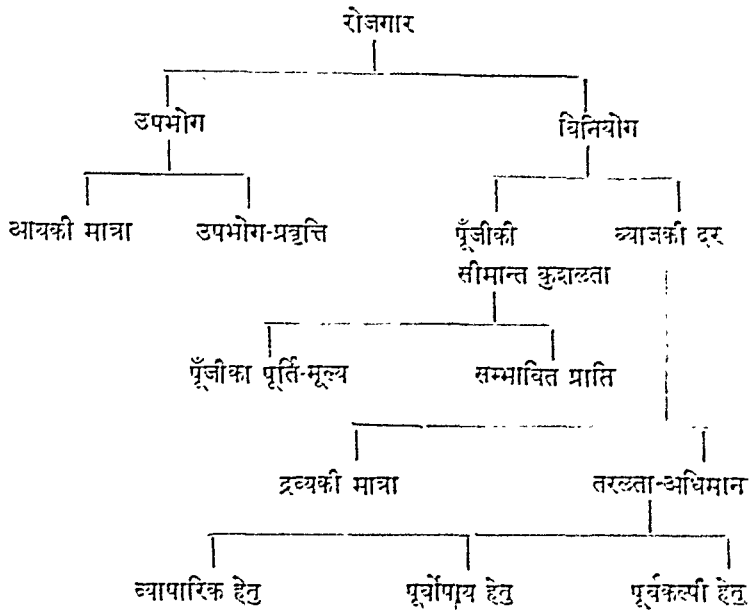
केन्स निर्बाध व्यापारका इसी आधारपर तीव्र विरोध करता है कि इसके कारण अर्थव्यवस्थाके दोष दूर होनेके स्थानपर उल्टे बढ़ जायँगे और आर्थिक संकटमें फँसना पड़ेगा। केन्स इस संकटके निवारणके लिए सरकारी हस्तक्षेप और नियंत्रणका पक्षपाती है और कहता है कि सरकारको हीनार्थ-प्रबंधन (डेफीसिट फिनान्सिग) की नीति अपनानी चाहिए। आयसे अधिक व्यय करना चाहिए। इसके फलस्वरूप आर्थिक संकटका निवारण हो सकेगा।

केन्सकी हीनार्थ-प्रबंधनकी नीति विश्वके अनेक राष्ट्र व्यवहृत करते हैं।

मूल्यांकन

केन्सके पूँजीकी सीमान्त कुशलता, तरलता-अधिमान तथा गुणकके सिद्धान्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। मंदी और बेकारीके निवारणके लिए उसने जो उपाय बताये और जिन नीतियोंके व्यवहृत करनेकी माँग की, उनका अमेरिका-पर तो भारी प्रभाव पड़ा ही, ब्रिटेनपर भी असर हुआ है। अन्य देशोंपर भी उसका प्रभाव पड़ रहा है।

मार्क्सने पूँजीवादके दोषोंका विरोध तो किया, पर वह पूँजीवादी संस्थाओंके विनाशका समर्थक नहीं था। उसकी धारणा यह थी कि सरकारको चाहिए कि वह अर्थव्यवस्थापर इस प्रकार नियंत्रण स्थापित करे कि आर्थिक संकट उत्पन्न ही न होने पायें और यदि होनेकी सम्भावना हो, तो उनका निवारण कर दिया जाय।

हेन, नाइट, पिगू आदि कहते हैं कि केन्सकी उपभोग-प्रवृत्ति, गुणक आदिके सिद्धान्त पुराने हैं, उसकी परिभाषाएँ भ्रामक और मनमानी हैं। नाइट और हूवरके अनुसार केन्सके सिद्धान्त सर्वव्यापी नहीं हैं, वे विशेष परिस्थितियोंमें ही लागू होते हैं, आर्थिक समस्याओंको वह अत्यन्त सरल बनाकर अध्ययन करता है, पूर्ण रोजगारके फेरमें वह उत्पादन और आयको उचित महत्त्व नहीं देता, विनियोग और बचतको वैज्ञानिक पद्धतिसे बराबर नहीं सिद्ध कर पाता, स्थिर स्थिति मानकर अपनी धारणाएँ बनाता है। ये सब बातें अनेकांशमें सही हैं। उसकी कई मान्यताएँ गलत हो सकती हैं, परन्तु उसने कुछ ऐसे प्रश्न उठाये हैं, जिनकी ओर अर्थशास्त्रियोंका अभीतक ध्यान ही नहीं गया था।

केन्सकी महत्ताका अनुमान इसीसे लगाया जा सकता है कि आज विश्वके प्रायः सभी विश्वविद्यालयोंमें उसके सिद्धान्तोंका अध्ययन किया जाता है। एरिक रौलने तो यहतक कह डाला है कि 'स्मिथ और रिकार्डोके बाद जिस व्यक्तिका आर्थिक विचारधारापर सर्वाधिक प्रभाव पड़ा है, वह है—केन्स'।[1]

हेनसन, बेवरिज, हेराड, हैरिस, लर्नर, सैमुअलसन, डिलार्ड, टिमलिन जैसे अनेक विचारकोंने केन्सकी विचारधाराको विकसित करनेमें हाथ बँटाया है।

आधुनिक आर्थिक विचारधारामें केन्सका मौलिक अनुदान भले ही कम माना जाय, पर इतना निश्चित है कि उसने पुरातन सामग्रीको नये साँचेमें ढालकर, नयी शब्दावलीका प्रयोग करके अर्थशास्त्रको नयी दिशा प्रदान की है। ● ● ●

---

१ एरिक रौल : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ ४८०।

समाजवादी विचारधारा

श्रेणी-समाजवाद

उन्नीसवीं शताब्दीमें समाजवादी विचारधाराका जिन भिन्न-भिन्न रूपोंमें विकास हुआ, उनमेंसे एक नयी प्रचण्ड धारा फूटी—श्रेणी-समाजवाद (Guild Socialism) की। प्रथम विश्वयुद्धके पूर्व इंग्लैंडमें इस धाराका विकास हुआ।

अशोक मेहताका कहना है कि 'फरासीसी कुछ तूफानी होते हैं। यही स्थिति इटालियनों और स्पेनियोंकी है। लैटिन जनता उग्र होती है। डान क्विक्सोट जैसे लोग स्पेनमें ही हो सकते हैं। शक्तिशाली और उग्रवादी लैटिन देश ही संघ-समाजवादको जन्म दे सकते थे। अधिक यथार्थवादी और भावुकता-शून्य अंग्रेजोंने शिल्पी-संघ या श्रेणी-समाजवादके सिद्धान्तकी रचना की। यह सिद्धान्त भी राज्य-विरोधी है। ध्यान देनेकी बात है कि समाजवादी विचारकी दो धाराएँ लगभग साथ ही साथ विकसित हुईं। एक ओर थी शांत धारा,

जिसमें थे राज्यके प्रति अनुकूल दृष्टिकोण रखनेवाले लोग—लुई ब्लाँ, लासाल, वोल्मर, बर्नस्टाइन, बर्नर्ड शा, वेब दम्पति, जां जोरेस, तुराती आदि। दूसरी ओर था उग्र, कट्टर और दृढ़ आत्मविश्वासी लोगोंका उथल-पुथल मचा देनेवाला प्रचण्ड सोता—संघ-समाजवाद तथा श्रेणी-समाजवाद।'[1]

इस धाराके विचारक अत्यन्त उग्र थे। उनमें अराजकता और समाजवादका सम्मिश्रण था। वे चाहते थे कि सारे समाजका या कमसे कम अर्थ-व्यवस्थाका संगठन शिल्पी-संघोंको आधार बनाकर किया जाना चाहिए। वे पूँजीवादके स्थानपर मध्यकालीन युगकी भाँति उत्पादकोंके संघ स्थापित करना चाहते थे।

वे राज्यके हस्तक्षेपसे मुक्त ऐसे संघोंके माध्यमसे समाजकी आर्थिक व्यवस्थाका संचालन करनेके पक्षपाती थे। उनकी यह मान्यता थी कि वास्तविक निर्माता तो शिल्पी ही होते हैं। उन्हें स्वयं ही अपने सारे कार्यकलापोंपर नियंत्रण रखना चाहिए। उद्योगोंपर श्रमिकोंका ही आधिपत्य रहना चाहिए।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

विश्वयुद्धके पूर्वकी आर्थिक एवं राजनीतिक स्थितिने श्रेणी-समाजवादकी धाराको जन्म देनेमें विशेष कार्य किया। ब्रिटेनके उग्र समाजवादी लोग श्रमिक कानूनों आदिके माध्यमसे श्रमिकोंकी स्थितिमें कोई विशेष सुधार न होते देखकर हताश हो उठे थे। राजसत्तापरसे ही उनकी आस्था उठ गयी थी। रस्किन और कार्लाइल आदिने भी इस विचारधाराको पनपनेमें सहायता की। इन विचारकोंने इस बातकी तीव्र आलोचना की कि औद्योगिक पद्धतिमें श्रमिक कार्य तो करता है, पर विवश होकर। उसे अपने कार्यमें कोई रुचि या उत्साह नहीं रहता। बाहुल्यताके पीछे जो दौड़ लगी, लाभकी जो तृष्णा जाग्रत हुई, उसने वस्तुके समक्ष मनुष्यको गौण बना दिया। यंत्र कर्मचारीको निगल गया। लोग बड़ी लालसासे उन पिछले दिनोंकी यादमें आँसू बहाने लगे, जब दैनिक व्यवहारकी छोटी-मोटी वस्तुओंके निर्माणमें भी कला, कल्पना और सतर्कताका सामंजस्य रहता था और जब कला भी वैसी ही आवश्यक थी, जैसी रोटी, कपड़ा और मकान आदि।[2]

मशीनके काले पहियोंमें कला ही नहीं पिस गयी, मानवकी प्रेरणा भी पिस गयी। उसका उत्साह मन्द पड़ गया। उसकी उमंग जाती रही। रस्किन, लुडलो, विलियम मारिस जैसे विचारकोंने उपयोगिताके लिए कला और सौन्दर्यकी हत्याका तीव्र विरोध किया। उधर चेस्टरटन, हिलारी बैलाक जैसे विचारकोंने यह

---

१ अशोक मेहता : डेमाक्रेटिक सोशलिज्म, पृष्ठ २८-२९।

२ कमलादेवी चट्टोपाध्याय : सोशलिज्म एण्ड सोसाइटी, पृष्ठ १०३।

बताना आरम्भ किया कि व्यक्तिके विकासके लिए अत्यधिक शक्तिसम्पन्न सत्ता कितनी हानिकर होती है।

जे० एन० फिगिस जैसे स्वातंत्र्यवादी विचारकोंने सत्ता और राज्यविरोधी भावनाओंको बल दिया। मैजत् और गुरिया जैसे स्पेनिश विचारकोंने 'वृत्तिमूलक स्वामित्व-सिद्धान्त' की व्याख्या करते हुए कहा कि किसीके श्रमका उत्पादन ही धन नहीं है, श्रमकी विधि भी धन ही है। दक्षता और क्षमताका ऐसा गुण व्यक्तिमें मौलिक प्रवृत्ति, कार्यको भलीभाँति सम्पन्न करनेकी इच्छा तथा श्रमकी प्रतिष्ठाकी भावना जागरित करता है।[1]

मार्क्सवादी विचारकोंने मजूरी-पद्धतिके विरुद्ध जो आवाज उठायी, उसने भी श्रेणी-समाजवाद आन्दोलनको विकसित करनेमें बड़ा काम किया।

प्रमुख विचारक

श्रेणी-समाजवादी विचारधाराके प्रमुख विचारक हैं : ए० जे० पेण्टी, ए० आर० ओरेज, एस० जी० हाबसन और जी० डी० एच० कोल।

पेण्टीने अपनी रचना 'रेस्टोरेशन ऑफ दि गिल्ड सिस्टम' (सन् १९०६) में शिल्पसंघोंकी स्थापनाकी बात विस्तारसे बतायी। ओरेजने 'न्यू एज' नामक पत्रके माध्यमसे इस विचारको बल दिया। हाबसनने मार्क्सवादके आधारपर श्रेणी-समाजवादके आर्थिक सिद्धान्त गढ़े।

कोल इस विचारधाराका प्रख्यात विचारक है। इस विषयपर उसकी दो रचनाएँ विशेष रूपसे प्रख्यात हैं—'सेल्फ गवर्नमेंट इन इण्डस्ट्री' (सन् १९१७) और 'गिल्ड सोशलिज्म' (सन् १९२०)।

आन्दोलनका विकास

मध्यकालीन युगकी शिल्पसंघीय व्यवस्था श्रेणी-समाजवादका मूल आदर्श है। कोल कहता है कि 'मध्यकालीन शिल्पसंघीय व्यवस्था हमारे लिए ऐसी प्रेरक शिक्षा है, जिसके आधारपर हम विश्व-हाटकी दृष्टिसे बड़े पैमानेका उत्पादन करते हुए ऐसे औद्योगिक संगठनका निर्माण कर सकते हैं, जो मानवकी उच्च भावनाओं-को प्रभावित करे और सामुदायिक सेवाकी परम्पराको विकसित करनेमें समर्थ हो।'

ओरेजने शिल्पसंघकी व्याख्या करते हुए उसे 'कार्यविशेषके लिए परस्परा-वलम्बी संगठित स्वायत्तशासित संघ' बताया। प्रत्येक शिल्पसंघमें मैनेजरसे लेकर मजदूरतक वे सभी लोग रहें, जो एक निर्दिष्ट उद्योग, व्यापार और व्यवसायमें काम करते हों। प्रत्येक संघका अपने कार्यविशेषके क्षेत्रमें एकाधिकार रहे।

---

१ अशोक मेहता : एशियाई समाजवाद : एक अध्ययन, पृष्ठ १६४-१६५।

ला तूर दुपिनके शब्दोंमें 'व्यवसायमें लगी सम्पत्तिका तकाजा है कि छोटे पैमानेपर उत्पादन किया जाय, ताकि श्रमजीवी उत्पादनकी सारी विधियोंको जान सके, समझ सके और साथ-साथ काम करनेवाले लोगोंमें व्यक्तिगत सम्बन्ध एवं संतुलित गति क़ायम रहे। मानव-प्रतिष्ठाके समक्ष क्षमता एवं उत्पादनके दावे गौण रहें। शिल्पसंघको अपने विकासके लिए आचारका पालन करना आवश्यक है। इसे ऊपरसे नहीं लादा जा सकता।'

सन् १९०६ से शिल्पसंघकी पुनः-प्रतिष्ठाका आन्दोलन तीव्रगतिसे चला। सन् १९१५ में शिल्पसंघोंका राष्ट्रीय महासंघ 'नेशनल गिल्ड्स लीग' की स्थापना हुई। स्वतंत्रता और साहचर्यके आदर्शके ढीले पड़ते ही बहुतसे शिल्पसंघी कम्युनिज्मके प्रवाहमें बह गये।[1]

सन् १९३५ के उपरान्त श्रेणी-समाजवादका आन्दोलन ठण्डा पड़ गया। उसका एक बड़ा कारण यह भी था कि कोलने उसके आरम्भिक सिद्धान्तोंको स्वयं ही अस्वीकार कर दिया था।

श्रेणी-समाजवादकी विशेषताएँ

श्रेणी-समाजवादकी कुछ अपनी विशेषताएँ हैं। जैसे :

(१) राजनीतिके स्थानपर अर्थनीतिपर जोर।

(२) उत्पादक संघोंके निर्माण और विकासपर जोर।

(३) आर्थिक, नैतिक, मनोवैज्ञानिक, आध्यात्मिक तथा ललित-कलाकी दृष्टिसे मजूरी-पद्धतिका तीव्र विरोध। उसकी पूर्ण समाप्तिके लिए जोरदार आन्दोलन।

(४) उद्योगमें श्रमिकोंके स्वायत्त शासनकी माँग, जिससे :

१. श्रमिक मानव माना जाय, वस्तु या पदार्थ नहीं;
२. उसे बेकारीमें, रोग-बीमारीमें भी भत्ता मिले;
३. उत्पादनपर सबका संयुक्त नियन्त्रण रहे;
४. वितरणमें सबका संयुक्त दावा रहे।

(५) लक्ष्य-पूर्तिके लिए श्रमिक संघोंका संगठन।

श्रेणी-समाजवादी श्रमिक संघोंका इस ढंगसे संगठन करना चाहते थे, जिससे मजूरी-पद्धतिकी पूर्णतया समाप्ति होकर सारी सत्ता, सारा नियंत्रण श्रमिकोंके हाथमें आ जाय। इस लक्ष्यकी पूर्तिके लिए कुछ लोग आम हड़ताल, 'धीरे चलो' और

---

१ अशोक मेहता : एशियाई समाजवाद, पृष्ठ १६५-१६७।

विध्वंस आदिके उग्र उपायोंके समर्थक थे, पर कोलके नेतृत्वमें अधिकांश व्यक्ति शांतिपूर्ण पद्धतिसे समस्याओंका निदान करना चाहते थे। श्रमिक संघोंका यह भी कर्तव्य था कि वे श्रमिकोंके शिक्षण, संगठन और अनुशासनका भी कार्य करें, ताकि श्रमिक लोग सत्ताको विधिवत् सँभाल सकें।

आदर्शका चित्र

श्रेणी-समाजवादी विचारकोंने अपने संघों और संघके महासंघोंकी एक कल्पना भी की थी, जिसमें कहा था कि विभिन्न क्षेत्रोंके स्वतंत्र संघ स्थापित होंगे, जिनका संगठन स्थानीय, प्रादेशिक और राष्ट्रीय आधारपर किया जायगा। कृषकोंके संघ बनेंगे, विभिन्न व्यवसायोंके संघ बनेंगे। सारी अर्थव्यवस्था इन संघोंके हाथमें रहेगी। वे परस्पर परामर्श करके आवश्यकताके अनुरूप सारा उत्पादन करेंगे।

कोलका कहना है कि यह चित्र समग्र नहीं है, पर लोकतंत्रात्मक पद्धतिसे समाजवादको कार्यान्वित करनेकी रूपरेखामात्र है।

श्रेणी-समाजवाद यद्यपि सफलता नहीं प्राप्त कर सका, परन्तु औद्योगिक क्षेत्रमें समाजवादके विकासमें उसका महत्त्वपूर्ण हाथ है।

इतिहासकी करवट

बीसवीं शताब्दीमें इतिहासने जो करवट ली, उससे कौन अनभिज्ञ है? प्रथम महायुद्ध, रूसकी महाक्रान्ति, द्वितीय महायुद्ध तथा विश्वके विभिन्न अंचलोंमें उपनिवेशवाद, गुलामी, अन्याय, शोषण और उत्पीड़नके विरुद्ध जो क्रान्तियाँ हुई और हो रही हैं, उनका समाजवादी विचारधारासे प्रत्यक्ष या परोक्ष सम्बन्ध है ही।

आज विश्वमें पूँजीवादका अस्तित्व है तो अवश्य ही, पर समाजवादने उसका नग्न चित्र प्रकट कर उसकी स्थिति अत्यन्त दयनीय बना दी है। पूँजीवादको उखाड़नेमें समय भले ही लगे, पर समाजवादने उसकी जड़ें अवश्य ही खोखली कर दी हैं। समाजवादने यह माँग की है कि औद्योगिक व्यवस्थाका आधार सेवा होना चाहिए, मुनाफा नहीं; वितरण और उत्पादनपर सार्वजनिक, सहकारी या सामूहिक स्वामित्व होना चाहिए; आर्थिक बर्बादी रुकनी चाहिए; सामाजिक सुरक्षाकी व्यवस्था होनी चाहिए और धनका विषम वितरण समाप्त होना चाहिए।

समाजवादी विचारकोंकी इन माँगोंने, उनके तर्कोंने और उनके आन्दोलनोंने शास्त्रीय पद्धतिके विचारकोंकी मान्यताओंको, उत्पादन और विनिमयको ही प्रश्रय देनेवाली धारणाओंको बुरी तरह ध्वस्त कर दिया है।

बीसवीं शताब्दीमें समाजवादी विचारकोंने प्रकारान्तरसे उन्हीं विचारोंको पुष्पित-पल्लवित किया, जिन्होंने उन्नीसवीं शताब्दीमें जन्म ग्रहण किया था। रूसी क्रान्तिने मार्क्सके विचारोंको जो प्रोत्साहन दिया, वह किसीसे छिपा नहीं।

संशोधनवादी हों चाहे संघवादी, फेवियनवादी हों चाहे श्रेणी-समाजवादी, बोल्शेविक हों या अन्य किसी प्रकारके समाजवादी, सबके सब पूँजीवादपर नाना प्रकारसे प्रहार कर रहे हैं।

हालके समाजवादी विचारकोंमें ग्राहम वैलेस, जे० ए० हावसन, वाल्टर लिपमैन, जॉन डेवी, मॉरिस हिलकिट, स्टुअर्ट चेज, सिडनी वेव, थार्सटिन वेवलेन, आर० एच० टावनी, विलियम रावसन, मैक्स ईस्टमैन, जी० डी० एच० कोल, पाल स्वीजी, मारिस डाब, फ्रेडरिक टेलर, ओस्कर लांज, जोसेफ शुंपटर, ए० पी० लर्नर, वारबरा वूटन, हेराल्ड लास्की आदिके नाम उल्लेखनीय हैं।

यों तलवार और कलम—दोनोंके सहारे बीसवीं शताब्दीमें समाजवादी विचारधारा आगे बढ़ती चल रही है। ● ● ●

भारतीय विचारधारा

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि : १ :

पठान गये तो मुगल आये। मुगल गये तो अंग्रेज। सन् १७०७ में औरंगजेबका जब जनाजा निकला, तो उसीके साथ-साथ मुगल-साम्राज्य भी कब्रमें दफना दिया गया। ईस्ट इण्डिया कम्पनीके रूपमें सत्रहवीं शताब्दीमें भारतके बाजारपर कब्जा करनेके लिए पधारे हुए गोरे धीरे-धीरे भारतके साम्राज्यको भी हथियानेके लिए उत्सुक हो उठे। अंग्रेजोंके आगमनसे भारतके सुख और संतोष-मय आर्थिक जीवनको राहु लगा।

अंग्रेजी शासन

अंग्रेजोंने 'फूट डालो और राज करो' की नीति अपनायी। भारतकी तत्कालीन स्थितिमें उनकी फूटकी बेल खूब ही फली-फूली। छल और बल, तलवार और धूर्तता, प्रवंचना और विश्वासघात, सबका आश्रय लेकर उन्होंने धीरे-धीरे

सारे भारतपर कब्जा कर ही लिया। न मराठे और हैदरअली ही उनके आगे टिक सके, न टीपू सुल्तान ही। फरासीसी बेचारे भी उनकी चालोंसे मात खाकर चुप बैठ रहे। सन् १८५६ तक भारतके अधिकांश भू-भागपर यूनियन जैक फहराने लगा।

सन् सत्तावनका विद्रोह

और उसके बाद ही हो गया सन् सत्तावनका विद्रोह। फीरोजशाह, तातिया टोपे, महारानी लक्ष्मीबाईके नेतृत्वमें भारतीय जनताने जो विद्रोह किया, उससे अंग्रेजी साम्राज्यकी नींव थरथरा उठी। भारतका दुर्भाग्य था कि उसकी आजादी-की यह पहली तड़प बेकार गयी। अंग्रेजी राज्य उखड़ते-उखड़ते बचा। उसके बाद निरपराध स्त्री-बच्चों, जवानों और बूढ़ोंको जिस बुरी तरहसे गोलियोंसे भूना गया, तलवारके घाट उतारा गया, उसके प्रमाण ब्रिटिश पार्लमेण्टके कागजोंतकमें दर्ज हैं। अंग्रेजोंने अपनी करतूतोंसे दिखा दिया कि बर्बरतामें वे न तैमूरलंगसे पीछे हैं, न नादिरशाहसे।[1]

इस विद्रोहका परिणाम यह निकला कि ब्रिटिश सरकारने भारतके शासनकी बागडोर पूरे तौरसे अपने हाथमें ले ली।

अंग्रेजोंको भारत क्या मिला, सोनेकी चिड़िया ही हाथ लग गयी। उन्होंने भारतकी कृषि नष्ट कर दी, उद्योग-धन्धे चौपट कर दिये, व्यापार समाप्त कर दिया। भारतका खजाना, भारतका सोना, भारतके हीरा-जवाहरात जहाजोंमें लद-लदकर इंग्लैण्ड पहुँच गये और इस लूटके फलस्वरूप कम्पनीके भूखों मरनेवाले, मुगल सम्राट् और भारतीय नवाबोंके चरणोंपर नाक रगड़नेवाले दो कौड़ीके गुमाश्ते लखपती, करोड़पती बनकर 'साम्राज्य-निर्माता' का बिल्ला लगाकर इंग्लैण्ड पहुँचे, जहाँ उनका शानदार स्वागत किया गया, उनकी मूर्तियाँ खड़ी की गयीं और इतिहासकी पोथियोंमें उनका नाम स्वर्णाक्षरोंमें लिखा गया।[2]

हर्बर्ट स्पेन्सरने लिखा है : 'कम्पनीके डाइरेक्टरोंतकने यह बात स्वीकार की है कि भारतके आन्तरिक व्यापारमें जो अकूत धन कमाया गया है, वह सब ऐसे घृणित अन्यायों और अत्याचारों द्वारा प्राप्त किया गया है, जिनसे बढ़कर अन्याय और अत्याचार कभी किसीने सुना भी न होगा!'[3]

शोषणकी कहानी

व्यापारके क्षेत्रमें कम्पनीका एकाधिकार था ही, शासनाधिकार मिल जानेसे उसे दोहरी सुविधा हो गयी। एक ओर उद्योगोंका नाश किया गया, दूसरी ओर व्यापारपर पूरा नियंत्रण कर लिया गया। सारी व्यापारिक नीतिका संचालन इस

---

१ श्रीकृष्णदत्त भट्ट : भारतवर्षका आर्थिक इतिहास, पृष्ठ २०१–२१३।

२ श्रीकृष्णदत्त भट्ट : वही, पृष्ठ २५४।

३ हर्बर्ट स्पेन्सर : सोशल स्टैटिस्टिक्स, पृष्ठ २६७।

दृष्टिसे किया गया कि इंग्लैण्डके उद्योगोंका विकास करना है। जकात और चुंगी, कर और महसूल, भाड़ा और किराया, सभी बातोंमें यही लक्ष्य अपने सम्मुख रखा गया।[1]

ढाका, कृष्णनगर, चंदेरी आदिकी मसलिन; लखनऊकी छींट; अहमदाबादकी धोतियाँ, दुपट्टे; मध्यप्रान्त, नागपुर, उमरेर, पवनी आदिके रेशमी पाड़वाले वस्त्र; पालमपुर, मदुरा, मद्रास आदिके बढ़िया वस्त्रोंका उद्योग ईस्ट इण्डिया कम्पनी तथा ब्रिटिश सरकारकी अमलदारीमें बुरी तरह नष्ट हो गया। उसकी सारी ख्याति लुप्त हो गयी।[2]

वस्त्र-उद्योग भारतका सर्वोत्कृष्ट उद्योग था। वह बुरी तरह चौपट कर दिया गया। सर विलियम हेटरने लिखा है कि देशी अदालतोंकी समाप्ति, गोरे पूँजीपतियोंकी चालों तथा विभिन्न परिस्थितियोंने भारतीय जुलाहोंको विवश कर दिया कि वे करघा छोड़कर हल चलायें। अन्य छोटे-मोटे अनेक उद्योग भी नष्ट हो गये।[3]

देशकी कृषि उधर चौपट हो रही थी। कृषक ऋण-भारसे पिसा जा रहा था। उसका भार सन् १८९५ में जहाँ ४५ करोड़ था, वहाँ सन् १९११ में वह ३०० करोड़ हो गया, सन् १९३७ में १८०० करोड़।[4] भूमिपर लोगोंकी निर्भरता बढ़ने लगी। सन् १८९१ में जहाँ ६१·१ प्रतिशत व्यक्ति कृषिपर निर्भर रहते थे, सन् १९११ में ६६·५ प्रतिशत हो गये और सन् १९४१ में ७४ प्रतिशत।[5]

कृषकका यह हाल, उधर मजदूर मिलोंकी ओर दौड़ने लगा। वहाँ न उसे भरपेट खाना था, न कपड़ा, मकानकी जगह खुला आकाश! सन् १९२३ में बम्बई सरकारने जाँच की, तो निष्कर्ष निकला कि मजदूरोंकी खुराक बम्बई जेल मैनुएलमें लिखी कैदियोंकी साधारण खुराकसे भी गयी बीती है।[6]

क्लाइवके जमानेसे अंग्रेजोंने भारतकी जो चतुर्मुखी लूट मचायी, उसकी कहानी पत्थरका भी हृदय द्रवित करनेवाली है। इस लूटका ही परिणाम था कि सन् १७५० में इंग्लैण्डमें जहाँ १२ बैंक थे, सन् १७९० में प्रत्येक नगरमें एक बैंक खुल गया।[7] प्लासी और वाटरलूके युद्धोंके बीच भारतसे १ अरब पौण्ड

---

१ एन० जे० शाह : हिस्ट्री ऑफ इण्डियन टैरिफ्स, अध्याय ४।

२ गाडगिल : इण्डस्ट्रियल एवोल्यूशन ऑफ इण्डिया, पृष्ठ ३२-४५।

३ रामचन्द्र राव : डिके ऑफ इण्डियन इण्डस्ट्रीज, पृष्ठ ६८।

४ कन्हैयालाल मुंशी : दि रिउन दैट ब्रिटेन राट, पृष्ठ ४५-४६।

५ मुंशी : वही, पृष्ठ ६१।

६ बी० शिवराव : दि इण्डस्ट्रियल वर्कर इन इण्डिया, पृष्ठ १४५।

७ ब्रुकएडम्स : ला ऑफ सिविलिजेशन एण्ड डिके, पृष्ठ ३१६।

ब्रिटिश बैंकोंमें पहुँच गये।[1] सत्ता हाथमें लेकर ब्रिटिश सरकारने सार्वजनिक ऋणके नामपर लड़ाइयोंका खर्चा भारतके मत्थे मढ़ा। सन् १९२१ तक यह रकम १८०५ करोड़से ऊपर हो गयी।[2] यह चक्र विनिमयके बहाने, आयात-निर्यातके बहाने, पौण्ड-पावनेके बहाने खूब चलता रहा। ब्रिटिश-कालका सारा आर्थिक इतिहास लूट, शोषण और अन्यायका ही भयंकर इतिहास है।

दरिद्रताकी चरम सीमा

परिणाम यह हुआ कि विश्वका सबसे समृद्ध देश सबसे दरिद्र बन गया। खाने-पीनेके लाले पड़ गये। दुर्भिक्षोंका ताँता लग गया। सन् १८०० से १८२५ तक ५ दुर्भिक्षोंमें १० लाख; सन् १८२५ से १८५० तक २ दुर्भिक्षोंमें ४ लाख; सन् १८५० से १८७५ तक ६ दुर्भिक्षोंमें ५० लाख; सन् १८७५ से १९०० तक १८ दुर्भिक्षोंमें २६० लाख व्यक्ति मृत्युके घाट उतरे। सन् १९४३ के बंगालके दुर्भिक्षने तो इस भयंकरताको चरम सीमापर पहुँचा दिया। उसमें सरकारी दुर्भिक्ष कमीशनके हिसाबसे १५ लाख और कलकत्ता विश्वविद्यालयकी रिपोर्टके अनुसार ३५ लाख व्यक्ति कीड़े-मकोड़ोंकी भाँति तड़प-तड़पकर मरे![3]

मुगलोंके शासनकालमें भारतकी आर्थिक स्थिति कुछ बिगड़ने तो लगी थी, पर विशेष नहीं। कारण, ये शासक भारतमें ही बस गये थे और उन्होंने अपनी संस्कृति भारतीय संस्कृतिमें ही एकाकार कर दी थी। फलतः भारतको कोई विशेष क्षति सहन नहीं करनी पड़ी। अंग्रेजोंने इसके सर्वथा विपरीत मार्ग पकड़ा। वे भारतमें रहते थे, भारतमें पलते-पनपते थे, भारतके अन्न और जलसे परिपुष्ट होते थे, पर भारतका हित उनका हित नहीं था। उनकी दृष्टिमें इंग्लैण्डका ही हित सर्वोपरि था, पाश्चात्य संस्कृति ही सर्वस्व थी। भारतीय जनताका चतुर्मुखी शोषण ही उन्होंने अपना लक्ष्य बनाया। पाश्चात्य संस्कृति भारतपर लादनेका जी-तोड़ प्रयत्न किया। मैकालेने काले दुभाषियोंकी किरानी पलटन खड़ी करनेके उद्देश्यसे यहाँ अंग्रेजी शिक्षा चालू की। भारतीयोंको आपसमें लड़ानेके लिए अदालतें और कचहरियाँ खोलीं, पंचायतें चौपट कीं। भारतका कच्चा माल ले जाने और ब्रिटेनके पक्के मालसे भारतको पाट देनेके लिए रेलकी पटरियाँ बिछायीं। आयात-निर्यातके ऐसे कानून बनाये, ऐसे-ऐसे कर लगाये कि जिनसे भारतकी अर्थव्यवस्था चौपट हो जाय। 'होमचार्ज' के रूपमें वे भारतकी अकूत सम्पत्ति विलायत ले जाने लगे। भारतके आर्थिक शोषणकी यह कहानी किससे छिपी है? इसके फलस्वरूप यहाँपर दरिद्रताका नंगा नाच होना स्वाभाविक ही था।

---

१ विलियम डिगवी : प्रासपरस ब्रिटिश इण्डिया, पृष्ठ ३३।

२ कुमारप्पा : पब्लिक फिनान्स एण्ड अवर पावर्टी, पृष्ठ ५०।

३ श्रीकृष्णदत्त भट्ट : भारतवर्षका आर्थिक इतिहास, पृष्ठ ५०३-५०४।

राजनीतिक चेतना

विदेशी सत्ताके दोष कबतक छिपते? सत्तावनकी क्रान्ति विफल होनेके उपरान्त भी सन् १८६६-६७ की वहाबी मुसलमानोंकी सशस्त्र क्रान्तिकी चेष्टा, सन् १८७२ के कूका-विद्रोह और बम्बईमें किसानोंके संगठित आन्दोलनने यह बात स्पष्ट कर दी कि आग बुझी नहीं, भीतर ही भीतर सुलग रही है। वासुदेव बलवंत फड़केने सन् १८६९ से १९१९ तक देशमें सशस्त्र क्रान्तिके लिए और प्रजासत्ताक राज्यकी स्थापनाके लिए कई प्रयत्न किये, पर जनताने उसका साथ नहीं दिया।

एक ओर क्रान्तिकी लपटें सुलगने लगीं, दूसरी ओर धार्मिक पुनरुज्जीवनका प्रयास चला। राममोहन रायका ब्रह्म-समाज, पंजाबमें देव-समाज और बम्बईमें प्रार्थना-समाजने इस दिशामें कुछ काम किया। सैयद अहमद खाँने शिक्षाके क्षेत्रमें कुछ जाग्रति उत्पन्न की। देशमें बढ़ती हुई राजनीतिक चेतनासे अंग्रेजोंका माथा ठनका। वे उसकी रोकथामके लिए कुछ करना चाहते थे। इसी उद्देश्यसे सन् १८८५ में कांग्रेसका जन्म हुआ।

इटावाके कलक्टर ह्यूम साहब भला क्या जानते थे कि वे जिस कांग्रेसको जन्म दे रहे हैं, वही आगे चलकर ब्रिटिश नौकरशाहीकी समाप्तिका कारण बनेगी। पट्टाभिके शब्दोंमें 'कुछ दिनोंतक हाईकोर्टकी जजी पानेका सरल उपाय यह था कि कांग्रेसके कार्यमें दिलचस्पी ली जाय।' पर यह चाल अधिक दिनोंतक नहीं चल सकी।

इधर आर्य-समाज और थियासॉफिकल सोसाइटी जैसी संस्थाएँ और रामकृष्ण परमहंस और विवेकानन्द जैसे व्यक्ति अपनी-अपनी दृष्टिसे जागरणकी लहर फैला रहे थे, उधर राजनीतिक आन्दोलन भी आरम्भ हो गये। बंगालके क्रान्तिकारी लोग फाँसीके तख्तेपर लटककर देश-प्रेमकी भावनाका विस्तार करने लगे। कांग्रेसमें नरम और गरम दल सक्रिय हो उठे। तिलकने 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है' यह घोषणा की। विश्वयुद्धकी समाप्तिपर भारतको 'जलियानवाला बाग' का पुरस्कार मिला। गांधीका राजनीतिक क्षेत्रमें पदार्पण हुआ और उसके अहिंसा और सत्यके अस्त्र द्वारा कांग्रेसने '४२ की अगस्त-क्रान्तिके बाद १५ अगस्त सन् १९४७ को स्वाधीनता प्राप्त कर ली।

अर्थशास्त्रके प्रतिष्ठापक : ३ :

यंत्रके जन्मने बड़े उद्योगोंको जन्म दिया। चरखे और करघेके स्थानपर बड़ी-बड़ी मशीनें खड़ी हुईं। जिस काममें सप्ताह, मास और वर्ष लगते थे, वह चुटकियोंमें होने लगा। एक मशीन हजारोंका काम करने लगी। यूरोपमें इस यंत्र-दानवने क्रान्ति मचा दी। यह दानव ही भारतीय उद्योगोंके मूलपर कुठाराघात करनेवाला सिद्ध हुआ। ब्रिटिश-मिलोंने अपने मालसे भारतका सारा बाजार पाट दिया। भारतकी व्यापार-नीति ब्रिटेनके व्यापारियों और उनके पंजेमें रहनेवाली ब्रिटिश सरकारके हाथमें थी। अतः अबाध वाणिज्य और मुक्तद्वार वाणिज्यके नाम-पर भारत ब्रिटिश-मालकी मण्डी बनाया गया। वहाँसे कच्चा माल ब्रिटेन जाने लगा। भारतकी बलिपर ब्रिटेनके उद्योग पलने लगे।[1] लंकाशायर और मानचेस्टर-की मिलोंके मजदूर काम पाते रहे, भारतके कारीगर सर्वहारा-वर्गके सदस्य बनकर दर-दर भटकते रहे।[2]

एक ओर यह स्थिति थी, दूसरी ओर 'होमचार्ज' के नामपर, यूरोपियन अधिकारियोंके वेतनके नामपर, उनकी पेंशन और भत्तेके नामपर, उनकी बचत-के नामपर भारतकी अपार स्वर्णराशि जहाजोंमें लद लदकर ब्रिटेन पहुँच रही थी। सम्पत्तिके इस प्रवाहने भारतकी नसोंका रक्त चूस डाला।

दादाभाई नौरोजी

'भारतके दारिद्र्यका कारण क्या है, उसकी यह शोचनीय स्थिति क्यों है?' यह ऐसा प्रश्न था, जिसका समाधान खोजनेकी ओर सबसे पहले हमारे जिस विचारकका ध्यान गया, वह था—दादाभाई नौरोजी (सन् १८२५–१९१७)।

जिन दिनों मार्क्स अपनी 'डास कैपिटाल' की रचनाके लिए प्रतिदिन ब्रिटिश संग्रहालयमें बैठकर पूँजीवादकी गतिके सिद्धान्तकी शोध कर रहा था; उन्हीं दिनों यह भारतीय विचारक भी वहीं बैठकर 'पावर्टी एण्ड अनब्रिटिश रूल इन इण्डिया' की सामग्री जुटा रहा था और 'उत्सारण-सिद्धान्त' (Drain Theory) की शोध कर रहा था। अशोक मेहताका कहना है कि हमारे पास यह जाननेका कोई साधन नहीं है कि मार्क्स और दादाभाईमें कभी मुलाकात और बातचीत हुई या नहीं;

---

१ श्रीकृष्णदत्त भट्ट : भारतवर्षका आर्थिक इतिहास, पृष्ठ ३५४।

२ वही, पृष्ठ ३६१।

पर यह तो है ही कि इन दोनों महान् बुद्धिवादियोंने विश्वको प्रकम्पित कर देनेवाले दो सिद्धान्तोंको एक साथ जन्म दिया। मार्क्स जहाँ एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्गके शोषणसे चिन्तित था, दादाभाईके चिन्तनका विषय था—एक देश द्वारा दूसरे देशका शोषण।[1]

जीवन-परिचय

४ सितम्बर १८२५ को बम्बईके एक सम्पन्न पारसी परिवारमें जन्म लेकर दादाभाई नौरोजी वकील बना और सामाजिक जीवनमें भाग लेने लगा। सन् १८८६, १८९३ और १९०६ में वह कांग्रेसका अध्यक्ष बना। कांग्रेसके द्वितीय अधिवेशनके अध्यक्ष-पदसे उसने यह घोषणा की कि 'यह कांग्रेस सामाजिक नहीं है, यह धार्मिक नहीं है, यह साम्प्रदायिक नहीं है, यह जातीय नहीं है, यह कांग्रेस अखिल भारतीय कांग्रेस है और इसका सम्बन्ध केवल राजनीतिक संस्थाओंसे रहेगा।' दादाभाईने ही सन् १९०६ में कलकत्ता कांग्रेसमें 'स्वराज्य' शब्दकी घोषणा की।[2]

जीवनके अन्तिम दिनोंमें दादामाई इंग्लैण्डमें जाकर बस गया। वहाँ लिबरल दलकी ओरसे वह पार्लमेण्टका सदस्य चुन लिया गया।

सन् १९१७ में दादाभाईका देहान्त हो गया।

प्रमुख आर्थिक विचार

दादाभाईने ब्रिटिश सरकारके शोषण और दोहनके विरुद्ध कड़ी आवाज उठायी। उसपर शास्त्रीय विचारधाराका और मुख्यतः मिलका विशेष प्रभाव था। दादाभाईकी मान्यता थी कि उद्योगकी सीमाका निर्धारण पूँजी द्वारा होता है और पूँजीकी अभिवृद्धि होती है बचत द्वारा। मार्क्सकी भाँति दादाभाईकी भी धारणा थी कि श्रमिक ही वास्तविक उत्पादक है। विभिन्न प्रकारकी सेवाएँ अनुत्पादक हैं। जो लोग अनुत्पादक हैं, वे भी श्रमिक द्वारा उत्पन्न वस्तुसे ही जीवित रहते हैं।

दादाभाईकी यह भी मान्यता है कि अर्थशास्त्रको समाजशास्त्र, राजनीति तथा नीतिशास्त्रसे पृथक् नहीं किया जा सकता।

---

१ अशोक मेहता : डेमोक्रेटिक सोशलिज्म, पृष्ठ १११-११२।

२ दादा धर्माधिकारी : सर्वोदय-दर्शन, १९५७, पृष्ठ ३१६।

दादाभाईकी अत्यन्त प्रसिद्ध रचना है 'पावर्टी एण्ड अनब्रिटिश रूल इन इण्डिया।' उसमें भारतकी दरिद्रताका विशद विवेचन है।

दादाभाईका कहना था कि २०) वार्षिककी आय, आयात-निर्यातकी कमी, सरकार द्वारा लगाये जानेवाले अनेक कर, सेनापर अन्धाधुन्ध खर्च, समय-समयपर पड़नेवाले दुर्भिक्ष, महामारियाँ आदि भारतकी दरिद्रताके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

दादाभाईकी मुख्य देन दो हैं :

(१) राष्ट्रीय आयका निर्द्धारण और

(२) उत्सारण-सिद्धान्त।

१. राष्ट्रीय आयका निर्द्धारण

दादाभाईने सन् १८६७–७० के बीच भारतकी आर्थिक स्थितिका विधिवत् विवेचन करके यह निष्कर्ष निकाला कि आज भारतकी आय प्रतिव्यक्ति २०) सालाना है।

उसका कहना था कि जेलोंमें रहनेवाले अपराधियोंको जितना भोजन और वस्त्र दिया जाता है, उतना भी प्रत्येक भारतवासीको उपलब्ध नहीं। जीवनकी अनिवार्य आवश्यकताओंका जब यह हाल है, तो अन्य भोग-सामग्रीका तो प्रश्न ही नहीं उठता। भारतवासियोंकी सामाजिक और धार्मिक आवश्यकताओंकी भी पूर्ति नहीं हो पाती, सुख-दुःखके अवसरोंपर अथवा रोग, बीमारी या संकटोंका सामना करनेके लिए भी उनके पास कुछ नहीं रहता। इसका परिणाम यह होता है कि भारतवासियोंको पूरा नहीं पड़ता है और उन्हें पूँजीमें से ही खाना पड़ता है।

भारतकी राष्ट्रीय आय कृतनेवाला सर्वप्रथम व्यक्ति दादाभाई नौरोजी ही था। उसके बाद तो अन्य लोगोंने भी इस दिशामें कदम उठाया। सन् १८८२ में क्रोमर और बारबरने भारतकी प्रतिव्यक्ति आय २७) वार्षिक कूती; सन् १८९८-९९ में विलियम डिगबीने १७॥) कूती; सन् १९०० में लार्ड कर्जनने ३०) कूती; सन् १९२१ में के० टी० शाहने ६४) कूती।[1] सन् १९४८ में भारतकी राष्ट्रीय आय २२८) प्रतिव्यक्ति थी, जब कि इंग्लैण्डमें प्रतिव्यक्तिकी आय २५७७) थी और अमेरिकामें ५११९) प्रतिव्यक्ति।[2] इन आँकड़ोंसे भारतकी दयनीय स्थितिकी सहज ही कल्पना की जा सकती है। हमारी स्थिति कैसी है, इसकी जाँचका यह पैमाना खड़ा करनेका श्रेय दादाभाई नौरोजीको ही है।

---

१ श्रीकृष्णदत्त भट्ट : भारतवर्षका आर्थिक इतिहास, पृष्ठ ५०६।

२ इंडिया इन वर्ल्ड इकॉनॉमी, जनवरी १९५१, पृष्ठ ३६।

२. उत्सारण-सिद्धान्त

अपने उत्सारण-सिद्धान्त (Drain Theory) की व्याख्या करते हुए दादाभाई कहता था कि ब्रिटेन भारतवर्षका शोषण और दोहन कर रहा है। भारतसे करके रूपमें जो पैसा वसूल किया जाता है, वह सबका सब भारतवासियोंपर खर्च नहीं किया जाता। जिस प्रकार इंग्लैण्ड अपने देशवासियोंसे ७ करोड़ पौण्ड वसूल करके पूरी रकम इंग्लैण्डवालोंके लिए ही खर्च करता है, उसी प्रकार ब्रिटेन भारतवासियोंसे वसूल की गयी ५ करोड़ पौण्डकी पूरी रकम भारतवासियोंके लिए खर्च नहीं करता। उसमेंसे २ करोड़ पौण्ड हर साल इंग्लैण्डके लोग अपने यहाँ खींच ले जाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि प्रतिवर्ष भारतकी उत्पादन-शक्तिका ह्रास होता जाता है। साथ ही भारतको अपने निर्यातपर कोई लाभ नहीं प्राप्त होता। इंग्लैण्डवाले भारतसे बीमा, जहाजरानी और मुनाफा आदिके रूपमें बहुत-सा धन अपने देशमें खींच ले जाते हैं। ब्रिटेनवासी भारतकी सुरक्षाकी कोई समुचित व्यवस्था नहीं करते, उलटे अपने लाभके लिए भारतवासियोंका भरपूर शोषण करते हैं। अंग्रेज अफसरोंके वेतन, भत्ते, पेंशन आदिके नामपर भारतसे तीन करोड़ पौण्ड हर साल लूटे जा रहे हैं। फलतः भारतके उद्योग-धन्धों और वाणिज्य-व्यवसायको पनपनेका कोई अवसर ही नहीं मिलता। इस उत्सारणके फलस्वरूप भारत दिन-दिन निर्धन होता जा रहा है।

'पावर्टी एण्ड अन-ब्रिटिश रूल इन इण्डिया' में भारतकी दरिद्रताके कारणोंका विश्लेषण करते हुए दादाभाईने इस बातपर जोर दिया कि 'होमचार्ज' के नामसे ब्रिटेन भारतकी जो लूट कर रहा है, वह बन्द होनी चाहिए। सन् १८३५ में जहाँ 'होमचार्ज' के नामपर ५० लाख पौण्ड भारतसे लिया जाता था, वहाँ सन् १९०० में ३ करोड़ पौण्ड लिया जाने लगा। उसका कहना था कि अंग्रेज अफसरोंकी बचत, वेतन और भत्तेकी यह भारी रकम जबतक बन्द नहीं होती, तबतक भारतकी दरिद्रता मिटनेवाली नहीं।

दादाभाई नौरोजीकी मान्यता थी कि ब्रिटिश शासनके कारण ही भारतमें इतनी भयंकर दरिद्रता है। 'होमचार्ज' सार्वजनिक ऋणके ब्याज आदिके बहाने वह भारतका 'जीवन-रक्त' खींच रहा है। आज भारतमें रोग और मृत्युकी संख्या बहुत है, दुष्कालपर दुष्काल पड़ रहे हैं, उसका आयात-निर्यात इतना कम है, सरकारी करोंसे होनेवाली आय भी कम ही है। इन सब बातोंसे भारतकी दरिद्रता स्पष्ट दिखाई पड़ती है। सरकारको चाहिए कि वह भारतकी यह लूट बन्द करे, भारतमें विदेशी अधिकारी रखना कम करे और देशस्थ लोगोंको ही नौकर रखे। तभी यह लूट कम हो सकेगी।

थ्योडोर मारिसनने दादाभाईके उत्सारण-सिद्धान्तको यह कहकर गलत सिद्ध करनेकी चेष्टा की कि भारतका शोषण या आर्थिक विदोहन बिलकुल ही नहीं किया गया, क्योंकि प्रत्येक व्यय सेवाओंके लिए किया गया या भारतमें आये मालके लिए किया गया।

रमेशचन्द्र दत्त

भारतीय सिविल सर्विसका अफसर रहनेपर भी रमेशचन्द्र दत्त (सन् १८४८–१९०९) की राष्ट्रीयता कम न हुई। भारतकी दरिद्रता दादाभाईको जिस भाँति खटकती थी, रमेशचन्द्र दत्तको भी वह उसी भाँति खटकी। सन् १८९९ में वह भी कांग्रेसका अध्यक्ष चुना गया था। इतिहासका विद्वान् होनेके नाते लन्दन विश्वविद्यालयमें वह प्राध्यापक नियुक्त हुआ था।

प्रमुख रचना

'इकॉनॉमिक हिस्ट्री ऑफ इण्डिया' (२ खण्ड) रमेशचन्द्र दत्तकी वह हृदयस्पर्शी रचना है, जिसने भारतकी दरिद्रताका नग्न चित्र उपस्थित करके असंख्य लोगोंको प्रभावित किया। 'हिन्द्स्वराज' में गांधीने मुक्तकण्ठसे स्वीकार किया है कि उक्त पुस्तकने मुझपर विशेष रूपसे प्रभाव डाला है और उसके द्वारा मैं यह जान सका कि मानचेस्टरके मिल-उद्योगने किस प्रकार भारतके ग्रामोद्योगोंको चौपट करके देशको निर्धन बनाया।

प्रमुख आर्थिक विचार

रमेशचन्द्र दत्तने भारतकी दरिद्रताके कारणोंपर विस्तारसे विचार किया। उसने कहा कि अंग्रेज व्यापारियोंने भारतका कच्चा माल खरीदकर अपना पक्का माल यहाँ बेचनेकी जो नीति पकड़ी, उसके कारण भारतीय उद्योग बुरी तरह चौपट हो गये। इससे कारीगर बेकार होकर कृषिकी ओर झुके और कृषिके लिए उनका भी सँभालना कठिन हो गया। उधर कृषिका यह हाल है कि वह वर्षापर आश्रित रहती है, जिसका स्वयं कोई ठिकाना नहीं। फलतः अकालपर अकाल पड़ते हैं। कृषिपर नाना प्रकारके कर लगाकर ब्रिटिश शासनने किसानोंकी कमर और भी तोड़ दी है।

रमेशचन्द्र दत्तने भी दादाभाईकी तरह माँग की कि भारतकी दरिद्रता मिटानेके लिए यह आवश्यक है कि अंग्रेजोंके स्थानपर भारतीय लोग ही उच्च पदोंपर नियुक्त किये जायँ। सैनिक और सरकारी व्यय घटाये जायँ। सार्वजनिक ऋण कम किया जाय। उसने ग्रामोद्योगोंको प्रोत्साहन देने, भूमि-सुधार करने, स्थायी बन्दोबस्तवाली भूमिपर केवल ५० प्रतिशत लगान लेने और रैयतवारी क्षेत्रोंमें २० प्रतिशत करपर ३० सालके पट्टोंकी माँग की। वर्षाकी अनिश्चितताके चंगुलसे कृषककी रक्षा करनेके लिए रमेशचन्द्र दत्तने यह माँग की कि सरकार सिंचाईकी समुचित व्यवस्था करे, नहरें खोले और इस प्रकार दुर्भिक्ष और अर्थ-संकटसे भारतवासियोंको मुक्त करे।

सबसे पहले भारतका आर्थिक इतिहास लिखने और भूमि-सुधारका सुझाव देनेवाला पहला विचारक है—रमेशचन्द्र दत्त।

रानाडे

'प्रार्थना-समाज' का संस्थापक महादेव गोविन्द रानाडे (सन् १८४२—१९०१) था तो बम्बई हाईकोर्टका न्यायाधीश, पर अर्थशास्त्रका उसका अध्ययन अत्यन्त गम्भीर था। भारतीय आर्थिक विचारधाराके निर्माताओंमें उसका विशिष्ट स्थान है।

जीवन-परिचय

१८ जनवरी १८४२ को नासिकमें महादेव गोविन्द रानाडेका जन्म हुआ। उच्च शिक्षा प्राप्त करनेके उपरान्त सन् १८६४ में वह बम्बईमें अर्थशास्त्रका प्राध्यापक नियुक्त हुआ। सन् १८६७ में वह कोल्हापुर राज्यका न्यायाधीश नियुक्त किया गया। सन् १८८५ में वह बम्बई विधानसभाका कानूनी सदस्य बना। अगले वर्ष वह भारत सरकार द्वारा नियुक्त व्यय तथा छटनी समितिमें बम्बई सरकारके प्रतिनिधिके रूपमें लिया गया। सन् १८९३ में वह बम्बई हाईकोर्टका जज नियुक्त किया गया।

सन् १९०१ में रानाडेका देहान्त हो गया।

प्रमुख आर्थिक विचार

रानाडेकी प्रसिद्ध रचना है—'एसेज ऑन इण्डियन पोलिटिकल इकॉनॉमी' (सन् १८९०-९३)। सन् १८९२ में महादेव गोविन्द रानाडेने दक्षिण कॉलेज, पूनामें सबसे पहले 'भारतीय अर्थशास्त्र' शब्दका प्रयोग किया। उसकी यह मान्यता है कि पाश्चात्य सिद्धान्तोंको आँख मूँदकर भारतपर लागू नहीं करना चाहिए। इतिहास, अनुभव एवं परीक्षणके आधारपर अर्थशास्त्रका अध्ययन होना चाहिए।

रानाडेके आर्थिक विचारोंको तीन भागोंमें विभाजित कर सकते हैं :

१. शास्त्रीय विचारकोंकी आलोचना,
२. भारतीय अर्थशास्त्र और
३. मुक्त-वाणिज्यका विरोध।

१. शास्त्रीय विचारकोंकी आलोचना

रानाडेने अदम स्मिथ, रिकार्डो, मैल्थस, जेम्स मिल, मैकुलख, सीनियर आदि शास्त्रीय धाराके विचारकोंकी विस्तारसे आलोचना की। उसका कहना था कि शास्त्रीय विचारधाराकी धारणाएँ समाजको स्थिर मानकर चलती हैं, पर समाजके परिवर्तनशील होनेके कारण ये किसी भी समाजपर लागू नहीं होतीं।

शास्त्रीय पद्धतिके विचारक मानते हैं कि राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था वस्तुतः व्यक्ति-वादी है और इसका कोई पृथक् पहलू नहीं है। 'आर्थिक व्यक्ति' केवल अपना हित बढ़ाना चाहता है, जिसके लिए उत्पत्तिका बढ़ना आवश्यक है। व्यक्तिगत लाभकी खोजसे ही सार्वजनिक लाभमें वृद्धि होती है। पारस्परिक सौदेमें पूर्ण स्वतंत्रता रहनी चाहिए। सामाजिक तथा राजनीतिक नियंत्रणोंसे व्यक्तिकी स्वतंत्रता कुण्ठित होती है। खाद्यपदार्थोंकी अपेक्षा जनसंख्याकी वृद्धि शीघ्रता-से होती है। माँग और पूर्तिमें सामंजस्य स्थापित होता रहता है। पूँजी और श्रम एक व्यवसायसे दूसरेमें स्वतंत्रतापूर्वक आते-जाते रहते हैं।

रानाडेकी मान्यता थी कि शास्त्रीय विचारधाराकी उपर्युक्त धारणाएँ केवल धारणाएँ ही हैं। अन्य देशोंकी तो बात ही क्या, इंग्लैण्ड जैसे सभ्य देशपर भी वे लागू नहीं होतीं। भारतपर तो लागू होती ही नहीं। पूँजी और श्रममें कोई गतिशीलता नहीं है। मजूरी और लाभ भी स्थिर हैं। जनसंख्याका अपना सिद्धान्त है। रोगों और दुर्भिक्षोंके द्वारा उसमें यथासमय छँटनी होती जाती है।

ऐतिहासिक पक्षका समर्थन करते हुए रानाडे कहता है कि भूतकालका अध्ययन करके भविष्यके मार्गका निर्धारण करना चाहिए। उसका मत था कि अर्थशास्त्रके अध्ययनका केन्द्रबिन्दु न तो व्यक्ति होना चाहिए और न उसका हित। अर्थशास्त्रका केन्द्रबिन्दु होना चाहिए वह समाज, जिसकी इकाई व्यक्ति है।

२. भारतीय अर्थशास्त्र

रानाडेने भारतकी आर्थिक स्थितिका विवेचन करके यह निष्कर्ष निकाला कि भारतकी दरिद्रताके लिए ब्रिटिश सरकारकी पक्षपातपूर्ण नीति ही उत्तरदायी है। उसकी आर्थिक नीतिके कारण भारतके उद्योग-धंधे चौपट हो रहे हैं। कारीगर बेकार हो रहे हैं। खेतीका भार बढ़ रहा है। खेतीके सुधारपर सरकार कोई ध्यान नहीं दे रही है। नये उद्योग-धंधोंको भी सरकार पनपने नहीं दे रही है।

भारतमें बैंकोंका अभाव होनेसे व्यापारियोंको पर्याप्त मात्रामें धन नहीं मिल पाता। इन सब कारणोंसे भारतकी दरिद्रता दिन-दिन बढ़ती जा रही है।

रानाडेका मत था कि सरकारको नये-नये उद्योगोंकी स्थापना करनी चाहिए। उद्योगोंको भरपूर सरकारी संरक्षण मिलना चाहिए। पूँजीपतियोंका संघ बनाकर नये बैंकोंकी भी स्थापना करनी चाहिए। कृषिके सुधारकी ओर सरकारको भरपूर ध्यान देना चाहिए और लगान-सम्बन्धी अपनी नीतिमें सुधार करना चाहिए। जनसंख्याको नियोजित करनेके लिए सरकारको उचित प्रयत्न करने चाहिए। घनी आबादीवाले स्थानोंसे लोगोंको कम आबादीवाले स्थानोंपर ले जाकर बसाना चाहिए।

३. मुक्त-वाणिज्यका विरोध

रानाडे मुक्त-वाणिज्यका तीव्र विरोधी था। वह संरक्षित व्यापारका पक्षपाती था। उसकी धारणा थी कि ब्रिटिश सरकारकी आर्थिक नीतिके फलस्वरूप भारतके उद्योग-धन्धे चौपट होते जा रहे हैं। कृषिप्रधान भारत देशकी सरकार कृषिके विकासकी ओर कोई ध्यान नहीं दे रही है।

रानाडेके विवेचनमें न्यायाधीशकी तार्किकता और तटस्थवृत्ति है। उसने भारतीय अर्थशास्त्रकी ओर लोगोंका ध्यान विशेष रूपसे आकृष्ट किया।

गोखले

रानाडेका शिष्य, भारत-सेवक-समाजका संस्थापक एवं गांधीका प्रेरक गोपाल कृष्ण गोखले भी भारतके अर्थशास्त्रके प्रतिष्ठापकोंमेंसे एक है।

गोखले राजनीतिक नेता था, पर उसकी अर्थशास्त्रीय विचारधारा दादाभाई, रमेशचन्द्र दत्त और रानाडेसे मिलती-जुलती ही थी। गुलामीके अभिशापसे पीड़ित राष्ट्रके प्रमुख विचारकोंमें ऐसी भावना स्वाभाविक भी थी।

पी० के० गोपालकृष्णनने ठीक ही कहा है कि 'गोखलेको शिक्षा मिली थी शास्त्रीय विचारधाराकी, रुचिसे वह गणितज्ञ था, पर आवश्यकताने उसे अर्थ-शास्त्री और अंकशास्त्री बना दिया। वह अपने युगका सच्चा विश्वप्रेमी था।' राजनीतिमें विरोधी होनेपर भी तिलकका कहना था कि 'गोखले भारतका हीरा था, महाराष्ट्रका रत्न और कार्यकर्ताओंका सम्राट्!'

जीवन-परिचय

सन् १८६६ में कोल्हापुरमें गोपाल कृष्ण गोखलेका जन्म हुआ। सन्

१८८४ में वह स्नातक हुआ। बादमें उसने पूनाके फर्ग्युसन कॉलेजमें अंग्रेजी साहित्य और गणितका अध्यापन किया। सन् १८८७ में वह 'सार्वजनिक सभा' का सम्पादक बना। सन् १९०० में वह बम्बई विधान-सभाका सदस्य चुना गया। सन् १९०२ में वह लाटसाहबकी कार्यसमितिका सदस्य बना। सन् १९०५ में वह भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेसका अध्यक्ष चुना गया।

समाज-सेवामें गोखलेकी अत्यधिक रुचि थी। इसी भावनाको व्यावहारिक रूप प्रदान करनेके लिए उसने भारत-सेवक-समाज (Servants of India Society) की स्थापना की। यह संस्था आज भी विभिन्न रूपोंमें समाजकी सेवा कर रही है।

सन् १९१५ में गोखलेका देहान्त हो गया।

प्रमुख आर्थिक विचार

गोखलेके आर्थिक विचारोंको तीन भागोंमें विभाजित किया जा सकता है :

(१) सार्वजनिक व्यय,
(२) अफीमके निर्यातका विरोध और
(३) भारतकी आर्थिक व्यवस्था।

१. सार्वजनिक व्यय

गोखलेने भारतके सार्वजनिक व्ययकी तीव्र आलोचना करते हुए यह मत व्यक्त किया कि भारतमें नागरिक और सैनिक—दोनों ही व्यय अत्यधिक हैं। इसके फलस्वरूप हमारी जाति दिन-दिन क्षीण होती जा रही है। हमारे नवयुवकोंमें स्वतंत्र देशके नागरिकों जैसा बड़प्पन नहीं आ रहा है। सरकारका खर्च बढ़ता जा रहा है। देशकी उत्पत्ति, वितरण और उद्योगपर उसका कुप्रभाव पड़ रहा है।

गोखलेकी मान्यता थी कि सरकारी आय-व्ययके द्वारा वितरणकी असमानता दूर की जा सकती है।

२. अफीमके निर्यातका विरोध

भारत द्वारा चीनको अफीमके निर्यातका गोखलेने तीव्र विरोध करते हुए कहा कि अफीम किसी भी देशके नागरिकोंके हितमें नहीं होती। चीनको भारतसे

अफीम भेजी जाय, यह अनैतिक है। चीनवासियोंके हितमें भारत सरकारको अफीमका निर्यात बन्द कर देना चाहिए।

३. भारतकी आर्थिक व्यवस्था

गोखलेको यह बात सर्वथा अस्वीकार थी कि भारतकी अर्थव्यवस्था अंग्रेजी सरकारके हितमें हो। उसका कहना था कि सभी देशोंमें वहाँके करदाताओंका अपनी अर्थव्यवस्थापर नियंत्रण रहता है, पर पराधीन भारतमें ऐसा नहीं है। भारतकी दरिद्र जनतापर करोंका अन्धाधुन्ध भार है। संसारके किसी भी देशकी जनतापर करोंका इतना अधिक भार नहीं है।

गोखलेने सुझाव दिया था कि भारतके व्ययपर नियंत्रण करनेके लिए एक नियंत्रण-समिति स्थापित की जाय। उसने सैनिक व्ययमें कमी करनेपर जोर दिया और नमक करका तीव्र विरोध किया। भूमिकी उर्वराशक्ति बढ़ानेपर तथा कृषिकी स्थिति सुधारनेपर भी उसने बड़ा जोर दिया।

नौरोजी, दत्त, रानाडे और गोखलेने भारतीय आर्थिक विचारधाराके विकासमें नींवके पत्थरका काम किया। ● ● ●

आधुनिक अर्थशास्त्र : ३ :

बीसवीं शताब्दीके पूर्वार्द्धमें भारतमें अर्थशास्त्रीय साहित्य तो पर्याप्त प्रकाशित हुआ है, पर उसमें मौलिक अनुदान कम है। सरकारी और गैर-सरकारी प्रकाशनकी मात्रा तो बड़ी दीखती है, पर उसमें सारतत्त्व कम है। जहाँ-तक भारतीय अर्थशास्त्र एवं भारतीय समस्याओंका प्रश्न है, इस विषयपर अच्छा साहित्य निकला है, पर शुद्ध विज्ञानकी दृष्टिसे इस दिशामें थोड़ा ही काम हो सका है।

अभीतक मुख्यतः तीन सूत्रोंसे कुछ काम हुआ है :

(१) सरकारी,

(२) विश्वविद्यालय और शोध-संस्थान और

(३) राजनीतिक दल।

सरकारी रिपोर्टें

सरकारी आयोगों और समितियोंने अनेक आर्थिक समस्याओंपर अपने विचार प्रकट किये हैं। समय-समयपर भारत सरकार विभिन्न समस्याओंके लिए राजकीय आयोग नियुक्त करती रही है, विभिन्न समितियाँ बनाती रही है। इन आयोगों और समितियोंके सुझावोंपर तो सरकारने कम ही ध्यान दिया है, पर उनकी रिपोर्टें तो सरकारी अल्मारियोंकी शोभा बढ़ाती ही हैं। अन्वेषकोंको उनमें अध्ययनकी पर्याप्त सामग्री उपलब्ध हो सकती है।

सन् १९११ से जनसंख्या-आयोग प्रति दस वर्षपर जनगणना करता है और विभिन्न समस्याओंपर अपने निष्कर्ष निकालता है। जनगणनासे देशकी स्थिति जाँचनेमें अवश्य ही सहायता मिलती है। सन् १९११ से अबतककी जनगणनाकी रिपोर्टोंमें अर्थशास्त्रीय अध्ययनकी दृष्टिसे अत्यधिक सामग्री भरी पड़ी है।

इसी प्रकार औद्योगिक-आयोग (सन् १९१६), कृषि-आयोग (सन् १९२८), श्रमिक-आयोग (सन् १९३१), बैंकिंग जाँच कमेटी (सन् १९३०-३१), श्रम-समस्याओंपर रेगे कमेटी (सन् १९४६), रेल-समस्याओंपर एकवर्थ कमेटी (सन् १९२१) और वेजवुड कमेटी (सन् १९३८), राजस्व-आयोग (सन् १९२४ और सन् १९५०), दुर्भिक्ष-जाँच-आयोग (सन् १९४५), कर-जाँच-आयोग (सन् १९५३) और राष्ट्रीय-योजना-आयोगकी रिपोर्टें

अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। विभिन्न राज्य-सरकारोंकी ओरसे भी ऐसी कितनी ही रिपोर्टें प्रकाशित हुई हैं।

विश्वविद्यालयोंमें अनुसंधान

भारतीय विश्वविद्यालयोंमें सन् १९११ के बादसे अर्थशास्त्रका अध्ययन विशेष रूपसे होने लगा है। अर्थशास्त्रके अनेक विद्यार्थी राष्ट्रकी विभिन्न समस्याओंपर अनुसंधान करते रहते हैं। पहले रानाडेकी पद्धतिपर उनका अधिक जोर था, फिर संस्थावादी पद्धतिपर जोर रहा। इधर हालमें केन्स और समाजवादी विचारकोंकी विचारधाराका अधिक प्रभाव दृष्टिगत होता है।[1]

पहले तो नहीं, पर हालमें कुछ दिनोंसे सरकार भी विभिन्न अनुसंधानोंमें विश्वविद्यालयोंका सहयोग लेने लगी है।

शोध-संस्थान

दिल्ली, आगरा, बम्बई, पूना आदि कई स्थानोंमें अर्थशास्त्रीय शोध-संस्थान हैं। वहाँ विद्वान् अर्थशास्त्रियोंके निरीक्षणमें अनुसंधान-कार्य चलता है।

निम्नलिखित अर्थशास्त्रियोंके तत्त्वावधानमें अनुसंधानका उत्तम कार्य हुआ और हो रहा है—वी० जी० काले, डी० आर० गाडगिल, के० टी० शाह, सी० एन० वकील, पी० ए० वाडिया, विनय सरकार, पी० एन० बनर्जी, राधाकमल मुखर्जी, मनोहरलाल, ब्रजनारायण, एस० के० रुद्र, पी० सी० महालनवीस, वी० के० आर० वी० राव, एम० विश्वेश्वरैया आदि।

ए० के० दासगुप्त, जे० के० मेहता और बी० वी० कृष्णमूर्तिने अर्थशास्त्रीय सिद्धान्त-प्रतिपादनमें और डी० आर० गाडगिल, अब्दुल अजीज, डी० पंत, ए० सी० दास, आर० सी० मजूमदार, पी० एन० बनर्जी, दुर्गाप्रसाद, जेड० ए० अहमद, राधाकुमुद मुखर्जी, जी० डी० करवाल आदिने आर्थिक इतिहासके विभिन्न अंगोंकी गवेषणा करनेमें महत्त्वपूर्ण सफलता प्रदान की है।

यों जनसंख्या, कृषि, श्रम, सहकारिता, औद्योगिक समस्याएँ, व्यापार, मुद्रा और विनिमय, बैंकिंग, राजस्व, राष्ट्रीय आय, सामाजिक संस्थाएँ, संयोजन आदि विषयोंमें अनेक अर्थशास्त्री पृथक्-पृथक् कार्य कर रहे हैं। इनमें उपर्युक्त लोगोंके अतिरिक्त बलजीत सिंह, पी० के० वहल, ज्ञानचन्द, एस० चन्द्रशेखर, बलजीतसिंह, तारलोक सिंह, एम० बी० नानावटी, एस० जी० मण्डलोकर, शिवराव, के० सी० सरकार, अताउल्ला, पी० जे० थामस, पी० सी० जैन, एम० एल० दाँतवाला, बी० एन० गांगुली, जान मथाई, वी० पी० आडरकर, जे० जे० अंजरिया, एस० एन० हाजी, सी० के० रेड्डी, वी० आर० शेनाय, के० के० शर्मा, वी० आर०

---

१ भटनागर और सत्तीशबहादुर : द हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ ४०१।

अम्बेडकर, बी० आर० मिश्र, डी० पी० मुखर्जी, डी० एन० मजूमदार आदिका महत्त्वपूर्ण हाथ है।

राजनीतिक दल

कांग्रेस, समाजवादी दल, प्रजा-समाजवादी दल, कम्युनिस्ट पार्टी आदि देशके कई प्रमुख दल अपनी दलगत नीतिकी दृष्टिसे देशकी अनेक आर्थिक समस्याओंपर विचार करते हैं। उनकी रचनाओंमें दलगत पक्षपात न रहे और वे तटस्थ दृष्टिसे सोचें, तो देशकी अनेक समस्याओंके निदानमें वे सहायक हो सकते हैं। फिर भी राजनीतिक दलोंकी रचनाओंसे विषयको हृदयंगम करनेमें सहायता मिल सकती है।

मूल्यांकन

हमारे यहाँ आर्थिक विचारधाराका विकास विभिन्न दिशाओंमें हो रहा है। पर मौलिक अनुदानका अभाव अभी खटक रहा है। तीव्र जिज्ञासुओंकी कमी है। कुछ लोग इस दिशामें अग्रसर भी होते हैं, तो उच्चपद और वेतन-के प्रलोभनमें पड़कर लक्ष्यकी पूर्तिमें समर्थ नहीं हो पाते। गम्भीर अध्ययनकी ओर झुकनेकी लोगोंकी प्रवृत्ति कम है। पश्चिमी विचारधाराका ही अधिक प्रभाव सबपर छाया हुआ है। यह स्थिति अच्छी नहीं।

देश, राष्ट्र और विश्वकी समस्याओंके निदानका एकमात्र साधन है—सर्वोदय-विचारधारा। खेदकी बात है कि अभी हमारे अर्थशास्त्रीय विचारक उसकी ओर गम्भीरतासे आकृष्ट नहीं हुए। उसमें जब वे गम्भीरतासे प्रविष्ट होंगे, तो वे यह स्वीकार करेंगे कि सच्चा अर्थशास्त्र तो यही है। शेष सब अनर्थशास्त्र है।

● ● ●

सर्वोदय-विचारधारा

सर्वोदयका उदय : १ :

"यह पुस्तक रास्तेमें पढ़ने लायक है।"—कहते हुए जोहान्सबर्ग स्टेशनपर पोलकने रस्किनकी 'अन्टू दिस लास्ट' पुस्तक गांधीके हाथमें रख दी।

और, इस पुस्तकने जादू कर दिया गांधीपर। इसने उसके जीवनकी धारा ही पलट दी। आत्मकथामें लिखा उसने : "इसे हाथमें लेनेके बाद मैं छोड़ ही न सका। इसने मुझे जकड़ लिया। ट्रेन शामको डरबन पहुँची। सारी रात मुझे नींद नहीं आयी। पुस्तकमें दिये गये आदर्शोंके साँचेमें अपने जीवनको ढालनेका मैंने निश्चय कर लिया। जिस पुस्तकने मुझपर तुरन्त असर डाला और मुझमें महत्त्वपूर्ण ठोस परिवर्तन किया, ऐसी तो यही एक पुस्तक है।

मेरा विश्वास है कि मेरे हृदयके गहनतम प्रदेशमें जो भावनाएँ छिपी पड़ी

थीं, उनका स्पष्ट प्रतिबिम्ब मैंने रस्किनके इस ग्रन्थरत्नमें देखा और इसीलिए उन्होंने मुझे अभिभूत कर जीवन परिवर्तित करनेके लिए विवश कर दिया।

रस्किनने अपनी इस पुस्तकमें मुख्यतः ये तीन बातें बतायी हैं :

१. व्यक्तिका श्रेय समष्टिके श्रेयमें ही निहित है।

२. वकीलका काम हो, चाहे नाईका, दोनोंका मूल्य समान ही है। कारण, प्रत्येक व्यक्तिको अपने व्यवसाय द्वारा अपनी आजीविका चलानेका समान अधिकार है।

३. मजदूर, किसान अथवा कारीगरका जीवन ही सच्चा और सर्वोत्कृष्ट जीवन है।

पहली बात मैं जानता था, दूसरी बात धुँधले रूपमें मेरे सामने थी, पर तीसरी बातका तो मैंने विचार ही नहीं किया था। 'अन्टू दिस लास्ट' पुस्तकने सूर्यके प्रकाशकी भाँति मेरे समक्ष यह बात स्पष्ट कर दी कि पहली बातमें ही दूसरी और तीसरी बातें भी समायी हुई हैं।"

अन्तवालेको भी !

हाँ, तो बाइबिल्की एक कहानीके आधारपर है रस्किनकी इस पुस्तकका नाम 'अन्टू दिस लास्ट'। इसका अर्थ होता है—'इस अन्तवालेको भी'।

अंगूरके एक बगीचेके मालिकने एक दिन सवेरे अपने यहाँ काम करनेके लिए कुछ मजदूर रखे। मजूरी तय हुई—एक पेनी रोज।

दोपहरको वह मजदूरोंके अड्डेपर फिर गया। देखा, वहाँ उस समय भी कुछ मजदूर खड़े हैं–कामके अभावमें। उसने उन्हें भी अपने यहाँ कामपर लगा दिया।

तीसरे पहर और शामको फिर उसे कुछ बेकार मजदूर दिखे। उन्हें भी उसने कामपर लगा दिया।

काम समाप्त होनेपर उसने मुनीमसे कहा कि "इन सब मजदूरोंको मजूरी दे दो। जो लोग सबसे अन्तमें आये हैं, उन्हींसे मजूरी बाँटना शुरू करो।"

मुनीमने हर मजदूरको एक-एक पेनी दे दी। सवेरेसे आनेवाले मजदूर सोच रहे थे कि शामको आनेवालोंको जब एक-एक पेनी मिल रही है, तो हमें उनसे ज्यादा मिलेगी ही; पर जब उन्हें भी एक ही पेनी मिली, तो मालिकसे उन्होंने शिकायत की कि "यह क्या कि जिन लोगोंने सिर्फ एक घण्टे काम किया, उन्हें भी एक पेनी और हमें भी एक ही पेनी—जो दिनभर धूपमें काम करते रहे ?"

मालिक बोला : "भाई मेरे, मैंने तुम्हारे प्रति कोई अन्याय तो किया नहीं। तुमने एक पेनी रोजपर काम करना मंजूर किया था न ? तब अपनी मजूरी लो और घर जाओ। मेरी बात मुझपर छोड़ो। मैं अन्तवालेको भी उतनी ही मजूरी दूँगा, जितनी तुम्हें। अपनी चीज अपनी इच्छाके अनुसार खर्च करनेका

मुझे अधिकार है न ? किसीके प्रति मैं अच्छा व्यवहार करता हूँ, तो इसका तुम्हें दुःख क्यों हो रहा है ?"

सबका उदय = सर्वोदय

सुबहवालेको जितना, शामवालेको भी उतना—यह बात सुननेमें अटपटी भले ही लगे, कुछ लोग इसपर—'टके सेर भाजी, टके सेर खाजा'—की फब्ती भी कस सकते हैं, परन्तु इसमें मानवताका, समानताका, अद्वैतका वह तत्त्व समाया हुआ है, जिसपर 'सर्वोदय' का विशाल प्रासाद खड़ा है।

'सर्वोदय' आखिर है क्या ?—सबका उदय, सबका उत्कर्ष, सबका विकास ही तो 'सर्वोदय' है। भारतका तो यह परम पुरातन आदर्श ठहरा :

> सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
> सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःखमाप्नुयात्॥

ऋषियोंकी यह तपःपूत वाणी भिन्न-भिन्न रूपोंमें हमारे यहाँ मुखरित होती रही है। जैनाचार्य समंतभद्र कहते हैं :

> 'सर्वापदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव।'

पर सबका उदय, सबका कल्याण दाल-भातका कौर नहीं है। कुछ लोगोंका उदय हो सकता है, बहुत लोगोंका उदय हो सकता है, पर सब लोगोंका भी उदय हो सकता है—यह बात लोगोंके मस्तिष्कमें धँसती ही नहीं। बड़े-बड़े विद्वान्, बड़े-बड़े सिद्धान्तशास्त्री इस स्थानपर पहुँचकर अटक जाते हैं। कहते हैं : "होना तो अवश्य ऐसा चाहिए कि शत-प्रतिशतका उदय हो, मानवमात्रका कल्याण हो, हर व्यक्तिका विकास हो, पर यह व्यवहार्य नहीं है। सर्वोदय आदर्श हो सकता है, व्यवहारमें उसका विनियोग संभव ही नहीं है।"

और यहींपर सर्वोदयवादियोंका अन्य सिद्धान्तवादियोंसे विरोध है।

सर्वोदय मानता है कि सबका उदय कोरा स्वप्न, कोरा आदर्श नहीं है। यह आदर्श व्यवहार्य है और अमलमें लाया जा सकता है। सर्वोदयका आदर्श ऊँचा है, यह ठीक है। परन्तु न तो वह अप्राप्य है और न असाध्य है। वह प्रयत्नसाध्य है।

सर्वोदयकी दृष्टि

सर्वोदयका आदर्श है—अद्वैत, और उसकी नीति है—समन्वय। मानव-कृत विषमताका वह निराकरण करना चाहता है और प्राकृतिक विषमताको घटाना चाहता है।

सर्वोदयकी दृष्टिमें जीवन एक विद्या भी है, एक कला भी। जीवमात्रके लिए, प्राणिमात्रके लिए समादर, प्रत्येकके प्रति सहानुभूति ही सर्वोदयका मार्ग

है । जीवमात्रके लिए महानुभूतिका यह अमृत जब जीवनमें प्रवाहित होता है, तो सर्वोदयकी लतामें सुरभिपूर्ण सुमन खिल उठते हैं ।

डार्विन मात्स्यन्याय (Survival of the fittest) की बात कहकर रुक गया । उसने प्रकृतिका नियम बताया कि बड़ी मछली छोटी मछलियोंको खाकर जीवित रहती है ।

हक्सले एक कदम आगे बढ़ा । वह कहता है कि जिओ और जीने दो—(Live and let live) ।

पर इतनेसे ही काम चलनेवाला नहीं । सर्वोदय कहता है कि तुम दूसरोंको जिलानेके लिए जिओ । तुम मुझे जिलानेके लिए जिओ, मैं तुम्हें जिलानेके लिए जिऊँ । तभी, और केवल तभी सबका जीवन सम्पन्न होगा, सबका उदय होगा, सर्वोदय होगा ।

दूसरोंको अपना बनानेके लिए प्रेमका विस्तार करना होगा, अहिंसाका विकास करना होगा और आजके सामाजिक मूल्योंमें परिवर्तन करना होगा । सर्वोदय समाज-निरपेक्ष, शाश्वत और व्यापक मूल्योंकी स्थापना करना और बाधक मूल्योंका निराकरण करना चाहता है । यह कार्य न तो विज्ञान द्वारा सम्भव है और न सत्ता द्वारा ।

सर्वोदयकी पृष्ठभूमि आध्यात्मिक है । विज्ञानमें ऐसी बात नहीं । विज्ञान अपने आविष्कारोंसे जनताको अनेक सुविधाएँ प्रदान कर सकता है । वह भौतिक सुखोंकी व्यवस्था कर सकता है, बटन दबाकर हवा दे सकता है, प्रकाश दे सकता है, रेडियोका संगीत सुना सकता है, पर उसमें यह क्षमता नहीं कि वह मानवका नैतिक स्तर ऊपर उठा दे । विज्ञान वेश्या-वृत्तिका निराकरण कर सकता है, उसके निराकरणके साधन प्रस्तुत कर सकता है, पर हर स्त्रीको हर पुरुषकी बहन बना देनेकी क्षमता उसमें नहीं । विज्ञान जीवनका बाहरी नक्शा बदल सकता है, पर भीतरी नक्शा बदलना उसके बसकी बात नहीं ।

सर्वोदय ऐसे वर्ग-विहीन, जाति-विहीन और शोषण-विहीन समाजकी स्थापना करना चाहता है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति और समूहको अपने सर्वांगीण विकासके साधन और अवसर मिलेंगे । अहिंसा और सत्य द्वारा ही यह क्रान्ति सम्भव है । सर्वोदय इसीका प्रतिपादन करता है ।

तीन प्रकारकी सत्ताएँ

आज तीन प्रकारकी सत्ताएँ चल रही हैं—शस्त्र-सत्ता, धन-सत्ता और राज्य-सत्ता । परन्तु जागतिक स्थिति ऐसी हो गयी है कि इन तीनों सत्ताओंपरसे लोगोंका विश्वास उठता जा रहा है । आज सभी लोग किसी अन्य मानवीय

शक्तिकी खोजमें हैं और वह मानवीय शक्ति सर्वोदयके माध्यमसे ही विकसित हो सकती है।

शस्त्र-सत्ता

शस्त्र-सत्तासे, पुलिसके बैटनसे, फौजकी बन्दूकसे, एटम और हाइड्रोजन बमसे जनताको आतंकित किया जा सकता है, उसे निर्भय नहीं बनाया जा सकता। डंडेके बलसे लोगोंको जेलमें डाला जा सकता है, उन्हें मुक्त नहीं किया जा सकता। शस्त्र-शक्तिसे, हिंसासे हिंसाको दबानेकी चेष्टा की जा सकती है, पर उससे अहिंसाकी प्रतिष्ठा नहीं की जा सकती।

चोरी करनेपर सजा और जुर्मानेकी व्यवस्था कानूनके द्वारा की जा सकती है, हत्या करनेपर फाँसीका दण्ड दिया जा सकता है, पर कानूनके द्वारा किसीको इस बातके लिए विवश नहीं किया जा सकता कि सामने बैठे भूखेको रन्तिदेवकी तरह अपनी थाली उठाकर दे दो और स्वयं भूखे रह जानेमें प्रसन्नताका अनुभव करो।

धन-सत्ता

धनकी सत्ता आज सारे विश्वपर छायी है। आज पैसेपर ईमान बिक रहा है, पैसेपर अस्मत लुट रही है, पैसेपर न्याय अपने नामको हँसा रहा है। विश्वका कौनसा अनर्थ है, जो आज पैसेके बलपर और पैसेके लिए नहीं किया जाता? अन्याय और शोषण, हिंसा और भ्रष्टाचार, चोरी और डकैती—सबकी जड़में पैसा है।

कंचनकी इस मायामें पड़कर मनुष्य अपना कर्तव्य भूल गया है, अपना दायित्व भूल गया है, अपना लक्ष्य भूल गया है। पैसेके कारण श्रमकी प्रतिष्ठा मानव-जीवनसे जाती रही है। मनुष्य येन-केन प्रकारेण सोनेकी हवेली खड़ी करनेको आकुल है। पर वह यह बात भूल गया है कि सोनेकी लंका भस्म होकर ही रहती है। रावणका गगनचुम्बी प्रासाद मिट्टीमें ही मिलकर रहता है। अन्यायसे, शोषणसे, बेईमानीसे इकट्ठी की गयी कमाईसे भौतिक सुख भले ही बटोर लिये जायँ, उनसे आत्मिक सुखकी उपलब्धि हो नहीं सकती। पैसा विश्वके अन्य सुख भले ही जुटा दे, परन्तु उससे आत्माकी प्रसन्नता प्राप्त नहीं की जा सकती।

राज्य-सत्ता

राज्य-सत्ता पुलिस और सेनाके बलपर, शस्त्र-सत्तापर जीती है, कानूनकी छत्रछायामें बढ़ती है, धन-सत्ताके भरोसे पलती-पनपती है और विज्ञानके जरिये विकसित होती है। परन्तु इतने साधनोंसे सज्जित रहनेपर भी वह शत-प्रतिशत जनताको सुखी करनेमें अपनेको असमर्थ पाती है। वह एक ओर अल्पसंख्यकोंके

प्रति अन्याय न होने देनेका दावा करती है, दूसरी ओर बहुसंख्यकोंके हितोंकी रक्षाका ढिंढोरा पीटती है। पर अल्पसंख्यक भी उसकी शिकायत करते हैं, बहुसंख्यक भी। कारण कि उसका आदर्श रहता है—'अधिकसे अधिक लोगोंका अधिकसे अधिक सुख'। उसने यह मान लिया है कि सबको तो हम अधिकतम सुख दे नहीं सकते, इसलिए अधिकतम लोगोंको यदि हम अधिकतम सुख दे लें, तो हमारा कर्तव्य पूरा हो जाता है। हमारी आजकी राजनीति इन्हीं आदर्शोंपर चल रही है। पर इससे मानव-जातिका कल्याण संभव नहीं।

सर्वोदयकी नीति : लोकनीति

सर्वोदय ऐसी राजनीतिका कायल नहीं। वह लोकनीतिका पक्षपाती है। राजनीतिमें जहाँ शासन मुख्य है, लोकनीतिमें वहाँ अनुशासन। राजनीतिमें जहाँ सत्ता मुख्य है, लोकनीतिमें वहाँ स्वतन्त्रता। राजनीतिमें जहाँ नियंत्रण मुख्य है, लोकनीतिमें वहाँ संयम। राजनीतिमें जहाँ सत्ताकी स्पर्धा, अधिकारोंकी स्पर्धा मुख्य है, लोकनीतिमें वहाँ कर्तव्योंका आचरण। सर्वोदयका क्रम यही है कि हम शासनसे अनुशासनकी ओर, सत्तासे स्वतन्त्रताकी ओर, नियंत्रणसे संयमकी ओर और अधिकारोंकी स्पर्धासे कर्तव्योंके आचरणकी ओर बढ़ें।

राज्यशास्त्रका विकास

राज्यशास्त्रका प्रत्येक शास्त्री ऐसी आकांक्षा रखता है कि एक दिन ऐसा आये, जिस दिन राज्यकी समाप्ति हो जाय। तबतकके लिए राज्य-संस्था एक अनिवार्य दोष (necessary evil) है। पर इसका यह अर्थ नहीं कि राज्य-संस्था सदा अनिवार्य बनी ही रहेगी। वह राज्य-संस्था है ही इसलिए कि धीरे-धीरे वह ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दे, जब भयका निराकरण होते-होते वह स्थिति आ जाय कि राज्य-शासनकी आवश्यकता ही न रह जाय।

राज्यके पीछे जो सत्ता रहती है, वह लोगोंकी सत्ता, लोक-सत्ता होती है। पर हमने इस तथ्यको भुलाकर राजाको विष्णु मानकर उसके हाथमें 'अनियंत्रित राज्यसत्ता' (Absolute Monarchy) सौंप दी। हाब्सने इसका विस्तृत विवेचन किया है। लॉक इससे एक कदम आगे बढ़ा। उसने 'नियंत्रित राज्य-सत्ता' (Limited Monarchy) की बात कही। पर रूसो 'लोक-सत्ता' (Democracy) तक आ गया। यहींसे राज्य-सत्ताके निराकरण और लोक-सत्ताकी स्थापनाका श्रीगणेश होता है। राज्य-शास्त्रके इन तीन सिद्धान्तशास्त्रियोंने राज्य-शास्त्रका विशेष रूपसे विकास किया है।

मार्क्सकी विचारधारा

इनके बाद आया गरीबोंका मसीहा मार्क्स। उसने गरीबोंके लोकतंत्र (Democracy for the poor men) की बात कही। मार्क्सने द्वंद्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical Materialism), ऐतिहासिक भौतिकवाद और नियतिवादपर जोर दिया और एक वर्गके संघटनकी बात सिखायी। उसने क्रान्तिके लिए तीन बातोंकी आवश्यकता बतायी :

१. क्रान्ति वैज्ञानिक हो,
२. क्रान्ति अन्तर्राष्ट्रीय हो और
३. क्रान्तिमें वर्ग-संघर्ष हो।

मार्क्सने सारे मानवीय तत्त्वोंका संग्रह किया, परन्तु उसका विज्ञान उसके भौतिकवादके सिद्धान्तोंके कारण पूँजीवादकी प्रतिक्रियाके रूपमें प्रकट हुआ। अतः वह उस प्रतिक्रियाके साथ पूँजीवादके स्वरूपको भी अंशतः लेकर आया।

मार्क्सके पहले किसी भी पीर-पैगम्बर या धर्म-प्रवर्तकने यह नहीं कहा था कि गरीबी और अमीरीका निराकरण हो सकता है, होना चाहिए और होकर रहेगा। दान और गरीबोंके प्रति सहानुभूतिकी बात तो सभी धर्मोंमें कही गयी, पर गरीबी और अमीरीके निराकरणकी बात मार्क्ससे पहले किसीने नहीं कही। उसने स्पष्ट शब्दोंमें इस बातकी घोषणा की कि 'अमीरी और गरीबी भगवान्‌की बनायी हुई नहीं है। किसी भी धर्ममें उसका विधान नहीं है और यदि कोई धर्म इस भेदको मंजूर करता है, तो वह धर्म गरीबके लिए अफीमकी गोली है।'

कार्ल मार्क्सने इस बातपर जोर दिया कि हमें ऐसे समाजका निर्माण करना चाहिए, जिसमें न तो कोई गरीब रहेगा, न कोई अमीर। उसमें न तो दाताकी गुंजाइश रहेगी, न भिखारीकी। उसने पीड़ित मानवताको यह आशाभरा संदेश दिया कि जिस विकास-क्रमके अनुसार गरीबी और अमीरी आ गयी, उसी विकास-क्रमके अनुसार, सृष्टिके नियमोंके अनुसार, ऐतिहासिक घटना-क्रमके अनुसार उसका निराकरण भी होनेवाला है और सो भी गरीबोंके पुरुषार्थसे होनेवाला है।

गरीबी और अमीरीके निराकरणके लिए मार्क्सने पुराने अर्थशास्त्रियोंको 'अशिष्ट अर्थशास्त्री' (Vulgar Economists) बताते हुए एक नया क्रान्तिकारी अर्थशास्त्र प्रस्तुत किया।

अदम स्मिथ और रिकार्डोका सिद्धान्त था—श्रम ही मूल्य है।

मिल और मार्शलने सिद्धान्त बनाया—"जिसके विनिमयमें कुछ मिले, वह सम्पत्ति है।" रूसो और तोल्सतोयने इसका खूब मजाक उड़ाया। कहा : "हवा-के बदलेमें कुछ नहीं मिलता, तो हवाका कोई मूल्य ही नहीं।"

मार्क्सने इनसे एक कदम आगे बढ़कर दिया—अतिरिक्त मूल्यका सिद्धान्त (Theory of Surplus Value)। उसने कहा कि श्रमका जितना मूल्य होता है, वह मुझे मिलता ही नहीं। मुझे जिन्दा रखनेके लिए जितना जरूरी है, सिर्फ उतना ही तो मुझे मिलता है। बाकीका तो मालिक ही हड़प जाता है। श्रमका यह बचा हुआ मूल्य ही शोषण (Exploitation) है और इसका नतीजा यह होता है कि सौमें नव्वे आदमियोंको काम ही काम रहता है और दस आदमियोंको आराम ही आराम। दस आदमी विश्राम-जीवी बन जाते हैं और नव्वे आदमी श्रमजीवी। हरामकी इस कमाईका निराकरण होना ही चाहिए।

पूँजीवादके दोष

पूँजीवादी अर्थशास्त्रकी मान्यता है—'मेहनत मजदूरकी, सम्पत्ति मालिककी।'

पूँजीवादका जन्म होता है—सौदेसे; विकास होता है—सट्टेसे और वह चरम सीमापर पहुँचता है—जुएसे।

पूँजीवादके तीन दोष हैं—सौदा, सट्टा और जुआ। इससे तीन बुराइयाँ पैदा होती हैं—संग्रह, भीख और चोरी।

समाजवादका जन्म

पूँजीवादके दोषोंका निराकरण करनेके लिए आया—समाजवाद। समाजवादी अर्थशास्त्रकी मान्यता है—'मेहनत जिसकी, सम्पत्ति उसकी।' मार्क्स यहींतक नहीं रुका। उसने एक और सूत्र दिया—'मेहनत हरएककी, सम्पत्ति सबकी।' इसकी बदौलत कल्याणकारी राज्य (Welfare State) और शासकीय पूँजीवाद (State Capitalism) का जन्म हुआ। व्यक्तिकी साहूकारी मिटी, समाजकी साहूकारी शुरू हुई।

समाजवादके आगेका एक सूत्र और है। और वह यह कि 'जितनी ताकत उतना काम, जितनी जरूरत उतना दाम।' "परिश्रम तो मैं उतना करूँ, जितनी मुझमें क्षमता है, पर उस परिश्रमका प्रतिमूल्य, उसका मुआवजा मैं उतना ही लूँ, जितनी मेरी आवश्यकता है।"

यह सूत्र है तो बहुत अच्छा, पर इसके कारण अन्तर्विरोध पैदा होता है। "मेहनत जिसकी, सम्पत्ति उसकी" और "जितनी ताकत उतना काम, जितनी जरूरत उतना दाम"—इन दोनों सूत्रोंमें मेल ही नहीं बैठता।

समाजवादी परिस्पर्द्धा

"जब मुझे मेरी आवश्यकताके अनुसार ही पैसा मिलना है, तो मैं उतना ही

काम करूँगा, जितनेमें मेरी जरूरत पूरी हो जाय, फिर मैं अपनी शक्ति और क्षमताका पूरा उपयोग क्यों करूँ ?" यह विषम समस्या उत्पन्न हुई। 'कामके अनुसार दाम' देनेसे प्रतिद्वन्द्विता आ खड़ी हुई। रूस और चीनमें इस सम्बन्धमें प्रयोग हुए और लोग इस निष्कर्षपर पहुँचे कि प्रतिद्वन्द्वितासे स्थिति विषम हो जायगी। इसलिए प्रतिस्पर्धा तो न चले, परिस्पर्धा चल सकती है। दूसरेकी टाँग खींचकर, उसे गिराकर स्वयं आगे बढ़नेकी प्रतिस्पर्धा रोकी जाय, उसके स्थानपर ऐसी समाजवादी परिस्पर्धा चले कि जो सर्वोत्कृष्ट है, उसकी बराबरी करनेकी अन्य सब लोग चेष्टा करें। इसका नाम है समाजवादी परिस्पर्धा (Socialistic Emulation)। किन्तु इसमें भी कोई अच्छा परिणाम नहीं निकला। पहले जहाँ दामके लिए काम करनेकी गुलामी थी, वहाँ अब आ गया कामके मुताबिक दाम।

रूस और चीनकी गाड़ी यहाँ आकर अटक जाती है। प्रयोग हो रहे हैं, परन्तु समाजवादी प्रेरणाकी समस्या विषम रूपसे सामने आकर खड़ी है।

शस्त्रके मूल्यकी समाप्ति

आज सेनाका सांस्कृतिक मूल्य समाप्त हो गया है। मार्क्सने सेना और शस्त्रके निराकरणकी प्रक्रियाका पहला कदम यह बताया कि "सेना मत रखो, शस्त्र मत रखो, सबको शस्त्र दे दो। नागरिकको ही सैनिक बना दो। सैनिक और नागरिकके बीचका अन्तर मिटा दो। उत्पादक और अनुत्पादकके बीच कोई भी भेद मत रखो।" आज विश्वके महान्‌से-महान् राजनीतिज्ञ कह रहे हैं कि शस्त्रीकरणकी होड़से विश्व सर्वनाशकी ही ओर जा रहा है। इसलिए अब निःशस्त्रीकरण होना चाहिए। आजके युगकी यह माँग है कि निःशस्त्रीकरण-के सिवा अब मानवीय मूल्योंकी स्थापना हो नहीं सकती।

पहले वीर-वृत्तिके विकासके लिए और निर्बलोंके संरक्षणके लिए शस्त्रका प्रयोग होता था। आज शस्त्रमेंसे उसके ये दोनों सांस्कृतिक मूल्य नष्ट हो चुके हैं। हवाई जहाजसे बम फेंक देनेमें कौन-सी वीर-वृत्ति रह गयी है ? आज संरक्षण-के स्थानपर आक्रमणके लिए शस्त्रोंका प्रयोग होता है। इसलिए शस्त्रका सांस्कृतिक मूल्य पूर्णतः समाप्त हो गया है।

यंत्रका मूल्य भी समाप्त

शस्त्रकी जो हालत है, वही हालत यंत्रकी भी है। यंत्रका भी सांस्कृतिक मूल्य समाप्त हो गया है। यंत्रकी विशेषता यह है कि वह सब चीजें एक-सी बनाता है। बटन एक-से, जूते एक-से, पोशाक एक-सी। 'गधा-मजूरी' रोकनेको यंत्र आया, पर आज उसके चलते व्यक्तित्वका गला घुट रहा है। मानवीय मूल्योंका

ह्रास हो रहा है। बटन दबानेका अर्थशास्त्र विकसित हो रहा है और मानवीय कला समाप्त होती चल रही है। यंत्र जहाँतक अभावकी पूर्ति करता है, वहाँतक तो उसकी उपयोगिता मानी जा सकती है, पर वह केन्द्रीकरणको जन्म दे रहा है, कलाकी अभिवृद्धिमें रोड़े अटका रहा है और उत्पादनमेंसे मानवीय स्पर्शको समाप्त करता जा रहा है। व्यक्तित्वका विकास तो दूर रहा, उसके कारण मनुष्यका व्यक्तित्व ही समाप्त होता जा रहा है। व्यक्तित्वका यह विलीनीकरण यंत्रका सबसे भयंकर अभिशाप है। इसका निराकरण होना ही चाहिए।

पूँजीवादी उत्पादनकी दुर्गति

पूँजीवादी उत्पादनका एकमात्र लक्ष्य होता है—पैसा। यह उत्पादन मुनाफेके लिए, विनिमयके लिए ही होता है। मैंने जो रकम लगायी, वह कुछ मुनाफेके साथ मुझे वापस मिले, यही उसका उद्देश्य है। बाजारकी पकौड़ियाँ भले ही खाने लायक न हों, पर यदि उनका पैसा वसूल हो जाय, तो उनका उत्पादन सफल माना जाता है।

छात्रावासमें जितने लड़के रहते हैं, उतने लड़कोंके हिसाबसे ही रोटियाँ बनायी जाती हैं, यह उपभोगके लिए उत्पादन है, पर इसमें इस बातके लिए गुंजाइश नहीं कि किसीके दाँत यदि गिर गये हों, तो क्या हो?

यांत्रिक उत्पादनमें तीन प्रेरणाएँ थीं : व्यापारवाद, साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद।

पर आजकी जागतिक स्थिति ऐसी है कि ये तीनों प्रेरणाएँ समाप्तिपर हैं। आज बाजारोंका अर्थशास्त्र समाप्त हो रहा है, साम्राज्यवाद मिट रहा है और उपनिवेशवाद अन्तिम साँसें ले रहा है।

लोकशाहीके दोष

आज गतिका तत्त्व (Dynamics) बाजारसे उठकर वैचारिक क्षेत्रमें आ गया है। विश्वमें आज दो मोर्चे हैं—एक कम्युनिस्टोंका, दूसरा उनका विरोधी। लोकशाही कम्युनिज्मका विरोध करते-करते पूँजीवादके शिविरमें जा पहुँची है। वह तलवारकी दासी और वैभवकी अधिकारिणी बनकर रह गयी है। उसकी प्रगति कुंठित हो गयी है। जनताको अच्छा भोजन, वस्त्र और मकान देना ही कल्याणकारी राज्यका अन्तिम लक्ष्य बन गया है। लोकशाही बहुमतके आधारपर चलती है, इसलिए सत्ताकी प्रतिस्पर्धा उसका मूलमन्त्र बन बैठी है। इस सत्ताके लिए, अधिकारके लिए बड़ी-बड़ी लम्बी गोटियाँ फेंकी जाती हैं, चुनावोंके लिए बड़ी दूरसे पेशबन्दियाँ की जाती हैं, दुनियाभरके प्रपंच किये जाते हैं, लोकप्रियताका नीलाम होता है और पार्टीके अनुशासनके नामपर लोगोंकी जबानपर ताला डाल दिया जाता है।

आजकी लोकशाहीमें तीन भयंकर दोष हैं :

१. अधिकारका दुरुपयोग (Abuse of Power),

२. गुण्डाशाहीका भय (Chaos) और

३. भ्रष्टाचार (Corruption) ।

इन दोषोंका निराकरण किये विना सच्ची लोकनीतिका विकास हो नहीं सकता ।

मानवताके त्राणका उपाय : सर्वोदय

प्रश्न है कि जहाँ लोकशाही असफल हो रही है, शस्त्र-सत्ता, धन-सत्ता असफल हो रही है, यंत्र और विज्ञान घुटने टेक रहे हैं, वहाँ मानवताके त्राणका कोई उपाय है क्या ?

सर्वोदय उसीका उपाय है ।

मानव जिन प्रक्रियाओंका, जिन पद्धतियोंका प्रयोग कर चुका है, उनके आगेका कदम है—सर्वोदय ।

सृष्टि जिस रूपमें हमारे सामने है, उसे समझनेकी चेष्टा दार्शनिकने की । वैज्ञानिकने प्रकृतिके नियमोंका साक्षात्कार किया, शोध की । परन्तु विश्वको परिवर्तित करनेका कार्य न तो दार्शनिकने किया और न वैज्ञानिकने । अर्थशास्त्रीने भी वह कार्य नहीं किया । वह किया राज्यनेताने—जो न दार्शनिक ही था, न वैज्ञानिक । जो लोग दर्शनमूढ़ थे, विज्ञानमूढ़ थे, उन्होंने ही समाज और सृष्टिको बदलनेका काम अपने हाथमें लिया । परिणाम ? परिणाम यही है कि आज दार्शनिक अलग है, वैज्ञानिक अलग है, नागरिक अलग है । ऐसा विभाजन ही गलत है, कृत्रिम है, अवैज्ञानिक है, अप्राकृतिक है । इस द्वैतमेंसे अद्वैतका, इस भेदमेंसे अभेदका निर्माण हो नहीं सकता । और जबतक अद्वैत और अभेदकी स्थापना नहीं होती, समग्रताकी दृष्टिसे मानवके व्यक्तित्वके विकासकी चेष्टा नहीं की जाती, तबतक न तो ये भेद मिटनेवाले हैं और न सच्ची लोक-सत्ताका ही निर्माण होनेवाला है ।

भेदकी भाव-भूमिपर राज्यशास्त्र और अर्थशास्त्रका जो विकास हुआ है, उसके दोष आज हमारी आँखोंके सामने मौजूद हैं । मार्क्स, लेनिन, माओ आदि क्रान्तिकारियोंने अभीतक जो क्रान्तियाँ की हैं, उनके कारण कई महत्त्वपूर्ण बातें हुई हैं । जैसे—रूस, चीन आदिमें सामन्तशाही और पूँजीवादकी समाप्ति, उत्पादनके साधनोंका समाजीकरण, किसानों और मजदूरोंकी स्थितिमें आश्चर्यजनक परिवर्तन तथा अपने देशोंके पदमें अभूतपूर्व उन्नति आदि । अन्य राष्ट्रोंकी आजादीकी लड़ाईको भी इन क्रान्तियोंसे बड़ा बल मिला है ।

परन्तु इतना सब होनेपर भी इन क्रान्तियोंका प्रभाव केवल भौतिक धरातल-तक ही रहा है। इनके कारण मानवकी भौतिक स्थितिमें उल्लेखनीय प्रगति हुई है। जनताकी आर्थिक स्थितिमें प्रशंसनीय सुधार हुआ है। परन्तु क्या भौतिक उन्नति ही मानवका सर्वोच्च लक्ष्य है? उत्तम भोजन, उत्तम वस्त्र, उत्तम मकान और उत्तम रीतिसे सभी भौतिक आवश्यकताओंकी पूर्ति ही क्या मानवका चरम उद्देश्य है?

सर्वोदय कहता है—नहीं। केवल भौतिक उन्नति ही पर्याप्त नहीं है। वह क्रान्ति ही क्या, जिसमें मनुष्यकी आध्यात्मिक उन्नति न हो? वह क्रान्ति ही क्या, जिसमें मानवताका नैतिक स्तर ऊपर न उठे?

ताहि बोउ तू फूल!

सर्वोदय कहता है—'जो तोकूँ काँटा बुवै, ताहि बोउ तू फूल', पत्थरका जवाब पत्थरसे देनेमें, अत्याचारका प्रतिकार अत्याचारसे करनेमें, खूनके बदले खून बहानेमें कौन-सी क्रान्ति है? क्रान्ति है दुश्मनको गले लगानेमें, क्रान्ति है अत्याचारीको क्षमा करनेमें, क्रान्ति है गिरे हुएको ऊपर उठानेमें।

और इस क्रान्तिका साधन है—हृदय-परिवर्तन, जीवन-शुद्धि, साधन-शुद्धि और प्रेमका अधिकतम विस्तार।

वसुधैव कुटुम्बकम्

सर्वोदय जिस क्रान्तिका प्रतिपादन करता है, उसके लिए जीवनके मूल्योंमें परिवर्तन करना होगा। उसके लिए हमें द्वैतसे अद्वैतकी ओर, भेदसे अभेदकी ओर बढ़ना पड़ेगा। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' की अनुभूति करनी होगी। बाहरी भेदोंसे दृष्टि हटाकर भीतरी एकत्वकी ओर मुड़ना पड़ेगा। प्राणिमात्रमें, जगत्‌के कण-कणमें एक ही सत्ताके दर्शन करने होंगे।

'सोऽहम्' और 'तत्त्वमसि' के हमारे आदर्शोंमें सर्वोदयकी ही भावना तो भरी पड़ी है। उपनिषद् कहता है:

> अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
> एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥
> वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
> एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥[1]

और जब हम इस प्रकार 'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्' मानने लगेंगे, तो हमारी दृष्टि ही बदल जायगी। फिर न तो किसीसे द्वेष करनेका प्रसंग उठेगा, न किसीसे मत्सर। किसीको सताने, किसीका शोषण करने, किसीके प्रति अन्याय करनेका प्रश्न ही नहीं उठेगा। 'जो तू है, वही मैं हूँ',

---

१ कठोपनिषद् २। २। ९. १०।

यह भाव आते ही सारे भेद-भाव दूर खड़े झख मारते हैं। घरमें, परिवारमें हम जिस प्रेमसे रहते हैं, हर व्यक्तिकी सुख-सुविधाका जैसे ध्यान रखते हैं, हँसते-हँसते जिस प्रकार दूसरोंके लिए कष्ट उठाते हैं, उसी प्रकार हम सारे विश्वका, मानवमात्रका, प्राणिमात्रका ध्यान रखेंगे। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना हमारी रग-रग में भिद जायगी।

मेहनत इन्सानकी, दौलत भगवान्की !

सर्वोदय मानवीय विभूतिके विज्ञानमें विश्वास करता है। मानव भी उसके लिए विभूति है, सृष्टि भी, देश काल भी। वह मानता है—फलनिरपेक्ष कर्तव्य हमारा धर्म है। उसकी मान्यता है—'मेहनत इन्सानकी, दौलत भगवान्-की।' शक्तिभर मेहनत करना हमारा कर्तव्य है, फल देना समाजका। 'समाजाय इदं न मम'—उसका आदर्श है। वह पड़ोसीके लिए जीने, पड़ोसीके लिए उत्पादन करने और पड़ोसीका दुःख-सुख बाँटनेकी कला सिखाता है। वह यह मानता है कि हर बुरे आदमीमें अच्छाई होती है। वह हर व्यक्तिके दैवी तत्त्वोंके विकासमें विश्वास करता है। उसकी मान्यता है कि पापसे घृणा करनी चाहिए, पापीसे नहीं। उसकी दृष्टिमें कोई छोटा नहीं, कोई बड़ा नहीं, कोई ऊँच नहीं, कोई नीच नहीं। सबका सर्वांगीण विकास उसका लक्ष्य है और प्राणिमात्रसे तादात्म्य उसका साधन।

व्रतोंको सामाजिक मूल्य

सर्वोदयमेंसे सत्य और अहिंसा, अस्तेय और अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य और अस्वाद, सर्व-धर्म-समन्वय और श्रमकी प्रतिष्ठा, अभय और स्वदेशी आदि व्रत स्वतःस्फूर्त होते हैं। अभीतक इन व्रतोंका स्थान व्यक्तिगत मूल्योंके रूपमें ही था। बापूने सार्वजनिक जीवन और व्यक्तिगत जीवनकी साधनाओंको एकमें मिलाकर इन व्रतोंको सामाजिक मूल्योंका रूप प्रदान किया। ज्यों-ज्यों हम इन व्रतोंको सामाजिक मूल्य बनाते जायँगे, त्यों-त्यों सर्वोदयका विकास होता जायगा।[1]

०००

---

१ आमुख : 'सर्वोदय-दर्शन' दादा धर्माधिकारी)।

गांधी : १ :

'वैष्णव जन तो तेने कहीए जे पीड़ पराई जाणे रे,
पर दुःखे उपकार करे तोये मन अभिमान न आणे रे !'

वैष्णव वह है, जो परायी पीरको समझता है, दूसरोंकी सेवा करता है, दूसरोंका उपकार करता है; पर मनमें रत्तीभर भी अभिमान नहीं आने देता।

वैष्णवका यह आदर्श पुतलीबाईने जिस बालकको जन्मकी घूँटीके साथ पिलाया, वह मोहनदास करमचन्द गांधी (सन् १८६९–१९४८) अपनी निःस्वार्थ सेवा और प्रेमकी बदौलत विश्वका महानतम व्यक्ति बना। लुई फिशरने उसकी चर्चा करते हुए लिखा था कि 'गांधीमें ईसामसीहकी उच्च कोटिकी धार्मिकता, टैमनी हालकी गूढ़ कूटनीति तथा पितृतुल्य प्रेमका असाधारण सम्मिश्रण पाया जाता है। महात्मा बुद्धके बाद ऐसा महापुरुष भारतमें अबतक पैदा नहीं हुआ। भारतकी असंख्य जनतापर उसका अटल प्रभाव है। वह अद्वितीय ढंगका 'डिक्टेटर' (तानाशाह) है, जो प्रेमका शासन चलाता है। भारतमें केवल वही एक ऐसा व्यक्ति है, जो केवल एक शब्द द्वारा, उँगलीके एक इशारे द्वारा देशमें एक नयी राष्ट्रीय क्रान्ति उत्पन्न कर सकता है और मानव-जातिके पचमांशमें ३५ करोड़से अधिक लोगोंमें असहयोग चला सकता है।'

यही कारण था कि उसकी शहादतपर सारा विश्व रो पड़ा। मानवता रो पड़ी। हिन्दू और मुसलमान, सिख और पारसी, जैन और बौद्ध, अंग्रेज और यहूदी, जापानी और रूसी, चीनी और बर्मी—सभीने उसके लिए आँसू बहाये।'[1]

जीवन-परिचय

काठियावाड़के पोरबन्दरमें २ अक्तूबर १८६९ को मोहनदास गांधीका जन्म हुआ। धर्मपरायण माता-पिताकी गोदमें वह विकसित हुआ। चार सालका था, तभी माँ उससे रोज कहलाया करती : 'मैं किसीको हानि नहीं पहुँचाना चाहता। मैं सबकी भलाई चाहता हूँ।'

बचपनमें एक दिन उसने श्रवणकुमारकी कहानी पढ़ी। उसका मृत्यु-प्रसंग पढ़कर वह घण्टों रोता रहा। श्रवणकुमारका और सत्य हरिश्चन्द्रका नाटक देखा। तभीसे उसको लगा कि श्रवणकी भाँति माता-पिताकी सेवा करूँ, हरिश्चन्द्रकी भाँति सत्यवादी बनूँ, भले ही उसके लिए प्राण क्यों न देना पड़े।

---

१ श्रीकृष्णदत्त भट्ट : सेवाकी पगडण्डी, पृष्ठ १६२-१६३।

चौदह-पन्द्रह सालकी उम्रमें वह कुसंगतिमें पड़ गया। सिगरेट पीनेके लिए कुछ पैसे चुराये, पर ग्लानि इतनी हुई कि धतूरा खाकर प्राण देनेको तैयार हो गया। सोचा, सारी बात पितासे कह दूँ, पर पिता कहीं दुःखी होकर पुत्रके लिए कुछ प्रायश्चित्त न कर डालें, यह भय सता रहा था। अन्तमें एक पत्र लिखकर अपने हृदयकी वेदना प्रकट की और अपराधके लिए दण्ड देनेकी प्रार्थना की। रोग-शैयापर पड़े पिताके नेत्रोंसे टप-टप आँसू टपक पड़े। उन्होंने कहा कुछ नहीं। प्रेमसे पुत्रके सिर-पर हाथ फेर दिया। उस दिन गांधीको अहिंसाका पहला पदार्थ-पाठ मिला।
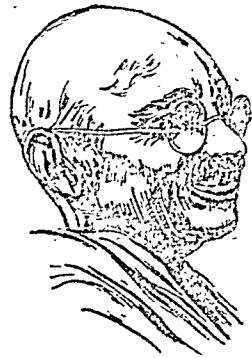
कुसंगतिमें पड़कर गांधीने मांस भी चख लिया था; पर निरपराध बकरेकी मिमिआहटकी कल्पनाने उसे कई दिन सोने न दिया। मांस खाकर अंग्रेजोंकी तरह पुष्ट बननेका उसे बहकावा दिया गया था, पर उसके लिए झूठ बोलना पड़े, यह बात गांधीको अस्वीकार थी। उसने सत्यकी रक्षाके लिए ऐसे मित्रकी सलाह माननेसे इनकार कर दिया।

सन् १८८८ में बैरिस्टरी पास करनेके लिए गांधी लन्दन गया। जानेके पूर्व माँने उससे मद्य, मांस और परस्त्रीसे पृथक् रहनेका वचन ले लिया। संकोची स्वभाव, शाकाहारकी प्रतिज्ञा और लन्दनकी पाश्चात्य सभ्यताका आडम्बर गांधी-के लिए बड़ा त्रासदायक-सा लगा। कुछ दिन फैशनके प्रवाहमें बहा, संगीत और नृत्यकी ओर झुका, पर शीघ्र ही उसे लगा कि ऐसा अस्वाभाविक जीवन व्यतीत करना उसके लिए असम्भव है। अतः उसने वायलिन बेच दी, नृत्य और वक्तृत्व-कलाका शिक्षण लेना बन्द कर दिया और सादगीकी ओर झुका।

गांधीने तीन वर्ष लन्दनमें रहकर बैरिस्टरी पास की। सन् १८९१ में वह भारत लौटा। कुछ ही दिन बाद उसे एक मुकदमेकी पैरवीके लिए दक्षिण अफ्रीका जाना पड़ा। गया तो था वह वकालत करने, पर उतरना पड़ा उसे राजनीतिमें। जाते ही उसे गुलाम देशका निवासी होनेके नाते जिस अपमानजनक व्यवहारका सामना करना पड़ा, उसके कारण वह विद्रोही बन बैठा। परन्तु बुद्ध और महावीरकी अहिंसाका जन्मगत संस्कार उसके रोम-रोममें भिदा था। अतः उसके विद्रोहने अहिंसात्मक असहयोगका स्वरूप धारण किया। उसका २२ वर्षोंका अफ्रीका-प्रवास सत्याग्रहकी अद्भुत कहानी है।

सत्यकी शोध

अफ्रीकामें वकालत करते हुए गांधीने सार्वजनिक जीवन तो अपनाया ही,

सत्यकी शोधमें रस्किन, थोरो और तोल्सतोयके क्रान्तिकारी विचारोंको मूर्त रूप भी प्रदान किया। सन् १९०४ में उसने रस्किनकी 'अन्टू दिस लास्ट' पुस्तक पढ़कर उसे जीवनमें उतारनेका निश्चय किया। फिनिक्स आश्रम खोला। सन् १९०६ में ब्रह्मचर्यका व्रत लिया। सन् १९१० में जोहान्सबर्गमें तोल्सतोय फार्मकी स्थापना की। इस बीच उसने सन् १८९९ में बोअर-युद्धमें अंग्रेजोंकी सहायता की। सन् १९०६ के जुलू-विद्रोहमें घायलोंकी सेवा की।

सन् १९१५ में गांधीने भारत लौटकर एक सालतक भारत-भ्रमण किया और देशकी दुर्दशाका नग्न चित्र अपनी आँखों देखा। कोचरबमें सत्याग्रह-आश्रम खोला और श्रमनिष्ठ तथा सरलतापूर्ण जीवनके लिए एक आदर्श प्रस्तुत किया। उसके बादका गांधीका जीवन भारतके राष्ट्रीय संघर्ष, असहयोग और सत्याग्रह-आन्दोलनोंका इतिहास है।

गांधीके अहिंसात्मक प्रयत्नोंसे १५ अगस्त १९४७ को भारत स्वतंत्र हुआ। परन्तु सभी जानते हैं कि उस दिन जब एक ओर ब्रिटिश सम्राट्का प्रतिनिधि भारतका शासन-सूत्र भारतीय कांग्रेसके हाथोंमें सौंप रहा था, और सारा राष्ट्र हर्षोत्फुल्ल होकर प्रसन्नतासे नाच रहा था, तब दूसरी ओर सेवाग्रामका सन्त रो रहा था! देशमें फैली साम्प्रदायिक विद्वेष, घृणा और संघर्षकी ज्वालाएँ उसे बुरी भाँति दग्ध कर रही थीं![1]

दिल्लीमें फैली साम्प्रदायिक विद्वेषकी आग बुझानेके लिए १३ जनवरी १९४८ को गांधीने आमरण अनशन ठाना। उसके जीवनका वह पन्द्रहवाँ अनशन था। दिल्लीमें ही नहीं, सारे देशपर इसकी उत्तम प्रतिक्रिया हुई। पाँच दिन अनशन चला। सभी जातियों और वर्गोंके प्रतिनिधियोंने तथा अधिकारियोंने शान्ति-स्थापनका वचन दिया, तब गांधीने उपवास तोड़ा।

३० जनवरीको प्रार्थना-सभामें जाते समय अहिंसाका यह पुजारी हिंसाकी गोलीका शिकार बना। उसके पार्थिव शरीरका अन्तिम शब्द था—'हे राम!'

● ● ●

१ गांधी : इकॉनॉमिक एण्ड इण्डस्ट्रियल लाइफ एण्ड रिलेशन्स, खण्ड १, १९५९; केर लिखित भूमिका, पृष्ठ २५।

सर्वोदय-अर्थशास्त्र : ३ :

माँ पुतलीकी धार्मिक भावनाएँ और नैतिक संस्कार; रस्किन, थोरो और तोल्सतोयकी विचारधारा; भारतकी भयंकर स्थिति—इन सबने मिलकर गांधीके हृदयमें जिस विचारधाराका विकास किया, उसका नाम है—'सर्वोदय' !

आधुनिक अर्थशास्त्री शास्त्रीय अर्थमें गांधीको अर्थशास्त्री नहीं मानते। वे कहते हैं कि गांधी एक राजनीतिक और आध्यात्मिक नेतामात्र था, वह अर्थ-शास्त्री नहीं था, पर वह अपनी अहिंसा और सत्यकी नीतिको आचरणमें लाने-वाला व्यक्ति था, उसने कुछ आर्थिक विचार भी प्रस्तुत किये हैं, जो कि पश्चिमकी शास्त्रीय पद्धतिसे कतई मेल नहीं खाते।[1]

पश्चिमी अर्थशास्त्रको 'अनर्थशास्त्र' बतानेवाले गांधीको शास्त्रीय विचार-धारावाले अपनी पंक्तिमें कैसे स्वीकार कर सकते हैं, जब कि उसकी विचारधारा सर्वथा विपरीत मूल्योंको लेकर चलती है। गांधीकी आर्थिक विचारधारा 'सर्वोदय' के नामसे प्रख्यात है।

सर्वोदय-विचारधारामें मानवीय मूल्योंपर, अहिंसापर, सत्यपर, सादगीपर, विकेन्द्रीकरणपर, विश्वस्त वृत्तिपर सर्वाधिक बल दिया गया है। शोषणहीन, वर्ग-विहीन समाजकी स्थापना, विश्व-बन्धुत्व और मानव-कल्याणकी उपासना ही सर्वोदयका लक्ष्य है।

पैसेका अर्थशास्त्र

अर्थमनर्थं भावय नित्यम्।
नास्ति ततः सुखलेशः सत्यम्॥

भारतीय विचार-परम्परामें अर्थको अनर्थका मूल कारण माना गया है। घोरसे घोर जघन्य कृत्य पैसेको लेकर होते हैं। परन्तु आज पैसेने जो प्रभुता प्राप्त कर ली है, उससे कौन अनभिज्ञ है? 'यस्य गृहे टका नास्ति हाटका टकटकायते!' जीवन आज पैसेपर, टकेपर बिक रहा है। जिसके पास पैसा है, उसीका सम्मान है, उसीकी प्रतिष्ठा है, उसीकी तूती बोलती है। 'सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ते!'

अर्थशास्त्रियोंने इस पैसेकी महत्ताको और अधिक बढ़ा दिया है। उनके अर्थशास्त्रकी नींव ही है पैसा, नैतिकता नहीं। सस्ता लेकर महँगा बेचा जाय,

---

१ भटनागर और सतीशबहादुर : ए हिस्ट्री ऑफ इकॉनॉमिक थॉट, पृष्ठ ४१०।

अधिकसे अधिक मुनाफा कमाया जाय, पैसेके द्वारा जनताका स्तर ऊँचा किया जाय, बड़े-बड़े कारखाने खोले जायँ, बड़े पैमानेपर उत्पादन किया जाय, अधिकाधिक उपभोग किया जाय—ऐसी असंख्य धारणाएँ अर्थशास्त्रमें देखनेको मिलती हैं। पदार्थोंके विस्तार, आवश्यकताओंके विस्तार और उत्पादनके विस्तार-पर अर्थशास्त्रका पूरा जोर है। इस पैसेकी मायाके नीचे मनुष्य दबा पड़ा है। पैसा उसकी छातीपर सवार है, उसकी गर्दनपर सवार है, उसके मस्तिष्कपर सवार है। जिसके बाहुबलसे पैसा पैदा होता है, जिसके पसीनेसे, रक्तसे, श्रमसे तिजोरियाँ भरती हैं, उस मानवका इस पश्चिमी अर्थशास्त्रमें कहीं पता नहीं। मशीनोंकी घर्र-घर्रमें तूतीकी आवाज कौन सुनता है ?

'अर्थशास्त्र' नहीं, अनर्थशास्त्र

गांधीने इस पीड़ित और शोषित मानवको अर्थशास्त्रियोंकी उपेक्षाका पात्र देखकर कहा : पश्चिमके अर्थशास्त्रकी बुनियाद ही गलत दृष्टिबिन्दुओंपर है, इसलिए वह अर्थशास्त्र नहीं, अनर्थशास्त्र है। कारण :

(१) उसने भोग-विलासकी विविधता और विशेषताको संस्कृतिका प्राण माना है।

(२) वह दावा तो करता है ऐसे सिद्धान्तोंका, जो सब देशों और सब कालोंपर घटित होते हों, परन्तु सच तो यह है कि उनका निर्माण यूरोपके छोटे, ठंडे और कृषिके लिए कम अनुकूल देशोंमें, घनी बस्तीवाले, परन्तु मुट्ठीभर लोगोंकी अथवा बहुत थोड़ी आबादीवाले उपजाऊ बड़े खण्डोंकी परिस्थितिके अनुभवसे हुआ है।

(३) पुस्तकोंमें भले ही निषेध किया गया हो, फिर भी वह योजना और व्यवहारमें यह मानने और मनवानेकी पुरानी रटसे मुक्त नहीं हो पाया है कि—

क. व्यक्ति, वर्ग या अधिक हुआ, तो अपने ही छोटेसे देशके अर्थ-लाभको प्रधानता देनेवाली और उसके हितकी पुष्टि करनेवाली नीति ही अर्थ-शास्त्रका अचल शास्त्रीय सिद्धान्त है।

ख. कीमती धातुओंको हदसे ज्यादा प्रधानता दी जाय।

(४) उसकी विचार-श्रेणीमें अर्थ और नीति-धर्मका कोई सम्बन्ध नहीं माना गया है। इसलिए उसने अपने समाजमें अर्थकी अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण जीवनके विषयोंको गौण समझनेकी आदत डाल दी है।

इसके फलस्वरूप—

१. यह अर्थशास्त्र यंत्रोंका, शहरोंका तथा (खेतीकी अपेक्षा) उद्योगोंका अंधपूजक बन गया है।

२. इसने समाजके विभिन्न वर्गों और देशोंमें समन्वय स्थापित करनेके बजाय विरोध उत्पन्न किया है और सर्वोदयके बदले थोड़े लोगोंको थोड़े समयके लिए ही लाभ सिद्ध किया है।

३. यह पिछड़े समझे जानेवाले देशोंमें आर्थिक लूट मचाकर तथा वहाँके लोगोंको दुर्व्यसनोंमें फँसाकर और उनका नैतिक अधःपतन करके समृद्धिका पथ खोजता है।

४. जिन राष्ट्रों या समाजोंने इस अर्थशास्त्रको अंगीकार किया है, उनका जीवन पशु-बलपर ही टिक रहा है।

५. इसने जिन-जिन वहमों (अन्धविश्वासों) को जन्म दिया या बढ़ाया है, वे धार्मिक या भूत-प्रेतादिकके नामसे प्रचलित वहमोंसे कम बलवान् नहीं हैं।[1]

पश्चिमी अर्थशास्त्रकी विचारधाराका अभीतक हमने जो अध्ययन किया, उससे गांधीकी बात सर्वथा मेल खाती है। उसमें पूँजीवादकी विचारधाराका ही अधिकतम विकास दृष्टिगोचर होता है। समाजवादी विचारधारा उसके विरोधमें खड़ी हुई अवश्य; परन्तु उसका भी मूल आधार तो पैसा ही है। पैसा और उसका गणित ही अभीतक पश्चिमी अर्थशास्त्रका क्षेत्र रहा है। पैसा ही उसकी कसौटी है, पैसा ही उसका माध्यम है, पैसा ही उसका लक्ष्य है। चाहे पूँजीवादी विचार-धारा हो, चाहे समाजवादी या साम्यवादी—सबका मापदण्ड पैसा ही है।

पैसेका अथवा सोनेका मापदण्ड बहुत ही खतरनाक है। विनोबा कहता है : पैसा तो लफंगा है। वह तो नासिकके कारखानेमें बनता है। उसके मूल्यका भला क्या ठिकाना! आज कुछ है, कल कुछ!

सोनेकी फुटपट्टीका माप

पैसेकी बुनियादपर खड़ी सारी अर्थरचनाओंको सर्वोदय इसलिए अस्वीकार करता है कि पैसेमें वस्तुओंकी सच्ची कीमत नहीं आँकी जा सकती।

किशोरलालभाईने इस धारणाका विवेचन करते हुए[2] कहा है कि 'आज भले ही सोनेके सिक्कोंका चलन कहीं भी न हो, मगर अर्थ-विनिमयका साधन—वाहन और माप—उसके पीछे रहनेवाले सोने-चाँदीके संग्रहपर ही है। साम्य-वादी भले ही मजदूरको महत्त्व दे, पूँजीपतिको निकालनेकी कोशिश करे, मगर वह भी पूँजीको—यानी सोने-चाँदीके आधारको और गणितको ही महत्त्व देता है। आर्थिक समृद्धिका माप सोनेकी बनी हुई फुटपट्टी ही है। इस फुटपट्टीके पीछे रहनेवाली सामान्य समझ यह है कि जो चीज हर किसीको आसानीसे न मिल सके, वही उत्तम धन है।

---

१ किशोरलाल मश्रूवाला : गांधी-विचार-दोहन।

२ किशोरलाल मश्रूवाला : जड़-मूलसे क्रान्ति, पृष्ठ ८७-८९।

'पूँजीवादका मतलब है, ऐसी चीजपर व्यक्तिगत अधिकार रखनेमें श्रद्धा, तथा साम्यवाद या समाजवादका अर्थ है, ऐसी चीजपर सरकारका कब्जा रखनेमें श्रद्धा। जो चीज हर किसीको आसानीसे मिल सकती हो, वह जीवन-निर्वाहके लिए चाहे जितनी महत्त्वपूर्ण होनेपर भी हलके दरजेका धन समझी जाती है। इस तरह हवाकी अपेक्षा पानी, पानीकी अपेक्षा खाद और उनकी अपेक्षा कपास, तम्बाकू, चाय, लोहा, ताँबा, सोना, पेट्रोल, युरेनियम आदि उत्तरोत्तर अधिक ऊँचे प्रकारके धन माने जाते हैं। इस तरह जो चीज जीवनके लिए कीमती और अनिवार्य हो, उसकी अर्थशास्त्रमें कीमत कम, और जिसके बिना जीवन निभ सके, उसकी अर्थशास्त्रमें कीमत ज्यादा है। यों जीवन और अर्थशास्त्रका विरोध है।

'अर्थशास्त्रकी दूसरी विलक्षणता यह है कि मजदूरीका समयके साथ सम्बन्ध जोड़नेमें उसके साधन अथवा यंत्रका ध्यान ही नहीं रखा जाता। उदाहरणके लिए, समान वस्तु बनानेमें एक साधनसे पाँच घण्टे लगते हैं और दूसरेसे दो, तो दूसरा साधन काममें लेनेवालेको ज्यादा कीमत मिलती है; फिर भले ही पहलेने खुद मेहनत करके वह चीज बनायी हो और दूसरेको उसे बनानेमें यंत्रको दबानेके सिवा और कुछ न करना पड़ा हो। यानी अर्थशास्त्रमें समयकी कीमत नहीं है, मगर समयकी बचत करनेपर इनाम मिलता है, और समय बिगाड़नेपर जुर्माना होता है। मगर इसमें किस तरह समय बचा या बिगड़ा, इसकी परवाह नहीं।'

'सच पूछा जाय, तो जिस तरह साधन अच्छा हो, तो समयकी बचत होती है, उसी तरह यदि कुशलता, उद्यमशीलता आदि अर्थात् मजदूरीकी गुणसत्ता अधिक हो, तब भी समयकी बचत होती है। और यदि साधन तथा गुणसत्ता एक-से हों, तो वस्तुकी कीमत उसे बनानेमें लगे हुए समयके परिमाणमें आँकी जानी चाहिए। किसी चीजके बनानेमें जितना ज्यादा समय, जितने अच्छे साधन और जितनी ज्यादा गुणसत्ताका उपयोग किया गया हो, उतनी ही ज्यादा उसकी कीमत होनी चाहिए। दरअसल मूल कीमत तो इसी तरहकी होती है। परन्तु आजकी अर्थ-व्यवस्थामें माल तैयार करनेवालेको इस हिसाबसे कीमत नहीं मिलती। समयके दुरुपयोगपर भारी जुर्माना होता है और गुणकी कीमत कंजूसीसे आँकी जाती है। यों सोना-चाँदी आदि विरल पदार्थोंके आधारपर रची हुई कीमत आँकनेकी पद्धतिसे वस्तुओंकी सच्ची कीमत नहीं आँकी जा सकती और इसलिए उनके आधारपर बनी हुई अर्थव्यवस्था, चाहे जिस वादके आधारपर खड़ी की गयी हो, अनर्थ पैदा करनेवाली ही साबित होती है और आगे भी होती रहेगी।'

५१ प्रतिशतपर ही ध्यान

पश्चिमी अर्थशास्त्रका एक दोष यह भी है कि वह 'अधिकतम लोगोंके अधिक-

तम सुख' का पक्षपाती है। इसका परिणाम यह हुआ है कि कुछ लोग सदा ही पीड़ित रहनेवाले हैं, ऐसा उसने निश्चित सत्यके रूपमें स्वीकार कर लिया है। गांधी कहता है : 'मैं इस सिद्धान्तको मानता ही नहीं। इसे नग्न रूपमें देखें, तो इसका अर्थ यह होता है कि ५१ प्रतिशतके मान लिये गये हितोंके खातिर ४९ प्रतिशतके हितोंका बलिदान कर दिया जाना उचित है। यह सिद्धान्त निर्दयतापूर्ण है। इससे मानव-समाजकी भारी हानि हुई है। सबका अधिकतम भला ही एक सच्चा, गौरवशाली एवं मानवतापूर्ण सिद्धान्त है। यह सिद्धान्त अधिकतम स्वार्थ-त्याग द्वारा ही अमलमें लाया जा सकता है।'

पश्चिमी अर्थशास्त्रसे भिन्नता

सर्वोदय-अर्थशास्त्र पश्चिमी अर्थशास्त्रसे इस अर्थमें सर्वथा भिन्न है कि वह 'अधिकतम' के स्थानपर 'सबका' उदय चाहता है, किसी एक वर्ग या बहुमतका नहीं। सर्वोदय-अर्थशास्त्र वस्तुनिष्ठ उत्पादन नहीं, मानवनिष्ठ उत्पादन चाहता है। सर्वोदयका केन्द्रीय मूल्य मानव है, वस्तु नहीं। सर्वोदय-अर्थशास्त्रमें नैतिकता पहली चीज है, धन दूसरी। वह मानवमात्रका हित देखता है। उसका आदर्श है—'वसुधैव कुटुम्बकम्।'

सर्वोदय मानवताका पुजारी है, नैतिकताका पक्षपाती है, विश्व-बन्धुत्वका समर्थक है। सत्य उसका साध्य है, अहिंसा उसका साधन। वह साध्यकी ही नहीं, साधनकी भी शुद्धतामें विश्वास करता है।

सर्वोदयका लक्ष्य

सर्वोदयकी मान्यता है कि समाजके अन्दर व्यक्तियों तथा संस्थाओंके सम्बन्धोंका आधार सत्य और अहिंसा होना चाहिए। उसका यह भी विश्वास है कि समाजमें सब व्यक्ति समान और स्वतंत्र हैं। इनके बीच यदि कोई चिरस्थायी सम्बन्ध हो सकता है, जो इनको एक साथ रख सकता है, तो वह प्रेम और सहयोग ही है, न कि बल और जोर-जबरदस्ती।

मानवके भीतर प्रतिस्पर्द्धा, प्रतियोगिता और संघर्षकी प्रवृत्तिको प्रोत्साहन देकर न तो समाजमें प्रेम और सहयोग उत्पन्न ही किया जा सकता है और न उसका सम्वर्द्धन ही किया जा सकता है। सर्वोदयी समाज-व्यवस्था ऐसे वातावरणमें उत्पन्न ही नहीं हो सकती, जहाँ अत्याचारके यंत्र पूर्णताको पहुँचा दिये गये हों और व्यक्तिगत स्वार्थ अथवा मुनाफा कमानेका लोभ इतना बलवान् हो गया हो कि उसने प्रेम तथा भ्रातृभावको दबा दिया हो और समानताकी भावनाको नष्ट कर दिया हो।

सर्वोदय ऐसी समाज-रचना स्थापित करना चाहता है, जिसमें संस्थाओं द्वारा सत्ताका प्रयोग अनावश्यक बना दिया जायगा, कारण वह भी तो बल-प्रयोगका

एक प्रतीक ही है। वह मानता है कि स्वतंत्रता कहीं निरंकुश बनकर स्वच्छन्दता-का स्वरूप न ग्रहण कर ले, अतः संयम आवश्यक है। परन्तु वह यह विश्वास नहीं करता कि मानव इतना अधम है कि वह बाह्य दबावके बिना समाज-हितका काम करेगा ही नहीं। इसके विरुद्ध उसकी तो यह मान्यता है कि यदि मनुष्यको आवश्यक शिक्षण मिले, तो वह स्वतः इतना संयम कर लेगा कि जिसमें बाहरी दबावकी या राज्य-संस्थाकी आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी।

मानव ज्यों-ज्यों संयमकी दिशामें प्रगति करता जायगा, राज्यसत्ताका उपयोग त्यों-त्यों कम होता जायगा। वह सत्ता समाजकी सेवा करनेवाली संस्थाओंके हाथमें पहुँचती जायगी, जिन्हें उसका उपयोग करनेकी आवश्यकता ही नहीं रहेगी। कारण, उसका बल होगा—प्रेम, सहयोग, समझाना-बुझाना और प्रत्यक्ष समाज-हित।

सर्वोदय-समाजमें व्यवस्थाका अर्थ होगा प्रेमसे समझाना-बुझाना और सत्याग्रह करना। इसके लिए दो उपाय काममें लाये जायँगे। एक होगा आज राजनीतिक एवं आर्थिक संस्थाओंके हाथमें जो सत्ता केन्द्रित है, उसका विकेन्द्रीकरण और दूसरा होगा जनताको सत्याग्रहके शास्त्र और उसकी कलाकी शिक्षा देनेकी व्यवस्था। विकेन्द्रित समाज सच्चे जनतंत्र एवं समानताका उदाहरण होगा।

शोषणहीन वर्गहीन समाज

केवल राजनीतिक सत्ताका ही नहीं, स्वामित्वके उन सभी प्रकारोंका विकेन्द्रीकरण आवश्यक है, जिनके कारण किसी मनुष्यको अन्य मनुष्योंपर सत्ता प्राप्त हो जाती है। जैसे, उत्पादनके साधनोंपर मुट्ठीभर लोगोंका स्वामित्व नहीं होगा। उसपर काम करनेवाले व्यक्तिका ही यथासम्भव स्वामित्व होगा। इस समाजमें मनुष्य मनुष्यका शोषण नहीं कर सकेगा। उत्पादनके साधनोंका कोई इस प्रकारसे उपयोग नहीं कर सकेगा कि जिसके बाहर बहुसंख्यक लोग निरे मजदूर बना दिये जा सकें और मुट्ठीभर लोग निठल्ले पड़े मौज मारते रहें।

सर्वोदय-समाजमें कोई वर्ग नहीं होगा। प्रत्येक व्यक्तिको श्रम करके अपनी जीविकाका उपार्जन करना पड़ेगा। उत्पादनके साधन इस ढंगके होंगे कि प्रत्येक व्यक्ति उनपर अधिकार करके उनसे काम ले सकेगा। इसका परिणाम यह होगा कि शोषणहीन एवं वर्गहीन समाजकी रचना हो सकेगी। इस समाजमें समाजके लिए उपयोगी और आवश्यक प्रत्येक कार्यका मूल्य एक-सा माना जायगा, फिर वह कार्य चाहे मस्तिष्कका हो, चाहे शरीर-श्रमका। यह समाज स्वतंत्र एवं समान अधिकारवाले व्यक्तियोंका समाज होगा, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी जिम्मेवारी समझेगा और संयम तथा सहयोगपूर्वक समाजकी एकताकी रक्षा करेगा। इसके

सदस्योंमें पारिवारिक स्नेह होगा। प्रत्येक व्यक्तिको सारे समाजका और सारे समाजको प्रत्येक व्यक्तिका ध्यान रहेगा।

व्यक्ति और समाजका योगक्षेम भलीभाँतिसे हो सके, मनुष्य अपनी नैतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक उन्नति कर सके, इसके लिए मानवकी भौतिक आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिए सभी प्रयत्नशील होंगे, पर केवल भौतिक दृष्टिसे सम्पन्न होना ही पर्याप्त नहीं माना जायगा। इसके लिए गहरे उतरकर मानवकी समग्र दृष्टिको और उसकी आदतोंको बदलना पड़ेगा। आजतक उसे जिन मूल्यों और बाधक आदर्शोंसे प्रेरणा मिलती रही है, उनमें आमूल परिवर्तन करना होगा। इस लक्ष्यमें बाधक वस्तुओंको मार्गसे हटाना पड़ेगा।

सर्वोदय-संयोजन

सर्वोदय-संयोजनमें हमें इस प्रकार परिवर्तन करने होंगे :

(१) समाजके प्रत्येक व्यक्तिको पूरे समयका और पेट भरने लायक काम देना।

(२) यह निश्चित कर लेना कि समाजमें प्रत्येक सदस्यकी सभी आवश्यक जरूरतोंकी पूर्ति हो जाय, जिससे कि वह अपने व्यक्तित्वका पूरा-पूरा विकास कर सके और समाजकी उन्नतिमें उचित योगदान कर सके।

(३) जीवनकी प्राथमिक आवश्यकताओंके सम्बन्धमें यह प्रयत्न हो कि प्रत्येक प्रदेश स्वावलम्बी हो। हर गाँव और हर प्रदेश स्वयं ही आवश्यक वस्तुओंका उत्पादन कर लिया करे।

(४) यह भी निश्चय कर लेना कि उत्पादनके साधन और क्रियाएँ ऐसी न हों, जो निर्मम बनकर प्रकृतिका शोषण कर डालें। उत्पादनमें प्राणिमात्रके प्रति आदर और भावी पीढ़ियोंकी आवश्यकताओंका ध्यान रखना भी परम आवश्यक है।

स्पष्ट है कि सर्वोदयकी योजना, जो बेकारीको पूर्णतः मिटा देना चाहती है और उद्योगोंका संगठन विकेन्द्रीकरणके सिद्धान्तोंके आधारपर करना चाहती है, धनप्रधान नहीं, श्रमप्रधान होगी।[1]

इस लक्ष्यकी पूर्तिके उद्देश्यसे अप्रैल १९५७ में सर्वोदय-योजना-समितिने एक विस्तृत रूपरेखा प्रस्तुत की। इस समितिके सदस्य थे सर्वोदयके प्रसिद्ध सेवक धीरेन्द्र मजूमदार, शंकरराव देव, जयप्रकाश नारायण, अण्णासाहब सहस्रबुद्धे, र० श्री० धोत्रे, सिद्धराज ढड्ढा, अच्युत पटवर्द्धन, नारायण देसाई और रवीन्द्र वर्मा।

---

१ सर्वोदय-संयोजन, १९५७, सर्व-सेवा-संघ; पृष्ठ ४६–६६।

'सर्वोदय-संयोजन' में भूमिका स्वामित्व, पशु-पालन, उद्योग; यंत्र, शक्ति और औद्योगिक शोध, बैंक, सिक्का और बीमा, व्यापार, यातायात, मजदूर और उद्योगोंका सम्बन्ध, शिक्षा, स्वास्थ्य और सफाई, प्रतिरक्षा और कर-पद्धतिपर विचार करनेके उपरान्त इस बातपर भी विचार किया गया है कि योजनाका खर्च कहाँसे आयेगा और उसका अमल कैसे होगा। उसने बताया है कि सर्वोदय-योजनामें पूँजी जुटाने और लगानेपर नहीं, मनुष्योंको काम देनेपर अधिक ध्यान दिया जायगा। कर लगाने और वसूल करनेका अधिकार बुनियादी इकाइयों जैसे, गाँव-समाज या नगरोंमें नगरपालिका-समितियों और प्रादेशिक सरकारोंको प्राप्त रहेगा। इससे छोटी इकाइयोंको आयके बारेमें केन्द्रका मुँह नहीं ताकना होगा। उन्हें सीधे और खासी आय अपने क्षेत्रसे मिल जायगी, आयका एक हिस्सा वे राज्य-सरकार और केन्द्रको भी देंगी।[1]

योजना प्रस्तुत करते हुए उसके संयोजक शंकरराव देवने यह बात स्पष्ट कर दी कि 'इसका आशय कोई यह न समझे कि यह वक्तव्य शासन द्वारा तैयार की गयी दूसरी पंचवर्षीय योजनाका स्थान ले सकता है, न यह सर्वोदयी योजनाकी कोई व्यवस्थित रूपरेखा ही है। सच तो यह है कि सर्वोदयी व्यवस्थामें किसी ऐसी गढ़ी-गढ़ायी (साँचेमें ढली) योजनाके आधारपर जीवन नहीं बनाया जा सकता। सर्वोदय एक विकासशील आदर्श है। उसे अभी किसी साँचेमें नहीं बैठाया गया है। अगर हम चाहते हैं कि सर्वोदय एक कट्टर और जड़-पंथ न बन जाय, बल्कि ऐसी शक्तिका काम दे, जो मानव-मानवके सम्बन्धों और हमारी संस्थाओंके वर्तमान रूपको बदलकर उन्हें सत्य और अहिंसासे अनुप्राणित करता रहे, तो यही उचित होगा कि वह इस प्रकारका जड़-पंथ न बने।'[2]

संयोजनके मूल सिद्धान्त

श्री श्रीमन्नारायणके अनुसार गांधीके सर्वोदय-संयोजनके मूल सिद्धान्त इस प्रकार हैं :[3]

१. सादगी,

२. अहिंसा,

३. श्रमकी पवित्रता और

४. मानवीय मूल्योंका परिवर्तन।

आपका कहना है कि तिलमाण्डीकी भाँति गांधीके मतसे भी अर्थशास्त्र और

---

१ सर्वोदय-संयोजन, पृष्ठ १७१–१७५।

२ शंकरराव देव : सर्वोदय-संयोजन, दो शब्द, पृष्ठ ४-५।

३ श्रीमन्नारायण : प्रिंसिपल्स ऑफ गांधियन प्लानिंग, १९६०, पृष्ठ १४–२५।

आचार-शास्त्रमें भेद नहीं किया जा सकता। जीवनपर समग्र दृष्टिसे ही विचार किया जाना चाहिए।

गांधीने अपने इस विचारका प्रतिपादन करते हुए कहा है : 'मैं स्वीकार करता हूँ कि मैं अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्रके बीच कोई विशेष अन्तर नहीं करता। जो अर्थशास्त्र किसी व्यक्ति अथवा राष्ट्रके कल्याणमें बाधा डालता है, वह अनैतिक है और इसलिए पापपूर्ण है। जो अर्थशास्त्र यह अनुमति देता है कि एक देश दूसरे देशको लूट ले, वह अनैतिक है। मैं अमरीकी गेहूँ खाऊँ और पड़ोसी अन्न-विक्रेताको ग्राहकोंके अभावमें भूखों मरने दूँ, यह पाप है। इसी तरह मुझे यह भी पापपूर्ण लगता है कि मैं रीजेण्ट स्ट्रीटका बढ़िया कपड़ा पहनूँ, जब कि मैं जानता हूँ कि यदि मैं अपनी पड़ोसी कत्तिनों और बुनकरोंके काते-बुने कपड़े पहनता, तो मुझे तो कपड़ा मिलता ही, उन लोगोंको भोजन भी मिलता, कपड़ा भी !'[1]

समग्र दृष्टि

गांधीकी मान्यता थी कि मानवपर विचार करते समय समग्र दृष्टि रखनी चाहिए। मानव-जीवनको राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक अंगोंमें बाँटनेका कोई अर्थ नहीं होता। वह कहता था : 'मानवके कार्योंकी वर्तमान परिधि अविभाज्य है। उसे आप सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक या केवल धार्मिक टुकड़ोंमें विभाजित नहीं कर सकते।'[2] 'मैं जीवनको जड़-दीवारोंसे विभक्त नहीं किया करता। एक व्यक्तिकी भाँति राष्ट्रका भी जीवन अविभक्त और पूर्ण होता है।'[3]

इसी समग्र दृष्टिसे गांधीने सारा राजनीतिक आन्दोलन चलाया। उसमें परतंत्रता-पाशसे भारतको मुक्त करनेकी छटपटाहट तो थी, पर उसके लिए उसका साधन था—अहिंसा। इस अहिंसाकी साधना एकांगी हो नहीं सकती। जीवनका समग्र दर्शन उसमें समाविष्ट हो जाता है। तभी तो वह कहता है कि 'जब हम अहिंसाको अपना जीवन-सिद्धान्त बना लें, तो वह हमारे सम्पूर्ण जीवनमें व्याप्त होनी चाहिए। यों कभी-कभी उसे पकड़ने और छोड़नेसे लाभ नहीं हो सकता'।[4]

साध्य और साधन

गांधीकी यह भी एक विशेषता है कि उसने सत्य, अहिंसा तथा अन्य गुणोंको सामाजिक स्वरूप प्रदान किया। दादा धर्माधिकारीके शब्दोंमें 'सार्वजनिक जीवनमें दारिद्र्य हमारा व्रत है' 'उपवास हमारा व्रत है'—इस

१ गांधी : यंग इण्डिया, १३-१०-१९२१।

२ तेंदुलकर : महात्मा, खण्ड ६, पृष्ठ ३८७।

३ गांधी : हरिजन सेवक, २९-२-'३७।

४ गांधी : हरिजन, ५-९-'३६, पृष्ठ २३७।

प्रकारसे सार्वजनिक जीवनकी और व्यक्तिगत जीवनकी साधनाओंको मिलाकर व्रतको सामाजिक मूल्य बना देना तो गांधीकी ही सिफत थी। सामाजिक क्रान्ति और व्यक्तिगत साधना, ये दोनों जीवनकी महान् कलाएँ हैं। जिन्होंने कुशलतासे क्रान्ति की, उन्होंने जीवनमें और साधनामें कलाका समावेश करनेकी कोशिश की। गायके बारेमें पूछा, तो गांधीने कहा : 'मेरे लिए तो गाय भगवान्‌की दयापर, करुणापर लिखी हुई कविता है।' एक बार कहा : 'मैं अहिंसक क्रान्तिका कलाकार हूँ।' जीवनमें व्यक्तिगत साधना और सामाजिक साधनाका जब निष्ठापूर्वक प्रयोग होता है, तो सारा जीवन ही कलात्मक बन जाता है! यों गांधीने क्रान्तिमें एक नयी कला व्रतोंके रूपमें दाखिल की।[1]

सत्य

गांधीका जीवन आदिसे अन्ततक सत्यकी साधना है। वह कहता है : 'सत्य शब्दका मूल सत् है। सत्‌के मानी हैं होना, सत्य अर्थात् होनेका भाव। सिवा सत्यके और किसी चीजकी हस्ती ही नहीं है। इसीलिए परमेश्वरका सच्चा नाम सत् अर्थात् सत्य है। चुनांचे, परमेश्वर सत्य है, कहनेके बदले सत्य ही परमेश्वर है, यह कहना ज्यादा मौजूँ है।'[2]

सत्य सर्वोदयके सारे व्रतोंका अधिष्ठान है, ध्रुवतारा है। इसे सामने रखकर सारे जीवनकी दिशा निर्धारित की जाती है।

यह सत्य क्या है? यह है—मेरी दूसरोंके साथ एकता। यह तर्कका विषय नहीं। पुराने शास्त्रकारोंने इसे 'साक्षी प्रत्यक्ष' कहा है। याने मेरे अस्तित्वके स्फुरण जैसा है। यह बुद्धिवादसे परे है। विज्ञान यहाँतक नहीं पहुँच सकता, इसलिए आईन्स्टाइनने जब अन्तमें गांधीके बारेमें लिखा, तो यह लिखा कि 'जहाँतक हम लोग कोई नहीं पहुँच सकते थे, वहाँतक इसकी पहुँच थी। इसलिए हम कहते हैं कि दुनियामें इस धरतीपरसे ऐसा आदमी इससे पहले कभी नहीं चला था। गिरजाघरोंमें, मसजिदोंमें, मन्दिरोंमें और गुरुद्वारोंमें जो भगवान् रहते हैं, उन भगवान्‌में मेरी निष्ठा नहीं, मेरा विश्वास नहीं, मेरी श्रद्धा नहीं। लेकिन उस गांधीने जिस सत्य और जिस भगवान्‌की उपासना की, वह वैज्ञानिक है। उसमें मेरी श्रद्धा भी है और निष्ठा भी है।'

सामाजिक मूल्यके रूपमें जब हम सत्यकी उपासना करते हैं, तो ध्रुवसत्य हमारे लिए यह है कि दूसरे व्यक्ति और मैं एक हूँ। दूसरेके साथ मेरी एकता, मेरी सामाजिकता, मेरी नैतिकता और मेरे सदाचारका आधार है। दूसरोंके साथ

१ दादा धर्माधिकारी : सर्वोदय-दर्शन, पृष्ठ २७३–२७५।

२ गांधी : सत्यमहाव्रत, पृष्ठ।

हमारी पारमार्थिक एकता है। वह निरपेक्ष है, सापेक्ष नहीं। पशुसे लेकर मनुष्यों तक जितना कुछ जीवन है, इस जीवनमात्रकी एकता जीवनका ध्रुवसत्य है।'[1]

अहिंसा

गांधीका कहना है कि 'खोजमें तो मैं सत्यकी निकला, पर मिल गयी अहिंसा।'

सावलीमें दादा धर्माधिकारीने गांधीसे पूछ दिया : 'आपका मुख्य धर्म सत्य है या अहिंसा ?'

गांधी बोला : 'सत्यकी खोज मेरे जीवनकी प्रधान प्रवृत्ति रही है। इसमें मुझे अहिंसा मिली और मैं इस परिणामपर पहुँचा कि इन दोनोंमें अभेद है। बिना अहिंसाके मनुष्य सत्यतक नहीं पहुँच सकता। यह मेरी साधनाका निचोड़ है। दोनोंकी जुगल जोड़ीको मैं अभेद्य मानता हूँ।'

यह अहिंसा कैसे प्रकट होती है ?

अहिंसा प्रेमसे प्रकट होती है। प्रेमका प्रारम्भ ममत्वसे होता है, परिसमाप्ति तादात्म्यमें। हमारे जीवनमें वह कैसे पैदा होता है ? दूसरेका सुख हमारा सुख हो जाता है, दूसरेका दुःख हमारा दुःख हो जाता है। 'सुख दीने सुख होत है, दुख दीने दुख होय।' तो फिर अहिंसक आचरण प्रकट कैसे होगा ? 'जो तोकूँ काँटा बुवै, ताहि बोउ तू फूल।' तेरे फूलसे फूल ही निकलेंगे। उसके काँटोंमेंसे काँटे निकलते चले जायँगे। तेरी फसल अगर काँटोंकी फसलसे बड़ी होती होगी, तो काँटोंमें भी गुलाब लगते चले जायँगे। यह अहिंसाका दर्शन कहलाता है। अहिंसा और सदाचारकी बुनियाद प्रेममूलक होती है और तादात्म्यमें उसकी परिणति होती है। सामाजिक क्षेत्रमें अहिंसा व्यक्त होती है—दूसरेका सुख अपना सुख माननेसे, दूसरेका दुःख अपना दुःख माननेसे।[2]

सत्य और अहिंसाकी बुनियादपर ही सर्वोदयका सारा प्रासाद खड़ा है। ब्रह्मचर्य और अस्वाद, अस्तेय और अपरिग्रह, अभय और शरीर-श्रम, अस्पृश्यता-निवारण और सर्वधर्म-समभाव तथा स्वदेशी—ये एकादशव्रत सर्वोदयके मूल आधार हैं। परन्तु सत्य और अहिंसाकी साधनामें उन सबका समावेश हो जाता है।

गांधी कहता है : यदि गम्भीर विचार करके देखें, तो मालूम होगा कि सब व्रत सत्य और अहिंसाके अथवा सत्यके गर्भमें रहते हैं और वे इस तरह बताये जा सकते हैं :

---

१ दादा धर्माधिकारी : सर्वोदय-दर्शन, पृष्ठ २७५-२७७।

२ वही, पृष्ठ २७७-२७८।

जितने बढ़ाते जायँ उतने।
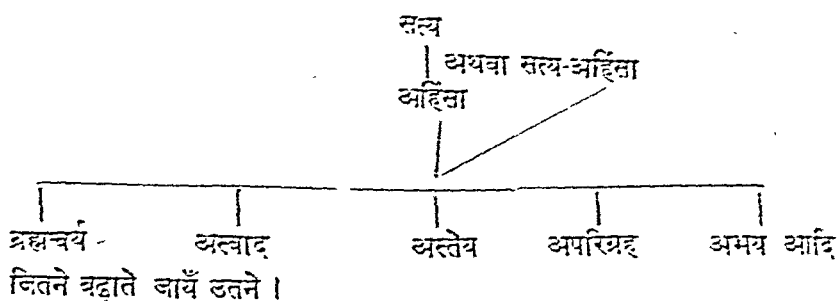
गांधीकी अहिंसा कायरोंकी नहीं, वीरोंकी अहिंसा है। वह कहता है कि 'अहिंसा डरपोकका, निर्बलका धर्म नहीं है। यह तो बहादुर और जानपर खेलनेवालेका धर्म है। तलवारसे लड़ते हुए जो मरता है वह अवश्य बहादुर है, किन्तु जो मारे बिना धैर्यपूर्वक खड़ा-खड़ा मरता है, वह अधिक बहादुर है।... मारके डरसे जो अपनी स्त्रियोंका अपमान सहन करता है, वह मर्द होकर नामर्द बनता है। वह न पति बनने लायक है, न पिता या भाई बनने लायक।'[1]

अहिंसाको सामाजिक धर्म बताते हुए वह कहता है : मैंने यह विशेष दावा किया है कि अहिंसा सामाजिक चीज है, केवल व्यक्तिगत चीज नहीं है। मनुष्य केवल व्यक्ति नहीं है; वह पिण्ड भी है, ब्रह्माण्ड भी। वह अपने पिण्डका बोझ अपने कन्धेपर लिये फिरता है। जो धर्म व्यक्तिके साथ समाप्त हो जाता है, वह मेरे कामका नहीं है। मेरा यह दावा है कि सारा समाज अहिंसाका आचरण कर सकता है और आज भी कर रहा है।[2]

सत्याग्रह-आन्दोलनोंमें गांधीने सामाजिक रूपसे अहिंसाका प्रयोग करके विश्वको चमत्कृत कर दिया। बिना रक्तपातके भारतकी स्वतंत्रताकी प्राप्ति ऐसा उदाहरण है, जिसका विश्वमें कोई सानी ही नहीं।

ब्रह्मचर्य

गांधीकी दृष्टिमें ब्रह्मचर्यका अर्थ है—'ब्रह्मकी, सत्यकी शोधमें चर्या। अर्थात् तत्सम्बन्धी आचार। इस मूल अर्थसे सर्वेन्द्रिय-संयमका विशेष अर्थ निकलता है। सिर्फ जननेन्द्रिय-संयमके अधूरे अर्थको तो हम भुला ही दें।'[3]

गांधीने ब्रह्मचर्यके व्रतको भी सामाजिक रूप दिया। उसने स्त्री शक्तिको जाग्रत करके, सार्वजनिक जीवनमें आगे लाकर उसे जो महत्त्व प्रदान किया, वह किससे छिपा है?

---

१ गांधी : हिन्दी नवजीवन, ११-१०-'२८, पृष्ठ ६२।

२ गांधी : भाषण, गांधी सेवा संघ, वर्धा, २२-६-'४०।

३ गांधी : सत्यमहाव्रत, पृष्ठ ९–१२।

ब्रह्मचर्यकी व्याख्या करते हुए दादा धर्माधिकारी कहते हैं कि स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध समान भूमिकापर आ जाना चाहिए। जिन नैतिक सिद्धान्तोंने पुरुषके जीवनमें एक नीतिमत्ता प्रस्थापित कर दी है, उन नैतिक सिद्धान्तोंको स्त्री-जीवनमें भी वही स्थान मिलना चाहिए, जो पुरुषके जीवनमें है।...आज स्त्री पर-भृत है, पर-पोषित है, पर-रक्षित है और पर-प्रकाशित भी है। पुरुषके नामपर वह चलती है। स्त्रीके जीवनमेंसे ये सभी बातें निकल जानी चाहिए। जैसे पुरुष-जीवनमें ब्रह्मचर्य मुख्य है, वैसे ही स्त्री-जीवनके लिए भी माना जाना चाहिए।[1]

विनोबा कहता है: इसलामने यह विचार रखा है कि गृहस्थ-धर्म ही पूर्ण आदर्श है। वैदिक धर्ममें दूसरी ही बात है। यहाँपर ब्रह्मचारी आदर्श माना गया है। बीचमें जो गृहस्थाश्रम आता है, वह तो वासनाके नियंत्रणके लिए है। इस तरह नियंत्रणकी एक सामाजिक योजना बनायी गयी थी, जिससे मनुष्य ऊपरकी सीढ़ी जल्दसे जल्द चढ़ सके।[2] स्त्री-पुरुषोंका भेद तो हम आकृति-मात्रसे ही पहचानते हैं। अन्दरकी आत्मा तो एक ही है।[3]

गांधीके वानप्रस्थाश्रमकी चर्चा करते हुए विनोबा कहता है: गृहस्थाश्रममें संकोच न रहे, एक-दूसरेके साथ भाई-बहनकी तरह मिलते रहें, यह श्रीकृष्णने बताया। गांधीने शुरू किया कि गृहस्थाश्रममें भी लोग वानप्रस्थाश्रमकी तरह रह सकते हैं। जितनी जल्दी गृहस्थाश्रमसे छूटा जा सके, उतना अच्छा।

शराबकी दूकानोंपर स्त्रियोंको पिकेटिंगके लिए भेजनेके गांधीके विचारकी चर्चा करता हुआ विनोबा कहता है कि गांधीने स्त्रियोंकी सारी शक्ति खोल दी। स्त्रियोंने जो काम किया, वह सारे भारतने देखा।[4] गांधीने कहा कि जो सबसे गिरे हुए लोग हैं, उनके खिलाफ हमें ऊँचीसे ऊँची शक्ति भेजनी चाहिए।

अस्तेय

अस्तेयका अर्थ केवल इतना ही नहीं कि मैं चोरी न करूँ। यह भी है कि मैं दूसरेकी वस्तुकी आकांक्षा भी न रखूँ। गांधी कहता है: दूसरेकी वस्तुको उसकी अनुमतिके बिना लेना तो चोरी है ही, मनुष्य अपनी कही जानेवाली चीज भी चुराता है। उदाहरणार्थ, किसी पिताका अपने बालकोंके जाने बिना, उन्हें मालूम न होने देनेकी इच्छासे चुपचाप किसी चीजका खाना। किसीके जानते हुए भी उसकी चीजको उसकी आज्ञाके बिना लेना चोरी है। यह समझकर

१ दादा धर्माधिकारी : सर्वोदय-दर्शन, पृष्ठ २६२-२६३।
२ विनोबा : स्त्री-शक्ति, पृष्ठ ७१-७२।
३ विनोबा : वही, पृष्ठ ७३।
४ विनोबा : स्त्री-शक्ति पृष्ठ २४।

कि वह किसीकी भी नहीं है, किसी चीजको अपने पास रख लेनेमें भी चोरी है। इतनेतक तो समझना साधारणतः सहज ही है। परन्तु अस्तेय बहुत आगे जाता है। जिस चीजके लेनेकी हमें आवश्यकता न हो, उसे जिसके पास वह है, उसकी आज्ञा लेकर भी लेना चोरी है। ऐसी एक भी चीज न लेनी चाहिए, जिसकी जरूरत न हो। अस्तेय-व्रतका पालन करनेवाला उत्तरोत्तर अपनी आवश्यकताओं-को कम करेगा। दुनियाकी अधिकांश कंगाली अस्तेयके भंगके कारण हुई है।[1]

अपरिग्रह

अपरिग्रह-व्रतकी व्याख्या करते हुए गांधी कहता है: परिग्रहका मतलब संचय या इकट्ठा करना है। सत्यशोधक अहिंसक परिग्रह नहीं कर सकता। धनवान्‌के घर उसके लिए अनावश्यक अनेक चीजें भरी रहती हैं, मारी-मारी फिरती हैं, बिगड़ जाती हैं; जब कि उन्हीं चीजोंके अभावमें करोड़ों लोग दर-दर भटकते हैं, भूखों मरते हैं और जाड़ेसे ठिठुरते हैं। यदि सब अपनी आवश्यकता-नुसार ही संग्रह करें, तो किसीको तंगी न हो और सब संतोषसे रहें। आज तो दोनों तंगीका अनुभव करते हैं। करोड़पति अरबपति होनेकी कोशिश करता है, तो भी उसे संतोष नहीं रहता। कंगाल करोड़पति बनना चाहता है। कंगालको पेटभर मिल जानेसे ही संतोष होता नहीं पाया जाता। परन्तु कंगालको पेटभर पानेका हक है और समाजका धर्म है कि वह उसे उतना प्राप्त करा दे। अतः उसके और अपने सन्तोषके खातिर पहले धनाढ्यको पहल करनी चाहिए। वह अपना अत्यन्त परिग्रह छोड़े, तो कंगालको पेटभर सहज ही मिलने लगे और दोनों पक्ष संतोषका सबक सीखें। आदर्श आत्यन्तिक अपरिग्रह तो उसीका होता है, जो मन और कर्मसे दिगम्बर हो। अर्थात् वह पक्षीकी तरह गृहहीन, अन्नहीन और वस्त्रहीन होकर विचरण करे। अन्नकी उसे रोज आवश्यकता होगी और भगवान् रोज उसे देंगे। पर इस अवधूत-स्थितिको तो विरले ही पा सकते हैं। हम तो इस आदर्शको ध्यानमें रखकर नित्य अपने परिग्रहको घटाते रहें।[2]

अपरिग्रही समाजकी कल्पना सर्वोदयकी सर्वोत्कृष्ट कल्पना है और इससे मानव-जातिके समस्त संकटोंका निवारण हो जाता है। मानव केवल अपनी आव-श्यकताकी पूर्ति चाहे, आवश्यकतासे अधिक एक कौड़ी अपने पास न रखे, एक कौर भी अधिक न खाये, कपड़ा भी अधिक न रखे, तो सारे समाजके सारे अभावोंकी पूर्ति हो सकती है। सच्चे सुख और सच्चे सन्तोषका एकमात्र साधन यही है। आवश्यकताओंकी उत्तरोत्तर वृद्धि ही तो सारे अनर्थोंकी जननी है।

---

१ गांधी : सत्यनहावत, पृष्ठ २०-२१।

२ गांधी : सत्यनहावत, पृष्ठ २३-२४।

आज विश्वमें 'और' 'और' की जो लिप्सा बढ़ रही है, उसीके कारण इतनी हाय-हाय और तबाही फैली है। गांधीने लन्दनके एक लखपतीकी इस लिप्साकी चर्चा करते हुए कहा कि "निकृष्ट एवं असभ्य मस्तिष्ककी यह बीमारी है कि वह केवल स्वामित्वके अभिमानकी पूर्तिके लिए वस्तुओंके संग्रहकी लालसा रखता है। एक लखपतीने मुझसे कहा : 'मैं नहीं जानता कि ऐसा क्यों होता है कि मैं जब लन्दनमें होता हूँ, तो गाँव जाना चाहता हूँ और गाँवमें होता हूँ, तो लन्दन !' वह न तो लन्दनसे भागना चाहता था न गाँवसे; वह वस्तुतः भागना चाहता था अपने-आपसे। अपनी अपार सम्पत्तिके हाथों अपने-आपको बेचकर वह दिवालिया बन गया था। एक उपदेशकके शब्दोंमें 'उसके हाथ भरे थे, पर आत्मा खाली थी यानी सारी दुनिया उसके लिए खाली थी' !"[1]

आर्थिक समानता

अपरिग्रही समाजसे ही आर्थिक समानताका विकास हो सकता है। गांधी कहता है : आर्थिक समानताकी मेरी कल्पनाका अर्थ यह नहीं कि सबको शाब्दिक अर्थमें एक ही रकम बाँट दी जाय। उसका सीधा-सादा अर्थ यह है कि प्रत्येक स्त्री-पुरुषको उसकी आवश्यकताकी रकम मिलनी ही चाहिए। सर्दीमें मुझे दो दुशालोंकी जरूरत पड़ती है, जब कि मेरे पौत्र कनूको गरम कपड़ेकी कोई जरूरत ही नहीं पड़ती। मुझे बकरीका दूध, संतरे और फल चाहिए। कनूका काम साधारण भोजनसे ही चल जाता है। कनू युवक है, मैं ७६ सालका बूढ़ा, फिर भी मेरा भोजन-व्यय उससे कहीं ज्यादा है। पर इसका अर्थ यह नहीं कि हम दोनोंमें आर्थिक विषमता है। तो आर्थिक समानताका सीधा-सादा अर्थ है— 'प्रत्येक व्यक्तिको उसकी आवश्यकताके अनुरूप मिले।' आज किसान गल्ला पैदा करता है, पर भूखों मरता है। दूध पैदा करता है, पर उसके बच्चोंको दूध नहीं मिलता। यह गलत है। सबको संतुलित भोजन, अच्छा मकान, बच्चोंकी शिक्षाकी तथा दवा-दारूकी समुचित सुविधा मिलनी ही चाहिए।[2]

विश्वस्त वृत्ति

अपरिग्रहके साथ ही जुड़ी हुई समस्या है—विश्वस्त वृत्तिकी, ट्रस्टीशिपकी। गांधीने कहा कि धनिकोंको चाहिए कि वे अपनी सारी सम्पत्ति एक संरक्षककी तरह रखें। उसका उपयोग वे केवल उन लोगोंके हितमें करें, जो उनके लिए पसीना बहाते हैं और जिनके श्रम और उद्योगके बलपर ही वे सम्मान और सम्पन्नता प्राप्त करते हैं।[3]

---

१ तेण्डुलकर : महात्मा, खण्ड ४।

२ गांधी : हरिजन, ३१-३-'४६ पृष्ठ ६३।

३ गांधी : हरिजन, २३-२-'४७।

गांधी गीताका भक्त था। गीताके अपरिग्रह, समभाव आदि शब्दोंने उसके मनको मजबूतीसे पकड़ लिया। इस वृत्तिका व्यवहार कैसे किया जाय, इसपर चिन्तन करते समय उसे 'ट्रस्टी' शब्दकी सहायता मिली। 'आत्मकथा' में उसने लिखा कि 'गीताके अध्ययनसे 'ट्रस्टी' शब्दके अर्थपर विशेष प्रकाश पड़ा और उस शब्दसे अपरिग्रहकी समस्या हल हुई।' विनोबा कहता है कि 'गांधीकी दृष्टिसे समाजकी किसी भी परिस्थितिमें देहधारी मनुष्यके लिए अपनी शक्तियोंका ट्रस्टीके नाते उपयोग करना ही अपरिग्रह सिद्ध करनेका व्यावहारिक उपाय है।'[1]

गांधी कहता है कि 'सम्पत्तिकी रक्षाके दो ही साधन हैं। या तो शस्त्र या अहिंसा। जो लोग अहिंसाके मार्गसे सम्पत्तिकी रक्षा करना चाहते हैं, उनके लिए सर्वोत्तम मंत्र है—'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः।' (त्यागकर उसका भोग करो।) इसका व्यापक अर्थ यह है कि भले ही तुम करोड़ों रुपये कमाओ, पर यह ध्यान रखो कि सम्पत्ति तुम्हारी नहीं है, वह जनताकी है। अपनी उचित आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिए रखकर शेष सारी सम्पत्ति तुम समाजको अर्पण कर दो।'[2]

दादा धर्माधिकारीने ट्रस्टीशिपका विवेचन करते हुए कहा है कि[3] कुछ लोगोंने ट्रस्टीशिपका मतलब यह कर लिया है कि व्याज भी लेते जाओ, धन भी बढ़ाते चलो, उसकी आसक्ति भी रखो; अंतमें इसका भोग भगवान्को लगा दिया करो। सोचनेकी बात है कि जिस व्यक्तिने व्रतके रूपमें सत्य, अहिंसा, अस्तेयका प्रतिपादन किया, उसने भला ट्रस्टीशिपका ऐसा अर्थ किया होगा? ट्रस्टीशिपका अर्थ यह है कि परम्परासे जो धन तुझे प्राप्त हो गया है, उसे दूसरोंका समझकर जल्दीसे जल्दी उससे मुक्त हो जा।

ट्रस्टीशिपके दो पहलू हैं—एक है संक्रमणकालीन। दूसरा यह कि केवल धनिक ही ट्रस्टी नहीं हैं, श्रमिक भी हैं। पूँजीवादी समाज-व्यवस्थासे हमें श्रमनिष्ठ व्यवस्थाकी ओर बढ़ना है। इसके लिए संग्रहके विसर्जनकी आवश्यकता है। यह विसर्जन व्रतनिष्ठासे होना चाहिए और व्यक्तिका शुद्धीकरण होना चाहिए। गांधी कहता है कि तुम्हें आनुवंशिक रूपमें या वैसे भी जो सम्पत्ति मिल गयी है, उसे अपनी नहीं, समाजकी थाती समझो। तुम्हें उसका विसर्जन करना है। तुम्हें यह चिन्ता होनी चाहिए कि कब मैं यह सम्पत्ति समाजको लौटा देता हूँ और कब मेरा चित्त शान्त होता है।

ट्रस्टीशिपका दूसरा पहलू यह है कि केवल धनिक ही नहीं, श्रमिक भी

---

१ विनोबा : सर्वोदय-विचार और स्वराज्य-शास्त्र, पृष्ठ ९५३।

२ गांधी : हरिजन, १-२-'४२।

३ दादा धर्माधिकारी : सर्वोदय-दर्शन, पृष्ठ २८३—२९२।

ट्रस्टी है। अल्पसंग्रहवाला भी ट्रस्टी है। तुम्हारे पास आधी रोटी हो और पड़ोसमें कोई भूखा हो, तो उस आधी रोटीको भी बाँट दो।

दूसरेको खिलाकर खायेंगे, बंधुत्वके लिए संयोजन करेंगे—यहाँ अपरिग्रहका व्रत और गांधीके ट्रस्टीशिपका सिद्धान्त एक हो जाता है। दोनोंकी कसौटी यही है कि संग्रह न रहे।

श्रमनिष्ठा

सर्वोदयके नैतिक आधारका अत्यधिक महत्त्वपूर्ण साधन है—श्रमनिष्ठा। गांधी कहता है : 'हाथ और पैरका श्रम ही, सच्चा श्रम है। हाथ-पैरोंसे मजूरी करके ही आजीविका प्राप्त करनी चाहिए। मानसिक और बौद्धिक शक्तिका उपयोग समाज-सेवाके लिए ही करना चाहिए।'

इस कसौटीपर कसने बैठेंगे, तो ऐसे व्यक्तियोंकी भारी पलटन मिलेगी, जो बिना हाथ-पैर डुलाये ही, बिना उत्पादनके ही उपभोग करते रहते हैं। सेठ-साहूकार, मिल-मालिक, भू-स्वामी, जुआरी, सट्टेबाज, पुजारी, महंत, राजा-रईस, ताल्लुकेदार, नवाब, वकील, डॉक्टर, दूकानदार आदि कितने ही व्यक्ति इस श्रेणीमें आयेंगे।

जो व्यक्ति भोजन करता है, वह शरीर-श्रम करे ही, यह सर्वोदयकी आवश्यक निष्ठा है।

किसीने गांधीसे पूछा कि 'जो अशक्त है, दुर्बल है, श्रम करनेमें असमर्थ है, वह क्या करे ?' गांधीने कहा : मैंने तो आदर्शकी बात कही है। प्रत्येक व्यक्तिको यथासम्भव उसका पालन करना चाहिए। पर जो उसमें असमर्थ है, वह उसकी चिन्ता न करे। वह जो भी स्वच्छ श्रम कर सकता हो, करे। वह इस बातका ध्यान रखे कि वह उन लोगोंका शोषण न करे, जो उसके लिए श्रम करते हैं। कार्यव्यस्त डॉक्टरों आदिकी चिन्ता छोड़ो। वे जब शुद्ध सेवाकी भावनासे जनताकी सेवा करेंगे, तो जनता उन्हें भूखों नहीं मरने देगी।[1]

एक बार लाल कुर्तीवालोंने गांधीसे शिकायत की कि आपने इरविनसे समझौता करके अच्छा नहीं किया। इससे किसानों और मजदूरोंके स्वतंत्र लोकतंत्रका निर्माण नहीं होगा।

गांधीने उत्तर दिया : आप लोग यदि यह चाहें कि पूँजीपति लोग सर्वथा नष्ट हो जायँ, सो तो होनेवाला है नहीं। उसमें आपको सफलता मिल नहीं सकती। आपको करना यह चाहिए कि आप पूँजीपतियोंके समक्ष श्रमकी प्रतिष्ठा करके दिखायें। फिर वे उन लोगोंके ट्रस्टी बनना स्वीकार कर लेंगे, जो उनके लिए श्रम करते हैं। मैं चाहता हूँ कि पूँजीवाले निर्धनोंके ट्रस्टी बन जायँ और पूँजीका व्यय

---

१ गांधी : हरिजन ३-८-'३५।

उन्हींके लिए करें। मैंने स्वयं अपनी सम्पत्तिका विसर्जन करके तोल्सतोय फार्मकी स्थापना की थी। रस्किनकी 'अनटू दिस लास्ट' ने मुझे प्रेरणा दी और उसीके आधारपर मैंने उक्त फार्मकी स्थापना की। आयकी दृष्टिमें सम्पत्तिका मूल्य अधिक है या श्रमका? मान लीजिये, आप सहाराके मरुस्थलमें रास्ता भूल जाते हैं, आपके पास छकड़ों सोना भरा पड़ा है। पर उससे आपको क्या सहायता मिलने वाली है? आप यदि श्रम कर सकें, तो आपको भूखों मरनेकी नौबत नहीं आयेगी। तब पैसेको श्रमसे अधिक महत्त्व क्यों दिया जाय?'[1]

दादा धर्माधिकारीका कहना है: आजका समाज सम्पत्तिनिष्ठ है, हम उसे श्रमनिष्ठ बना देना चाहते हैं। इसमें दो प्रक्रियाएँ हैं—समाजमें जो प्रतिष्ठित है, उसे श्रम करना चाहिए, साथ ही श्रमवान्को 'श्रमनिष्ठ' बनना चाहिए। मजदूर भगवान्से यह वरदान थोड़े ही माँगेगा कि आज मेरे पास जो कुदाली है, उससे जरा अच्छी कुदाली दे दे! वह तो यही कहेगा—'हे भगवान्, इस कुदालीसे मुक्ति पानेका दिन कब आयेगा?'

विनोबा कहता है: धनवान्की धननिष्ठा कम करनेके लिए मैं सम्पत्तिदान माँग रहा हूँ। भूमिवान्की भूमिनिष्ठा कम करनेके लिए मैं उनसे भूमिदान माँग रहा हूँ और श्रमवान्को श्रमनिष्ठ बनानेके लिए मैं श्रमदान माँग रहा हूँ।

आज जो श्रमवान् है, वह श्रम बेचता है। श्रम जिस दिन बाजारके ऊपर उठ जायगा, उस दिन श्रमवान् 'श्रमनिष्ठ' बन जायगा। इसलिए गांधीने शरीर-श्रमको व्रत बना दिया।[2]

अस्वाद

गांधी कहता है: मनुष्य जबतक जीभके रसोंको न जीते, तबतक ब्रह्मचर्यका पालन कठिन है। भोजन शरीर-पोषणके लिए हो, स्वाद या भोगके लिए नहीं।

यह व्रत सामाजिक मूल्य कैसे बनेगा, इसकी व्याख्या दादाके शब्दोंमें यों है—मान लें, आज यह टुकड़ी रसोड़ेमें जायगी, अब हम यदि यह सोचें कि सारी भाखरियाँ ये ही परोस लेंगे, हमारे लिए क्या बचेगा, तब तो ये लोग होटलवाले बन जायँगे, शिविरवाले नहीं रहेंगे। शिविरवाले ये तभी रहेंगे, जब कि खाने-वाले खाना खाते जाते हैं और खिलानेवाले खुश होते जाते हैं। खिलाते-खिलाते इनका दिल आनन्दसे नाच रहा है। मेरा आनन्द यदि दूसरेको जिलानेमें है, तो मेरा आनन्द दूसरेको खिलानेमें भी होना चाहिए। विनोबा हमें हमेशा

---

१ यंग इण्डिया, २-४-'३१।

२ दादा धर्माधिकारी: सर्वोदय-दर्शन, पृष्ठ २९९-३०१।

सिखाता है : अरे भाई, जो दूसरेको खिलाकर खाता है, वह अलग स्वाद जानता है। जो खुद ही खाता है, उसे कभी मजा होनहीं आता।[1]

अन्य व्रत

सर्वधर्म-समानत्वमें अभेदकी भावना भरी है। जो धर्म मनुष्य-मनुष्यमें भेद करता है, वह धर्म नहीं। स्वदेशीमें स्वावलम्बन ही नहीं, परस्परावलम्बन भी होता है। नहीं तो विनोबाके शब्दोंमें 'विकेन्द्रित उत्पादन' 'विकीर्ण उत्पादन' हो जायगा। यहाँ जो उत्पादन होगा, वह पड़ोसीके लिए होगा। स्पर्श-भावनामें जाति-निराकरण और अस्पृश्यता-निवारण आ जाता है। सर्वोदयमें जाति और ऊँच-नीचके भेद चल ही नहीं सकते।

सर्वोदयकी अर्थव्यवस्था

सर्वोदयके मूल आधार सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय, अपरिग्रह, श्रमनिष्ठा, अस्वाद आदिके विवेचनसे यह स्पष्ट हो गया कि नैतिक मूल्योंके आधारपर प्रतिष्ठित समाजमें सुख, शान्ति और आनन्दकी त्रिवेणी प्रवाहित हुए विना न रहेगी।

पैसा इस व्यवस्थाका मूल आधार है नहीं। इसका आधार तो व्यक्ति है, मानव है। वस्तुका उत्पादन मानवकी आवश्यकताके लिए होगा, पैसेके लिए नहीं। उसमें प्रेम और सद्भाव, एक-दूसरेके लिए आत्मत्याग, आत्मानुशासन और सार्वजनिक हितकी भावना रहेगी। काम होगा प्रेमपूर्वक, उत्पादन होगा रस ले-लेकर। व्यवस्था होगी सहयोगपूर्ण। सम्पत्ति सबकी होगी, व्यक्तिगत मालकियत किसीकी नहीं।

श्रमनिष्ठा, सादगी, विकेन्द्रीकरण—इन धारणाओंको सामने रखकर सारी अर्थव्यवस्थाका संगठन होगा। खादी और ग्रामोद्योग, हल और चरखा इसकी बुनियाद हैं। हर आदमी श्रम करेगा, हर आदमी पड़ोसीका ध्यान रखेगा। न शोषण होगा, न अन्याय। सम्पत्तिवाले सम्पत्तिको समाजकी धरोहर मानेंगे। श्रम करनेमें लोग गौरव मानेंगे। प्रेमकी सत्ता चलेगी, प्रेमका राज! ० ० ०

---

१ दादा धर्माधिकारी : वही, पृष्ठ ३०२।

कुमारप्पा

बात है सन् १९३४ की।

पटनाके इम्पीरियल बैंकमें एक दिन खादीके जीर्ण-शीर्ण कपड़े पहने हुए एक व्यक्तिने आकर कहा कि मैं एजेण्टसे मिलना चाहता हूँ।

चपरासियोंको उसकी बातपर विश्वास न हुआ। वे उसे एक क्लर्कके पास ले गये। उसने पूछा : क्यों ?

वह बोला : हिसाबका एक खाता खोलना है।

क्लर्कने कहा : उसके लिए कमसे कम २००) चाहिए।

वह बोला : हो जायगा उसका इन्तजाम।

उसने अपना कार्ड एजेण्टके पास भिजवा दिया। अंग्रेज एजेण्टने देखा कि लन्दनका एक सनदयाफ्ता एफ० एस० ए० ए० उससे मिलने आया है। वह भीतर घुसा, तो एजेण्टको लगा कि यह कौन भिखारी-सा व्यक्ति चला आ रहा है। पूछा तो वह बोला : 'मैंने अपना कार्ड आपके पास भिजवा दिया है!'

'मुझे तो मिला नहीं!'

'वह क्या पड़ा है सामने!'

'यह आपका कार्ड है?'

वह आसमानसे गिरा! उठकर हाथ मिलाया और बात करने लगा।

'यह है १९ लाखका ड्राफ्ट। आप बिहार भूकम्प सहायता समितिके नामसे हमारा खाता खोल दीजिये!'[1]

१९ लाखके ड्राफ्टवाला यह व्यक्ति था जोसेफ कोर्नेलियस कुमारप्पा।

एजेण्टने उससे बहुत देरतक प्रेमसे बातें कीं और अन्तमें वह उसे मोटरतक पहुँचाने आया। उसकी निःस्वार्थ सेवा, लगन और तत्परतापर वह मुग्ध हो गया।

गांधीका यह अत्यन्त विश्वासपात्र अनुयायी हिसाब-किताबमें दक्ष और अत्यन्त सूक्ष्म विचारक तो था ही, सर्वोदयका अत्यन्त प्रखर प्रवक्ता भी था।

जीवन-परिचय

जोसेफ को० कुमारप्पाका जन्म तंजोरके एक ईसाई परिवारमें ४ जनवरी १८९२ को हुआ। माँ थी परम दयालु और धर्मपरायण, पिता अनुशासनप्रिय और नियमितताके उपासक। शिक्षित सुसंस्कृत परिवार।

---

१. विनायक : जे० सी० कुमारप्पा एण्ड हिज क्वैस्ट फार वर्ल्ड पीस, १९५६, पृष्ठ ५४–५६।

जोसेफने भारतमें और विदेशमें रहकर उच्च शिक्षा प्राप्त की। लन्दनसे एफ० एस० ए० ए० करके वह लन्दनमें ही एक ब्रिटिश कम्पनीमें आडीटर बन गया। बादमें माँके आग्रहपर वह बम्बई लौटकर यहीं काम करने लगा।

सन् १९२७ में अपने अग्रजके अनुरोधपर जोसेफने छुट्टी मनानेके लिए अमेरिका जाना स्वीकार किया, पर वहाँ निष्क्रिय पड़े रहना उसे पसन्द न पड़ा। उसने सेराकूज विश्वविद्यालयमें नाम लिखा लिया और वहाँसे सन् १९२८ में वाणिज्य-व्यवस्थामें बी० एस-सी० कर लिया। अगले वर्ष राजस्वमें एम० ए० करनेके लिए वह कोलम्बिया विश्वविद्यालयमें भरती हो गया। उसने बम्बईके म्युनिसिपल राजस्वपर शोध-निबन्ध लिखनेका विचार किया था। तभी उसके प्रोफेसर डॉक्टर ई० आर० ए० सैलिगमैनने एक समाचार-पत्रमें कुमारप्पाके एक भाषणका विवरण पढ़ लिया। उसके भाषणका विषय था—"भारत दरिद्र क्यों है ?" सैलिगमैनने इस बातपर जोर दिया कि कुमारप्पा राजस्वके माध्यमसे भारतकी दरिद्रताके कारणोंपर शोध करे। कुमारप्पा जब इस विषयपर शोध करने लगा, तो उसे अंग्रेजों द्वारा भारतके शोषण और दोहनका पूरा पता लगा और राष्ट्रीयताकी भावना उसके हृदयमें जमकर बैठ गयी।

सन् १९२९ में कुमारप्पा भारत लौटा। वह अपना शोधग्रंथ भारतमें छपाना चाहता था। तभी किसीने उसे बताया कि अच्छा हो, वह इस सिलसिलेमें गांधीसे मिले। वह गांधीसे मिला। गांधी उसके ग्रंथको 'यंग इण्डिया' में क्रमशः छापनेको प्रस्तुत हो गया।

बापू मनुष्योंके अद्वितीय पारखी! कुमारप्पा जैसा राष्ट्रीय दृष्टिवाला शिक्षित अर्थशास्त्री उन्हें दीख पड़े और वे उसे यों ही छोड़ दें, यह सम्भव ही कैसे था? उन्होंने उसपर ऐसी मोहनी डाली कि वह सदाके लिए बापूका बन गया! कुमारप्पा बापूके रंगमें रँगा सो रँगा। उसने अपनी अंग्रेजी वेशभूषा, अपनी अंग्रेजी रहन-सहनको तिलांजलि प्रदान कर सदाके लिए गरीबीका वरण कर लिया। बापूके आन्दोलनोंमें उसने पूरा भाग लिया। सन् १९३१, ३२–३४, ४२, ४३–४५ में उसने ४ बार जेल-यात्रा की और जीवनके अन्तिम क्षणतक सर्वोदयका प्रकाश फैलाता रहा। अनेक बार सर्वोदयका सन्देश फैलानेके लिए उसने विश्वके विभिन्न अंचलोंकी यात्रा भी की।

प्रमुख रचनाएँ

सर्वोदय-अर्थशास्त्रका विकास करनेमें कुमारप्पाकी देन अमूल्य है। उसकी प्रमुख रचनाएँ हैं :

ह्वाइ दी विलेज मूवमेण्ट ?, इकॉनॉमी ऑफ परमानेन्स, गांधियन इकॉनॉमिक थॉट, गांधियन वे ऑफ लाइफ, पब्लिक फिनान्स एण्ड अवर पावर्टी, रिपोर्ट ऑन दि फिनान्सियल ओब्लीगेशन्स बिट्वीन ग्रेट ब्रिटेन एण्ड इण्डिया, क्लाइव टू कोन्स, आर्गेनाइजेशन एण्ड एकाउण्ट्स ऑफ रिलीफ वर्क, एन ओवरआल प्लान फार रूरल डेवलपमेण्ट, यूनीटरी बेसिस फार ए नानवायलेण्ट डेमॉक्रेसी, करेन्सी इन्फ्लेशन—इट्स काज एण्ड क्योर, एन इकॉनॉमिक सर्वे ऑफ मातार तालुका, रिपोर्ट ऑफ दी कांग्रेस एग्रेरियन रिफार्म्स कमिटी, स्वराज्य फार दि मासेज, ब्लडमनी, प्रेजेण्ट इकॉनॉमिक सिचुएशन, नानवायलेण्ट इकॉनॉमी एण्ड वर्ल्ड पीस, सर्वोदय एण्ड वर्ल्ड पीस, काउ इन अवर इकॉनॉमी।

३० जनवरी १९६० को कुमारप्पाका देहान्त हो गया।

प्रमुख आर्थिक विचार

कुमारप्पाने सर्वोदयी दृष्टिसे भारतकी दरिद्रताका विधिवत् सर्वेक्षण किया। देशकी आर्थिक स्थितिकी गवेषणा करते हुए उसने ब्रिटिश शोषण और दोहन-का पर्दाफाश किया। मुद्रास्फीतिपर, राजस्वपर, संयोजनपर, किसानों और मजदूरोंकी स्थितिपर उसका विवेचन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। कुमारप्पाका सबसे महत्त्वपूर्ण अर्थशास्त्रीय अनुदान है :

१. गाँव-आन्दोलन क्यों ?,
२. गांधी-अर्थ-विचार और
३. स्थायी समाज-व्यवस्था।

१. गाँव-आन्दोलन क्यों ?

'ह्वाइ दी विलेज मूवमेण्ट ?' में कुमारप्पाने ग्रामकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्थाके लिए जोरदार दलील देते हुए बताया है कि यदि हम युद्ध समाप्त कर देना चाहते हैं, तो हमें अपनी अर्थ-व्यवस्थाको ऐसा बनाना पड़ेगा कि इसे समतोल बनाये रखनेके लिए बीच-बीचमें सर्वनाश होनेकी आवश्यकता न पड़े। लोग जितनी कम हिंसाका प्रयोग करेंगे, उसीके उलटे अनुपातमें वे समुन्नत होते जायँगे। यदि हम सचमुच शांतिप्रिय और खुशहाल दुनिया बनाना चाहते हैं, तो अपने स्वार्थ और तृष्णाका दमन करनेके अलावा और कोई चारा नहीं है। दस्तकारियाँ और गृह-उद्योग बहुत हदतक अहिंसक हैं और शोषणकी ओर अग्रसर नहीं होते।[1]

१ कुमारप्पा : गाँव-आन्दोलन क्यों ? पृष्ठ २०३-२०४।

मानव-प्रकृतिके दो भाग

मानव-प्रकृतिको दो भागोंमें बाँटा जा सकता है :

गुट-जाति और झुण्ड-जाति ।[1]

गुट-जातिकी विशेषताएँ

(१) जीवनका संकुचित और अल्पकालीन दृष्टिकोण ।

(२) केन्द्रित नियंत्रण और व्यक्तियों या छोटे समूहोंके हाथमें निजी रूपसे शक्तिका संचित रहना ।

(३) कठोर अनुशासन ।

(४) संस्थाको सफल बनानेवाले असली कार्यकर्ताओंके हितोंका विचार न रखा जाना ।

(५) कार्यकर्ताके व्यक्तित्वका विकास न होने देना और आपसी प्रतिद्वंद्वितामें असहिष्णुता ।

(६) लाभ-प्राप्तिका ही सब कामोंकी प्रेरक शक्ति बन जाना ।

(७) लाभका संचय और थोड़ेसे आदमियोंमें उसका बँटवारा ।

(८) दूसरेके भले-बुरेका कुछ भी ख्याल न रखकर निजी लाभके लिए जितना हो सके, बटोरना । दूसरेकी मेहनतसे पेट भरना ।

झुण्ड-जातिकी विशेषताएँ

(१) जीवनका विस्तृत दृष्टिकोण ।

(२) सामाजिक नियंत्रण, विकेन्द्रीकरण और शक्तिका बँटवारा । निःस्वार्थ सिद्धान्तोंपर सारा काम ।

(३) कार्य-शक्तिका ठीक दिशामें लगना ।

(४) निर्बलों और असहायोंके बचावका प्रयत्न ।

(५) बड़ी हदतक विचारोंकी सहिष्णुता द्वारा प्रकट होनेवाली निजी शक्तियोंके विकासको बढ़ावा देना ।

(६) कामका ध्येय सिद्धान्तों और सामाजिक नियमोंके अनुकूल होना ।

(७) लाभका अधिकसे अधिक लोगोंमें आवश्यकताके अनुसार बँटवारा ।

(८) आवश्यकताएँ पूरी करनेका ध्येय निःस्वार्थ भावसे रखा जाना ।

---

१ कुमारप्पा : वही, पृष्ठ ४—६ ।

पश्चिमी अर्थव्यवस्थाएँ

गुट-जातिकी सभी विशेषताओंकी झलक पश्चिमकी औद्योगिक संस्थाओंमें स्पष्ट दिखाई देती है।[1]

इनके ५ भेद किये जा सकते हैं :

(१) बलवान्की परम्परा,

(२) पूँजीकी परम्परा,

(३) मशीनकी परम्परा,

(४) श्रमकी परम्परा और

(५) मध्यम-वर्गकी परम्परा।

बलवान्की परम्पराका नमूना हमें जमींदारी प्रथामें मिलता है। जिन बेचारे गाँववालोंकी मेहनतकी कमाई जमींदार हड़पता था, उनकी भलाईका विचार भी उसके दिलमें कभी नहीं आता था।

अठारहवीं शताब्दीके अन्तमें हम पूँजीकी परम्पराको जन्म लेते हुए देखते हैं, कारण अबतक बरसोंसे हड़पी हुई पूँजी कुछ लोगोंके पास इकट्ठी हो जाती है और वैज्ञानिक आविष्कारोंसे व्यवसायमें लाभ उठाया जाना शुरू हो जाता है। पूँजीकी ताकत जब बढ़ती गयी, तो जागीरदारोंने भी पूँजीपतियोंके साथ नाता जोड़नेमें अपनी भलाई देखी। शक्ति और पूँजीके इसी गठबन्धनको हम 'साम्राज्यवाद' के नामसे पुकारते हैं।

मशीनकी सभ्यताका सबसे अच्छा उदाहरण अमेरिका है। वहाँ प्रकृतिकी शक्तिके समक्ष मनुष्य चकाचौंध हो गया है। मशीनें वहाँ मजदूर कम करनेका साधन बन गयीं। इस परम्पराका नियंत्रण आरम्भसे थोड़े लोगोंके हाथमें रहा और जिनकी मेहनतसे काम होता था, उनकी भलाईका कोई ख्याल नहीं रखा गया।

श्रम-परम्परा मजदूर लोग ही सत्ताधारियोंके विशिष्ट अधिकारोंको दृष्टिमें रखते हुए चलाते हैं। जो भी लाभ होता है, वह मशीन-मालिकके हाथमें जाता है।

अभी हालमें हमने वे संघर्ष और आन्दोलन देखे, जिनमें मध्यम-वर्गने इस परम्पराकी व्यवस्थाकी सत्ता और शक्तिपर काबू पानेका प्रयत्न किया। इसी जगह हमें गुट किस्मके 'नाजीवाद' और 'फैसिज्म' की उत्पत्ति मिलती है, जो कि पूँजीवादके समान ही चलती है।

---

१ कुमारप्पा : वही, पृष्ठ ६–१५।

केन्द्रित उत्पादन, फिर वह चाहे पूँजीवादमें हो या साम्यवादमें, आगे चल-कर राष्ट्रीय सर्वनाश करके ही छोड़ेगा।

अर्थशास्त्रकी प्रणालियाँ

मनुष्यके काम-काजोंके पीछे जो प्रेरणा विशेष काम करती है, उसके अनुसार हम उसे चार व्यवस्थाओंमें बाँट सकते हैं[1] :

(१) लूट-खसोटकी व्यवस्था,

(२) साहसपूर्ण व्यापारकी व्यवस्था,

(३) मिल-जुलकर कमाने-खानेकी व्यवस्था और

(४) स्थायित्वकी व्यवस्था।

लूट-खसोटकी व्यवस्था

इसमें प्रेरक कानून यह है कि दूसरोंके या अपने अधिकारों या कर्तव्योंका ख्याल रखे बिना अपनी आवश्यकताएँ पूरी करना। जीवनका यह ढंग पूर्णतः पशु-श्रेणीका है, जिसमें बिना किये-धरे कुछ पानेकी इच्छा रहती है।

साहसपूर्ण व्यापारकी व्यवस्था

मनुष्य उत्पादन करता है और उसे अपनेतक ही सीमित रखता है। इस व्यवस्थाका परिणाम है—सरकारी हस्तक्षेपसे आजादी और पूँजीवादी मनोवृत्ति। 'बस अपना स्वार्थ साधो, कमजोर चाहे जहन्नुममें जाय'—यही उनका नारा और आदर्शवाक्य रहता है।

मिल-जुलकर कमाने-खानेकी व्यवस्था

जैसे-जैसे मनुष्य समझता गया कि केवल अपने लिए ही कोई नहीं जी सकता और मनुष्य-मनुष्यके बीच भी कुछ नाते-रिश्ते हैं, उसमें मिल-जुलकर रहनेकी बुद्धि आती गयी। इसके भी कुछ विशेष स्तर हैं :

(क) साम्राज्यवाद—औद्योगिकोंके गुट, व्यावसायिक गुटबन्दियाँ, ट्रस्ट, एकाधिकार आदि। इसमें केवल गुटकी भलाईपर जोर दिया जाता है।

(ख) **फासिज्म, नाजीवाद, साम्यवाद, समाजवाद**—जब किसी विशेष श्रेणीके भिन्न प्रकारके लोग जातीय, सामाजिक, आर्थिक या इसी तरहके किसी बन्धनमें बँधे रहते हैं, तो वे मिलकर अपने स्वार्थ या अपने एक ही ध्येयकी पूर्तिके लिए एक गुट बना लेते हैं। इसमें केवल अपने वर्गका ही ख्याल रखा जाता है, बाहरवालोंका लेशमात्र नहीं। इसमें 'साम्राज्यवाद' की अपेक्षा लूट-खसोटकी मात्रा कम है, क्योंकि यह वर्ग बड़ा होता है, राष्ट्रीयताकी भावना उग्ररूपमें रहती है।

---

१ कुमारप्पा : वही, पृष्ठ, २४-३१।

स्थायित्वकी व्यवस्था

ऊपरकी सभी व्यवस्थाएँ अस्थायी हैं। उनका आधार उन क्षणिक स्वार्थोंपर रहता है, जो मनुष्यके छोटेसे जीवन या अधिकसे अधिक उस वर्गविशेष या राष्ट्रके जीवनका संचालन करते हैं।

जब हम अधिकारोंपर अधिक जोर देते हैं, तब जीवन भोग-विलासकी तरफ झुकता है। जब हम कर्तव्योंपर ध्यान देते हैं, तो हम दूसरेको भी अपनी ही तरह समझकर उसका ख्याल करनेको विवश होते हैं। यह व्यवस्था स्वभावतः स्थायित्व-की ओर अग्रसर होती है।

स्थायित्वकी व्यवस्था सच्चे साधनों द्वारा निःस्वार्थ भावसे समाज-सेवाकी व्यवस्था ब्राह्मणीय आदर्शों और कार्मोंकी है। ब्रह्माण्डकी व्यवस्थाके अनुसार चलने और अनन्तकी राह अपनानेका इसमें प्रयत्न किया गया है। मनुष्यके विकासकी यही पराकाष्ठा है।

सच्ची स्वतंत्रता

हिंसापर आधृत समाजमें असली स्वाधीनता होती ही नहीं, समाजमें केन्द्रीय शासन कानून मनवानेके लिए डण्डा लिये नागरिकके सिरपर सवार रहता है। भय, घृणा और संदेहके वातावरणमें भी कभी स्वतंत्रता पनपी है ?[1]

सच्ची स्वतंत्रतासे जनताके विकासको प्रेरणा मिलनी चाहिए। इससे मानवमें पशुताके बजाय मानवताका संचार होगा। लूट-खसोटसे जन्म लेनेवाले साम्राज्य-वादमें हिंसाकी कलामें निपुण लोगोंको वैभवशाली बनानेके लिए समाजमें सबसे ऊँचा पद दिया जाता है। अहिंसात्मक समाज-व्यवस्थामें हमें हिंसा और सम्पत्तिका त्याग करना पड़ता है और सेवाके लिए अपनेको बलिदान कर देना पड़ता है।

आर्थिक प्रणालीका उद्देश्य

जो अर्थ-व्यवस्था इन उद्देश्योंके अनुकूल चले, उसका शायद ही कोई विरोध करे[2]—

(१) इस व्यवस्थामें जितनी अच्छी तरह सम्भव हो, धन उत्पादन होना चाहिए।

(२) इसमें धन-वितरण विस्तृत और बराबर होना चाहिए।

(३) भोग-विलासकी वस्तुओंसे पहले यह जनताकी आवश्यकताओंकी वस्तुओंका प्रबन्ध करे।

---

१ कुमारप्पा : वही, पृष्ठ १४०–१४३।

२ कुमारप्पा : वही, पृष्ठ १६५-१६६।

(४) यह व्यवस्था लोगोंको कार्य द्वारा उन्नत करने और उनके व्यक्तित्वका विकास करनेवाली हो।

(५) यह समाजमें शांति और व्यवस्था पैदा करनेवाली हो।

केन्द्रीकरणके दोष

केन्द्रीकरणके ५ दोष हैं।[1]

(१) पूँजीके संग्रहसे जो केन्द्रीकरण आरम्भ होता है, वह बादमें सम्पत्तिको केन्द्रित कर देता है। इससे अमीर-गरीबके सारे झगड़े पैदा होते हैं।

(२) जब श्रमकी कमीसे केन्द्रित उत्पादनको जन्म दिया जाता है, स्वभावतः श्रम-शक्ति कम होनेसे उत्पादन द्वारा वितरित क्रय-शक्ति भी कम हो जाती है। इससे अनिवार्यतः क्रय-शक्ति घट जानेसे अन्तमें माँगको पूरी करानेकी शक्ति कमजोर पड़ जाती है और तुलनात्मक अति-उत्पादन होने लगता है, जैसा कि आज हम संसारमें देखते हैं।

(३) जहाँ एक-सी बनावटकी वस्तुओंके उत्पादनकी आवश्यकता केन्द्रीकरण आरम्भ करती है, उत्पत्तिमें कोई भिन्नता न होनेसे विकास रुक जाता है। बड़े पैमानेपर सामग्रीको प्रोत्साहित करके यह युद्ध करानेमें सहायता करता है।

(४) श्रमसे अनुशासन द्वारा काम लेनेसे शक्ति थोड़ेसे लोगोंमें केन्द्रित हो जाती है, जो कि धनके केन्द्रीकरणसे भी भयानक है।

(५) कच्चा माल मँगाना, उत्पादनके लिए और उत्पत्तिके लिए बाजार ढूँढ़ना—इन तीनोंके एकीकरणका नतीजा साम्राज्यवाद और युद्ध होता है।

विकेन्द्रीकरणके लाभ

विकेन्द्रीकरणके ये ५ लाभ हैं[2] :

(१) विकेन्द्रीकरण द्वारा धन-वितरण अधिक सम तरीकेसे होता है, जो लोगोंको संतोषी बनाता है।

(२) इसमें मूल्यका अधिकांश मजूरीके रूपमें दिया जाता है। उत्पादन-विधिसे धन वितरण भी जुड़ा है। क्रय-शक्तिका ठीक बँटवारा होनेसे माँगको पूरी करानेकी शक्ति भी बढ़ जाती है और उत्पादन माँगके अनुसार होने लगता है।

(३) प्रत्येक उत्पादक अपने कारखानेका मालिक होता है। उसे अपनी सूझ-बूझ काममें लानेका पर्याप्त अवसर मिलता है। पूरी जिम्मेदारी रहनेसे उसमें

---

१ कुमारप्पा : वही, पृष्ठ १६७-१६८।

२ कुमारप्पा : वही, पृष्ठ १६६।

व्यावसायिक विधि और बुद्धि पैदा हो जाती है। जब प्रत्येक व्यक्तिका इस प्रकार विकास होगा, तो राष्ट्रकी समझ भी बढ़ेगी।

(४) बिक्रीका स्थान उत्पादन-केन्द्रके निकट होनेसे वस्तुएँ बेचनेमें कोई कठिनाई नहीं होती। चीजें बेचनेके लिए विज्ञापन और आधुनिक दूकानदारीके दूसरे ढंगोंकी शरण भी नहीं लेनी पड़ती।

(५) जब धन और शक्ति विकेन्द्रित होगी, तब राष्ट्रीय पैमानेपर किसी प्रकारकी अशांति नहीं होगी।

२. गांधी-अर्थ-विचार

कुमारप्पा कहता है कि अर्थशास्त्रकी पुस्तकोंमें जो सामान्य नियम बताये जाते हैं, वे किन्हीं सिद्धान्तोंके अन्तर्गत होते हैं। किन्तु गांधी-अर्थ-विचारमें ऐसा नहीं होता। केवल दो जीवन-लक्ष्य हैं, जिनके अन्तर्गत गांधीजीके आर्थिक, सामाजिक, राजकीय और दूसरे सभी विचार रहा करते हैं। वे हैं—सत्य और अहिंसा। इन दो कसौटियोंपर जो चीज खरी नहीं उतरती, उसे गांधीवादी नहीं कहा जा सकता। यदि ऐसी स्थिति बन जाय कि उससे हिंसा उत्पन्न हो या उसमें असत्यकी आवश्यकता पड़ जाय, तो हम उसे अ-गांधीवादी कहेंगे।

इन दो सिद्धान्तोंको हम लें और जीवनके हर पहलूमें इन्हें लगाकर देखें कि कहाँ सत्य है, कहाँ अहिंसा पैदा की जा सकती है। यदि किसी समय इन उद्देश्योंकी पूर्ति न होती हो, तो हमें उन रास्तोंको छोड़ देना चाहिए।[1]

गांधीवादी अर्थनीति

गांधीवादी समाजमें संगठन इस प्रकारका होगा कि जिसमें अपनी आवश्यकताकी सभी वस्तुएँ—भोजन, वस्त्र, मकान, शिक्षा तथा अन्य चीजें लोग मिलकर स्वयं पैदा कर लेते हैं। इनको पैदा करनेका ढंग विकेन्द्रित होता है। जितना अधिक केन्द्रीकरण होगा, गांधीवादी आदर्शसे चीज उतनी ही हट जायगी। यदि आत्मनियंत्रण या संयमका आदर्श न रहा, तो सबका सब बंटाधार हो जायगा। हमारे जीवनका नियंत्रण करनेवाली योजनाका नाम है—अहिंसाके द्वारा सत्यकी प्राप्ति। गांधीवादी समाजमें हर व्यक्तिको अपने विकासकी पूरी-पूरी गुंजाइश मिलती है, साथ ही गड़बड़ीका अंदेशा भी जाता रहता है। हमारे संगठनकी बुनियाद लोगोंके चाल-चलनपर है और इस चाल-चलनका आधार है सेवा और कर्तव्य-पालन। इसीसे समाज अहिंसा और सत्यकी ओर सतत आगे बढ़ सकता है।[2]

---

१ कुमारप्पा : गांधी-अर्थ-विचार, पृष्ठ १।

२ कुमारप्पा : वही, पृष्ठ ८६-९३।

३. स्थायी समाज-व्यवस्था

गांधीजीके शब्दोंमें 'ग्रामोद्योगोंका यह 'डॉक्टर' बतलाता है कि ग्रामोद्योगों-के द्वारा ही देशकी क्षणभंगुर मौजूदा समाज-व्यवस्थाको हटाकर स्थायी समाज-व्यवस्था कायम की जा सकेगी।'[1]

प्रकृतिमें ५ व्यवस्थाएँ हैं[2] :

१. परोपजीवी व्यवस्था,
२. आक्रामक व्यवस्था,
३. पुरुषार्थयुक्त व्यवस्था,
४. समूहप्रधान व्यवस्था और
५. सेवाप्रधान व्यवस्था।

प्रकृति

- क्षणभंगुर—विनाशकारी
  - निजी हकोंपर अधिष्ठित—दूसरोंके हितोंका कोई खयाल नहीं
    - मनुष्य सहित सारे प्राणी
      - परोपजीवी व्यवस्था — कुछ देनेकी कल्पना ही नहीं — लाभके स्थानको हानि पहुँचानेवाली
      - आक्रामक व्यवस्था — या तो कुछ न देना या जितना दिया उससे कहीं अधिक लेना
      - पुरुषार्थयुक्त व्यवस्था — पहले देकर बादमें लेना
      - समूहप्रधान व्यवस्था — अपने हिस्सेसे अधिक देनेकी तैयारी
- शाश्वत—सृजनात्मक
  - कर्तव्योंपर अधिष्ठित—दूसरोंके हितोंका अधिक खयाल
    - सुसंस्कृत मनुष्य
      - समूहप्रधान व्यवस्था — अपने हिस्सेसे अधिक देनेकी तैयारी
      - सेवाप्रधान व्यवस्था — निःस्वार्थ भावसे देनेकी प्रवृत्ति

---
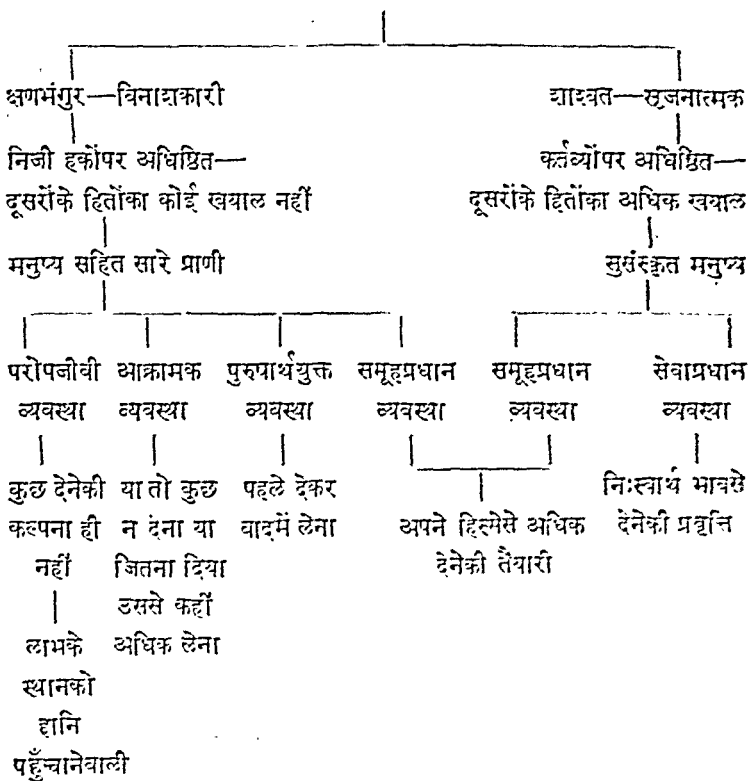
१ मो० क० गांधी : भूमिका 'स्थायी समाज-व्यवस्था'।
२ कुमारप्पा : स्थायी समाज-व्यवस्था, पृष्ठ १७ २१।

परोपजीवी व्यवस्था

कुछ पौधे दूसरे पौधोंपर चढ़ते हैं और इस प्रकार परोपजीवी बनते हैं। कुछ समयके बाद मूल झाड़, उसपर उगनेवाले दूसरे झाड़की बदौलत सूखने लगता है और अन्तमें मर जाता है।
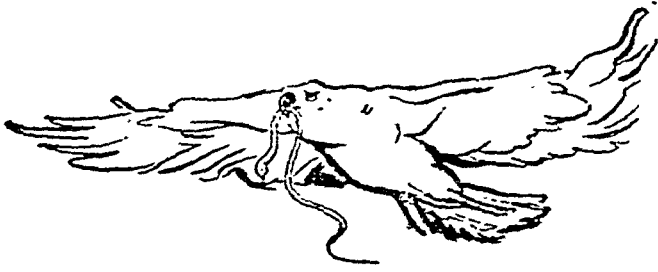
दूसरोंपर जीनेवाला प्राणी

बेचारी गरीब भेड़ घास खाती है, पानी पीती है, पर शेर प्राकृतिक रास्ता छोड़कर बीचका ही मार्ग निकालता है। वह भेड़को मारकर उसपर अपनी गुजर-बसर करता है।

आक्रामक व्यवस्था

बन्दर आमके बगीचेमें पहुँचता है। उस बगीचेके बनानेमें उसका कोई हाथ नहीं होता। न वह जमीन खोदता है, न झाड़ लगाता है, न पानी ही देता है। पर उस बगीचेके आम वह खाता है।

दूसरेके श्रमके भुट्टे खानेवाले पक्षी
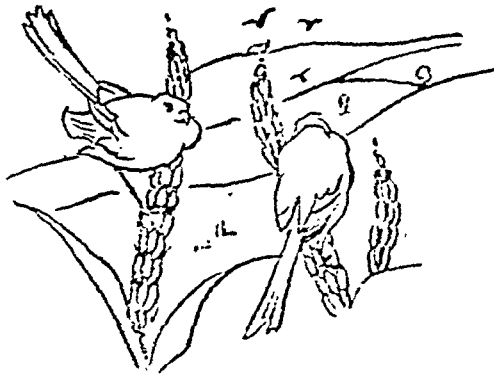
पुरुषार्थयुक्त व्यवस्था

कुछ प्राणी दूसरी इकाइयोंसे कुछ लाभ उठाते हैं, पर ऐसा करते हुए वे

उन इकाइयोंको कुछ निश्चित लाभ भी पहुँचाते हैं। इस प्रकार अपने पुरुषार्थसे जो चीज बनती है, उसका उपभोग वे करते हैं।
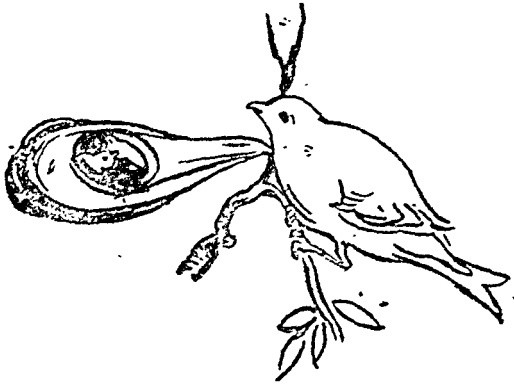
पक्षी द्वारा स्वयं बनाये घोंसलेका उपयोग

समूहप्रधान व्यवस्था

शहदकी मक्खियाँ शहद इकट्ठा करती हैं, केवल अपने लिए नहीं, समूचे समूहके लिए। वे सदा जो कुछ करती हैं, पूरे समूहको दृष्टिमें रखकर।

मधुमक्खी द्वारा समूहके लिए मधु-संचय

सेवाप्रधान व्यवस्था

प्रकृतिकी सर्वोत्तम व्यवस्था है—सेवाप्रधान व्यवस्था। उसका सबसे अच्छा उदाहरण है—बच्चा और उसके माता-पिता। पक्षीके बच्चेकी माँ तमाम जंगल

ढूँढ़कर बच्चेके लिए चारा लाती है। अपनी जान संकटमें डालकर शत्रुसे उसकी रक्षा करती है।
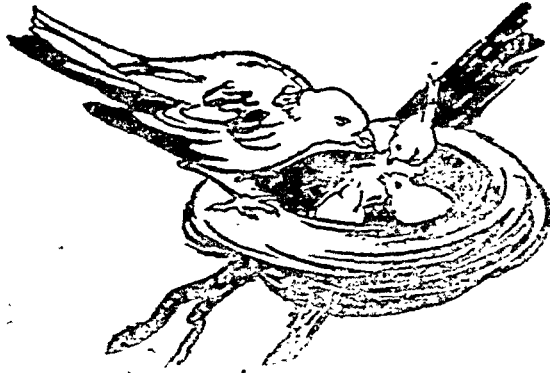
मुआवजेकी अपेक्षाके बिना बच्चेकी सेवा

मानवीय विकासकी मंजिलें[1]

मनुष्यकी विशेषता है कि उसे बुद्धि प्रदान की गयी है। उसके बूतेपर वह अपने आसपासका वातावरण बदल सकता है।

परोपजीवी व्यवस्था—प्रमुख वर्ग–एक डाकू, जो बच्चेके गहनोंके लोभसे उसे मार डालता है।

डाकू

मुख्य लक्षण—फायदेके स्थानको नष्ट करना।

---

१ कुमारप्पा : स्थायी समाज-व्यवस्था, पृष्ठ ३१–३८।

आक्रामक व्यवस्था—प्रमुख वर्ग—एक पाकेटमार, जो अपने लक्ष्यको उके नुकसानका पता नहीं लगने देता।

मुख्य लक्षण—बदलेमें कुछ दिये बिना फायदा कर लेनेकी प्रवृत्ति रखना।

पुरुषार्थयुक्त व्यवस्था—प्रमुख वर्ग—एक किसान, जो खेत जोतता है, समें खाद डालता है, उसकी सिंचाई करता है, उसमें चुने हुए बीज बोता है, सकी रखवाली करता है और बादमें फसल काटकर उसका उपभोग करता है।

किसान

मुख्य लक्षण—श्रम और लाभका उचित समन्वय, धोखा उठानेकी तैयारी।

समूहप्रधान व्यवस्था—प्रमुख वर्ग—अविभक्त कुटुम्बका नेता, जो सारे कुटुम्बके हितके लिए काम करता है। ग्राम-पंचायतकी सहकारी समिति, जो अपने-अपने दायरेके लोगोंके हितके लिए काम करती है।

ग्राम-पंचायत

मुख्य लक्षण—व्यक्तिका लाभ नहीं, समूहका लाभ या हित प्रधान।

सेवाप्रधान व्यवस्था—प्रमुख वर्ग—सहायता-कार्य करनेवाला।

निःस्वार्थ भावसे प्यासेको पानी पिलाना

मुख्य लक्षण—मुआवजेकी कोई चिन्ता न करके दूसरोंका भला करना।

जीवनका लक्ष्य

उपर्युक्त दिशामें जीवनका नियमन करना आवश्यक है। इसके लिए मनुष्यका ध्येय सम्पूर्ण मानव-समाजकी सेवा होना चाहिए और वह प्रकृतिके विरुद्ध नहीं होनी चाहिए। उसमें केन्द्रित कारखानोंकी बनी चीजें दूसरोंपर लादनेकी कोशिश नहीं होनी चाहिए और न व्यक्तित्वके विकासका विरोध होना चाहिए।[1]

जीवनके पैमाने

जीवनका पैमाना ऐसा निश्चित होना चाहिए कि उसमें व्यक्तिकी सुप्त शक्तियोंके विकास और उसके आत्मप्रकटीकरणकी पूर्ण गुंजाइश रहते हुए एक व्यक्तिका दूसरे व्यक्तिसे सम्बन्ध जुड़ा रहे, ताकि अधिक बुद्धिमान् या कलावान् व्यक्ति अपनेसे कम बुद्धिवालों और कलावालोंको अपने साथ लेकर आगे बढ़ते चलें।

हमें देखना चाहिए कि हमारी हर आवश्यकताकी चीज हमारे आसपासके कच्चे मालसे और आसपासके ही कारीगरों द्वारा बनायी हुई हो, तभी हमारा आर्थिक ढाँचा पक्का बनेगा। तभी हम शाश्वत व्यवस्थाकी ओर अग्रसर होंगे, क्योंकि उस हालतमें हिंसाका निर्माण न होकर सर्वनाश होनेकी कोई सम्भावना नहीं रहेगी।

हम जो पैमाना निश्चित करें, उसकी बदौलत समाजके अंग-प्रत्यंगमें शुद्ध सहकारिता निर्माण होनी चाहिए। ऐसे पैमानेसे अलग-अलग व्यक्तियोंका ही लाभ नहीं होगा, बल्कि वह समूचे समाजको इकट्ठा बाँधनेवाला सिद्ध होगा। उसके कारण परस्पर विश्वास निर्माण होगा, परस्पर मेल होगा और सुख मिलेगा।[2]

कामके चार अंग

कामके मुख्य चार अंग हैं—मेहनत, आराम, प्रगति और संतोष। इनमेंसे किसी एकको दूसरोंसे अलग नहीं किया जा सकता। कामका लक्ष्य पूरा होनेके लिए उसके हर भागका उसमें रहना जरूरी है।[3]

आज कामको दो हिस्सोंमें बाँट दिया जाता है—श्रम और खेल। कुछ लोगोंको श्रम करनेके लिए विवश किया जाता है और कुछ लोग खेलका भाग अपने लिए रख छोड़ते हैं। असंतुलित रूपसे कामका जब विभाजन किया जाता है, तब श्रम उकतानेवाला सिद्ध होता है और खेल मनुष्यको असंयमी बना देता

---

१ कुमारप्पा : वही, पृष्ठ ८१।

२ कुमारप्पा : वही, पृष्ठ ८९–१०७।

३ कुमारप्पा : वही, पृष्ठ १०६।

है। दोनों ही मानवीय सुखको घटानेवाले हैं। गुलाम भूखसे मरता है, उसका मालिक बदहजमीसे। श्रमको टालकर केवल सुख पानेकी इच्छाके कारण संसारमें युद्ध, अकाल, मौत, उत्पात आदिने हुड़दंग मचा रखा है।[1]

श्रमका विभाजन

श्रमका उपयुक्त विभाजन करनेके बहाने पश्चिमी लोगोंने कामको बहुत छोटे-छोटे हिस्सोंमें विभाजित कर दिया है। यहाँतक कि वहाँका हर काम जी उबानेवाला साबित होता है और इसलिए वहाँके लोग कामको एक अभिशाप ही समझते हैं।

उत्पादनका ख्याल छोड़ भी दें, तो भी काम करनेवालेके लाभकी दृष्टिसे उसके हर छोटे-छोटे भागमें पर्याप्त परिमाणमें विविधता और नवीनता होनी चाहिए, ताकि काम करनेवालेके ज्ञान-तंतु अपनी कार्यक्षमता न खो बैठें।

सालके ३०० दिनोंतक रोजाना आठ घण्टे वही काम करते रहनेसे कारीगरके ज्ञान-तंतुओंपर इतना बेजा बोझ पड़ेगा कि सम्भव है, वह पागल हो जाय। इस हालतमें यदि भारी मजूरी भी मिले, तो वह किस कामकी ?

कारखानेके मजदूरोंकी हालत घानीके बैल जैसी रहती है। जीवनका आनन्द और आजादीका स्वस्थ वातावरण उनके लिए नहीं है। उन्हें उन्नति और विकासके सभी अवसरोंसे वंचित रखा जाता है। कामका यह तरीका प्रकृतिके विरुद्ध है।

कामका विभाजन करनेके प्रयत्नमें कामका असली लक्ष्य तो भुला दिया गया और जहाँतक कारखानेवालोंका सम्बन्ध है, उत्पादन ही सब कुछ बन गया और जहाँतक मजदूरोंका सम्बन्ध है, मजूरी ही सर्वेसर्वा बन गयी। इसका परिणाम बहुत भयंकर निकला—कामकी उसके करनेवालेपर होनेवाली प्रतिक्रिया भुला दी गयी।[2]

योजना

कोई भी योजना, जो केवल उत्पादन और मजूरीपर जोर देगी, प्रकृतिके विरुद्ध होगी। हमारे कार्यकी सिद्धिके लिए और स्थायी समाज-व्यवस्थाके निर्माणके लिए कोई भी योजना कामके लक्ष्यपर अधिष्ठित करनी पड़ेगी और जिनके लिए वह काम होगा, उसे उनकी शक्ति और स्वभावपर आधृत करना पड़ेगा।

---

१ कुमारप्पा : वही, पृष्ठ ११४।
२ कुमारप्पा : वही, पृष्ठ १३१।

दारिद्र्य, गन्दगी, बीमारी और अज्ञानसे भरे भारत जैसे देशकी योजनामें मुख्य कार्यक्रम ये होने चाहिए :

१. कृषि, २. ग्रामीण उद्योग, ३. सफाई, आरोग्य और मकान, ४. ग्रामोंकी शिक्षा, ५. ग्रामोंका संगठन और ६. ग्रामोंका सांस्कृतिक विकास।

अन्न-वस्त्रकी आत्मनिर्भरता किसी भी योजनाकी बुनियाद होनी चाहिए। गाँवके प्रत्येक व्यक्तिको उचित खुराक और कपड़ा मिलना ही चाहिए। इस योजनाके लिए एक पाईकी भी आवश्यकता नहीं है। इसमें आवश्यकता है जनताकी कर्तव्यशक्तिको उचित मार्ग दिखाकर उससे समुचित लाभ उठानेकी।[1]

● ● ●

---

1. कुमारप्पा : स्थायी समाज-व्यवस्था, पृष्ठ १३६–१४५।

विनोबा : ५ :

गांधीका आध्यात्मिक उत्तराधिकारी विनायक नरहरि भावे सत्याग्रह-शास्त्रका प्रामाणिक पण्डित है। गांधीको जब ऐसी किसी गुत्थीके निराकरणमें कठिनाई होती थी, तो वह विनोबाको बुलाता था।

गांधीने राजनीतिक क्रान्तिका बिगुल फूँका, विनोबा आर्थिक क्रान्तिका शंख बजा रहा है। ६६ वर्षकी आयुमें आज वह दर-दर भटककर भूदानकी अलख जगा रहा है। सन् १९५१ से उसका यह धर्म-चक्र-प्रवर्तन चल रहा है, सतत अविराम। जाड़ा, गर्मी, बरसात—कभी रुकने या ठहरनेका नाम नहीं।

जीवन-परिचय

११ सितम्बर सन् १८९५ को महाराष्ट्रके गागोदा ग्राममें विनोबाका जन्म हुआ। सन् १९१४ में उसने मैट्रिक कर कॉलेजमें नाम लिखाया और दो साल

पढ़कर बड़ौदासे इण्टरकी परीक्षा देने निकला, सो बम्बई न जाकर चला आया काशी। उसी समय गांधी आया हिन्दू विश्वविद्यालयमें। उद्घाटन-समारोहमें उसका जो क्रान्तिकारी भाषण हुआ, उससे राजा-महाराजा तो चौंककर भागे ही, विनोबा उसे पढ़कर गांधीका भक्त बन बैठा।[1]

गांधीने अपने भाषणमें कहा : "...... कल जो महाराजा अध्यक्ष थे, उन्होंने भारतकी गरीबीके बारेमें कहा था। अन्य वक्ताओंने भी इसपर काफी जोर दिया। लेकिन जिस भव्य मण्डपमें वाइसरायने उद्घाटन किया था, उसमें कितनी शान थी! पेरिसके किसी जौहरीकी आँखोंको लुभानेवाला यह जड़ जवाहरातका प्रदर्शन था। कीमती रत्नाभूषणोंसे सजे इन सरदारों और देशके करोड़ों गरीबोंकी स्थितिकी मैंने तुलना की। मुझे यह अनुभव होने लगा कि इन सरदारोंसे कहना पड़ेगा कि जबतक आप जवाहरातोंको त्यागकर अपनी धन-दौलतको राष्ट्रकी थाती समझकर न रहेंगे, तबतक हिन्दुस्तानको मुक्ति न मिलेगी। हमारे देशमें ७० फीसदी किसान हैं और जैसा कि मिस्टर हिगन बाथमने कल

---

१ श्रीकृष्णदत्त भट्ट : नक्षत्रोंकी छायामें, पृष्ठ १३६-१३८।

कहा था कि खेतमें अन्नकी एक बालकी जगह दो बालें पैदा करनेकी शक्ति इन्हीं किसानोंकी है। लेकिन उनके श्रमका सारा फल यदि हम उनसे छीन लें या दूसरोंको छीन लेने दें, तो फिर यह नहीं कहा जा सकेगा कि हममें स्वराज्य-भावना जाग्रत है। हमारी मुक्ति इन किसानोंके द्वारा ही होगी। डॉक्टरों, वकीलों, अमीर-उमरावों द्वारा नहीं।...”

राजा-महाराजा सकपकाने लगे। पर गांधी बोलता ही गया। वाइसरायकी रक्षाके लिए जगह-जगह तैनात खुफिया पुलिसकी चर्चा करते हुए उसने कहा : “...यह अविश्वास क्यों ? इस तरह जिन्दा मौतके पास रहनेके बजाय लार्ड हार्डिंग अगर मर जायँ, तो क्या ज्यादा सुखी न रहेंगे ? लेकिन खुफिया पुलिस हमपर लादनेकी जरूरत क्यों पड़ी ? इसके कारण हमें गुस्सा आयेगा, झुँझलाहट होगी, इसके प्रति तिरस्कार भी पैदा होगा। हमें यह न भूलना चाहिए कि आज हिन्दुस्तान अधीर और आतुर हो गया है। भारतमें अराजकोंकी एक सेना तैयार हो गयी है। मैं भी एक अराजक हूँ। पर, दूसरी तरहका। यदि मैं इन अराजकोंसे मिल सका, तो उनसे अवश्य कहूँगा कि तुम्हारे अराजकवादके लिए भारतमें गुंजाइश नहीं है। हिन्दुस्तानको यदि अपने विजेतापर विजय पानी है, तो उनका तरीका भयका एक चिह्न है। हमारा यदि परमेश्वरपर विश्वास है, तो हम किसीसे नहीं डरेंगे। राजा-महाराजाओंसे नहीं, वाइसरायसे नहीं, खुफिया पुलिससे नहीं और स्वयं पंचम जार्जसे नहीं !...”

गांधीकी इस निर्भयतापर, सत्यपर, उसकी ईश्वर-निष्ठापर विनोबा मुग्ध हुआ सो हुआ। पत्र-व्यवहार करके वह गांधीके पास अहमदाबाद पहुँचा, सो फिर गांधीका ही होकर रह गया।

बापूके आश्रममें

विनोबा आश्रममें जम गया। बीचमें एक साल अध्ययनके लिए बाहर गया। सन् १९२१ में जमनालाल बजाजके आग्रहपर गांधीने विनोबाको वर्धा भेज दिया। वहाँ उसने आश्रमकी स्थापना कर अनेक त्यागी और श्रमनिष्ठ सेवकोंकी एक पलटन तैयार की। आज देशके विभिन्न अंचलोंमें विनोबाके ये शिष्य नाना प्रकारसे सर्वोदयका सन्देश फैला रहे हैं।

प्रथम सत्याग्रही

मूक सेवा विनोबाका गुण है। सन् १९४० में १५ अक्तूबरको गांधीने घोषणा की कि परसों मेरे जीवनके अन्तिम सत्याग्रह-आन्दोलनका आरम्भ होगा और उसका श्रीगणेश करेगा—विनोबा।

गांधीने ही विनायक नरहरिका नाम बदलकर रख दिया—विनोबा। उसकी यह घोषणा सुनते ही देशके असंख्य व्यक्ति चौंक पड़े—'हैं, कौन है यह विनोबा, जिसे गांधीने प्रथम सत्याग्रहीका गौरव प्रदान किया है? कभी भी तो इसका नाम सुनाई नहीं पड़ा।'

तब गांधीको बताना पड़ा कि विनोबा कौन है, क्या है, उसने क्या किया है और उसमें क्या गुण हैं।

गांधीके जीवनकालमें विनोबा आश्रममें चुपचाप सेवा-कार्यमें तल्लीन रहा। बादमें लोगोंने उसे विवश किया कि वह बाहर आकर बापूके स्थानकी पूर्ति करे।

भूदानकी गंगा

सन् १९५१ में तेलंगानामें कम्युनिस्ट उपद्रव भयंकर रूपमें अशान्तिका कारण बना हुआ था। विनोबा हैदराबादके सर्वोदय-सम्मेलनके शामिल होनेके बाद वहाँ पहुँचा। १८ अप्रैलको पोचमपल्लीमें उसका पड़ाव था। वहाँके हरिजनोंने उससे कहा कि आप हमें थोड़ी जमीन दिला दें, तो हमारी गुजर-बसर होने लगे।

पूछा : 'कितनी?' तो उन्होंने ८० एकड़की माँग की। वे बोले कि 'जमीन हमें मिल जाय, तो हम मिलकर एक साथ खेती करेंगे।'

विनोबाने कहा : अच्छा, एक दर्खास्त लिख दो। सरकारसे कहूँगा।

तभी अचानक विनोबाको लगा कि क्यों न मैं इन गाँववालोंसे ही जमीन माँग देखूँ। कहा : 'तुममेंसे कोई इन भूमिहीन हरिजनोंको अपनी भूमिमेंसे कुछ हिस्सा दे सकता है?'

अचानक वहाँके रामचन्द्र रेड्डीने खड़े होकर कहा : मैं देता हूँ १०० एकड़। ५० एकड़ तरीवाली, ५० एकड़ सूखी।

माँगी अस्सी, मिली सौ एकड़!

विनोबा तो चकित रह गया। सारी रात सोचता रहा। अवश्य ही इनमें भगवान्‌का हाथ है। मेरा राम मुझसे कुछ काम लेना चाहता है।

तबसे भूदानकी जो गंगा बही, वह निरन्तर बढ़ती ही जा रही है। विनोबा गाँव-गाँव कहता फिर रहा है कि धन और धरतीकी मिलकियत विचारके विरुद्ध है, परम्पराके विरुद्ध है, ईश्वरके विरुद्ध है। मैं मर जाऊँगा, तो मेरी हड्डियाँ बोलेंगी कि 'जमीनकी मिलकियत रहनेवाली नहीं है।' ● ● ●

भूदान और ग्रामदान : ६ :

१८ अप्रैल सन् १९५१ से तेलंगानामें जिस भूदान-यज्ञका श्रीगणेश हुआ, उसकी गंगा दस सालसे निरन्तर सारे देशमें अविराम गतिसे प्रवाहित हो रही है। देशके कोने-कोनेमें आज भूदानकी गंगा बह रही है।

उत्तरप्रदेशके मँगरौठमें सबसे पहले भूदान-गंगाने ग्रामदानका स्वरूप ग्रहण किया।[1] तबसे देशके विभिन्न अंचलोंमें ग्रामदानकी झड़ी लग गयी है। उड़ीसाके कोरापुटने तो इस दिशामें कमाल कर दिखाया है। स्वामित्व-विसर्जनकी यह मन्दाकिनी विश्वके कोने-कोनेमें भारतकी गौरव-गरिमा बढ़ा रही है। देश-विदेशसे असंख्य लोग इसके दर्शनके लिए भारतमें आ रहे हैं और चकित होकर देख रहे हैं कि सामाजिक क्रान्तिकी, करुणा और प्रेमकी, उदारता और हृदय-परिवर्तनकी यह कैसी अद्भुत प्रक्रिया है।

४४ लाख एकड़से अधिक भूमि भूदानमें प्राप्त हो चुकी है और ५००० के लगभग ग्रामदान।

आर्थिक, सामाजिक एवं नैतिक क्रान्तिका यह आन्दोलन दिन-दिन गहरा होता चल रहा है।

भूमिके षष्ठांशकी माँग

'५ करोड़ एकड़ भूमि भूदानमें मिल जाय, तो भारतके भूमिहीनोंकी समस्याका समाधान हो जायगा'—इस अपेक्षासे आरम्भमें विनोबाने भूमिका केवल षष्ठांश माँगनेका निश्चय किया। कुछ लोग कहने लगे कि जमींदार या मालगुजार एक षष्ठांश भूमिदान करके शेष भूमिका निरापद भावसे भोग करेंगे, इससे समाजमें क्रान्ति कैसे आ सकती है?

विनोबाने कहा: रबड़ अधिक खींचनेसे फट जाती है। अतः उसे धीरे-धीरे खींचना चाहिए। इसीलिए मैं अभी षष्ठांश ही माँग रहा हूँ। आज तो मालिक सारी भूमि अपने पास संचित करके रखता है। उससे मैं छठा भाग माँग रहा हूँ। बादमें अधिक माँगूँगा। लोग मुझसे पूछते हैं कि षष्ठांश लेनेके बाद तो आप फिर तो नहीं माँगेंगे? मैं कहता हूँ कि धर्म-कार्यसे भी कभी छुटकारा मिलता है? उससे तो बन्धन आता है। बादमें तो सब कुछ देकर आपको गरीबोंकी सेवामें लग जाना चाहिए।

---

१ श्रीकृष्णदत्त भट्ट : चलो, चलें मँगरौठ।

षष्ठांश तो आरम्भमात्र है। भूदान-यज्ञ सम्पत्ति-विसर्जनकी दीक्षा देनेवाला आन्दोलन है।

भूमिका वितरण

विनोबाने भूदानमें प्राप्त भूमिके वितरणके निम्नलिखित नियम बनाये हैं :

(१) वितरण-कार्य ग्रामकी सार्वजनिक सभामें करना होगा।

(२) वितरणके लिए एक बार निर्दिष्ट तिथिके सात दिन पहले और दूसरी बार वितरणसे एक दिन पहले ढोल बजाकर इस बातकी घोषणा करा देनी होगी।

(३) ग्रामवासियोंकी, अन्यथा भूमिहीनोंकी सर्वसम्मतिसे भूमिका वितरण करना होगा। मतभेद होनेपर गोटी डालकर निष्कर्षपर पहुँचना होगा।

(४) भूमि-वितरण करनेवाले कार्यकर्ता सभामें केवल साक्षी रूपमें रहेंगे, निर्णायकके रूपमें नहीं।

(५) भूदानमें प्राप्त भूमिका यथासम्भव तृतीयांश हरिजनोंमें वितरित किया जायगा।

(६) सामान्यतः जिस ग्राममें भूमिदान प्राप्त हुआ हो, उसी ग्रामके भूमिहीन गरीबोंमें भूमिका वितरण किया जाय। भूमिहीनोंमेंसे भी प्राथमिकता उसे दी जाय, जिसके पास कभी भी भूमि न रही हो।

भूदान-यज्ञका उद्देश्य

विनोबाने भूदान-यज्ञके सप्तसूत्री उद्देश्य बताये हैं :

(१) दरिद्रताका नाश।

(२) भू-स्वामियोंके हृदयमें प्रेमभावका विकास करना और उसके फलस्वरूप देशका नैतिक वातावरण उन्नत करना।

(३) एक ओर भू-स्वामियों और दूसरी ओर सर्वहारा भूमिहीनोंके बीच जो श्रेणीगत विद्वेष दिखाई पड़ता है, उसे दूर करना। परस्पर प्रेम और सद्भावनाकी वृद्धिसे समाजको शक्तिशाली बनाना।

(४) यज्ञ, दान और तप—इन तीनोंके अपूर्व दर्शनके आधारपर विकसित भारतीय संस्कृतिका पुनरुत्थान।

(५) देशमें शान्तिकी स्थापना।

(६) देशमें स्थापित शान्ति द्वारा विश्व-शान्तिमें सहायता।

(७) भूदान-यज्ञके द्वारा विभिन्न राजनीतिक दलोंका परस्पर एक मंचपर एकत्र होना, मिलना-जुलना और प्रेमका विस्तार होना, जिससे देश सभी ओरसे शक्ति प्राप्त करेगा।

अपरिग्रही समाज

विनोबाका कहना है कि सर्वोदय-समाज अपरिग्रही समाज होगा। उसमें पाँच बातें होंगी :

(१) अपरिग्रही समाजमें प्रत्येक घरमें अनाज रहेगा। कमसे कम दो सालके लिए प्रचुर मात्रामें खाद्य-सामग्री रहेगी। उसमें शुद्ध घी, दूध प्रचुर मात्रामें रहेगा।

(२) अपरिग्रही समाजमें अत्यधिक परिग्रह रहेगा, पर वह परिग्रह घर-घरमें विभाजित होगा।

(३) अपरिग्रही समाजमें व्यर्थकी चीजोंके लिए कोई स्थान नहीं रहेगा। शराबकी बोतलों और सिगरेटोंके लिए उसमें कोई गुंजाइश नहीं।

(४) अपरिग्रही समाजमें क्रमानुसार संग्रह होगा। उसमें अन्न, वस्त्र, अच्छा मकान, उत्तम यंत्र, उत्तम ग्रंथ, संगीत आदिकी क्रमानुसार व्यवस्था होगी।

(५) अपरिग्रही समाजमें पैसा यथासम्भव कम रहेगा। पैसा लक्ष्मी नहीं, राक्षस है। केला, आम, तरकारी, अन्न—यह सब लक्ष्मी है। पैसा तो नासिकके कारखानेमें ढलता है। रिवाल्वर दिखाकर केला छीन लेना जिस प्रकार डकैती है, रुपयेका नोट दिखाकर घी ले जाना भी वैसी ही डकैती है। अपरिग्रही समाजमें शरीर-श्रमसे प्राप्त होनेवाली लक्ष्मीकी ही प्रतिष्ठा होगी।

कांचनमुक्ति

विनोबा सर्वोदय-समाजकी स्थापनाके लिए 'कांचनमुक्ति-योग' की साधना अपरिहार्य मानता है। उसका कहना है कि वर्तमान विकारग्रस्त समाज-व्यवस्थामें प्रत्येक वस्तुका मूल्य पैसेसे आँका जाता है। इसलिए वस्तुका वास्तविक मूल्य दिखाई नहीं पड़ता। कहा जाता है कि भूमिका मूल्य अत्यधिक हो गया है, किन्तु भूमिकी उदारता तो पूर्ववत् ही बनी हुई है। पैसेके मायाजालमें पड़कर हमने मरुभूमिको जलाशय मान लिया है। जनताका हृदय शुद्ध है। जो कुछ गड़बड़ी दिखाई पड़ती है, वह है सामाजिक अर्थव्यवस्थाकी बुराइयोंके कारण। उत्पादन और श्रमका पैसेके साथ कोई निर्दिष्ट सम्पर्क नहीं रह गया है। पैसा तो लफंगा है। वह सदा अपना रूप बदलता रहता है। कभी वह एक रुपया बन जाता है, कभी दो, तो कभी चार। उसीको हमने अपना कारबारी बना लिया है। बदमाशके हाथमें हमने अपनी चाभी सौंप दी है। इसलिए अपरिग्रही समाजमें पैसेका कमसे कम उपयोग किया जायगा।

ग्राम-स्वराज्यकी कल्पना

विनोबाका भूदान-आन्दोलन भूदान, सम्पत्तिदान, श्रमदानके रास्तेसे होता हुआ ग्रामदानतक जा पहुँचा है। उसकी माँग है 'गाँवकी खेती, गाँवका राज,

गाँव-गाँवमें हो स्वराज!' ग्राम-स्वराज्यकी उसकी कल्पनामें सर्वोदयकी सर्वोच्च कल्पना साकार होनेवाली है।

समता और स्वतंत्रताके लिए सर्वोदय ही एकमात्र साधन है। जयप्रकाश जैसा गम्भीर विचारक आज सर्वोदयमें इसीलिए आया है कि वह अनुभव करता है कि समताका सच्चा आदर्श यदि कहीं प्रतिफलित हो सकता है, तो केवल सर्वोदयमें। समताकी खोजमें वह गया असहयोगसे साम्यवादकी ओर, साम्यवादसे जनतंत्रीय समाजवादकी ओर और अब आया है सर्वोदयकी ओर।

जयप्रकाश कहता है कि 'गांधीके जीवनकालमें बराबर उधर खिंचते हुए भी मैं पूरी तरह नहीं समझ सका था कि इस अहिंसक पद्धतिसे सामाजिक क्रान्ति कैसे होगी। राष्ट्रीय आन्दोलनके समय उस पद्धतिने कैसा काम किया था, यह मुझे मालूम था। किन्तु उन्हीं साधनोंसे सामन्तवाद और पूँजीवाद कैसे नष्ट होंगे और नये समाजका निर्माण कैसे होगा, यह चीज मेरी समझमें बिल्कुल नहीं आयी थी। मैंने हृदय-परिवर्तनके द्वारा क्रान्तिपर गांधीके लेख अवश्य पढ़े थे, किन्तु प्रत्यक्ष प्रदर्शन या व्यवहारके अभावमें वे विचार मुझे अत्यन्त अव्यावहारिक लगे। जिन दिनों मेरे मनमें ऊहापोह चल रहा था, एक बहुत महत्त्वपूर्ण घटना घटी। तेलंगानाके एक सुदूर देहातमें भूदानका जन्म हुआ। आन्दोलनका उत्तरोत्तर विकास देखकर, ऐसा लगा कि यदि जितनी शक्ति राजनीतिक आन्दोलनोंमें लगती है, उतनी शक्ति इसके पीछे लगायी जाय, तो इसके परिणाम अधिक ठोस और शीघ्रगामी होंगे।

'जैसे-जैसे आन्दोलन आगे बढ़ता गया, उसके नये-नये स्वरूप प्रकट होते गये। सन् १९५२ में उसका एक पहलू सामने आ गया, जो असाधारण रूपसे आकर्षक था—मँगरौठका ग्रामदान! जमीनका ग्रामीकरण! जमीनपर व्यक्तिगत मालिकीके स्थानपर ग्राम-संस्थाकी मालिकी! कितनी सुन्दर क्रान्ति! मँगरौठका दौरा करके जो कुछ देखा, उसमें भविष्यकी एक सुन्दर झाँकी थी। इस कल्पनासे ही रोमांच हो जाता है कि यदि प्रत्येक ग्राममें मँगरौठकी पुनरावृत्ति हुई, तो सारे देशमें महान् नैतिक, आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक क्रान्ति फैल जायगी। मुझे यह माननेका कोई कारण नहीं मिलता कि जो मँगरौठमें हुआ, वह भारतवर्षके समस्त ग्रामोंमें नहीं हो सकता। मँगरौठके लोग कोई देवता नहीं हैं।

'गांधीके कार्यको असाधारण प्रतिभाके साथ फैलाकर और विकसित करके विनोबाने प्रमाणित कर दिया कि गांधी-तत्त्वज्ञानमें सामाजिक क्रान्तिको पूरा करनेका व्यावहारिक तरीका है।'[1]

• • •

---

१ जयप्रकाश नारायण : समताकी खोजमें, पृष्ठ ५४-५६।

बीसवीं शताब्दी

एक सिंहावलोकन

बीसवीं शताब्दी जागरणकी शताब्दी है। जिस ओर दृष्टि डालिये, जागरणकी ही छटा दिखाई पड़ती है। नयी सभ्यता, नयी जाग्रति, नयी जगमगाहट इस शताब्दीकी विशेषता है। विश्व बड़ी तेजीसे जागरणकी दिशामें दौड़ रहा है।

विज्ञान नित-नये आविष्कारोंमें तल्लीन है। ६ अगस्त १९४५ को हिरोशिमापर जो एटम बम छोड़ा गया, उससे केवल जापान ही नहीं, सारी पृथ्वी थर्रा उठी। अब तो एटमसे भी कई गुने संहारक बम बन गये हैं! ४ अक्तूबर १९५७ को मानव-निर्मित प्रथम उपग्रह स्पुतनिक-१ ने पृथ्वीके चारों ओर अन्तरिक्षमें चक्कर काटना आरम्भ कर दिया। जनवरी '५९ में मानव-निर्मित प्रथम ब्रह्माण्ड रॉकेट–ल्यूनिक प्रथम चन्द्रदेवके गुरुत्वाकर्षणको वेधकर सूर्यके चारों ओर

चक्कर काटने लगा। १४ सितम्बरको ल्यूनिक द्वितीय दो लाख चालीस हजार मीलकी यात्रा केवल ३७ घण्टेमें पूरी करके चन्द्रलोकके धरातलपर पहुँच गया। हालमें गागारिनकी अंतरिक्ष-उड़ानने विज्ञानकी प्रगतिमें चार चाँद लगा दिये हैं।

दो-दो विश्वयुद्धोंकी भयंकर संहार-लीला इस शताब्दीने अपने पूर्वार्द्धकी समाप्तिके पहले ही देख ली। उसके लिए केवल विज्ञानको ही दोषी नहीं ठहराया जा सकता। विज्ञान बेचारा तो राजनीतिज्ञोंके हाथका कठपुतला ठहरा! सत्ता जिनके हाथमें है, पैसा जिनके हाथमें है, वे विज्ञानको जिस दिशामें घुमाते हैं, उस बेचारेको झख मारकर उस दिशामें घूमना पड़ता है। अर्थ-युगकी कैसी विवशता है यह!

जो पूँजीवादी विचारधारा उन्नीसवीं शताब्दीमें पुष्पित-पल्लवित हुई, मार्शल और केन्सने भी घुमा-फिराकर उसीका पृष्ठपोषण किया। समाजवादी विचारधारा भी क्रमशः विकसित हो रही है। दोनोंमें कुछ-कुछ नोक-झोंक चलती है। कुछ धारणाएँ इन दोनोंने मिल-जुलकर प्रशस्त होती हैं। पर जैसा कि हम देख चुके हैं, किसी भी वादकी विचारधारा हो, पैसेकी भावभूमिपर ही सारी विचार-धाराओंका विकास हो रहा है। बेचारे मानवकी न तो पूँजीवादी विचारधारामें कोई प्रतिष्ठा है, न समाजवादी विचारधारामें।

पूँजीवादी अर्थव्यवस्थामें व्यक्तिगत लाभको अधिकतम बनानेकी चेष्टा की जाती है। प्रत्येक व्यवस्थापक उत्पादनको अधिकतम बढ़ाना चाहता है और उत्पादन-व्ययको न्यूनतम करना चाहता है। श्रम-विभाजन, विशिष्टीकरण, बड़े पैमानेपर उत्पादन उसकी विशेषताएँ हैं। अधिकतम लाभ ही उसका लक्ष्य है। उसमें उत्पादकको लूटनेकी छूट है, श्रमिकको पिसनेकी। पूँजीवादके विषवृक्षमें सोदा, सट्टा और जुआके फल फलते हैं। पूँजीका असमान वितरण चरम सीमापर पहुँचता है। मुट्ठीभर लोग करोड़ों गरीबोंके पसीनेकी कमाई हड़पकर गुलछर्रे उड़ाते हैं। वर्ग-संघर्ष, द्वेष, घृणा, ईर्ष्या आदि दोष इस वैषम्यकी बदौलत जन्म लेते हैं, तेजी और मन्दीका कुचक्र चलता है। परिणाम होता है—असन्तोष, संघर्ष, युद्ध। मानव यहाँ शोषणका एक पुर्जा है, जिसे पूँजीपति अपनी मशीनमें कहीं भी 'फिट' करके उसका शोषण कर लेता है।

समाजवादी अर्थव्यवस्थामें मालिकी सरकारकी हो जाती है, पर मनुष्य बेचारा वहाँ पुर्जेका पुर्जा बना रहता है। जनताका मौलिक जीवन केन्द्रीय व्यवस्थाकी मुट्ठीमें रहता है, फिर वह धीरेनभाईके शब्दोंमें 'चाहे किसी वर्गकी हो, चाहे किसी मजदूर दलकी। चाहे बनियाशाही हो, चाहे नौकरशाही!' उद्योगोंके केन्द्रीकरणसे ग्रामोद्योग मरते हैं, ग्राम नष्ट होते हैं, व्यक्तिके स्वातंत्र्यमें बाधा आती है।

साम्यवादमें ऊँचे वर्गका सफाया करके सर्वहाराकी सत्ता स्थापित करनेके लिए

हिंसा गलत नहीं मानी जाती। उसमें उपभोगकी वस्तुओंकी प्रचुरता और समान वितरण ही परम साध्य है। वहाँ मनुष्य भी उत्पादनका साधन है, पशु भी। मानव वैचारिका वहाँ कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं।

बीसवीं शताब्दीमें ये विचारधाराएँ विकसित हो रही हैं। समाज-कल्याणकी ओर भी विचारकोंका थोड़ा-सा ध्यान आकृष्ट हुआ है, पर हिंसा और पैसाकी बुनियाद रहनेसे मानवका सर्वांगीण विकास हो नहीं पा रहा है। केन्द्रीकरणकी चक्कीमें मानव पिसता चल रहा है।

आत्माकी एकता, मानवकी प्रतिष्ठा तथा 'सम्पत्ति किसी भी रूपमें हो, हम उसके मालिक नहीं हैं, वह जनता-जनार्दनकी है'—इस भावभूमिपर प्रतिष्ठित सर्वोदय ही इन सब संकटोंकी एकमात्र दवा है। भले ही लोग उसे उतोपियावाद कहें, काल्पनिक ठहरायें; पर सर्वोदयका साम्ययोग ही विश्वमें शान्ति, सुख और प्रेमकी त्रिवेणी बहा सकता है। विनोबाके कथनानुसार 'भूदान-यज्ञमूलक ग्रामोद्योग-प्रधान' शोषणहीन, वर्गहीन अहिंसक समाजसे ही विश्वका कल्याण सम्भव है। सर्वोदयका आदर्श है—